प्रवचन-सारोद्धार

द्वितीय भाग



साध्वी हेमप्रभाश्री

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
श्री नाकोडा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर
सेवा मन्दिर, रावटी–जोधपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रधान सम्पादक :
साहित्यवाचस्पति म. विनयसागर

प्राकृत भारती पुष्प-१२६

सिद्धान्तवेत्ता श्री नेमिचन्द्रसूरि प्रणीत

प्रवचन-सारोद्धार

(द्वितीय भाग)

(१११ से २७६ द्वारों का मूल, गाथार्थ एवं आगमज्ञ श्री सिद्धसेनसूरि रचित तत्त्वविकाशिनी टीका का हिन्दी विवेचन)

अनुवादिका :
महान आत्मसाधिका प.पू. अनुभव श्रीजी म.सा.
की सुशिष्या साध्वी हेमप्रभाश्री

सम्पादक :
साहित्यवाचस्पति महोपाध्याय विनयसागर

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर
सेवा मन्दिर, रावटी-जोधपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक :
देवेन्द्रराज मेहता
प्राकृत भारती अकादमी
१३-ए, मेन, मालवीय नगर,
जयपुर-३०२०१७
फोन : ५२४८२७, ५२४८२८

पारसमल भंसाली
अध्यक्ष :
श्री जैन श्वे० नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ
मेवानगर-३४४०२५
स्टे० बालोतरा, जिला बाड़मेर

श्रेणिक जौहरीमल पारख
ट्रस्टी :
सेवा मन्दिर
रावटी-जोधपुर

प्रथम संस्करण : २०००

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन :

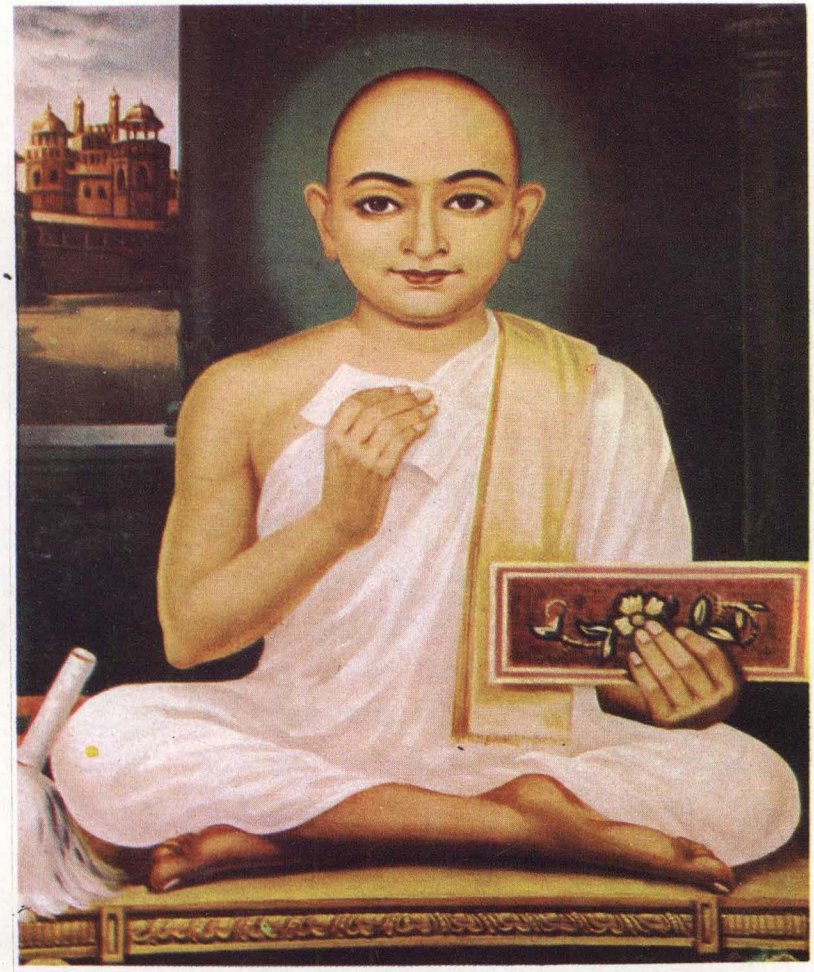
मूल्य : २५०.०० रुपये

कम्प्यूटरीकरण :
कम्प्यू प्रिन्टस,
जयपुर-३
दूरभाष: ३२३४९६

मुद्रक :
पापूलर प्रिन्टर्स,
जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यक्ष प्रभावी दादा गुरुदेव



जन्म : वि. सं. १३३७ मार्गशीर्ष कृष्णा ३, गढसिवाणा

दीक्षा : वि. सं. १३४७ फाल्गुन शुक्ला ८, गढसिवाणा

आचार्यपद वि. सं. १३७७ ज्येष्ठ कृष्णा ११, पाटण

स्वर्गवास : वि. सं. १३८९ फाल्गुन कृष्णा ३०, देराउर

श्री जिनकुशलसूरीश्वर जी म. सा.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

प्रवचनसारोद्धार जैनों का एक महत्त्वपूर्ण संकलन ग्रन्थ है। १२वीं शताब्दि की यह रचना साध्वाचार का एक संदर्भ ग्रन्थ भी है। यह अपने पूर्ण रूप में हिन्दी भाषा में अभी तक अननुवादित था। विदुषी आर्यारत्न श्री **हेमप्रभाश्रीजी** म.सा. ने यह भागीरथ प्रयत्न सफलतापूर्वक संपन्न किया और प्राकृत भारती अकादमी को प्रकाशन दायित्व दिया इसके लिए हम उनका आभार प्रकट करते हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशन की योजना आठ वर्ष पूर्व ही निश्चित हो चुकी थी, किन्तु विभिन्न अप्रत्याशित व्यवधानों के कारण विलम्ब होता गया, पर यह अन्तराल व्यर्थ नहीं गया। इस बीच ग्रन्थ के संयोजन व आकार में वांछित परिवर्तन और संवर्धन होता रहा जिससे यह संभवतः आदर्श रूप बन सका। इस महत्त्वपूर्ण संपादन–संशोधन कार्य में साहित्यवाचस्पति महोपाध्याय **विनयसागरजी** ने अपनी पूर्ण विद्वत्ता तथा लगन से योगदान दिया है। यद्यपि वे प्राकृत भारती परिवार के सदस्य हैं, उनके प्रति धन्यवाद प्रकट न करना कृपणता होगी।

प्रथम भाग में द्वार १ से ११० तक प्रकाशित हो चुके हैं। शेष १११ से २७६ द्वार इस दूसरे भाग में संयोजित किए गए हैं। अपने इस संपूर्ण आकार में विस्तृत विवेचन सहित यह संदर्भ ग्रन्थ अवश्य ही साधुवृन्द तथा सुधी पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

श्रमण समुदाय के लिए विशेष उपयोगी ग्रन्थ का पुष्प १२६ के रूप में प्रकाशन प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर व श्री नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ ट्रस्ट, मेवानगर और सेवा मन्दिर, रावटी–जोधपुर के संयुक्त प्रकाशनों की कड़ी में हो रहा है। आशा है जैन साहित्य प्रकाशन के क्षेत्र में तीनों संस्थाओं की परस्पर सहयोग की यह परम्परा अक्षुण्ण बनी रहेगी।

पारसमल भंसाली	**श्रेणिक पारख**	**देवेन्द्रराज मेहता**
अध्यक्ष	ट्रस्टी	
नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ,	सेवा मन्दिर	प्राकृत भारती अकादमी
मेवानगर	रावटी–जोधपुर	जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रम

द्वार-संख्या	विषय	पृष्ठांक
१११.	कल्प्यवस्त्र-मूल्य	१
११२.	शय्यातरपिण्ड	२-६
११३.	श्रुत में सम्यक्त्व	६-७
११४.	चातुर्गतिक निर्ग्रन्थ	७
११५.	क्षेत्रातीत	७
११६.	मार्गातीत	८
११७.	कालातीत	८
११८.	प्रमाणातीत	८
११९.	दुःखशय्या	८-९
१२०.	सुखशय्या	९
१२१.	क्रियास्थान-१३	१०-१४
१२२.	आकर्ष	१४-१५
१२३.	शीलांग	१५-२०
१२४.	सप्तनय	२०-२८
१२५.	वस्त्रविधान	२८-३०
१२६.	व्यवहार-५	३१-३४
१२७.	यथाजात	३४-३५
१२८.	जागरण	३५
१२९.	आलोचनादायक	३६
१३०.	प्रतिजागरण	३६-३७
१३१.	उपधिप्रक्षालन	३७-३८
१३२.	भोजनभाग	३९-४०
१३३.	वसतिशुद्धि	४०-४२
१३४.	संलेखना	४२-४४
१३५.	वसतिग्रहण	४४-४५
१३६.	सचित्तता-कालमान	४५-४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वार-संख्या	विषय	पृष्ठांक
१३७.	स्त्रियां	४६
१३८.	आश्चर्य	४७-५४
१३९.	भाषा	५४-५९
१४०.	वचन-भेद	५९-६०
१४१.	मासभेद	६०-६२
१४२.	वर्षभेद	६३
१४३.	लोकस्वरूप	६४-७५
१४४.	संज्ञा-३	७६-७८
१४५.	संज्ञा-४	७८-८०
१४६.	संज्ञा-१०	८०-८१
१४७.	संज्ञा-१५	८१
१४८.	सम्यक्त्व-भेद	८२-९३
१४९.	सम्यक्त्व-प्रकार	९३-१०४
१५०.	कुलकोटि	१०४-१०५
१५१.	जीव-योनि	१०५-१०८
१५२.	त्रैलोक्यवृत्त-विवरण	१०९-११९
१५३.	श्राद्धप्रतिमा	११९-१२५
१५४.	अबीजत्व	१२५-१२७
१५५.	क्षेत्रातीत का अचित्तत्व	१२७-१२८
१५६.	धान्यसंख्या	१२८-१२९
१५७.	मरण	१२९-१३५
१५८.	पल्योपम	१३५-१४०
१५९.	सागरोपम	१४०-१४१
१६०.	अवसर्पिणी	१४२.१४४
१६१.	उत्सर्पिणी	१४४-१४५
१६२.	पुद्गलपरावर्त	१४५-१५२
१६३.	कर्मभूमि	१५२
१६४.	अकर्मभूमि	१५३
१६५.	मद	१५३-१५४
१६६.	प्राणातिपात-भेद	१५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वार-संख्या	विषय	पृष्ठांक
१६७.	परिणाम-भेद	१५५-१५६
१६८.	ब्रह्मचर्य-भेद	१५६-१५७
१६९.	काम-भेद	१५७-१५८
१७०.	प्राण	१५९
१७१.	कल्पवृक्ष	१५९-१६१
१७२.	नरक	१६१-१६२
१७३.	नरकावास	१६२
१७४.	नरक-वेदना	१६३-१६६
१७५.	नरकायु	१६६-१६७
१७६.	अवगाहना	१६७-१६८
१७७.	विरहकाल	१६८-१६९
१७८.	लेश्या	१६९-१७३
१७९.	नारकों का अवधि-ज्ञान	१७३
१८०.	परमाधामी	१७४-१७५
१८१.	लब्धिसंभव	१७५-१७६
१८२.	उपपात	१७७
१८३.	उत्पद्यमान	१७८
१८४.	उद्वर्तमान	१७८
१८५.	कायस्थिति	१७८-१८०
१८६.	भवस्थिति	१८०-१८१
१८७.	शरीर-परिमाण	१८१-१८४
१८८.	इन्द्रिय-स्वरूप	१८५-१८८
१८९.	जीवों में लेश्या	१८८-१९०
१९०.	गति	१९०-१९३
१९१.	आगति	१९३-१९४
१९२.	विरहकाल	१९४
१९३.	संख्या	१९४-१९५
१९४.	स्थिति	१९५-२०३
१९५.	भवन	२०३-२०६
१९६.	देहमान	२०६-२०७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वार-संख्या	विषय	पृष्ठांक
१९७.	लेश्या	२०७-२०८
१९८.	अवधिज्ञान	२०८-२११
१९९.	उत्पत्ति-विरह	२१२-२१३
२००.	उद्वर्तना-विरह	२१४
२०१.	जन्म-मरण-संख्या	२१४-२१५
२०२.	गति	२१५
२०३.	आगति	२१६-२१७
२०४.	सिद्धिगति-अन्तर	२१७
२०५.	आहार-उच्छ्वास	२१८-२२२
२०६.	पाखण्डी ३६३	२२२-२३३
२०७.	प्रमाद	२३३-२३४
२०८.	चक्रवर्ती	२३४
२०९.	बलदेव	२३४
२१०.	वासुदेव	२३५
२११.	प्रतिवासुदेव	२३५
२१२.	चौदह रत्न	२३५-२३९
२१३.	नवनिधि	२३९-२४३
२१४.	जीवसंख्या	२४३-२५०
२१५.	अष्ट कर्म	२५०-२५१
२१६.	उत्तर-प्रकृति	२५१-२७४
२१७.	बंधादि-स्वरूप	२७४-२७८
२१८.	कर्मस्थिति	२७८-२८०
२१९.	पुण्यप्रकृति	२८१
२२०.	पापप्रकृति	२८२-२८३
२२१.	भावषट्क	२८३-२९०
२२२.	जीव-भेद	२९०-२९१
२२३.	अजीव-भेद	२९१-२९२
२२४.	गुणस्थान	२९२-३०४
२२५.	मार्गणास्थान	३०४-३०५
२२६.	उपयोग	३०५-३०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वार-संख्या	विषय	पृष्ठांक
२२७.	योग	३०६-३०८
२२८.	गति	३०८-३०९
२२९.	कालमान	३०९-३१०
२३०.	विकुर्वणाकाल	३१०-३११
२३१.	समुद्घात	३११-३१६
२३२.	पर्याप्ति	३१६-३१८
२३३.	अनाहारक-४	३१९-३२१
२३४.	भय-स्थान	३२१-३२२
२३५.	अप्रशस्त-भाषा	३२२
२३६.	अणुव्रत-भंग-भेद	३२३-३४०
२३७.	पाप-स्थान	३४०-३४२
२३८.	मुनि-गुण	३४२-३४३
२३९.	श्रावक-गुण	३४४-३४६
२४०.	गर्भस्थिति तिर्यंची की	३४६
२४१.	गर्भस्थिति मानवी की	३४६-३४७
२४२.	गर्भ की कायस्थिति	३४६-३४७
२४३.	गर्भस्थ का आहार	३४७
२४४.	गर्भोत्पत्ति	३४८
२४५.	कितने पुत्र	३४८
२४६.	कितने पिता	३४८
२४७.	स्त्री-पुरुष का अबीजत्व काल	३४९
२४८.	शुक्रादि का परिमाण	३४९-३५४
२४९.	सम्यक्त्व का अन्तरकाल	३५४-३५५
२५०.	मानव के अयोग्य जीव	३५५
२५१.	पूर्वांग का परिमाण	३५६
२५२.	पूर्व का परिमाण	३५६
२५३.	लवणशिखा का परिमाण	३५६-३५७
२५४.	अंगुल-प्रमाण	३५७-३६३
२५५.	तमस्काय	३६४-३६७
२५६.	अनंत-षट्क	३६७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वार-संख्या	विषय	पृष्ठांक
२५७.	अष्टांगनिमित्त	३६७-३६९
२५८.	मानोन्मानप्रमाण	३६९-३७०
२५९.	भक्ष्य-भोजन	३७०-३७१
२६०.	षड्स्थान-वृद्धि-हानि	३७२-३७६
२६१.	असंहरणीय	३७६-३७७
२६२.	अन्तर्द्वीप	३७७-३८१
२६३.	जीवाजीव का अल्पबहुत्व	३८२-३८६
२६४.	युगप्रधान सूरि-संख्या	३८६-३८७
२६५.	श्रीभद्रकृत्तीर्थप्रमाण	३८७
२६६.	देवों का प्रविचार	३८७-३८९
२६७.	कृष्णराजी	३८९-३९२
२६८.	अस्वाध्याय	३९२-४०३
२६९.	नन्दीश्वरद्वीप	४०३-४०८
२७०.	लब्धियाँ	४०८-४१४
२७१.	विविध तप	४१५-४३३
२७२.	पातालकलश	४३४-४३७
२७३.	आहारक शरीर	४३७-४३८
२७४.	अनार्यदेश	४३८-४४०
२७५.	आर्यदेश	४४०-४४१
२७६.	सिद्धगुण	४४२-४४४
	मूल-ग्रन्थकार-प्रशस्ति	४४४-४४५
	टीकाकार-प्रशस्ति	४४५-४४८
	दोहा-प्रशस्ति	४४८-४५२
परिशिष्ट		
१.	अन्य ग्रन्थों की गथाएँ और प्रवचन सारोद्धार	४५३-४७७
२.	प्रवचन सारोद्धार और अन्य ग्रन्थों की गाथाएँ	४७८-५०१

¤ * ¤ * ¤

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमपूज्या विदुषी आर्यारत्न



जन्म : वि. सं. १९५९ भादवा बदी ८, शाजापुर

दीक्षा : वि. सं. १९७९ चैत्र सुदी १०, शाजापुर

श्री अनुभवश्री जी महाराज

स्वर्गवास : वि. सं. २०४४ फाल्गुन बदी ३, पाली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचन सारोद्धार

द्वितीय भाग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१११ द्वार : कल्प्य-वस्त्रमूल्य—

मुल्लजुयं पुण तिविहं जहन्नयं मज्झिमं च उक्कोसं ।
जहन्नेणऽट्ठारसगं सयसाहस्सं च उक्कोसं ॥७९७ ॥
दो साभरगा दीविच्चगा उ सो उत्तरावहो एक्को ।
दो उत्तरावहा पुण पाडलिपुत्तो हवइ एक्को ॥७९८ ॥
दो दक्खिणावहा वा कंचीए नेलओ स दुगुणाओ ।
एक्को कुसुमनगरओ तेण पमाणं इमं होइ ॥७९९ ॥

—गाथार्थ—

साधु के लिये कल्प्य वस्त्र—**वस्त्र तीन प्रकार का है—१. जघन्य मूल्य वाला २. मध्यम मूल्य वाला और ३ उत्कृष्ट मूल्य वाला। १८ रुपया जघन्य मूल्य है। १ लाख रुपया उत्कृष्ट मूल्य है। जघन्य मूल्य और उत्कृष्ट मूल्य के मध्य की संख्या मध्यम मूल्य है ॥७९७ ॥**

—विवेचन—

मूल्य की अपेक्षा से वस्त्र के तीन भेद हैं—

(i) **जघन्य**—अठारह रुपये मूल्य वाला ।

(ii) **मध्यम**—जघन्य व उत्कृष्ट मूल्य की अपेक्षा मध्यम मूल्य वाला ।

(iii) **उत्कृष्ट**—लाख रुपये मूल्य वाला ।

इन तीनों प्रकार के मूल्यवाला वस्त्र साधु को नहीं कल्पता, कम मूल्य वाला कल्पता है ।

पंचकल्पबृहद्भाष्य में कहा है कि १८ रुपये से न्यून मूल्यवाला वस्त्र ही साधु को ग्रहण करना कल्पता है । इससे अधिक मूल्य वाला वस्त्र ग्रहण करना नहीं कल्पता ।

प्रश्न—रुपया किसे कहते हैं ? उसका क्या प्रमाण है ?

उत्तर—सौराष्ट्र के दक्षिणदिशावर्ती समुद्र में एक योजन विस्तृत जो टापू है वह द्वीप कहलाता है । उस द्वीप की मुद्रा रुपया कहलाती है ।

पूर्वोक्त २ रुपया	=	उत्तरापथ का १ साभरक (रुपया)
पूर्वोक्त २ साभरक	=	पाटलिपुत्र का १ साभरक
		अथवा
दक्षिण के २ रुपये	=	कांची नगर का १ नेलक
पूर्वोक्त २ नेलक	=	पाटलिपुत्र का १ रुपया

- वस्त्र का मूल्य पाटलिपुत्र के रुपये से किया जाता है ॥ ७९७-७९९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११२ द्वार : शय्यातर-पिण्ड—

सेज्जायरो पहू वा पहुसंदिट्ठो य होइ कायव्वो ।
एगो णेगे य पहू पहुसंदिट्ठेवि एमेव ॥८०० ॥
सागारियसंदिट्ठे एगमणेगे चउक्कभयणा उ ।
एगमणेगा वज्जा णेगेसु य ठावए एगं ॥८०१ ॥
अन्नत्थ वसेऊणं आवस्सग चरिममन्नहिं तु करे ।
दोन्निवि तरा भवंती सत्थाइसु अन्नहा भयणा ॥८०२ ॥
जइ जग्गंति सुविहिया करेंति आवस्सयं तु अन्नत्थ ।
सिज्जायरो न होई सुत्ते व कए व सो होई ॥८०३ ॥
दाऊण गेहं तु सपुत्तदारो, वाणिज्जमाईहि उ कारणेहिं ।
तं चेव अन्नं व वएज्ज देसं, सेज्जायरो तत्थ स एव होइ ॥८०४ ॥
लिंगत्थस्सवि वज्जो तं परिहरओ व भुंजओ वावि ।
जुत्तस्स अजुत्तस्स व रसावणे तत्थ दिट्ठंतो ॥८०५ ॥
तित्थंकरपडिकुट्ठो अन्नायं उग्गमोवि य न सुज्झे ।
अविमुत्ति अलाघवया दुल्लहसेज्जा उ वोच्छेओ ॥८०६ ॥
पुरपच्छिमवज्जेहिं अवि कम्मं जिणवरेहिं लेसेणं ।
भुत्तं विदेहएहि य न य सागरिअस्स पिंडो उ ॥८०७ ॥
बाहुल्ला गच्छस्स उ पढमालियपाणगाइकज्जेसु ।
सज्झायकरणआउट्टिया करे उग्गमेगयरं ॥८०८ ॥

—गाथार्थ—

शय्यातरपिंड—**वसति का मालिक या उसके द्वारा नियुक्त व्यक्ति शय्यातर माना जाता है। ये एक और अनेक दोनों हो सकते हैं। वसति का स्वामी और उसके द्वारा नियुक्त के एक और अनेक के साथ मिलकर चार भांगें होते हैं। इनमें से एक और अनेक दोनों का त्याग करना चाहिये और अनेक में से एक को शय्यातर बनाना चाहिये ॥८००-८०१ ॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रात्रि में संथारा अन्य स्थान पर किया हो और कारणवश प्रतिक्रमण अन्य स्थान पर किया हो तो दोनों स्थानों के स्वामी शय्यातर माने जाते हैं। ऐसा प्रसंग सार्थ आदि के साथ जाने पर उपस्थित हो सकता है। अन्यथा भजना समझना चाहिये ॥८०२॥

यदि किसी स्थान में रातभर सोये बिना ही रहे हों और प्रतिक्रमण अन्य स्थान में जाकर किया हो तो मूल वसति का स्वामी शय्यातर नहीं माना जाता पर जहाँ प्रतिक्रमण किया हो उस वसति का स्वामी शय्यातर होता है ॥८०३॥

कोई गृहस्थ साधु को वसति देने के बाद व्यापारादि के लिये सपरिवार अन्यत्र चला जाये तो भी वसति का शय्यातर वहाँ रहा हुआ भी वही माना जाता है ॥८०४॥

वेषधारी मुनि के भी शय्यातर का त्याग करना चाहिये, भले वह अपने शय्यातर के घर का आहार-पानी ग्रहण करता हो या न करता हो, जैसे शराब की दुकान में शराब हो या न हो तथापि वह दुकान शराब की ही कहलाती है ॥८०५॥

शय्यातरपिंड ग्रहण करने से जिनाज्ञाभंग, अज्ञातभिक्षा का अभाव, उद्गमादि दोषों की सम्भावना, आहार की आसक्ति, लघुता, वसति की दुर्लभता अथवा वसति का विच्छेद आदि दोष लगते हैं ॥८०६॥

प्रथम और अन्तिम जिनेश्वर को छोड़कर मध्य के बावीस तीर्थंकरों तथा विदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों के मुनिओं ने यद्यपि आधाकर्मी भिक्षा अल्प भी ग्रहण की होगी किन्तु शय्यातरपिंड का ग्रहण तो सर्वथा नहीं किया ॥८०७॥

गच्छ की विशालता को देखकर, नवकारसी-पानी आदि के लिये बार-बार जाने से तथा मुनियों को स्वाध्याय आदि करते देखकर आकृष्ट हुआ गृहस्थ (शय्यातर) उद्गम के दोषों से दूषित आहार आदि दे सकता है ॥८०८॥

—विवेचन—

शय्यातर - शय्या = मुनि को ठहरने के लिये दिया गया आवास।

तर = उसके द्वारा दुस्तर संसार सागर को तरने वाला अर्थात् जो मुनि को ठहरने के लिये आवास देता है वह 'शय्यातर' कहलाता है। शय्यातर दो प्रकार का है—**(i)** वसति (स्थान) का मूल मालिक, **(ii)** मालिक द्वारा नियुक्त अधिकारी। इन दोनों के भी दो भेद हैं—**(i)** एक और **(ii)** अनेक। पूर्वोक्त चारों पदों के मिलने से चतुर्भंगी बनती है।

(i) एक स्वामी और एक स्वामी तुल्य
(ii) एक स्वामी और अनेक स्वामी तुल्य
(iii) अनेक स्वामी और एक स्वामी तुल्य
(iv) अनेक स्वामी और अनेक स्वामी तुल्य

पूर्वोक्त भांगों में से दूसरा, तीसरा भांगा शुद्ध और पहला, चौथा भांगा अशुद्ध है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपवाद—चौथे भांगे से उपलब्ध वसति यद्यपि साधु के लिये अकल्प्य है तथापि किसी स्थान पर ऐसी ही वसति हो और श्रावक साधु-समाचारी में निपुण होने से साधु को विनती करे कि "भगवन्! आप इस वसति को ग्रहण करिये तथा हम सब में से किसी एक को शय्यातर बनाइये।" ऐसी स्थिति में साधु भी किसी एक को शय्यातर मानकर वसति ग्रहण करे और शेष घरों से भिक्षा ले।

अथवा—यदि वहाँ साधु अधिक हो और सभी का निर्वाह सरलता से हो जाता हो तथा सभी श्रावकों ने वसति दान किया हो तो सभी वसति के मालिकों को शय्यातर माने। यदि सरलता से निर्वाह न होता हो और सभी ने वसति न दी हो तो एक शय्यातर माना जाता है। दो शय्यातर हो तो एकान्तर दिन से उसके घर से भिक्षा ग्रहण करें। तीन शय्यातर हो तो तीसरे दिन, चार शय्यातर हो तो चौथे दिन शय्यातर के घर से भिक्षा ग्रहण करे। इस प्रकार आगे भी समझना ॥८००-८०१॥

प्रश्न—वसतिदाता शय्यातर कब बनता है?

उत्तर—जिसके अवग्रह में मुनि रात को सोए हों और जिसके अवग्रह में राइ-प्रतिक्रमण किया हो वे दोनों शय्यातर कहलाते हैं। (यद्यपि आवश्यक किये बिना मुनि को शयनस्थान से अन्य स्थान पर जाना नहीं कल्पता तथापि कदाचित् सार्थ आदि के साथ विहार करते समय चौरादि के भय से आवश्यक किये बिना भी अन्य स्थान पर जाना पड़ सकता है) ॥८०२॥

- संथारा व राइ प्रतिक्रमण एक वसति में किया हो पश्चात् दूसरी वसति में चले जाने पर भी शय्यातर वही माना जाता है जिसकी वसति में संथारा व प्रतिक्रमण किया हो।
- जिस मालिक की वसति में मुनि ठहरे हो उस वसति में यदि सारी रात जगते रहे और प्रभातकालीन प्रतिक्रमण किसी अन्य की वसति में जाकर करे तो मूल वसति का मालिक शय्यातर नहीं माना जाता किन्तु जिसके घर राइ-प्रतिक्रमण किया है वही शय्यातर कहलाता है।
- वसति छोटी होने से मुनियों को अलग-अलग रहना पड़े तो आचार्य गुरु आदि जिसकी वसति में ठहरे हो वही सबका शय्यातर माना जाता है, अन्य नहीं।

प्रश्न—वसतिदाता परदेश चला गया हो तो वह शय्यातर माना जाता है या नहीं? ॥८०३॥

उत्तर—भले वसति का मालिक परिवार सहित परदेश चला गया हो फिर भी शय्यातर वही माना जाता है क्योंकि वसति का अधिपति वही है ॥८०४॥

किन साधुओं से सम्बन्धित शय्यातर के घर से भिक्षा लेना नहीं कल्पता।

- साधु के गुण से रहित मात्र वेषधारी मुनि को वसति देने वाले शय्यातर के घर से भी भिक्षा लेना संयमी-मुनि को नहीं कल्पता तो संयमी मुनियों को वसति देने वाले गृहस्थ के घर की भिक्षा कल्पने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रश्न—वेषधारी साधु से सम्बन्धित शय्यातर के घर से भिक्षा लेना मुनियों को क्यों नहीं कल्पता?

उत्तर—यद्यपि साधु वेषधारी है फिर भी साधुत्व का चिह्न-रूप रजोहरण उसके पास होने से वेष से वह भी साधु कहलाता है। अतः उसके शय्यातर के घर से भी साधुओं को भिक्षा लेना नहीं कल्पता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे, महाराष्ट्र में कलाल जाति के लोगों की दुकान पर मदिरा हो या न हो किन्तु ये कलाल हैं, यह बताने के लिये उनकी दुकान पर ध्वजा लगाई जाती है। उस ध्वजा को देखकर भिक्षु उन घरों का त्याग करते हैं, वैसे यहाँ भी समझना ॥८०५॥

दोष—शय्यातर पिंड लेने का तीर्थंकरों ने निषेध किया है, उसे ग्रहण करने से आज्ञा भंग रूप दोष लगता है। यह साधु गृहस्थावस्था में राजा था या सेठ था, यह बात जिसे मालूम न हो, साधु को वहीं से भिक्षा (अज्ञात-भिक्षा) लेना कल्पता है। जबकि शय्यातर के साथ सम्पर्क हो जाने से उसे साधु के स्वरूप की पूर्ण जानकारी हो जाती है। ऐसी स्थिति में उसके घर से शुद्ध-भिक्षा नहीं मिल सकती।

- अति परिचय होने से शय्यातर साधु को आधाकर्मी आदि दोष से युक्त आहार दे सकता है।
- मुनियों को निरन्तर स्वाध्याय आदि करते देखकर शय्यातर उनका भक्त बन कर रसयुक्त आहार देवे। इससे मुनियों की रसासक्ति बढ़े।
- शय्यातर के घर से निरन्तर रस-पूर्ण आहार लाकर करने से मुनि का शरीर स्थूल बने, अच्छी उपधि मिलने से परिग्रह बढ़े।
- शय्यातर के घर से आहार, उपधि आदि ग्रहण करने से कभी शय्यातर के मन में अभाव पैदा हो सकता है कि साधुओं के वसतिदाता को उन्हें आहार, उपधि आदि भी देनी पड़ती है। इस भय से वह साधुओं को वसति देना ही बन्द कर दे ॥८०६॥
- मध्य के बाईस तीर्थंकरों और महाविदेह के तीर्थंकरों ने आधाकर्मी आहार लेने का निषेध नहीं किया है। (जिसके लिये आहार आदि बनाया हो, उस साधु को वह आहार लेना न कल्पे, किन्तु दूसरा साधु वह आहार ले सकता है)। किन्तु शय्यातर पिंड लेने का तो उन्होंने भी निषेध किया है। अतः मुनि को शय्यातर पिण्ड लेना किसी भी स्थिति में नहीं कल्पता ॥८०७॥

बारह प्रकार का शय्यातर पिण्ड—

जिसे शय्यातर माना हो उसके घर से निम्न बारह वस्तुएँ लेना नहीं कल्पता क्योंकि ये वस्तुएँ शय्यातर-पिण्ड कहलाती हैं।

१. अशन
२. पान
३. खादिम
४. स्वादिम
५. पात्रप्रोंछन
६. पात्र
७. कंबल
८. सुई
९. वस्त्र
१०. छुरी, कैंची
११. कान-कुचरणी (कान का मैल निकालने वाली)
१२. नखरदनिका (नख-काटने का उपकरण)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपिण्डरूप वस्तुएँ—

१. तृण
२. डगल (पाषाण-खण्ड)
३. राख
४. कफ आदि थूंकने का भाजन
५. शय्या
६. संथारा
७. पीठफलक आदि (पीठ पीछे रखने का)
८. लेप आदि (पात्रा आदि पर करने का या औषध रूप)
९. वस्त्र, पात्रादि सहित शय्यातर का पुत्र या पुत्री दीक्षा ग्रहण करे तो दे सकते हैं।

शय्यातर की ये नौ वस्तुएँ अपिंडरूप होने से मुनि को लेना कल्पता है।

अशय्यातर—साधु द्वारा वसति का त्याग करने के चौबीस घण्टे पश्चात् वसतिदाता अशय्यातर माना जाता है। जैसे आज दस बजे मुनियों ने किसी श्रावक की वसति का त्याग किया और अन्यत्र चले गये तो दूसरे दिन दस बजे बाद ही पूर्व वसति के मालिक के घर से मुनियों को आहार पानी लेना कल्पता है।

अपवाद—गाढ़तर—यदि कोई मुनि गाढ़ रोगी हो तो सीधा शय्यातर पिंड ग्रहण कर सकते हैं।

अगाढ़तर—यदि कोई मुनि अगाढ़ रोगी हो तो उसके योग्य भिक्षा हेतु पहले तीन बार अन्य घरों में जाना चाहिये। यदि ग्लान योग्य द्रव्य न मिले तो शय्यातर के घर से लेना चाहिये।

निमन्त्रण—शय्यातर का आहार आदि के लिये अत्यन्त आग्रह हो तो एकबार ग्रहण कर सकते हैं।

दुर्लभ द्रव्य—आचार्य प्रायोग्य घी, दूध आदि दुर्लभ द्रव्य अन्यत्र न मिले तो आचार्य आदि के लिये शय्यातर के घर से ग्रहण करना कल्पता है।

अशिव—दुष्ट व्यन्तर आदि के उपद्रव के समय अन्यत्र गमन शक्य न हो, अन्यत्र भिक्षा न मिलती हो तो शय्यातर के घर से लेना कल्पता है।

अवमौदर्य—अकाल में अन्यत्र भिक्षा न मिलने पर शय्यातर के घर से लेना कल्पता है।

प्रद्वेष—कारणवश राजा द्वेषी बन जाये और लोगों को साधुओं को भिक्षा देने का सर्वथा निषेध कर दे तो ऐसी स्थिति में गुप्त रूप से साधु शय्यातर के घर से भिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

भय—चोरादि के भय में भी शय्यातर पिण्ड लिया जा सकता है ॥८०८॥

११३ द्वार : श्रुत में सम्यक्त्व—

चउदस दस य अभिन्ने नियमा सम्मं तु सेसए भयणा।
मइओहिविवज्जासे होइ हु मिच्छं न सेसेसु ॥८०९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

श्रुत में सम्यक्त्व—श्रुत की अपेक्षा से जो साधु १० पूर्व से लेकर १४ पूर्व तक का ज्ञान रखता हो वह निश्चय से सम्यक्त्वी होता है। कुछ न्यून १० पूर्वी को सम्यक्त्व होता भी है और नहीं भी होता। मति अज्ञान और विभंग ज्ञान में निश्चय से मिथ्यात्व होता है। क्योंकि मिथ्यात्व के कारण से ही तो मतिज्ञान एवं अवधिज्ञान विपरीत (मति अज्ञान व विभंग ज्ञान) बनते हैं। मनःपर्यवी और केवलज्ञानी को मिथ्यात्व नहीं होता ॥८०९॥

११४ द्वार : चातुर्गतिक निर्ग्रन्थ—

चउदस ओही आहारगावि मणनाणि वीयरागावि।
हुंति पमायपरवसा तयणंतरमेव चउगइया ॥८१०॥

—विवेचन—

निर्ग्रंथ का चार गति में गमन—

१. चौदह पूर्वधारी

२. आहारक-लब्धिधारी

(कुछ आत्मा १४ पूर्वी होते हुए भी आहारक-लब्धिधारी नहीं होते अतः इनका अलग से ग्रहण किया गया है।)

३. अवधिज्ञानी

४. मनःपर्यवज्ञानी

५. उपशान्त मोही

गति—विषय-कषाय के वश चारों गतियों में जाते हैं ॥८१०॥

११५ द्वार : क्षेत्रातीत—

जमणुग्गए रविंमि अतावखेत्तंमि गहियमसणाइ।
कप्पइ न तमुवभोत्तुं खेत्ताईयंति समउत्ती ॥८११॥

—विवेचन—

क्षेत्रातीत—सूर्योदय से पहले आतपरहित क्षेत्र में ग्रहण किया हुआ अशन, पान, खादिम और स्वादिम क्षेत्रातीत होने से मुनि को उपयोग करना नहीं कल्पता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११६-११८: मार्गातीत, कालातीत, प्रमाणातीत—

असणाईयं कप्पइ कोसदुगब्भंतराउ आणेउं।
परओ आणिज्जंतं मग्गाईयंति तमकप्पं ॥८१२॥
पढमप्पहराणीयं असणाइ जईण कप्पए भोत्तुं।
जाव तिजामे उड्ढं तमकप्पं कालइक्कंतं ॥८१३॥
कुक्कुडिअंडयमाणा कवला बत्तीस साहुआहारे।
अहवा नियआहारो कीरइ बत्तीसभाएहिं ॥८१४॥
होइ पमाणाईयं तदहियकवलाण भोयणे जइणो।
एगकवलाइऊणे ऊणोयरिया तवो तंमि ॥८१५॥

—विवेचन—

दो कोश के भीतर से लाया हुआ आहार आदि करना मुनि को कल्पता है। इससे ऊपर का मार्गातीत होने से नहीं कल्पता।८१२॥

प्रथम प्रहर में लाया हुआ आहार आदि तीन प्रहर तक करना कल्पता है। इसके पश्चात् कालातीत होने से नहीं कल्पता ॥८१३॥

पन्द्रहवें द्वार में जो कवल का परिमाण बताया गया है, उतने परिमाण वाला आहार करना साधु-साध्वी को कल्पता है। इससे अधिक परिमाणातीत होने से करना नहीं कल्पता। प्रमाणोपेत में भी मुनि को ऊणोदरी के लिये एक, दो, तीन या चार कवल कम ही खाना चाहिये ॥८१४-८१५॥

११९. द्वार : दुःखशय्या—

पवयणअसद्दहाणं परलाभेहा य कामआसंसा।
ण्हाणाइपत्थणं इय चत्तारिऽवि दुक्खसेज्जाओ ॥८१६॥

—गाथार्थ—

दुःखशय्या—**१. प्रवचन की अश्रद्धा, २. परलाभ की इच्छा, ३. काम—मनोज्ञ शब्द, रूपादि की अभिलाषा तथा ४. स्नानादि की इच्छा—ये चार दुःखशय्या है ॥८१६॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

दुःख = दुःखदायक, शय्या = जिस पर सोया जाये।

इसके दो प्रकार हैं—द्रव्यतः अमनोज्ञ खाट, पाट पलंग आदि।

भावतः अशुभ मन, असाधुता प्रयोजक-विचार। इसके चार भेद हैं:—

(१) अश्रद्धान—जिनशासन पर विश्वास न होना।

(२) परलाभेच्छा—दूसरों के सामने वस्त्र-पात्रादि की प्रार्थना करना।

(३) कामाशंसा—मनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि की अभिलाषा करना।

(४) ण्हाणाइपत्थण—उबटन, मालिश आदि करने की एवं स्नानादि की आकांक्षा रखना।

ऐसा करने वाला मुनि कभी भी साधु जीवन के सुख का अनुभव नहीं कर सकता अतः ये "दुःखशय्या" कहलाते हैं ॥८१६॥

१२० द्वार : सुखशय्या—

सुहसेज्जाओऽवि चउरो जइणो धम्माणुरायरत्तस्स।
विवरीयायरणाओ सुहसेज्जाउत्ति भन्नंति ॥८१७॥

—गाथार्थ—

सुखशय्या—**धर्मानुरागी मुनि की सुखशय्या भी चार प्रकार की है—दुःखशय्या से विपरीत आचरण अर्थात् १. प्रवचनश्रद्धा, २. परलाभ की अनिच्छा, ३. काम की अनाशंसा तथा ४. स्नानादि की अनाकांक्षा ये सुखशय्या के चार प्रकार हैं ॥८१७॥**

—विवेचन—

सुखशय्या = जिस पर सुखपूर्वक सोया जाये। इसके दो भेद हैं—

(१) द्रव्यतः = मनोज्ञ खाट, पाट, पलंग आदि।

(२) भावतः = जिनधर्म का रागी मन। इसके चार भेद हैं—

(i) जिन वचन पर पूर्ण श्रद्धा रखना।

(ii) दूसरों से किसी प्रकार के लाभ की इच्छा न रखना।

(iii) शब्द रूपादि के प्रति अनासक्ति होना।

(iv) स्नानादि की इच्छा न करना।

ऐसे मुनि निरन्तर तप-जप-क्रिया-कलाप में मग्न होने से परम सन्तोष और सुख का अनुभव करते हैं, अतः ये सुखशय्या कहलाते हैं ॥८१७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२१ द्वार : क्रियास्थान १३—

अट्ठा णट्ठा हिंसाऽकम्हा दिट्ठी य मोसऽदिन्ने य।
अज्झप्प माण मित्ते माया लोभेरियावहिया ॥८१८॥
तसथावरभूएहिं जो दंडं निसरई उ कज्जेणं।
आयपरस्स व अट्ठा अट्ठादंडं तयं बिंति ॥८१९॥
जो पुण सरडाईयं थावरकायं व वणलयाईयं।
मारेइ छिंदिऊण व छड्डेई सो अणट्ठाए ॥८२०॥
अहिमाइवइरियस्स व हिंसिसुं हिंसई व हिंसेही।
जो दंडं आरभई हिंसादंडो हवइ एसो ॥८२१॥
अन्नट्ठाए निसिरइ कंडाई अन्नमाहणे जो उ।
जो व नियंतो सस्सं छिंदिज्जा सालिमाईयं ॥८२२॥
एस अकम्हादंडो दिट्ठिविवज्जासओ इमो होइ।
जो मित्तममित्तंति य काउं घाएज्ज अहवावि ॥८२३॥
गामाई घाएज्ज व अतेण तेणत्ति वावि घाएज्जा।
दिट्ठिविवज्जासेसो किरियाठाणं तु पंचमयं ॥८२४॥
अत्तट्ठनायगाईण वावि अट्ठाइ जो मुसं वयइ।
सो मोसप्पच्चइओ दंडो छट्ठो हवइ एसो ॥८२५॥
एमेव आयनायगअट्ठा जो गिण्हई अदिन्नं तु।
एसो अदिन्नवत्ती अज्झत्थीओ इमो होइ ॥८२६॥
नवि कोइ य किंचि भणइ तहवि हु हियएण दुम्मणो किंचि।
तस्सऽज्झत्थी सीसइ चउरो ठाणा इमे तस्स ॥८२७॥
कोहो माणो माया लोभो अज्झत्थकिरियए चेव।
जो पुण जाइमयाई अट्ठविहेणं तु माणेणं ॥८२८॥
मत्तो हीलेइ परं खिंसइ परिभवई माणवच्चेया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माइपिइनायगाईण जो पुण अप्पेवि अवराहे ॥८२९ ॥
तिव्वं दंडं कुणई दहणंकणबंधताडणाईयं ।
तम्मित्तदोसवित्ती किरियाठाणं भवे दसमं ॥८३० ॥
एगारसमं माया अन्नं हिययंमि अन्न वायाए ।
अन्नं आयरई वा सकम्मणा गूढसामत्थो ॥८३१ ॥
मायावत्ती एसा पत्तो पुण लोहवत्तिया इणमो ।
सावज्जारंभपरिग्गहेसुं सत्तो महंतेसु ॥८३२ ॥
तह इत्थीकामेसुं गिद्धो अप्पाणयं च रक्खंतो ।
अन्नेसिं सत्ताणं वहबंधणमारणे कुणइ ॥८३३ ॥
एसेह लोहवत्ती इरियावहिअं अओ पवक्खामि ।
इह खलु अणगारस्सा समिईगुत्तीसुगुत्तस्स ॥८३४ ॥
सययं तु अप्पमत्तस्स भगवओ जाव चक्खुपम्हंपि ।
निवयइ ता सुहुमा हू इरियावहिया किरिय एसा ॥८३५ ॥

—गाथार्थ—

क्रियास्थान तेरह—**१. अर्थ, २. अनर्थ, ३. हिंसा, ४. अकस्मात्, ५. दृष्टिविपर्यास, ६. मृषा, ७. अदत्तादान, ८. अध्यात्म, ९. मानक्रिया, १०. अमित्रक्रिया, ११. मायाक्रिया, १२. लोभक्रिया एवं ईर्यापथिकी क्रिया ॥८१८ ॥**

१. अर्थक्रिया—**स्व और पर के निमित्त त्रस अथवा स्थावर जीवों की हिंसा करना वह अर्थक्रिया है ॥८१९ ॥**

२. अनर्थक्रिया—**बिना किसी प्रयोजन के सरट आदि त्रस जीवों को तथा लता आदि स्थावर जीवों को मारकर, छेदकर फेंक देना अनर्थक्रिया है ॥८२० ॥**

३. हिंसाक्रिया—**सर्प आदि शत्रु हमारी हिंसा करते हैं, हिंसा करेंगे अथवा अतीत में हिंसा की थी, इस प्रकार का चिन्तन करते हुए उनका वध करना हिंसाक्रिया है ॥८२१ ॥**

४. अकस्मात् क्रिया—**अन्य जीव को मारने हेतु फेंके गये बाण आदि के द्वारा अन्य जीव का वध होना, जैसे घास काटने की इच्छा होते हुए भी अनाभोग से शाली आदि धान्य काट देना ॥८२२ ॥**

५. दृष्टिविपर्यास क्रिया—**पूर्वोक्त अकस्मात् क्रिया है। दृष्टिविपर्यास क्रिया इस प्रकार होती है। मित्र के मतिविभ्रमवश शत्रु मानकर हिंसा करना अथवा किसी एक के अपराध में समूचे गाँव की हत्या करना अथवा साहूकार को चोर मानकर वध करना—यह दृष्टिविपर्यास नामक पाँचवा क्रियास्थान है ॥८२३-८२४ ॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. मृषाक्रिया—**स्व या पर के लिये झूठ बोलना यह मृषादंड है ॥८२५ ॥**

७. अदत्तादान क्रिया—**स्व या पर के लियें स्वामी द्वारा बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करना अदत्तादान क्रिया है। अध्यात्मक्रियास्थान इस प्रकार है ॥८२६ ॥**

८. अध्यात्मक्रिया—**बिना किसी बाह्यनिमित्त के स्वयं के विचार द्वारा ही मन में विषाद होना अध्यात्मक्रिया है। अध्यात्म क्रिया के मुख्य चार स्थान हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ ॥८२७-१/२ ॥**

९. मानक्रिया—**जाति आदि आठ प्रकार के मान से मत्त होकर जो दूसरों की अवज्ञा, निंदा व तिरस्कार करता है वह मानक्रिया स्थान है ॥८२९ ॥**

१०. अमित्रक्रिया—**अल्प अपराध में अधिक दंड देना, जैसे—डाम लगाना, गोदना, बाँधना, ताड़ना-तर्जना करना आदि दसवीं अमित्रक्रिया है ॥८३० ॥**

११. मायाक्रिया—**गूढ़ सामर्थ्यवाला, मन-वचन और क्रिया ये तीनों जिसके परस्पर विसंवादी हों ऐसे व्यक्ति की क्रिया मायाक्रिया है ॥८३१ ॥**

१२. लोभक्रिया—**महान पापारंभ परिग्रह आदि में आसक्त, स्त्री, कामभोगादि में गृद्ध, स्वयं की रक्षा के लिये अन्य जीवों का वध, बंधन एवं ताड़ना आदि करने वालों की क्रिया लोभक्रिया है ॥८३२-८३३ ॥**

१३. ईर्यापथिकी क्रिया—**अब ईर्यापथिकी क्रिया का वर्णन करते हैं। यह क्रियास्थान समिति गुप्ति से सुगुप्त मुनि को ही होता है। सतत अप्रमत्त मुनि भगवन्त की पलकें गिरना, चक्षु आदि का संचलन होना इत्यादि रूप सूक्ष्म ईर्यापथिक क्रियास्थान होता है ॥ ८३४-८३५ ॥**

—विवेचन—

क्रियास्थान = कर्मबन्धन की हेतुभूत क्रियाओं के तेरह प्रकार हैं।

१. अर्थक्रिया	८. अध्यात्मक्रिया
२. अनर्थक्रिया	९. मानक्रिया
३. हिंसाक्रिया	१०. अमित्रक्रिया
४. अकस्मात्क्रिया	११. मायाक्रिया
५. दृष्टिविपर्यासक्रिया	१२. लोभक्रिया
६. मृषाक्रिया	१३. ईर्यापथक्रिया ॥८१८ ॥
७. अदत्तादानक्रिया	

१. अर्थक्रिया—अपने शरीर आदि के लिये तथा स्वजन, परिजनादि के लिये द्वीन्द्रिय आदि त्रसजीवों की तथा पृथ्वी आदि स्थावर जीवों की हिंसा करना "अर्थक्रिया" है। जिसके द्वारा पृथ्वी आदि स्थावरजीव तथा द्वीन्द्रिय आदि त्रसजीव दण्डित हों, वह दंड है अर्थात् वह हिंसा है। ऐसी हिंसा सप्रयोजन अर्थात् अपने लिये या स्वजनादि के लिये हो तो अर्थदंड कहलाती है। उस अर्थदंड को करने वाला भी क्रिया-क्रियावान में अभेद उपचार से अर्थदंड कहलाता है ॥८१९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **अनर्थक्रिया**—निष्प्रयोजन त्रस जीवों की हिंसा करना, स्थावर जीवों का छेदन-भेदन करना, जैसे—गिरगिट, चूहा आदि त्रसकाय व वनलता आदि स्थावरकाय को बिना किसी प्रयोजन के मारना, काटना आदि ॥८२०॥

३. **हिंसाक्रिया**—सर्प, शत्रु आदि को अपना अनिष्टकारक मानकर उनकी हिंसा करना ॥८२१॥

४. **अकस्मात्क्रिया**—हिरण, पक्षी, सर्प आदि को मारने के लिये फेंके गये तीर, पत्थर आदि के द्वारा अकस्मात् किसी अन्य का विनाश हो जाना अकस्मात् हिंसा है अथवा अनुपयोगी तृण आदि के काटने के प्रयास में धान आदि की बाली का कट जाना अकस्मात् दण्ड है ॥८२२॥

५. **दृष्टिविपर्यासक्रिया**—अर्थात् "मतिविभ्रम" होना। जैसे, मित्र को शत्रु समझकर मारना, किसी एक व्यक्ति के अपराध करने पर सम्पूर्ण गाँव को मार देना, साहूकार को चोर समझकर मारना ॥८२३-८२४॥

६. **मृषाक्रिया**—अपने लिये या मालिक के लिये असत्य बोलना "मृषाक्रिया" है ॥८२५॥

७. **अदत्तादानक्रिया**—अपने व दूसरे जैसे, मालिक, स्वजन, परिजन आदि के लिये मालिक की आज्ञा के बिना वस्तु ग्रहण करना "अदत्तादान" क्रिया है ॥८२६॥

८. **अध्यात्मक्रिया**—बिना किसी बाह्यनिमित्त के क्रोध, मान, माया, लोभादि के कारण होने वाला मानसिक शोक, सन्ताप व दुर्भाव "अध्यात्मक्रिया" है।

९. **मानक्रिया**—जाति, कुल, रूप, लाभ, बल, तप, श्रुत व ऐश्वर्य—इन आठ मदों से मत्त बनकर दूसरों की हीलना करना, दूसरों को तिरस्कृत करना, जैसे यह नीच है इत्यादि कहना "मानक्रिया" है ॥८२७-८२९॥

१०. **अमित्रक्रिया**—माता-पिता, स्वजनादि के अल्प अपराध में तीव्र दण्ड देना। जैसे, जलाना, गोदना, बाँधना, मारना आदि "अमित्रक्रिया" है।

दहन = अंगारे आदि से डाम देना, अंकन = ललाट आदि पर चिह्न बनाना। बन्धन = रस्सी आदि से बाँधना, ताड़न = चाबुक आदि से आघात करना। आदि शब्द से आहार-पानी का निषेध करना, यह भी "अमित्रक्रिया" है ॥८३०॥

११. **मायाक्रिया**—माया = कपट, कपटपूर्वक क्रिया करना। मन में कुछ सोचना, वचन से कुछ बोलना व क्रिया अलग ही करना। अपने आकार, इंगित आदि के द्वारा बात को छुपाने में समर्थ व्यक्ति की क्रिया "माया-क्रिया" है ॥८३१॥

१२. **लोभक्रिया**—हिंसामूलक होने से पापरूप धन-धान्यादि, स्त्री, मनोज्ञ रूप, रस, गन्ध व स्पर्श में अत्यन्त आसक्त व्यक्ति द्वारा स्वयं की रक्षा करते हुए, अन्य जीवों का वध, बंधन आदि करना "लोभक्रिया" है।

वध = लकड़ी आदि से मारना, बंधन = रस्सी आदि से बाँधना, मारण = प्राण लेना ॥८३२-८३३॥

१३. **ईर्यापथक्रिया**—गमन योग्य मार्ग "ईर्यापथ" है। ईर्यापथ सम्बन्धी क्रिया "ऐर्यापथिकी" क्रिया है। यह ऐर्यापथिकी का व्युत्पत्ति-निष्पन्न अर्थ है, पर इसका प्रयोग अन्य अर्थ में होता है। उपशान्तमोही,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षीणमोही व सयोगी आत्मा का योग प्रत्ययिक सातावेदनीय कर्म का बंध ऐर्यापथिकी का प्रवृत्तिनिमित्त जन्य अर्थ है।

अप्रमत्त शब्द से यहाँ पाँच समिति व तीन गुप्ति से युक्त, उपशान्त मोह, क्षीणमोह व सयोगी गुणस्थानवर्ती आत्मा ही गृहीत है, क्योंकि योग प्रत्ययबंध इन्हीं आत्माओं के होता है, शेष अप्रमत्तों के तो कषाय प्रत्यय-बंध होता है। जब तक पलकें झपकने की क्रिया होती है तब तक सातावेदनीय का योग प्रत्ययिक समय प्रमाण स्थिति वाला बंध होता है। यह "ईर्यापथिकी" क्रिया है ॥८३४-८३५॥

१२२ द्वार : आकर्ष—

सामाइयं चउद्धा सुय दंसण देस सव्व भेएहिं।
ताण इमे आगरिसा एगभवं पप्प भणियव्वा ॥८३६॥
तिण्ह सहस्सपुहुत्तं च सयपुहुत्तं होइ विरईए।
एगभवे आगरिसा एवइया हुंति नायव्वा ॥८३७॥
तिण्ह असंखसहस्सा सहसपुहुत्तं च होई विरईए।
नाणभवे आगरिसा एवइया हुंति नायव्वा ॥८३८॥

—गाथार्थ—

सामायिक के चार आकर्ष—**सामायिक के चार प्रकार हैं—१. श्रुतसामायिक, २. दर्शनसामायिक, ३. देशविरति सामायिक और ४. सर्वविरति सामायिक। प्रथम तीन सामायिक के एक भवाश्रयी सहस्रपृथक्त्व आकर्ष होते हैं और सर्वविरति के शतपृथक्त्व आकर्ष होते हैं ॥८३६-८३७॥**

प्रथम तीन सामायिक के अनेक भवाश्रयी असंख्य हजार पृथक्त्व आकर्ष होते हैं और सर्वविरति के सहस्रपृथक्त्व आकर्ष होते हैं ॥८३८॥

—विवेचन—

आकर्ष = खींचना अर्थात् सम्यक्त्व आदि चारों सामायिकों को प्रथमबार ग्रहण करना अथवा ग्रहण की हुई को छोड़कर पुनः ग्रहण करना।

सम = राग-द्वेष की स्थिति में मध्यस्थ बने रहना।

अय = गमन...प्रवृत्ति अर्थात् मध्यस्थ आत्मा का मोक्षमार्ग की ओर प्रवृत्ति "समाय" है। समाय ही सामायिक है।

उपशान्त होकर मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होना "सामायिक" है। सामायिक के चार भेद हैं—

१. श्रुतसामायिक
२. सम्यक्त्व सामायिक
३. देशविरति सामायिक
४. सर्वविरति सामायिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वोक्त चारों सामायिकों के एक भवाश्रयी व अनेक भवाश्रयी दो प्रकार के आकर्ष हैं।

१. एक भवाश्रयी—प्रथम तीन सामायिकों के आकर्ष उत्कृष्टतः सहस्र पृथक्त्व (२००० से ९००० बार तक प्राप्त होती है) हैं व अंतिम सामायिक के आकर्ष शतपृथक्त्व (२०० से ९०० बार) है।

आवश्यकचूर्णि के अनुसार देशविरति सामायिक के भी उत्कृष्ट आकर्ष शतपृथक्त्व है। कहा है— "देसविरईए य....पुण जहन्नेण एकम्मि, उक्कोसेण सयपुहुत्तंवारा" इति।

अर्थ—देशविरति सामायिक का जघन्य से एक आकर्ष व उत्कृष्ट से शतपृथक्त्व आकर्ष होते हैं।

जघन्यतः— चारों ही सामायिक के आकर्ष एक-एक हैं। इसके बाद या तो आत्मा भाव-भ्रष्ट हो जाता है या इनका लाभ ही नहीं होता ॥८३६-८३७॥

२. अनेकभवाश्रयी—प्रथम तीन सामायिक के आकर्ष उत्कृष्टतः असंख्य सहस्र हैं। अंतिम सामायिक के उत्कृष्टतः आकर्ष सहस्र पृथक्त्व है।

प्रथम तीन सामायिकवालों के भव क्षेत्रपल्योपम के असंख्येय भाग में जितने आकाश प्रदेश होते हैं उतने हैं और एक भवाश्रयी सहस्र-पृथक्त्व हैं। अतः प्रथम तीन सामायिक के उत्कृष्ट आकर्ष असंख्य सहस्र होते हैं।

सर्वविरति सामायिक वाले आत्मा के उत्कृष्ट आठ भव हैं और उसके एक भव-सम्बन्धी आकर्ष शतपृथक्त्व होते हैं अतः उसके उत्कृष्ट आकर्ष सहस्र पृथक्त्व हुए।

अन्य आचार्यों के मतानुसार सम्यक्त्व सामायिक व उसके अविनाभावी श्रुत सामायिक के एकभवाश्रयी असंख्य सहस्र आकर्ष है। कहा है—'दोण्ह सहस्समसंखा।'

अक्षरात्मक सामान्य श्रुत की प्राप्ति अनेक भवों में अनेक बार होती है। अतः उसके आकर्ष भी अनंत गुण होते हैं ॥८३८॥

१२३ द्वार : शीलांग—

सीलंगाण सहस्सा अट्ठारस एत्थ हुंति नियमेणं।
भावेणं समणाणं अक्खंडचरित्तजुत्ताणं ॥८३९॥
जोए करणे सन्ना इंदिय भोमाइ समणधम्मे य।
सीलंगसहस्साणं अट्ठारगस्स निप्फत्ती ॥८४०॥
करणाइं तिन्नि जोगा मणमाईणि हवंति करणाइं।
आहाराई सन्ना चउ सोयाइंदिया पंच ॥८४१॥
भोमाई नव जीवा अजीवकाओ य समणधम्मो य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खंताइ दसपयारो एवं ठिय भावणा एसा ॥८४२ ॥
न करइ मणेण आहारसन्नविप्पजढगो उ नियमेण ।
सोइंदियसंवरणो पुढविजिए खंतिसंजुत्तो ॥८४३ ॥
इय मद्दवाइजोगा पुढवीकाए हवंति दस भेया ।
आउक्कायाईसुवि इअ एए पिंडिअं तु सयं ॥८४४ ॥
सोइंदिएण एवं सेसेहिवि जं इमं तओ पंच ।
आहारसन्नजोगा इय सेसाहिं सहस्सदुगं ॥८४५ ॥
एवं मणेण वयमाइएसु एवं तु छस्सहस्साइं ।
न करे सेसेहिंपि य एए सव्वेवि अट्ठारा ॥८४६ ॥

—गाथार्थ—

अट्ठारह हजार शीलांग—**अखंडचारित्रयुक्त, भावसाधुओं को निश्चित रूप से अट्ठारह हजार शीलांग होते हैं। योग, करण, संज्ञा, इन्द्रिय, पृथ्वीकाय आदि तथा दशविध श्रमणधर्म के द्वारा अट्ठारह हजार शीलांगों की निष्पत्ति होती है ॥८३९-८४० ॥**

करण आदि तीन योग, मन आदि तीन करण, आहार आदि चार संज्ञा, श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियाँ, पृथ्वी आदि नौ जीव, एक अजीव तथा दशविध श्रमणधर्म, इन सब की इस प्रकार भावना करनी चाहिये ॥८४१-८४२ ॥

आहारसंज्ञा से रहित, श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में संयत, क्षमायुक्त आत्मा पृथ्वीकायिक जीवों का आरंभ-समारंभ मन से नहीं करता। इस प्रकार मार्दव आदि के साथ भी भांगे करने से कुल दस भांगे हुए। इस प्रकार अप्काय आदि के साथ भी दस-दस भांगे होने से श्रोत्रेन्द्रिय के कुल सौ भांगे हुए। शेष इन्द्रियों के सौ-सौ भांगे मिलाने से पाँच इन्द्रियों के कुल पाँच सौ भांगे हुए। शेष संज्ञाओं के भी पाँच-पाँच सौ भांगे होने से चार संज्ञाओं के साथ कुल दो हजार भांगे हुए। इस प्रकार वचन और काया के दो-दो हजार भांगे मिलाने से कुल छः हजार भांगे हुए। इसी तरह 'न कराऊं' और 'न अनुमोदुं' के छः-छः हजार भांगे जोड़ने से कुल अट्ठारह हजार शील के भेद हुए ॥८४३-८४६ ॥

—विवेचन—

शीलांग = शील व अंग दो शब्दों से बना है। शील अर्थात् चारित्र, अंग यानि अवयव कारण। यति धर्म में अथवा शासन में चारित्र के अट्ठारह हजार अवयव विशुद्ध परिणाम की दृष्टि से हैं। पालन करने की अपेक्षा से न्यून भी हो सकते हैं। ये अट्ठारह हजार शीलांग मुनियों के ही होते हैं, श्रावकों के नहीं, क्योंकि सर्वविरति में ही इतने शीलांग हो सकते हैं, देशविरति में नहीं।

अथवा भावश्रमणों के ही अट्ठारह हजार शीलांगयुत साधु धर्म होता है द्रव्यश्रमणों के नहीं। अर्थात् जो समग्रता से चारित्र का पालन करते हैं उन्हीं का संयम अट्ठारह हजार शीलांगयुक्त होता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर दर्प से जिनका चारित्र देशतः खण्डित हो चुका है ऐसे मुनियों का संयम संपूर्ण शीलांगयुक्त नहीं होता।

प्रश्न—सर्वविरत वे ही कहलाते हैं कि जिनका चारित्र अखंड है। किन्तु जिनका चारित्र अल्प भी खण्डित हो चुका है वे असर्वविरत हो जाते हैं। महाव्रतों का नियम है कि उन का ग्रहण भी एक साथ होता है और अतिक्रमण भी। महाव्रतों का देशतः ग्रहण व देशतः खण्डन नहीं हो सकता। अतः जिनके महाव्रत अल्प भी खण्डित हो चुके हैं वे सर्वथा अविरत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में सर्वविरति के देशतः खण्डन वाली बात कहना असंगत है?

उत्तर—आपका कथन सत्य है पर जिनके महाव्रत देशतः खण्डित हो चुके हैं वह भी महाव्रतों के ग्रहण की अपेक्षा से तो सर्वविरत ही है क्योंकि महाव्रतों का ग्रहण तो एक साथ ही होता है, अलग-अलग नहीं। किन्तु पालने की अपेक्षा से यह नियम नहीं है क्योंकि संज्वलन कषाय का उदय साधु को भी होता है और उसके उदय में निश्चितरूप से अतिचार लगते हैं, जो कि चारित्र को देशतः खण्डित करते हैं। कहा है—"सव्वेवि अइयारा संजलणाणं तु उदयओ हुंति।" तथा जो कहा गया है कि—एकव्रत का अतिक्रम (खण्डन) सर्वव्रतों का अतिक्रम (खंडन) है—यह कथन आपेक्षिक है। इसका आधार है दशविध प्रायश्चित्त का विधान। यदि एक के अतिक्रमण से सभी व्रतों का खण्डन होना माना जाये तो प्रायश्चित्त के अलग-अलग प्रकार बताना ही व्यर्थ होगा। एक "मूलच्छेद" प्रायश्चित्त ही बताना चाहिये था। अलग-अलग प्रायश्चित्त का विधान अलग-अलग दोषों की शुद्धि के लिये है। पर, जो गुण खण्डित नहीं हुआ है उसकी क्या शुद्धि होगी? इससे यह सिद्ध होता है कि व्रतों का देशतः खण्डन उन्हें सर्वथा खण्डित नहीं करता परन्तु दूषित करता है और उन दोषों की शुद्धि उनके अनुरूप प्रायश्चित्त द्वारा होती है। कहा है—मूलच्छेद को छोड़कर शेष प्रायश्चित्त से शुद्ध होने योग्य दोषों में व्रतों का खण्डन नहीं होता, केवल व्रत दूषित होते हैं। एक व्रत के खण्डन से सभी व्रतों के खण्डन वाली बात मूलच्छेद प्रायश्चित्त से शुद्ध होने योग्य दोष में ही लागू होती है।

पूर्वोक्त स्पष्टीकरण व्यवहारनय की अपेक्षा से है। निश्चयनय की अपेक्षा से तो सातिचार चारित्री असर्वविरत ही है ॥८३९॥

प्रश्न—एकविध संयम के अट्ठारह हजार अवयव अर्थात् अंग कैसे होते हैं?

उत्तर—३ करण (करना, कराना व अनुमोदन करना) × ३ योग (मन, वचन, व काया) = ९ × ४ संज्ञा (आहार, भय, मैथुन व परिग्रह, ये चारों संज्ञायें क्रमशः वेदनीय, भयमोहनीय, वेदमोहनीय व लोभकषाय के उदय से जन्य अध्यवसायविशेषरूप हैं।) = ३६ × ५ इन्द्रियाँ (श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन व स्पर्शन। इन्द्रियों का पश्चानुपूर्वी से कथन इस बात का द्योतक है कि शीलांग उत्तरोत्तर गुणों की वृद्धि से ही उपलब्ध होते हैं।) १८० × ९ जीव + १ अजीव (पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय = ९ जीव। अजीव = महामूल्यवान वस्त्र, पात्र, सोना, चाँदी आदि। दुष्प्रत्युपेक्षित व अप्रत्युपेक्षित वस्त्र, पुस्तक, चर्म, तृण पंचक आदि = १८०० × १० श्रमणधर्म (क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिञ्चन्य व ब्रह्मचर्य) = १८००० शीलांग होते हैं ॥८४०-८४२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भांगों की रचना इस प्रकार है। यथा—

१. क्षमायुक्त मन से आहारसंज्ञा विहीन होकर श्रोत्रेन्द्रिय के संयमपूर्वक पृथ्वीकायिक जीव की हिंसा न करना—यह प्रथम शीलांग है।

२. मार्दवगुण युक्त मन से आहार संज्ञा विहीन होकर श्रोत्रेन्द्रिय के संयम पूर्वक पृथ्वीकायिक जीव की हिंसा न करना—यह द्वितीय शीलांग है।

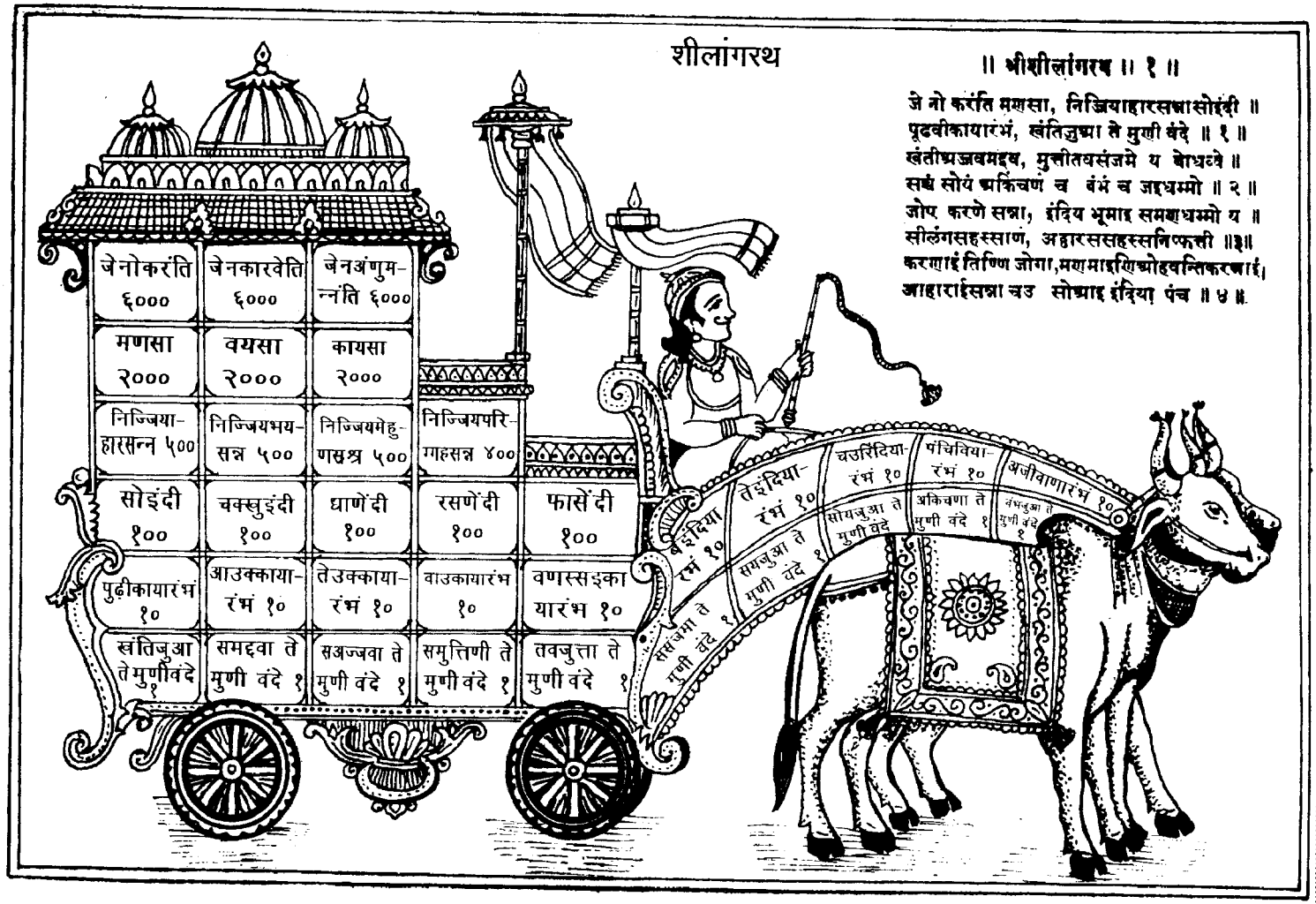
३. आर्जवगुणयुक्त मन से आहार संज्ञा विहीन होकर श्रोत्रेन्द्रिय के संयमपूर्वक पृथ्वीकायिक जीव की हिंसा न करना—यह तृतीय शीलांग है।

- इस प्रकार ब्रह्मचर्य, तप आदि सातों के साथ सात भाँगे हुए। कुल दशविध यतिधर्म के दश विकल्प बने।
- अप्काय आदि नौ के साथ दशविध यतिधर्म के विकल्प करने पर ९० विकल्प हुए। पूर्वोक्त १० मिलान पर ९० + १० = १०० विकल्प हुए।
- पूर्वोक्त १०० भांगे श्रोत्रेन्द्रिय के साथ हुए, वैसे चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ भी होते हैं अतः १०० × ५ = ५०० विकल्प हुए।
- जैसे पूर्वोक्त विकल्प आहारसंज्ञा के साथ हैं वैसे अन्य संज्ञाओं के साथ भी होते हैं अतः ५०० × ४ = २००० विकल्प हुए।
- २००० विकल्प मनोयोग के समान उस वचनयोग और काय योग के भी हैं। कुल मिलाकर तीनों योग के २००० × ३ = ६००० विकल्प हुए।
- ६००० 'न करुं' के हैं वैसे न कराऊं और 'न अनुमोदूं' के मिलाने से कुल विकल्प ६००० × ३ = १८००० हुए।

प्रश्न—पूर्वोक्त १८००० विकल्प, एक धर्म, एक योग, एक संज्ञा, एक इन्द्रिय, एक जीव व एक करण के संयोग से बने हैं। यदि इनके द्विसंयोगी, त्रिसंयोगी आदि विकल्प किये जायें तो बहुत अधिक होंगे। यथा—तीन योग के एक-द्वि-त्रि संयोगी विकल्प सात हैं। इस प्रकार तीन करण के भी सात हैं। चार संज्ञा के एक-द्वि-त्रि व चतुसंयोगी १५ विकल्प हैं। पाँच इन्द्रियों के एक से लेकर पाँच संयोगी ३१ विकल्प हैं। पृथ्वीकाय आदि १० के एक-द्वि आदि संयोगी १०२३ विकल्प हैं। क्षमादि १० के भी १०२३ विकल्प हैं। पूर्वोक्त संख्या का परस्पर गुणा करने पर २३८४५१६३२६५) दो हजार करोड़, तीन सौ करोड़, चौरासी करोड़, एकावन लाख, तिरेसठ हजार, दो सौ पैंसठ विकल्प होते हैं तो आपने १८००० ही क्यों कहे?

उत्तर—सर्वविरति का ग्रहण श्रावकों के व्रतग्रहण की तरह वैकल्पिक होता, तब तो आपका कथन युक्तिसंगत था। परन्तु सर्वविरति का ग्रहण वैकल्पिक नहीं होता, वह तो समग्रता से ही होता है। एक शीलांग अन्य शीलांगों के सद्भाव में ही होता है अन्यथा सर्वविरति ही नहीं होगी। कहा है—शीलांग के अधिकार में यह समझना अत्यावश्यक है कि—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

इत्थं इम विन्नेयं अइदंपज्जं तु बुद्धिमंतेहिं।

एक्कंपि सुपरिसुद्धं, शीलंगं सेससब्भावे॥

शीलांग के अधिकार में बुद्धिमान पुरुषों के लिये यह ज्ञातव्य है कि एक शुद्ध शीलांग की सत्ता अन्य शीलांगों के सद्भाव में ही होती है। शीलांगों का ग्रहण तीन करण, तीन योग से समुदित ही होता है, एक-द्वि-त्रि संयोगी आदि विकल्पयुक्त नहीं होता। जैसे तीन करण, तीन योग रूप नवांशता की पूर्ति अंतिम विकल्प के साथ ही होती है वैसे १८००० शीलांगों की समग्रता पूर्ति अन्तिम विकल्प से ही होगी। इसीलिये शीलांग श्रावकों के नहीं होते। श्रावकों के प्रत्याख्यान विकल्पयुक्त होते हैं। हाँ, श्रावक अपने मन की स्थिरता हेतु व साधुजीवन के अनुमोदनार्थ शीलांगों का अभिलाप अवश्य कर सकता है। जैसे—

१. क्षमागुणयुक्त मन से आहारसंज्ञा विहीन होकर, श्रोत्रेन्द्रिय के संयम पूर्वक जो पृथ्वीकाय का आरंभ नहीं करते, वे धन्य हैं।

इस प्रकार तीन करण, तीन योग, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रियाँ, पृथ्वी आदि नौ जीव, एक अजीव तथा दशविध यतिधर्म के साथ भी विकल्प रचना करके साधुजीवन की अनुमोदना करते हुए श्रावक बोल सकता है॥८४३-८४६॥

१२४ द्वार : सप्त नय—

नेगम संगह ववहार रिज्जुसुए चेव होइ बोद्धव्वे।
सद्दे य समभिरूढे एवंभूए य मूलनया॥८४७॥
एक्केक्को य सयविहो सत्त नयसया हवंति एवं तु।
बीओ वि य आएसो पंचेव सया नयाणं तु॥८४८॥

—गाथार्थ—

सात नय—**१. नैगम, २. संग्रह, ३. व्यवहार, ४. ऋजुसूत्र, ५. शब्द, ६. समभिरूढ़ और ७. एवंभूत—ये मूल सात नय हैं॥८४७॥**

एक-एक नय के सौ-सौ भेद होने से 'सात नय' के कुल सात सौ भेद हुए। अन्य मतानुसार नय के पाँच सौ भेद हैं॥८४८॥

—विवेचन—

मूल नय ७ हैं—

१. नैगम, २. संग्रह, ३. व्यवहार, ४. ऋजूसूत्र, ५. शब्द, ६. समभिरूढ़ और ७. एवंभूत।

प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। (एक वस्तु नित्य भी है, अनित्य भी है, ह्रस्व भी है, दीर्घ भी है, अस्ति भी है और नास्ति भी है, इस प्रकार अनन्त धर्मयुक्त है।) वस्तु के सभी धर्मों का ज्ञान प्रमाण का विषय है पर नय वस्तु के एक धर्म का ही मुख्यरूप से ज्ञान कराता है। जैसे वस्तु के अनन्तधर्मों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में से 'नित्यत्व' आदि किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु का ज्ञान कराने वाला 'नय' है। जो 'नय' वस्तुगत अनन्तधर्मों की अपेक्षा रखते हुए (नयान्तर सापेक्ष) किसी एक धर्म के द्वारा वस्तु का बोध करता है वह वस्तुतः संपूर्ण वस्तु का बोधक होने से प्रमाण में ही अन्तर्भूत हो जाता है। परन्तु जो नय नयान्तर से निरपेक्ष होकर अपने अभिप्रेत धर्म के द्वारा अनवधारणपूर्वक (एवकार रहित) वस्तु का बोध करता है वह वस्तु के एकदेश...एक अंश का ग्राहक होने से 'नय' कहलाता है। ऐसा 'नय' निश्चय से मिथ्यादृष्टि होता है क्योंकि यह यथार्थ वस्तु का बोधक नहीं होता। इसीलिये कहा गया है कि—'सव्वे नया मिच्छावाइणो' सभी नय मिथ्यावादी हैं।

नयान्तर निरपेक्ष नयवाद मिथ्यावाद है, इसीलिये जिनागम के रहस्य के ज्ञाता पुरुषों का कथन स्यात्पूर्वक (कुछ अंशों में ऐसा है) ही होता है क्योंकि स्यात् के प्रयोग के बिना उनका कथन भी मिथ्यावाद हो जायेगा। यद्यपि लोकव्यवहार में सर्वत्र...सर्वदा स्यात्कार का प्रयोग नहीं किया जाता तथापि वहाँ अप्रयुक्त भी "स्यात्" शब्द का परोक्ष प्रयोग अवश्य समझना चाहिये। कहा है—

"अप्रयुक्त भी स्यात् शब्द यदि प्रयोजक कुशल है तो विधि-निषेध, अनुवाद, अतिदेश आदि वाक्यों में अर्थवशात् स्वतः ज्ञात हो जाता है।"

स्यात् शब्द के प्रयोग से वाक्य में किसी विशेष धर्म का कथन होने पर भी अन्यधर्मों का अपलाप नहीं होता प्रत्युत सभी धर्मों की अपेक्षा रहती है, मात्र कथन 'नय' की अपेक्षा से एक ही धर्म का होता है। जैसे, 'स्यादनित्यः घटः' इस क्थन में और 'अनित्यः घटः' ऐसा कहने में बड़ा अन्तर है। प्रथम वाक्य का अर्थ है 'घट कुछ अंशों में अनित्य है, जबकि दूसरे वाक्य का अर्थ है घट अनित्य ही है। पहिले वाक्य से घट में अनित्यता के साथ अन्यधर्मों की भी अपेक्षा है पर दूसरे वाक्य में ऐसा नहीं है, वहाँ अनित्यता के अतिरिक्त अन्य सभी धर्मों का निषेध है। अतः 'स्यात्' शब्द सहित ही नयवाक्य सम्यक् कहलाता है।

विस्तार से तो नय अनेक हैं क्योंकि एक वस्तु के विवेचन की जितनी विधियां हो सकती हैं उतने ही नय हो सकते हैं। पर संक्षेपतः नय के दो भेद हैं। (i) द्रव्यार्थिक और (ii) पर्यायार्थिक। द्रव्य अर्थात् सामान्य को विषय करने वाले नय को द्रव्यार्थिक नय कहते हैं और पर्याय अर्थात् विशेष को विषय करने वाले नय को पर्यायार्थिक नय कहते हैं। इन दोनों के सामान्यतया निम्न भेद हैं। द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं—संग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत।

१. नैगमनय—जिसका कोई एक निश्चित स्वभाव नहीं है वह नैगम नय है। न + एक 'नैक'। यहाँ न, नञ् का नहीं है, 'न' अव्यय ही है। अन्यथा 'अन् स्वरे' से नञ् के 'न' को अन् होकर 'अनेकम्' शब्द बन जाता। 'नैक' अर्थात् प्रभूत...अनेक। महासामान्य, अवान्तरसामान्य व विशेष के ग्राहक अनेक प्रमाणों से वस्तु का बोध कराने वाला नय 'नैगम' है। पृषोदरादि से यहाँ 'क' का 'ग' होकर नैगम बना। वस्तु का निश्चित बोध 'निगम' है। अर्थात् परस्पर भिन्न, सामान्य एवं विशेष से युक्त वस्तु का बोध कराने वाला नय 'निगम' है। 'निगम' शब्द से स्वार्थिक अण् प्रत्यय होकर 'नैगम' बना। अथवा गम = मार्ग, नैक = अनेक अर्थात् जो अनेक रूप से वस्तु का ज्ञान कराता है वह नैगम है।

नैगमनय की दृष्टि बड़ी विशाल है। वह सत्तारूप महासामान्य, द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवान्तर सामान्य तथा परमाणु आदि नित्यद्रव्यों में रहने वाले विशेष धर्मों को परस्पर सर्वथा भिन्न मानता है। जैसा कि नैगम नय का मानना है—पदार्थों की व्यवस्था ज्ञान पर आधारित है। द्रव्य, गुण, कर्म आदि पदार्थों में 'द्रव्य सत्, गुण सत्, कर्म सत्' यह बोध व कथन सामान्यरूप से होता है। इस बोध व कथन का कारण द्रव्य, गुण व कर्म नहीं है क्योंकि द्रव्यादि अव्यापक है। यदि द्रव्यादि में होने वाले सत् प्रत्यय को द्रव्यमूलक मानें तो वह गुण-कर्म में नहीं होगा क्योंकि वहाँ "द्रव्यत्व" नहीं है। यदि सत् प्रत्यय गुणमूलक है तो वह द्रव्य व कर्म में नहीं होगा क्योंकि वहाँ गुणत्व नहीं है। इसी तरह कर्म का भी समझना चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्यादि से व्यतिरिक्त महासत्ता नामक कोई सामान्य है जिसके कारण द्रव्य, गुण, कर्म आदि में समानरूप से सत्...सत् ऐसा बोध होता है। पृथ्वी आदि नौ द्रव्यों में द्रव्य...द्रव्य ऐसा जो समानाकार बोध होता है उसका कारण सभी में रहने वाला द्रव्यत्व रूप अवान्तर सामान्य है। इस प्रकार रूप आदि सभी गुणों में गुण...गुण का, उत्क्षेपणादि कर्मों में कर्म...कर्म का, सभी गायों में गौः . . . गौः का तथा सभी अश्वों में अश्व...अश्व का जो ज्ञान होता है वह क्रमशः गुणत्व, कर्मत्व, गोत्व, अश्वत्व आदि अवान्तर सामान्यमूलक है। अवान्तरसामान्य 'सामान्यविशेष' भी कहलाते हैं, कारण ये अपने-अपने आधारभूत द्रव्य (पृथ्वी आदि सभी द्रव्य), गुण (रूपादि सभी गुण), कर्म (उत्क्षेपणादि सभी कर्म), सभी गायें तथा सभी घोड़ों में समानाकार प्रतीति कराते हैं इसलिये सामान्य हैं और विजातीय से अपने आधारों को अलग करते हैं अतः विशेष भी हैं। इसी तरह तुल्य जाति, गुण व क्रिया के आधारभूत नित्य द्रव्यों—परमाणु, आकाश, दिशा आदि को परस्पर अलग करने वाले मात्र विशेष धर्म हैं जो योगी पुरुषों को ही प्रत्यक्ष है। हम तो उनका मात्र अनुमान ही कर सकते हैं। यथा-

प्रतिज्ञा—समान जाति, गुण व क्रिया के आधारभूत परमाणुओं में कोई न कोई व्यावर्तक (भिन्नता का बोधक) धर्म है।

हेतु—क्योंकि परमाणुओं में परस्पर भिन्नता का बोध होता है।

उदाहरण—जैसे मोतियों के ढेर के बीच पड़ा सचिह्न मोती सब से भिन्न दिखाई देता है।

घट, पट आदि को सजातीय से भिन्न करने वाले जो अवान्तर विशेष हैं—रूप, परिमाण, आकार आदि वे सभी सामान्य व्यक्तियों के प्रत्यक्ष हैं। जैसे यह घड़ा, उस घड़े से अलग है क्योंकि यह लाल है। यहाँ दो घड़ों को भिन्न करने वाला लाल रंग अवान्तर विशेष है। वैसे ही आकार, परिमाण आदि के लिये समझना चाहिये। ये सभी के प्रत्यक्ष हैं।

पूर्वोक्त महासामान्य, अवान्तर सामान्य, विशेष और अवान्तर विशेष परस्पर भिन्न स्वरूप वाले हैं क्योंकि वैसे ही प्रतीत होते हैं। सामान्य का ग्राहक ज्ञान विशेष को ग्रहण नहीं कर सकता वैसे ही विशेष का ग्राहक ज्ञान सामान्य का बोध नहीं करा सकता अतः सामान्य और विशेष परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। जिस पदार्थ का ज्ञान जिस रूप में होता है उस पदार्थ को उसी रूप में मानना चाहिये। जैसे "नीलरंग" का ज्ञान "नील" रूप में होता है तो उसे उसी रूप में स्वीकार करना चाहिये। इसी तरह सामान्य और विशेष परस्पर भिन्न दिखाई देते हैं अतः उन्हें भिन्न ही मानना चाहिये।

प्रश्न—यदि नैगमनय सामान्य और विशेष दोनों को स्वीकार करता है तो सामान्य और विशेष क्रमशः द्रव्य-पर्याय रूप होने से "नैगमनय" वस्तुतः द्रव्यास्तिक व पर्यायास्तिक नयरूप होगा तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक्दर्शनी जैनमुनि की तरह जिनमतानुसारी होने से यह नय सम्यग्दृष्टि ही माना जायेगा तो आप इसे मिथ्यादृष्टि कैसे कहते हो?

उत्तर—आपका कथन अयुक्त है क्योंकि यह नय जिनमतानुसार नहीं है कारण यह सामान्य और विशेष को परस्पर सर्वथा भिन्न मानता है। यह नय गुण-गुणी, अवयव-अवयवी और क्रिया-कारक का अत्यन्त भेद मानता है। न कि जैन साधु की तरह इनमें भेदाभेद मानता है। अतः यह नय सम्यग्दृष्टि न होकर कणाद की तरह मिथ्यादृष्टि ही है। यद्यपि कणाद ने पदार्थों की व्यवस्था द्रव्यास्तिक व पर्यायास्तिक नय के आधार पर की है तथापि वे द्रव्य (सामान्य) व पर्याय को सर्वथा भिन्न मानते हैं जबकि जिन प्रवचन सर्वत्र भेदाभेद को मानता है। एकान्त भेद व एकान्त अभेद जिनप्रवचन के अनुसार मिथ्या है। कहा है—

"जो सामान्य और विशेष को परस्पर सर्वथा भिन्न मानता है, वह कणाद की तरह मिथ्यादृष्टि है। यद्यपि कणाद ने पदार्थ की व्यवस्था द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक दो नयों के आधार पर ही की है तथापि वह मिथ्यादृष्टि है, कारण वह दोनों नयों को अपने-अपने विषय में प्रधान मानते हुए परस्पर निरपेक्ष मानता है।"

२. संग्रहनय—वस्तुगत विशेषों का परित्याग करते हुए समस्त जगत को सामान्य रूप से स्वीकार करने वाला नय संग्रहनय है। संग्रहनय सामान्य का ही अस्तित्व स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में सामान्य से भिन्न विशेष का कोई अस्तित्व नहीं है सामान्य से भिन्न विशेष मानने वालों के प्रति उसका प्रश्न है कि—विशेष सामान्य से भिन्न है या अभिन्न?

यदि प्रथमपक्ष मानें (विशेष सामान्य से भिन्न है) तो पदार्थ से भिन्न होने के कारण आकाशकुसुम की तरह विशेष का कोई अस्तित्व नहीं रहेगा। यदि दूसरा पक्ष मानें तो विशेष भी सामान्य रूप ही सिद्ध होगा। यथा—

प्रतिज्ञा—विशेष पदार्थ रूप हैं।

हेतु—क्योंकि वे पदार्थ से अभिन्न हैं।

उदाहरण—जो जिससे अभिन्न है वह वही है, जैसे पदार्थ का अपना स्वरूप। यहाँ भी विशेष पदार्थ से अभिन्न है।

पुनः पदार्थ से भिन्न विशेष का साधक कोई प्रमाण भी तो नहीं है अतः विशेष अतिरिक्त पदार्थ है ऐसा आग्रह कदापि नहीं रखना चाहिये। विशेष भेदरूप (अभावरूप) है और अभाव का ग्राहक कोई प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण भाव का ग्राहक है क्योंकि उसका उत्पादक भावपदार्थ है अतः वह उसी को ग्रहण करता है, अभाव को नहीं। अभाव तुच्छरूप होने से प्रत्यक्ष का उत्पादक नहीं हो सकता अतः प्रत्यक्ष अभाव का ग्राहक नहीं हो सकता। यदि अनुत्पादक पदार्थों का भी प्रत्यक्ष माना जाये तो विश्व के सभी पदार्थों के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी और इस प्रकार द्रष्टा अनायास ही सर्वदर्शी बन जायेंगे। ऐसा मानना अनिष्टापत्तिरूप है अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष भावपदार्थ का ही ग्राहक है और वह भाव सर्वत्र समान है इसलिये प्रत्यक्ष से सामान्य का ही ग्रहण होता है, विशेष का नहीं। अनुमानादि से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी विशेष का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि सभी प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक हैं। अत: सामान्य ही वस्तुत: सत् है, विशेष नहीं।

- संग्रहनय सभी पदार्थों को सामान्यरूप से संग्रह करता है। इस नयानुसार विशेषों का कोई अस्तित्व ही नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त विशेषों से रहित सत्त्व, द्रव्यत्व आदि सामान्य के आधार पर पदार्थों का संग्राहक ज्ञान संग्रह नय है। उसी तरह जाति विशेष के द्वारा संपूर्ण विशेषों को एकरूप से ग्रहण करने वाला ज्ञान संग्रहनय है।

३. व्यवहारनय—व्यवहार प्रधान नय व्यवहारनय है अथवा सामान्य का निराकरण करने वाला नय व्यवहारनय है अर्थात् व्यवहारनय मुख्यरूप से विशेषधर्मों का ही ग्रहण करता है। उसका मानना है कि सत्...सत् ऐसा कहने पर भी बोध तो घट, पट आदि किसी विशेष पदार्थ का ही होता है नहीं कि संग्रहनयसंमत किसी सामान्यपदार्थ का। क्योंकि सामान्य पदार्थ अर्थक्रिया करने में समर्थ न होने से लोक व्यवहार में उपयोगी नहीं बन सकता। अत: पदार्थ विशेषरूप ही है, नहीं कि सामान्यरूप। यथा—

प्रतिज्ञा—सामान्य कुछ भी नहीं है

हेतु—क्योंकि प्रत्यक्ष-योग्य होने पर भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता।

उदाहरण—प्रत्यक्षयोग्य होने पर भी जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता वह "असत्" है जैसे घट रहित भूतल में "घट" "असत् (घटाभाव) है।

उपनय—संग्रहनय सम्मत सामान्य प्रत्यक्ष योग्य होते हुए भी उपलब्ध नहीं होता।

निगम—अत: असत् है।

पुन: व्यवहारनय, सामान्यवादी के सम्मुख तर्क प्रस्तुत करता है कि आपका सामान्य विशेष से भिन्न है या अभिन्न? यदि प्रथम पक्ष मानें तो सामान्य का अभाव ही सिद्ध होता है क्योंकि विशेष से भिन्न सामान्य कुछ भी नहीं है जैसे विकसित, अर्धविकसित आदि अवस्थाविशेष से भिन्न आकाशपुष्प कुछ भी नहीं है। यदि द्वितीयपक्ष मानें तो भी विशेष ही सिद्ध होता है, सामान्य नहीं। क्योंकि विशेष से अभिन्न होने से तत्स्वरूपवत् सामान्य भी विशेषरूप ही है।

विशेष का खण्डन करने के लिये संग्रहनय ने जो कहा कि—प्रत्यक्ष भाव पदार्थ से उत्पन्न होता है अत: वह उसका ही बोध कराता है इत्यादि। यह कथन भी प्रलापमात्र ही है क्योंकि प्रत्यक्ष का वही आधार है, उत्पन्न होकर जिसका वह साक्षात्कार करता है। प्रत्यक्ष घट...पटादि से उत्पन्न होता है और वह घट...पटादिरूप विशेष को ही ग्रहण करता है न कि संग्रहनय संमत सामान्य को और घट, पटादि अभावात्मक नहीं है पर भावात्मक है अत: अर्थक्रिया समर्थ है। इस प्रकार विशेष ही प्रत्यक्ष सिद्ध है, सामान्य नहीं।

पुन: जो अर्थक्रिया समर्थ है वही वस्तुत: सत् है, इससे भी पदार्थ विशेष रूप ही सिद्ध होते हैं, कारण भारवहन करना ... दोहन करना आदि क्रिया में "गौ" आदि पदार्थ के विशेषरूप का ही उपयोग होता है सामान्य का नहीं अत: विशेष ही वास्तविक है, सामान्य नहीं।

व्यवहारनय लोकव्यवहारप्रधान है। जैसे भ्रमर में पाँचों रंग होने पर भी काले रंग की अधिकता से लोग उसे काला ही मानते हैं वैसे व्यवहारनय भी भ्रमर को काला ही मानता है शेष रंगों की विवक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही नहीं रखता। वैसे व्यवहारनय लोकव्यवहार में उपयोगी घट...पटादि विशेष पदार्थों को ही मानता है, सामान्य को नहीं।

४. ऋजुसूत्रनय—ऋजु अर्थात् सरल, जो नय वक्रता का त्याग करके वस्तु को सरलरूप में मानता है वह ऋजुसूत्रनय है। यहाँ वस्तु की सरलता का अर्थ है वस्तु की अतीत, अनागत व परपर्याय रूप वक्रता का त्याग करते हुए वस्तु की मात्र वर्तमानपर्याय व स्वपर्याय का बोध करानेवाला नय ऋजुसूत्रनय है। इसे ऋजुश्रुत भी कहते हैं। ऋजु अर्थात् अतीत, अनागत व परपर्यायरूप वक्रता से रहित श्रुत अर्थात् बोध, सरल अर्थात् वर्तमान पर्याय का बोध करने वाला नय "ऋजुश्रुत" है। इस नय का मन्तव्य है कि अतीतवस्तु अविद्यमान होने से तथा भावी वस्तु असत् होने से वर्तमान में उपयोगी नहीं बन सकती अतः वे शून्यवत् हैं तथा ऐसी वस्तु प्रमाण का विषय भी नहीं बन सकती अतः वह 'वस्तु' भी नहीं कहला सकती। वस्तु वही कहलाती है जो अर्थक्रिया समर्थ हो तथा प्रत्यक्षादि प्रमाण का विषय हो। अतीत, अनागत वस्तु में दोनों ही बातें न होने से वह वस्तुरूप नहीं है। तथा परवस्तु भी अपने लिये परधन की तरह उपयोगशून्य (निष्प्रयोजन) होने से वास्तव में तो असत् ही है।

ऋजुसूत्रनय वर्तमानवस्तु का ग्राहक होने के साथ भिन्न लिंग व भिन्न वचनवाली वस्तु को भी एक ही मानता है अर्थात् स्त्रीलिंग वाच्य पदार्थ से पुरुष व नपुंसक लिंग वाच्य पदार्थ को तथा एकवचन वाच्य पदार्थ से द्विवचन व बहुवचन वाच्य पदार्थ को भिन्न नहीं मानता। यथा तटः, तटी, तटम् शब्द क्रमशः पुल्लिग, स्त्रीलिंग व नपुंसकलिंग हैं। इन तीनों में लिंग भेद होने पर भी तटरूप अर्थ में कोई भेद नहीं है। तटरूप अर्थ तो तीनों का एक ही है। वैसे गुरुः...गुरू... गुरवः तथा गोदो-ग्राम, आपो-जलम्, दाराः—कलत्रम् आदि में वचनभेद से अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जहाँ तक निक्षेप का सम्बन्ध है ऋजुसूत्रनय, नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव चारों ही निक्षेपों को मानता है।

५. शब्दनय—वस्तु का प्रतिपादन करने वाला नय शब्दनय है। शब्द के वाच्य अर्थ को ही वास्तविक मानने वाला नय शब्दनय है। यह नय लाक्षणिक व व्यंग्य अर्थ को वास्तविक नहीं मानता। इसका अपरनाम 'सांप्रतनय' भी है। यह नय 'ऋजुसूत्रनय' की तरह भूत व भावी वस्तु की उपेक्षा करने वाला तथा वर्तमान वस्तु को वास्तविक मानने वाला है। वर्तमान में भी स्वकीय वस्तु को ही वास्तविक मानने वाला है। सांप्रत अर्थात् वर्तमान वस्तु का आश्रयण करने से यह नय सांप्रत कहलाता है। निक्षेप के सम्बन्ध में यह नय भावनिक्षेप को ही मान्यता देता है। नाम, स्थापनादि को नहीं मानता। नाम-स्थापनादि का निराकरण करने में इसका तर्क है कि—

प्रतिज्ञा—नाम, स्थापना व द्रव्यरूप घट, वस्तुतः घट नहीं है।

हेतु—क्योंकि घट के कार्य को करने में वह असमर्थ है।

उदाहरण—जो घट का कार्य करने में असमर्थ है वह घट नहीं है जैसे पट।

उपनय—वैसे नाम, स्थापनादिरूप घट भी घट का कार्य करने में असमर्थ हैं।

निगमन—अतः ये घटरूप नहीं है।

नाम, स्थापना व द्रव्यरूप घट में न तो घड़े का आकार दिखाई देता है न जलाहरण या जलधारणरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घट का कार्य ही दिखाई देता है। अतः उन्हें घट शब्द से संबोधित नहीं किया जा सकता। नाम, स्थापनादिरूप घटों को वास्तविक मानने वाला ऋजुसूत्रनय प्रत्यक्ष का विरोधी है। घट का आकार व कार्य न होने से जैसे पट घट नहीं कहलाता वैसे नामादि घट भी घट नहीं कहलाते, पर "ऋजुसूत्रनय" उन्हें घटरूप मानता है अतः वह प्रत्यक्ष विरोधी है।

तथा शब्दनय लिंग व वचन के भेद से वस्तु में भेद मानता है। अतः तटः, तटी, तटम् का लिंगभेद के कारण तथा गुरुः, गुरू, गुरवः का वचन भेद के कारण वाच्यार्थ भिन्न-भिन्न है। जो शब्द परस्पर अर्थ का अनुगमन नहीं करते वे भिन्नार्थक हैं, जैसे घट, पट आदि शब्द। लिंग व वचन भेद से भिन्न शब्द भी परस्पर भिन्नार्थक है। इन्द्र, शक्र, पुरन्दरादि शब्द अभिन्न लिंग वचनवाले होने से परस्पर समानार्थक (एकार्थक) हैं।

६. समभिरूढ़नय—शब्द की प्रवृत्ति में केवल व्युत्पत्तिनिमित्त को कारण मानने वाला नय समभिरूढ़ है। इस नय का मन्तव्य है कि यदि लिंगभेद व वचन भेद से शब्द के अर्थ में भेद होता है तो शब्दभेद से भी अर्थ में भेद होना चाहिये। जैसे, राजा, नृप, भूपति, घट, कुट, कुंभ आदि पर्याय शब्दों का भी भिन्न ही अर्थ होना चाहिये क्योंकि सभी की व्युत्पत्ति भिन्न है। यथा जलाहरण, जलधारण आदि विशिष्ट चेष्टा (क्रिया) वस्तुतः घट शब्द का वाच्यार्थ है। घट पदार्थ में घट शब्द की प्रवृत्ति औपचारिक है। 'कुट' शब्द 'कुट कौटिल्ये' धातु से बना है। पृथु, बुध्न, उदर आदि आकार की कुटिलता उसका वाच्यार्थ है। कुटिलता वाले पदार्थ में उसका प्रयोग औपचारिक है। वैसे कु = पृथ्वी, उस पर रहे हुए को उंभ = भरना कुंभ शब्द का वाच्यार्थ है। यहाँ 'उभ, उंभ पूरणे' धातु है। 'कु' शब्द उपपद रखने से 'कुंभ' बनता है। घट पदार्थ में कुंभशब्द का प्रयोग लाक्षणिक है, वास्तविक नहीं। इस प्रकार यह नय पर्यायवाची शब्दों के अर्थ को व्युत्पत्ति के भेद से भिन्न मानता है। उसका मानना है कि एक शब्द से बोध्य द्रव्य अथवा पर्यायरूप वस्तु दूसरे शब्द से बोध्य नहीं हो सकती। पट से बोध्य अर्थ कभी भी घट शब्द से बोध्य नहीं हो सकता क्योंकि घट व पट दोनों पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। यदि कोई भी पदार्थ किसी भी शब्द से बोध्य हो जाये तो सभी वस्तुएँ एकरूप हो जायेंगी अर्थात् घट...पट सभी एक हो जायेंगे और ऐसी स्थिति में लोकप्रसिद्ध निश्चित पदार्थ विषयक प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप व्यवहार ही विनष्ट हो जायेगा। अतः यह मानना होगा कि घट शब्द से वाच्य अर्थ कुट शब्द के वाच्यं अर्थ से भिन्न है अतः 'कुट शब्द' घट शब्द के वाच्य अर्थ का बोधक नहीं हो सकता। इसलिये पर्यायवाची शब्द के अर्थ परस्पर भिन्न ही होते हैं यह सिद्ध हुआ। यथा—जिन शब्दों का व्युत्पत्तिनिमित्त भिन्न-भिन्न है, उन शब्दों का अर्थ भी भिन्न ही होता है जैसे, घट, पट, शक्कर आदि शब्द। पर्यायशब्दों का भी व्युत्पत्तिनिमित्त भिन्न हैं अतः वे भी परस्पर भिन्नार्थक ही हैं। अतः जो नय पर्यायशब्दों को एकार्थक मानता है वह अयुक्त है। तर्कशून्य वस्तु को मानने से तो अतिव्याप्ति होगी। यथा—दूर देश में रहे हुए, प्रकाश की मंदता के कारण एकरूप दिखाई देने वाले नीम, कदंब, पीपल, कपित्थ आदि के पेड़ एकजाति के ही माने जायेंगे। परन्तु अनुभव विरुद्ध होने से ऐसा माना नहीं जाता है, वैसे ही पर्यायवाची शब्दों को भी एकार्थक नहीं माना जाता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी विषय को लेकर समभिरुढ़ नय शब्दनय को कहता है कि हे शब्दनय ! यदि तुम लिंगभेद व वचनभेद के कारण एक ही शब्द का अर्थ भिन्न मानते हो तो पर्यायशब्दों का अर्थभेद क्यों नहीं मानते ? क्योंकि वे परस्पर भिन्न अर्थवाले हैं। इससे सिद्ध होता है कि पर्यायशब्द एकार्थक नहीं है।

७. एवंभूतनय—एवं = इस प्रकार, भूतः = प्राप्त अर्थात् यह नय पूर्व नय की अपेक्षा अधिक गहराई से विचार करता है कि यदि व्युत्पत्ति भेद से अर्थभेद माना जाता है तो यह भी मानना चाहिये कि शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ जब पदार्थ में घटित होता है तभी वह शब्द का वाच्य बनता है तथा उस शब्द के द्वारा उस अर्थ का प्रतिपादन होता है ऐसा मानने वाला नय एवंभूत नय है। इसके अनुसार किसी समय नारी के मस्तक पर आरूढ़ होकर जलाहरणादि रूप चेष्टा करने की योग्यता धारण करने वाला अर्थ "घट" नहीं कहलाता परन्तु वास्तव में घट वही कहलाता है जो इस समय नारी के मस्तक पर आरूढ़ होकर जलाहरणादि क्रिया कर रहा हो। घट का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ 'घटनात् घटः' अर्थात् नारी के मस्तक पर आरूढ़ घट की जलाहरणादि क्रिया है। जिस पदार्थ में यह क्रिया दिखाई दे रही हो वही घट है। एवंभूत नय उसी पदार्थ को घट मानता है जिसमें घट शब्द की व्युत्पत्ति घटित हो रही हो शेष घड़ों को वह घट मानने को तैयार नहीं है क्योंकि वे घटशब्द के व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ से शून्य है जैसे पट। तथा घट शब्द भी वास्तव में वही है जो चेष्टावान् अर्थ का प्रतिपादन करता हो अन्यथा नहीं (वाच्यार्थ से शून्य होने के कारण)। इस प्रकार एवंभूतनय का मानना है कि किसी वस्तु के लिये किसी शब्द का प्रयोग करना तभी ठीक होगा जबकि उसमें शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ भी घटित हो रहा हो। इसके अनुसार दशविध प्राणों को धारण करने वाले नारक, तिर्यञ्च आदि रूप सांसारिक प्राणी ही जीव कहलाते हैं, 'सिद्धात्मा' नहीं, कारण जीवति-प्राणान् धारयति अर्थात् जो जीता है—दशविध प्राणों को धारण करता है वह जीव है यह व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ 'सिद्धात्मा' में नहीं घटता। 'सिद्धों' के लिये आत्मा शब्द का प्रयोग होता है क्योंकि उसका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ उनमें घटित होता है। जैसे ज्ञान, दर्शन व सुखादि पर्याय में सतत रमण करने वाला आत्मा है और आत्मा शब्द का यह व्युत्पत्तिनिमित्त 'सिद्धात्मा' में घटित होता है ॥८४७॥

नयों के प्रभेद—

- नैगम आदि के भेद से मूलनय सात हैं। इनमें से प्रत्येक की प्रभेद संख्या सौ...सौ है अतः सभी नयों की कुल प्रभेद संख्या सात सौ है।

मतान्तर से—

- नैगम आदि के भेद से मूलनय पाँच हैं, कारण शब्द, समभिरूढ़ व एवंभूत ये तीनों ही नय शब्दपरक होने से एक हैं। पाँचों ही मूलनय के सौ...सौ प्रभेद होने से नयों के कुल पाँच सौ भेद हुए। 'अपि' शब्द नयों के अन्यभेदों का भी सूचक है। नयों के क्रमशः छः सौ, चार सौ तथा दो सौ भेद हैं।

सामान्यग्राही नैगम का संग्रह में तथा विशेषग्राही नैगम का व्यवहार में अन्तर्भाव होने से मूलनय छः ही है। प्रत्येक के प्रभेद सौ...सौ हैं अतः कुल नय छः सौ हुए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र और शब्द चार मूलनय हैं। प्रत्येक के सौ...सौ भेद होने से कुल भेद चार सौ हुए।

नयों के दो सौ भेद भी हैं। यथा—नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—ये चारों नय द्रव्यास्तिक हैं, शब्द, समभिरुढ़ व एवंभूत ये तीनों पर्यायास्तिक हैं। इन दोनों के सौ सौ भेद होने से कुल नय दो सौ हुए। अथवा जितने बोलने के तरीके हैं उतने ही नय हैं। इस प्रकार नयों की संख्या असंख्यात है ॥८४८॥

१२५ द्वारः वस्त्र-विधान—

जन्न तयट्ठा कीयं नेव वुयं नेव गहियमन्नेसिं।
आहड पामिच्चं चिय कप्पए साहुणो वत्थं ॥८४९॥
अंजणखंजणकद्दमलित्ते, मूसगभक्खियअग्गिविदड्ढे।
उन्निय कुट्टिय पज्जवलीढे, होइ विवागो सुह असुहो वा ॥८५०॥
नवभागकए वत्थे चउरो कोणा य दुन्नि अंता य।
दो कन्नावट्टीउ मज्झे वत्थस्स एक्कं तु ॥८५१॥
चत्तारि देवया भागा, दुवे भागा य माणुसा।
आसुरा य दुवे भागा, एगो पुण जाण रक्खसो ॥८५२॥
देवेसु उत्तमो लाभो, माणुसेसु य मज्झिमो।
आसुरेसु य गेलन्नं, मरणं जाण रक्खसे ॥८५३॥

—गाथार्थ—

वस्त्रग्रहणविधान—**जो वस्त्र साधु के लिये खरीदा हुआ, बुना हुआ, जबर्दस्ती दूसरे से छीना हुआ, सम्मुख लाया हुआ, उधार लाया हुआ न हो—ऐसा वस्त्र मुनि को ग्रहण करना कल्पता है ॥८४९॥**

अंजन, खंजन और कीचड़ से लिप्त, चूहे से काटे हुए, आग से जले हुए, तुने हुए, छेदवाले तथा सांधावाले वस्त्र का शुभाशुभ फल होता है। एक वस्त्र के चार कोने, दो किनारे, दोनों ओर की किनारी तथा मध्यभाग इस प्रकार नौ भाग होते हैं। चार देवभाग, दो मनुष्य सम्बन्धी भाग, दो आसुरी भाग और एक राक्षसी भाग होता है। वस्त्र में देवभाग उत्तमलाभ का, मानवभाग मध्यमलाभ का, आसुरीभाग रुग्णता का तथा राक्षसभाग मृत्यु का सूचक है ॥८५०-८५३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

उत्पादक द्रव्य के भेद से वस्त्र तीन प्रकार का होता है।

१. **एकेन्द्रिय-अवयव-निष्पन्न**—कपास आदि से बना हुआ सूती वस्त्र।

२. **विकलेन्द्रिय-अवयव-निष्पन्न**— कीड़ों से निर्मित रेशमी वस्त्र। विशेष कारण से ग्राह्य।

३. **पञ्चेन्द्रिय-अवयव-निष्पन्न**—भेड़ आदि के केशों से बना हुआ ऊनी वस्त्र

पूर्वोक्त वस्त्र यथाकृत आदि भेद से तीन प्रकार के हैं।

१. **यथाकृत**—जैसा लिया जाये, वैसा ही पहिना जाये। जिसे सीने या काटने की आवश्यकता न हो। यह वस्त्र अतिशुद्ध है। क्योंकि ऐसा वस्त्र ग्रहण करने से स्वाध्याय की हानि नहीं होती है।

२. **अल्पपरिकर्म**—जिसे एकबार फाड़ कर सीना पड़े। यह वस्त्र शुद्ध है। क्योंकि सीने का परिकर्म अल्प होने से स्वाध्याय की हानि भी अल्प होती है।

३. **बहुपरिकर्म**—जिसके बहुत से टुकड़े करके सीना पड़े ऐसा वस्त्र अशुद्ध है, कारण स्वाध्याय की हानि होती है।

मिल सके वहाँ तक पहिले यथाकृत वस्त्र ग्रहण करे, उसके अभाव में अल्पपरिकर्म वाला ग्रहण करे। न मिले तो अगत्या बहुपरिकर्मवाला ग्रहण करे। तीनों ही प्रकार के वस्त्र गच्छवासी मुनि को लेने कल्पते हैं।

४. **कल्प्य वस्त्र**—

१. साधु के निमित्त खरीदा हुआ न हो।

२. साधु के निमित्त बनाया हुआ न हो।

३. पुत्रादि की इच्छा न होने पर साधु को देने के लिये उनसे जबरदस्ती छीना हुआ न हो।

४. कहीं से सामने लाकर दिया जाने वाला न हो (अभ्याहृत)। यह दो प्रकार का है—

(i) **स्वग्राम अभ्याहृत**—जिस गाँव में मुनि है, उसी गाँव में दुकान आदि से घर लाया हुआ वस्त्र। वस्त्र लाते हुए मुनि ने न देखा हो, किंतु उनके निमित्त लाया हुआ होने से वह वस्त्र मुनि को लेना नहीं कल्पता। वस्त्र लाते हुए साधु ने देखा हो, किंतु वह साधु के निमित्त लाया हुआ न हो तो साधु को लेना कल्पता है।

दोष—पिंड-ग्रहण की तरह।

(ii) **परग्राम अभ्याहृत**—अन्य ग्राम से साधु के निमित्त लाया हुआ वस्त्र। ऐसा वस्त्र साधु को लेना नहीं कल्पता।

दोष—पिण्ड-ग्रहण की तरह।

५. **अप्रमित्यका**—साधु के निमित्त दूसरों से उधार लाया हुआ वस्त्र साधु को लेना नहीं कल्पता।

दोष—पिण्ड-ग्रहण की तरह।

वस्त्रग्रहण के दोष भी आहार की तरह दो प्रकार के हैं—

(i) **अविशोधिकोटि**—साधु के लिये खरीदा हुआ और साधु के लिये बनाया हुआ वस्त्र अग्राह्य है।

(ii) **विशोधि-कोटि**—साधु के लिये धुलाया हुआ वस्त्र समय बीतने पर ग्रहण किया जा सकता है।

ग्रहण—विधि—शुद्ध वस्त्र क्रहण करने से पूर्व साधु वस्त्र को अच्छी तरह से देखे। तत्पश्चात् गृहस्थ को कहे कि 'तुम इस वस्त्र को चारों तरफ से देखो, गृहस्थ भी ऐसा ही करे।' यदि वस्त्र में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सोना, चाँदी आदि कुछ बँधा हुआ हो तो खोलकर ले ले। यदि गृहस्थ को दिखायी न दे और साधु को दिखायी दे तो वह गृहस्थ को बतावे। तत्पश्चात् वस्त्र ग्रहण करे।

प्रश्न—यदि साधु गृहस्थ को सोना-चाँदी आदि बतायेगा तो उसे पाप होगा, क्योंकि गृहस्थ उसे पाप-कार्य में व्यय करेगा, अतः मुनि कैसे बता सकता है?

उत्तर—गृहस्थ को बताने में अल्प दोष है, न बताने में अधिक दोष है। कदाचित् गृहस्थ ने साधु की परीक्षा लेने के लिये कपट से उसमें बाँधा हो। ऐसी स्थिति में यदि साधु गृहस्थ को न बताये तो चोरी का कलंक, प्रवचन हीलना आदि दोषों की संभावना रहती है ॥८४९॥

वस्त्र ग्रहण करते समय वस्त्र को नौ भागों में बाँटकर देखना चाहिये कि वस्त्र का कौनसा हिस्सा अंजन आदि से दूषित है? उसके अनुसार वस्त्र की शुभाशुभता का विचार करना चाहिये क्योंकि वस्त्र का कुछ हिस्सा दोषयुक्त होने पर भी शुभ माना जाता है, और कुछ हिस्सा अशुभ।

अंजन—सुरमा आदि अथवा तैल से बनाया हुआ काजल। खंजन—दीपक का मैल। कर्दम—कीचड़। इन तीनो से लिप्त वस्त्र तथा चूहे उपलक्षण से कसारी कुन्थुए आदि के द्वारा खाया हुआ वस्त्र, आग से जला हुआ वस्त्र, तुनकर द्वारा वस्त्र के छिद्रों को तुनकर ठीक किया हुआ वस्त्र, धोबी द्वारा कूटने-पिटने से कटा-फटा वस्त्र, जीर्ण वस्त्र तथा जीर्ण होने से जिसका रंग उड़ गया हो ऐसा वस्त्र। ऐसे वस्त्र को ग्रहण करने से शुभ-अशुभ जो भी परिणाम होता है, उसका चिन्तन निम्नांकित है।

भाग	स्वामी	शुभ	अशुभ
वस्त्र के कोने = ४	देवता	काजल, सुरमा, कीचड़ आदि से दूषित होने पर भी लाभदायक है।	
वस्त्र के अंतिम छोर = २	मनुष्य	दोषयुक्त हो तो मध्यम लाभ	
दोनों ओर की किनारी = २	असुर		मुनि रुग्ण बने
मध्य भाग १	राक्षस		मुनि की मृत्यु

वस्त्र के भाग			भाग के स्वामी		
कोना	किनारी	कोना	देव	असुर	देव
छोर (पल्ला)	मध्यभाग	छोर (पल्ला)	मनुष्य	राक्षस	मनुष्य
कोना	किनारी	कोना	देव	असुर	देव
इस तरह वस्त्र के आकार की कल्पना करना			वस्त्र के कोने आदि भागों के स्वामी पूर्वोक्त समझना ॥८५०-८५३॥		

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२६ द्वार : ५ व्यवहार—

आगम सुय आणा धारणा य जीए य पंच ववहारा।
केवल मणो हि चउदस दस नवपुव्वाइ पढमोऽत्थ ॥८५४॥
कहेहि सव्वं जो वुत्तो, जाणमाणोऽवि गूहइ।
न तस्स दिंति पच्छित्तं, बिंति अन्नत्थ सोहय ॥८५५॥
न संभरे य जे दोसे, सब्भावा न य मायओ।
पच्चक्खी साहए ते उ, माइणो उ न साहए ॥८५६॥
आयारपकप्पाई सेसं सव्वं सुयं विणिद्दिट्ठं।
देसंतरट्ठियाणं गूढपयालोयणा आणा ॥८५७॥
गीयत्थेणं दिन्नं सुद्धिं अवहारिऊण तह चेव।
दिंतस्स धारणा तह उद्धियपयधरणरूवा वा ॥८५८॥
दव्वाइ चिंतिऊणं संघयणाईण हाणिमासज्ज।
पायच्छित्तं जीयं रुढं वा जं जहिं गच्छे ॥८५९॥

—गाथार्थ—

पाँच व्यवहार—१. आगम व्यवहार, २. श्रुत व्यवहार, ३. आज्ञा व्यवहार, ४. धारणा व्यवहार तथा ५. जीत व्यवहार ये पाँच व्यवहार हैं। केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चौदहपूर्वी, दशपूर्वी तथा नवपूर्वी आगम व्यवहारी होते हैं॥८५४॥

'सभी पापों की आलोचना हो' ऐसा गुरुद्वारा कहने पर भी जो पापों को छुपाता है आगमव्यवहारी गुरु उसको प्रायश्चित्त नहीं देते। 'किसी अन्य से लेना' ऐसा कहते हैं। जिसमें कोई माया नहीं है पर स्वभावतः ही दोषों की स्मृति नहीं हो रही है ऐसे आत्मा को प्रत्यक्षज्ञानी गुरु दोषों का स्मरण करवाते हैं, पर मायावी को नहीं करवाते॥८५५-८५६॥

आचारप्रकल्प आदि शेष समस्त श्रुत द्वारा होने वाला व्यवहार श्रुत व्यवहार है। अन्यत्र विराजमान गीतार्थ के पास गूढ़ पदों द्वारा आलोचना करना आज्ञा व्यवहार है॥८५७॥

गीतार्थों के द्वारा दी गई आलोचना को यथावत् याद रखकर तथाविध दोष में तथाविध प्रायश्चित्त देना धारणा व्यवहार है। अथवा गुरु द्वारा शास्त्र से उद्धृत पदों को याद रखकर तदनुसार प्रायश्चित्त देना धारणा व्यवहार है॥८५८॥

संघयण आदि की हानि को देखते हुए द्रव्यादि के विचारपूर्वक प्रायश्चित्त देना वह जीत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहार है। अथवा जिस गच्छ में जिन दोषों के लिये परंपरा से जो प्रायश्चित्त दिया जाता हो वह जीत व्यवहार है ॥८५९॥

—विवेचन—

१. जीवादि की प्रवृत्ति व्यवहार है अथवा मोक्षाभिलाषी जीवों की प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप क्रिया व्यवहार है। ऐसे व्यवहार का कारणभूत ज्ञानविशेष भी उपचार से व्यवहार कहलाता है। व्यवहार के पाँच भेद हैं—

१. आगमव्यवहार—आगम = पदार्थों का बोध कराने वाला ज्ञान। व्यवहार = प्रवृत्ति व निवृत्ति अर्थात् जीवादि पदार्थों के बोधक ज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति व निवृत्ति आगम-व्यवहार है। केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चौदहपूर्वी, दसपूर्वी और नौपूर्वी आगम व्यवहारी हैं।

२. श्रुतव्यवहार—निशीथ, कल्प, व्यवहार, दशाश्रुतस्कन्ध आदि, ग्यारह अंग, चौदह-पूर्व, दसपूर्व और नौ पूर्व द्वारा होने वाला व्यवहार।

यदि केवलज्ञानी उपलब्ध हो तो सर्वप्रथम केवली को ही आलोचना देना चाहिये। केवली के अभाव में मनःपर्यवज्ञानी को आलोचना देना चाहिये। इनके अभाव में अवधिज्ञानी को। इस प्रकार क्रमशः चौदह-पूर्वी, दस-पूर्वी तथा नव-पूर्वी को देना चाहिये।

प्रश्न—चौदह-पूर्व, दस-पूर्व और नौ-पूर्व श्रुत के अन्तर्गत होने से इसके द्वारा होने वाला व्यवहार श्रुत व्यवहार ही होना चाहिये, इन्हें आगम व्यवहार में सम्मिलित क्यों किया?

उत्तर—यद्यपि चौदह-पूर्व, दस-पूर्व और नौ-पूर्व श्रुतरूप हैं, तथापि वे अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान करने में सक्षम होने से केवलज्ञानादि की तरह आगम व्यवहार के अन्तर्गत आते हैं।

३. आज्ञा व्यवहार—जिनका जंघाबल क्षीण हो चुका है और जो एक दूसरे से दूर हैं, ऐसे गीतार्थों को जब आलोचना करनी होती है तो वे अपने गीतार्थ शिष्य को दूरस्थित गीतार्थ के पास भेजते हैं। गीतार्थ शिष्य न हो तो तीव्र धारणा-शक्ति वाले शिष्य को आगम की सांकेतिक भाषा में अतिचार बताकर आचार्य के पास भेजते हैं। आलोचना-दाता आचार्य यदि जाने में समर्थ हो तो स्वयं वहाँ जाकर उन्हें प्रायश्चित्त देते हैं या अपने गीतार्थ शिष्य को भेजकर उन्हें प्रायश्चित्त कराते हैं या जो मुनि आया है उसी के साथ सांकेतिक भाषा में प्रायश्चित्त भेजते हैं।

४. धारणा व्यवहार—"गीतार्थ आचार्य ने तथाविध अपराध में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुरुष व प्रतिसेवना को ध्यान में रखते हुए एवंविध प्रायश्चित्त दिया था" उसे याद रखते हुए शिष्य द्वारा तथाविध अपराध में तथा प्रकार का प्रायश्चित्त देना धारणा व्यवहार है अथवा सामान्य योग्यता वाले किन्तु वैयावच्च आदि के द्वारा गच्छ के उपकारी शिष्य को कृपा कर गुरु द्वारा प्रायश्चित्त सम्बन्धी विशेष बातें आगम से उद्धृत कर बताना तथा शिष्य द्वारा उन पदों को उसी प्रकार याद रखना धारणा व्यवहार है।

५. जीत व्यवहार—पूर्व महर्षियों के द्वारा जिन अपराधों की शुद्धि जिन महान तपों के द्वारा की गई थी उन अपराधों में वैसे तप करने की शक्ति के अभाव में गीतार्थ महापुरुष के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल, भाव, संहनन, धैर्य, आदि को देखकर प्रायश्चित्त देना जीत व्यवहार है।

अथवा—गच्छ में आचार्य ने किसी विशेष कारण से प्रेरित होकर कोई व्यवहार चलाया हो और बहुत से लोगों ने उसका अनुसरण किया हो तो वह भी जीत व्यवहार कहलाता है।

प्रायश्चित्त देने योग्य—उपरोक्त पाँच व्यवहार में से किसी एक व्यवहार से युक्त गीतार्थ ही प्रायश्चित्त देने का अधिकारी है। अगीतार्थ को प्रायश्चित्त देने का सर्वथा निषेध है क्योंकि इसमें अनेक दोषों की संभावना रहती है। कहा है कि—

अगीतार्थ आत्मा व्यवस्थित प्रायश्चित्त नहीं दे सकता। न्यूनाधिक देता है। इससे प्रायश्चित्त देने वाले और लेने वाले दोनों ही संसार में डूबते हैं।

प्रश्न—आगम व्यवहारी ज्ञानी होने से स्वयं आलोचक के दोषों को जानते हैं, अतः वे स्वयं अपराधी को प्रायश्चित्त देते हैं या अपराधी के द्वारा अपने दोष प्रगट करने पर प्रायश्चित्त देते हैं?

उत्तर—यद्यपि आगम व्यवहारी ज्ञान के बल से अपने शिष्य के दोषों को जानते हैं तथापि शिष्य के द्वारा अपने दोष प्रकट किये बिना उसे प्रायश्चित्त नहीं देते। यदि शिष्य अपने दोषों को छुपाता हो तो आगम-व्यवहारी उसे अन्य के पास भेज देते हैं।

यदि कोई निष्कपट आलोचक विस्मृति के कारण अपने दोषों को पूर्णतया नहीं बता पाया हो तो आगम व्यवहारी उसके विस्मृत दोषों को बताते हैं कि "भूले हुए इन दोषों की तुम आलोचना करो।" क्योंकि वे जानते हैं कि निष्कपट होने से यह दोषों को स्वीकार अवश्य करेगा। पर जो मायावी है, वह कहने पर भी दोषों को स्वीकार नहीं करता, उसे नहीं बताते।

आलोचना देते समय यदि आलोचक अपने दोषों को अच्छी तरह से बतावे तो ही आगम-व्यवहारी उसे प्रायश्चित्त देते हैं। यदि आलोचक अपने दोषों का प्रत्यावर्तन अच्छी तरह से न करता हो तो आगम-व्यवहारी उसे प्रायश्चित्त नहीं देते, वे अमूढ़-लक्षी होते हैं।

प्रश्न—चौदह-पूर्वी आदि श्रुतज्ञानी होने से परोक्ष ज्ञानी हैं, वे प्रत्यक्ष-ज्ञानी कैसे हो सकते हैं?

उत्तर—यद्यपि चौदह-पूर्वी आदि परोक्ष ज्ञानी हैं, तथापि उनका ज्ञान प्रत्यक्ष तुल्य होने से जिसने जैसा दोष-सेवन किया है, उसे वे उसी तरह जानते हैं।

प्रश्न—आगम-व्यवहारी आलोचक के सभी दोषों को जानते हैं तो फिर उनके सम्मुख अलग-अलग दोषों को प्रकट करने की क्या आवश्यकता है? उनके सम्मुख आलोचक ऐसा ही कहे कि—भगवन्! मेरे दोषों का प्रायश्चित्त दीजिये।

उत्तर—अपने मुँह से अपना अपराध स्वीकार करने में महान् लाभ है। इससे गुरु का प्रोत्साहन मिलता है कि 'वत्स! तुम बड़े भाग्यशाली हो। तुमने अहं का विसर्जन करके आत्म-हित की भावना से अपने दोषों को प्रकट किया है। यह अति कठिन कार्य है।' इस प्रकार गुरु के प्रोत्साहन से आलोचक की भाव वृद्धि होती है और वह गुरु के प्रति श्रद्धावान् बनकर यत्किंचित् भी शल्य रखे बिना आलोचना लेता है तथा प्रदत्त आलोचना अच्छी तरह से पूर्ण कर अल्प काल में ही मोक्ष का वरण कर लेता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रुत-व्यवहारी द्वारा प्रायश्चित्त देने की विधि—श्रुतव्यवहारी सर्वप्रथम आलोचक से तीन बार उसके अपराध सुने, पश्चात् आलोचना दे, क्योंकि एक-दो बार सुनने से वास्तविकता का पूरा पता नहीं लगता। पहली बार आलोचक का अपराध निद्रित की तरह सुने, फिर उसे कहे कि नींद के कारण मैंने तुम्हारे अपराध बराबर नहीं सुने। तब आलोचक दूसरी बार अपने अपराध सुनाये फिर भी आलोचनादाता कहे कि उपयोगशून्य होने से मैंने आपके अपराध नहीं सुने। तब आलोचक तीसरी बार सुनाये। यदि तीनों ही बार के कथन में समानता हो तो आलोचक उसे निष्कपट जानकर प्रायश्चित्त दे। यदि तीनों बार के कथन में समानता न हो तो उसे मायावी जानकर प्रायश्चित्त न दे, पर मौन रहे। यदि आलोचक समझ जाये कि मेरी माया गुरु ने समझ ली है और निष्कपट भाव से आलोचना देना चाहे तो उसे सर्वप्रथम कपट की आलोचना दे, बाद में अपराध की ॥८५४-८५९॥

१२७ द्वार : यथाजात—

पंच अहाजायाइं चोलगपट्टो तहेव रयहरणं।
उन्निय खोमिय निस्सेज्जजुयलयं तह य मुहपोत्ती ॥८६०॥

—गाथार्थ—

यथाजात पाँच—**१. चोलपट्टा, २. रजोहरण, ३. ऊनी निषद्या, ४. सूती निषद्या तथा ५. मुहपत्ति—ये पाँच यथाजात हैं॥८६०॥**

—विवेचन—

यथाजात = जैसे जन्म हुआ था। यहाँ जन्म से अर्थ है साधु रूप जन्म अर्थात् जिस रूप में साधु बने थे वह स्वरूप 'यथाजात' कहलाता है। चोलपट्टा, रजोहरण, ऊनी व सूती निषद्या तथा मुहपत्ति इन पाँच उपकरणों सहित साधु जीवन ग्रहण किया जाता है अतः यह स्वरूप साधु रूप में जन्म लेने की अपेक्षा से 'यथाजात' कहलाता है तथा उपचार से चोलपट्टा आदि पूर्वोक्त पाँचों उपकरण भी यथाजात कहलाते हैं।

१. चोलपट्ट—इसका स्वरूप व प्रयोजन ६१वें द्वार में देखें।

२. रजोहरण—बाह्य व आभ्यन्तर निषद्या से रहित, मात्र एक निषद्या वाला रजोहरण जो वर्तमान काल में फलियों सहित दण्डी पर बाँधा जाता है। वर्तमान में दण्डी के साथ जो फलियाँ बाँधी जाती हैं, वे आगमानुसार नहीं हैं। सूत्र के अनुसार तो दण्डी और फलियाँ दोनों ही अलग-अलग होनी चाहिये।

- दण्डी तीन निषद्या से युक्त होती है।

२. प्रथमनिषद्या—दण्डी पर तीन बार लपेटा जा सके, इतना चौड़ा व एक हाथ लंबा कंबल का टुकड़ा पहली निषद्या है। यही निषद्या आठ अंगुल प्रमाण फलियों से युक्त 'रजोहरण' कहलाती है। कहा है कि—'एगनिसेज्जं रजहरणं' अर्थात् एकनिषद्या से युक्त रजोहरण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. द्वितीय निषद्या—प्रथम निषद्या को बहुत बार लपेटने वाला कुछ अधिक एक हाथ लंबा तथा एक हाथ चौड़ा सूती कपड़ा 'आभ्यन्तर निषद्या' है। यही क्षौमिक निषद्या है।

४. तृतीय निषद्या—'आभ्यन्तर निषद्या' को लपेटने वाला, एक हाथ चार अंगुल प्रमाण, चौकोर 'ऊनी कपड़ा' तीसरी निषद्या है। वह बैठने में उपयोगी होती है अत: इसे 'पादप्रोञ्छन' (पग पूंछणिया) भी कहते हैं। यह बाह्यनिषद्या कहलाती है।

वर्तमान में बाह्यनिषद्या का आसन के रूप में उपयोग नहीं होता। यह परंपरा लुप्त हो चुकी है।

५. मुखपोत—पोत = वस्त्र अर्थात् बोलते समय मुँह ढकने में उपयोगी वस्त्र मुँहपत्ति है। इसकी लंबाई व चौड़ाई, एक बेंत चार अंगुल प्रमाण होती है। मुखवस्त्रिका में 'वस्त्र' शब्द नपुंसक होने पर भी 'क' प्रत्यय हो जाने से स्त्रीलिंग बन गया है। कहा है—स्वार्थ में होने वाले प्रत्यय प्रकृतिगत लिंग व वचन को बदल देते हैं। इस कथनानुसार 'मुखपोतं' शब्द नपुंसक होने पर भी 'क' प्रत्यय लगने से स्त्रीलिंग में 'मुखपोतिका' शब्द बन गया ॥८६० ॥

१२८ द्वार : जागरण—

सव्वेऽवि पढमयामे दोन्नि य वसहाण आइमा जामा।
तइओ होइ गुरूणं चउत्थ सव्वे गुरू सुयइ ॥८६१ ॥

—गाथार्थ—

रात्रि-जागरण—**प्रथम प्रहर में सभी मुनि जगते हैं। प्रथम दो प्रहर में वृषभ साधु जगते हैं। तीसरे प्रहर में आचार्य जगते हैं। चतुर्थ प्रहर में सभी मुनि जगते हैं और आचार्य सो जाते हैं ॥८६१ ॥**

—विवेचन—

रात्रि के प्रथम प्रहर में—सभी साधु स्वाध्याय करते हुए जगें।

दूसरे प्रहर में—गीतार्थ व गुरु जगें और शेष साधु सो जायें। गीतार्थ प्रज्ञापनादि उत्कालिक सूत्रों का पारायण करे।

तीसरे प्रहर में—गीतार्थ सो जाये और गुरु जगे, प्रज्ञापनादि सूत्रों का पारायण करे।

चौथे प्रहर में—शेष साधु जगकर वैरात्रिक काल ग्रहण करके कालिक सूत्रों का परावर्तन करें तथा गुरु सो जाये। यदि गुरु को पूर्ण विश्राम नहीं मिलेगा तो प्रात:कालीन प्रवचनादि कार्य ठीक से संपन्न नहीं होंगे। प्रवचनादि देते समय नींद आयेगी, शरीर टूटेगा इत्यादि ॥८६१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२९ द्वार : आलोचनादायक—

सल्लुद्धरणनिमित्तं गीयस्सऽन्नेसणा उ उक्कोसा।
जोयणसयाइं सत्त उ बारस वासाइं कायव्वा ॥८६२॥

—गाथार्थ—

आलोचना दाता की गवेषणा—**शल्योद्धार के लिये गीतार्थ की खोज उत्कृष्टतः क्षेत्र की अपेक्षा से सात सौ योजन तक एवं काल की अपेक्षा से बारह वर्ष पर्यन्त करना चाहिये ॥८६२॥**

—विवेचन—

आत्मा में लगे हुए पाप रूपी काँटे को निकालने के लिये आलोचना करना अति आवश्यक है। इसके लिये आलोचना देने योग्य गीतार्थ गुरु यदि क्षेत्र व काल की अपेक्षा से समीप न मिले तो क्षेत्र की अपेक्षा से सात सौ योजन तक एवं काल की अपेक्षा से बारह वर्ष तक खोज करनी चाहिये। यदि योग्य गुरु न मिले और आलोचक आलोचना के बिना ही मर जाये, फिर भी विशुद्ध अध्यवसायी होने से वह आराधक है। खोजने पर भी यदि सर्वगुणसंपन्न गुरु न मिले तो संविग्न गीतार्थ से आलोचना ग्रहण करे।

अपवाद—गीतार्थ, संविग्न-पाक्षिक, सिद्ध-पुत्र, प्रवचन-देवता आदि योग्य आलोचना दाता के न मिलने पर अंत में सिद्ध भगवान की साक्षी में आलोचना करे किंतु आलोचना के बिना नहीं मरे, क्योंकि सशल्य-मृत्यु संसार-वृद्धि का कारण है। कहा है—संविग्न गीतार्थ के अभाव में पार्श्वस्थादि से ही आलोचना ग्रहण करे ॥८६२॥

१३० द्वार : प्रति-जागरण—

जावज्जीवं गुरुणो असुद्धसुद्धेहिं वावि कायव्वं।
वसहे बारस वासा अट्ठारस भिक्खुणो मासा ॥८६३॥

—गाथार्थ—

गुरु-शुश्रूषा काल प्रमाण—**गुरु की शुश्रूषा अशुद्ध-शुद्ध द्रव्य के द्वारा यावज्जीव पर्यंत करनी चाहिये।**

वृषभ साधुओं की बारह वर्ष पर्यंत तथा सामान्य मुनि की अट्ठारह मास पर्यन्त करनी चाहिये ॥८६३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

(i) आचार्य—आधाकर्मी आदि दोष रहित या सहित आहार पानी के द्वारा साधु या श्रावक यावज्जीवपर्यन्त आचार्य की सेवा कर सकते हैं।

- गच्छ के अधिपति होने से
- सतत सूत्र-अर्थ के चिन्तन में प्रवृत्त रहने से।

(ii) वृषभ—उपाध्याय आदि गीतार्थ मुनियों की शुद्ध या अशुद्ध आहार पानी और वस्त्रादि द्वारा बारह वर्ष तक सेवा की जा सकती है।

- पश्चात्—अनशन करे (शक्ति हो तो)
- बारह वर्ष में गच्छ का भार वहन करने वाला दूसरा तैयार हो सकता है।

(iii) सामान्य साधु—सामान्य मुनि की सेवा अठारह मास तक की जा सकती है।

- पश्चात्—शक्ति हो तो अनशन करे।

शुद्ध अशुद्ध अन्नादि से आचार्य आदि की सेवा, रोग, अकाल, क्षेत्र-काल आदि की हानि के कारण गौचरी न मिलती हो इत्यादि आगाढ़ कारण में ही करना कल्पता है अन्यथा नहीं।

व्यवहारभाष्य के मतानुसार—

व्यवहार भाष्य के अनुसार सभी ग्लान की सेवा का एक ही प्रकार है। पहिले आचार्य छः महीने तक ग्लान की चिकित्सा करावे। यदि ठीक न हो तो उसे कुल को सौंपे। कुल, तीन वर्ष तक उसकी चिकित्सा करावे, यदि ठीक न हो तो रोगी को गण को सौंपे। गण एक साल तक ग्लानमुनि का उपचार करावे, ठीक न हो तो अन्त में उसे संघ को सौंपे। संघ प्रासुक आहार पानी से यावज्जीव उसकी सेवा करे। प्रासुक आहार पानी के अभाव में अप्रासुक से भी उसकी सेवा करे (यदि रोगी की अनशन करने की स्थिति न हो तो अप्रासुक से सेवा करे, अन्यथा नहीं)।

यदि रोगी की अनशन करने की स्थिति हो तो पहिले अठारह महीना उसकी चिकित्सा करावे। क्योंकि विरतिमय जीवन मिलना अतिदुर्लभ है। ठीक न हो तो अनशन ग्रहण करे ॥८६३॥

१३१ द्वार : उपधि-प्रक्षालन—

अप्पते च्चिय वासे सव्वं उवहिं धुवंति जयणाए।
असईए उदगस्स उ जहन्नओ पायनिज्जोगो ॥८६४॥
आयरियगिलाणाणं मइला मइला पुणोवि धोइज्जा।
मा हु गुरूण अवण्णो लोगम्मि अजीरणं इअरे ॥८६५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

उपधि प्रक्षालन काल—**वर्षाऋतु आने से पूर्व ही यतनापूर्वक संपूर्ण उपधि का प्रक्षालन कर लेना चाहिये।**

यदि जल की सुविधा न हो तो पात्रनिर्योग अवश्य धोना चाहिये ॥८६४॥

आचार्य और ग्लानमुनि के मलिन वस्त्र बारम्बार धोना चाहिये। कारण मलिन वस्त्र से गुरु की निन्दा न हो और ग्लान को अजीर्ण न हो ॥८६५॥

—विवेचन—

वर्षाकाल से कुछ पहिले उपधि का प्रक्षालन होता है। पानी की कमी हो तो जघन्यत: सात प्रकार का पात्र-निर्योग (पात्र संबंधी वस्त्र) तो अवश्य ही धोना चाहिये। यदि पानी पर्याप्त हो तो सारी उपधि यतनापूर्वक धोनी चाहिये।

निस् उपसर्गपूर्वक युजि धातु से निर्योग शब्द बना है उसका अर्थ है उपकार करना। 'पात्रस्य निर्योग:' अर्थात् पात्र के उपकारी उपकरण पात्र-निर्योग कहलाते हैं ॥८६४॥

प्रश्न—सभी मुनियों की उपधि वर्षाकाल से पूर्व एकबार ही धोई जाती है या इसमें कुछ विकल्प है?

उत्तर—सूत्रार्थ की व्याख्या करने वाले, सद्धर्म की देशना देने में दक्ष इत्यादि अनेक गुणों से श्रेष्ठ आचार्य, उपाध्याय, गुरु (धर्मोपदेश देने वाले), ग्लान, आदि की उपधि मलिन हो तो अधिक बार भी धोई जा सकती है, क्योंकि आचार्य आदि के मलिन वस्त्र प्रवचन-हीलना व लोकनिन्दा के कारण हैं। लोक घृणा करे, यथा—ये मुनि मलमलिन व दुर्गन्धयुक्त हैं। इनके पास जाने से क्या लाभ है? ग्लान की उपधि यदि न धोई जाये तो मैले वस्त्रों के साथ ठंडी हवा लगने से वस्त्र आर्द्र बनते हैं जिससे जठराग्नि मन्द हो जाती है, पाचन नहीं होता, रोगी अधिक रोगी हो जाता है। इसके सिवाय अन्य मुनियों की उपधि का प्रक्षालन वर्षाकाल से पूर्व एकबार ही होता है। शीतोष्णकाल में अन्य मुनियों को वस्त्र धोना नहीं कल्पता क्योंकि वस्त्र धोने में जीव विराधना, बकुश, कुशीलतादि दोष है।

प्रश्न—वर्षाकाल से पूर्व उपधि धोने में भी जीव-विराधना, बकुश-कुशीलतादि दोष तो लगेंगे ही, अत: उस समय भी उपधि क्यों धोई जाये?

उत्तर—उस समय उपधि का प्रक्षालन आगम विहित है। इसमें दोष कम और लाभ अधिक है। अन्यथा स्वास्थ्य की हानि होने से संयम पालन अशक्य होगा तथा प्रक्षालन यतनापूर्वक करे तो जीव-विराधना आदि दोषों से भी बचा जा सकता है। सूत्र आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने वाले से कदाचित् हिंसा हो भी जाये तो भी वह पाप का भागी या तीव्र प्रायश्चित्त का भागी नहीं बनता क्योंकि उसकी प्रवृत्ति यतना सहित है ॥८६५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३२ द्वार : भोजन-भाग—

बत्तीसं किर कवला आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ।
पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीसं भवे कवला ॥८६६॥
अद्धमसणस्स सव्वंजणस्स कुज्जा दवस्स दो भाए।
वायपवियारणट्ठा छब्भागं ऊणयं कुज्जा ॥८६७॥
सीओ उसिणो साहारणो य कालो तिहा मुणेयव्वो।
साहारणंमि काले तत्थाहारे इमा मत्ता ॥८६८॥
सीए दवस्स एगो भत्ते चत्तारि अहव दो पाणे।
उसिणे दवस्स दुन्नी तिन्नी वि सेसा उ भत्तस्स ॥८६९॥
एगो दवस्स भागो अवट्ठिओ भोयणस्स दो भागा।
वड्ढंति व हायंति व दो दो भागा उ एक्केक्के ॥८७०॥

—गाथार्थ—

भोजन के भाग—**पुरुष का आहार प्रमाण बत्तीस कवल तथा स्त्री का अट्ठावीस कवल है ॥८६६॥**

पेट को छः भागों में विभक्त करना। इनमें से तीन भाग सव्यंजन आहार के हैं। दो भाग प्रवाही के तथा एक भाग वायु के संचरण का है ॥८६७॥

काल के तीन भेद हैं—**शीत, उष्ण व शीतोष्ण। पूर्वोक्त आहार प्रमाण शीतोष्णकाल का है ॥८६८॥**

शीतकाल में पानी का एक भाग, भोजन के चार अथवा तीन भाग तथा गर्मी में पानी के दो अथवा तीन भाग तथा शेष भाग भोजन के हैं ॥८६९॥

पानी का एक भाग तथा भोजन के दो भाग सदा अवस्थित हैं पर भोजन और पानी के दो-दो भागों की हानि-वृद्धि होती रहती है ॥८७०॥

—विवेचन—

पेट के छः भाग करके कालानुसार उन्हें भोजन, पानी और वायु के भाग में बाँटना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल—

साधारण	शीत		उष्ण	
	मध्यम शीत	**शीततर**	**मध्यम उष्ण**	**उष्णतर**
सव्यंजन भोजन =३ भाग पानी =२ भाग वायु संचार =१ भाग	भोजन =३ भाग पानी =२ भाग वायु संचार =१ भाग	भोजन =४ भाग पानी =१ भाग वायु संचार =१ भाग	भोजन =३ भाग पानी =२ भाग वायु संचार =१ भाग	भोजन =२ भाग पानी =३ भाग वायु संचार =१ भाग

- वायु संचार के लिये पेट का एक भाग खाली रखना आवश्यक है अन्यथा संचार के अभाव में वायु शरीर में रोग पैदा करेगा।
- भोजन—कूर, मूंग, लड्डू आदि। व्यंजन—छाछ, ओसामन, शाक आदि।

चार भाग—भोजन और पानी के दो भाग अति उष्ण व अतिशीत काल में न्यूनाधिक होते रहते हैं, अत: वे चर हैं।

स्थिर भाग—दो भाग भोजन के और एक भाग पानी का किसी भी काल में न्यूनाधिक नहीं होते अत: वे स्थिर हैं ॥८६६-८७० ॥

१३३ द्वार : वसतिशुद्धि—

पट्ठीवंसो दो धारणाउ चत्तारि मूलवेलीओ।
मूलगुणेहिं विसुद्धा एसा हु अहागडा वसही ॥८७१ ॥
वंसगकडणोक्कंबण छायण लेवण दुवारभूमी य।
परिकम्मविप्पमुक्का एस मूलुत्तरगुणेसु ॥८७२ ॥
दूमिय धूविय वासिय उज्जोइय बलिकडा अवत्ता य।
सित्ता संमट्ठावि य विसोहिकोडिं गया वसही ॥८७३ ॥
मूलुत्तरगुणसुद्धं थीपसुपंडगविवज्जियं वसहिं।
सेविज्ज सव्वकालं विवज्जए हुंति दोसा उ ॥८७४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

वसति-शुद्धि—**एक पृष्ठवंश, दो मूलधारक तथा चार मूल बल्लियाँ जिस वसति में पहले से लगी हो वह यथाकृत वसति है। ऐसी वसति मूलगुणशुद्ध होती है ॥८७१॥**

पृष्ठवंश, कटन, उत्कंबन, आच्छादन, लेपन, दरवाजा लगाना, आंगन समतल करना, आदि परिकर्मों से रहित वसति मूलोत्तर-गुणविशुद्ध वसति है ॥८७२॥

दूमित, धूपित, वासित, उद्योतित, बलिकृत, लिंपित, सिंचित तथा कचरा आदि निकालकर साफ की हुई वसति विशोधिकोटी गत है ॥८७३॥

मूल तथा उत्तर गुण से विशुद्ध, स्त्री, पशु, नपुंसक रहित वसति में वास करे। वसति सम्बन्धी दोषों का त्याग करे ॥८७४॥

—विवेचन—

स्त्री, पशु, पण्डकरहित, मूल और उत्तर गुण से शुद्ध वसति में साधु को रहना कल्पता है।

मूलगुण—तिरछा पटड़ा जिस पर छत डाली जाती है वह पृष्ठवंश कहलाता है। दो खंभे (मूलधारक) जिन पर पटड़े के अन्तिम छोर टिकाये जाते हैं तथा चार बाँस की बल्लियाँ होती हैं, जो दो मूलधारकों के दोनों ओर एक-एक घर के चारों कोनों में रखी जाती हैं, जिन्हें 'मूलवेलि' कहते हैं। इस प्रकार १ + २ + ४ = ७ गुण से युक्त वसति मूलगुण वाली कहलाती है। ऐसी वसति यदि गृहस्थ ने अपने स्वयं के लिये बनाई हो तो वह वसति मूलगुण विशुद्ध कहलाती है। यदि वही वसति मुनियों के लिये बनाई गई हो तो 'आधाकर्म' दोष से दूषित होती है। मुनियों का संकल्प करके बनाई गई वसति/आवास आधाकर्मी है ॥८७१॥

उत्तरगुण—दो तरह के हैं—**(i)** मूलोत्तरगुण **(ii)** उत्तरोत्तरगुण

(i) मूलभूत जो उत्तरगुण मूलोत्तर गुण हैं, वे सात प्रकार के हैं :—

१. वंशक —'मध्यवल्ली' के ऊपर छत बनाने के लिये बांस आदि डालना।
२. कटन —आस-पास चटाई आदि से ढंकना।
३. उत्कम्बन —बल्ली आदि के ऊपर बाँस की खपचियाँ बाँधना।
४. छादन —कुशादि से आच्छादित करना।
५. लेपन —गोबर आदि से भींत आदि लीपना।
६. द्वार —द्वार एक दिशा से हटाकर दूसरी दिशा में बनाना। छोटे द्वार को बड़ा करवाना।
७. भूमि —विषम भूमि को समतल बनाना।

जिस वसति में पूर्वोक्त सात प्रकार का परिकर्म (संस्कार) साधु के लिये नहीं किया गया हो वह वसति मूलोत्तरगुण शुद्ध कहलाती है ॥८७२॥

(ii) उत्तरभूत जो उत्तरगुण, उत्तरोत्तर गुण हैं, वे आठ प्रकार के हैं :—

१. दूमिया —भींत को प्लास्तर (लेपन) आदि करवाकर चीकनी बनाना। खड्डी, चूने आदि से पुताई करवाकर उज्ज्वल करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. धूपिया —वसति की दुर्गन्ध मिटाने के लिये अगर आदि का धूप करना।
३. वासिता —पुष्पादि द्वारा वसति को महकाना।
४. उद्योतिता —रत्नादि के द्वारा या दीपक जलाकर वसति को प्रकाशित करना।
५. बलिकृता —बली बाकुले देना।
६. अवत्ता —गोबर, मिट्टी आदि से आँगन लिपवाना।
७. सिक्ता —पानी छाँटना।
८. सम्मृष्टा —कचरा आदि निकालकर साफ करना।

पूर्वोक्त आठ प्रकार का परिकर्म यदि साधु के लिये न किया हो तो वह वसति उत्तरोत्तर-गुण शुद्ध कहलाती है ॥८७३॥

अविशोधिकोटि—जिस वसति में सात मूलगुण और सात मूलोत्तरगुण साधु के निमित्त किये हों वह वसति अविशोधि कोटि की है। ऐसी वसति में साधु को ठहरना नहीं कल्पता।

दोष—अविशुद्ध या स्त्री, नपुंसक आदि से संसक्त वसति में रहने वाले मुनि को संयम-विराधना आदि बहुत से दोष लगते हैं।

यद्यपि पूर्वोक्त मूलोत्तर गुण का विभाग, लकड़ी के पाटिये, खंभे, बाँस आदि से निर्मित ग्रामीण वसति को ही ध्यान में रखकर कहा गया है, तथापि चतुःशाला (गांव के बाहर साधु, पथिक आदि के विश्राम हेतु बनाई गई परसाल) आदि के लिये भी यही विभाग समझना चाहिये। सूत्र में चतुःशाला आदि का नामोल्लेख इसलिये नहीं किया कि स्वाध्याय इत्यादि की हानि न हो इसके लिये अधिकतर मुनिलोग गाँवों में ही रहना उचित समझते हैं और गाँवों में वसति पाटिया, बाँस इत्यादि से निर्मित ही होती है। **पंचवस्तुक** ग्रन्थ में कहा है कि—

मूलोत्तरगुणविभाग में चतुःशाला आदि का साक्षात् नामोल्लेख नहीं किया, तथापि यह गुण-विभाग चतुःशाला आदि रूप वसति के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

कृतकृत्य व विचरण करने वाले मुनि अधिकतर गाँवों में ही निवास करते हैं और वहाँ वसति प्रायः पाटिये इत्यादि से ही निर्मित होती है ॥८७४॥

१३४ द्वार : संलेखना—

चत्तारि विचित्ताइं विगईनिज्जूहियाइं चत्तारि।
संवच्छरे य दोन्नि उ एगंतरियं च आयामं ॥८७५॥
नाइ विगिट्ठो य तवो छम्मासे परिमियं च आयामं।
अवरेऽवि य छम्मासे होइ विगिट्ठं तवोकम्मं ॥८७६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वासं कोडीसहियं आयामं कट्टु आणुपुव्वीए।
गिरिकंदरं व गंतुं पाओवगमं पवज्जेइ ॥८७७॥

—गाथार्थ—

संलेखना—**चारवर्ष पर्यन्त विचित्र प्रकार का तप करना.....चार वर्ष पर्यन्त विचित्रतप (विविध प्रकार का तप) विगय रहित पारणा वाला करना। दो वर्ष एकान्तरित आयंबिल सहित उपवास करना। पश्चात् छः मास तक विकृष्ट नहीं, पर उपवासादि हलका तप और पारणे के दिन परिमित आयंबिल करना। पश्चात् छः मास तक विकृष्ट तप करना...फिर एक वर्ष पर्यन्त कोटिसहित आयंबिल करना। इस प्रकार बारह वर्ष तक संलेखना करने के पश्चात् पर्वत की गुफा में जाकर पादपोपगमन अनशन स्वीकार करना चाहिये** ॥८७५-८७७॥

—विवेचन—

संलेखना =आगमोक्त विधि से शरीर को क्षीण करना। यह तीन प्रकार की है—

(i) उत्कृष्ट—१२ वर्ष तक तप करना।

प्रथम के ४ वर्ष में	=	उपवास, छट्ठ, अट्ठम आदि विचित्रतप करना।
पारणे में	=	निर्दोष आहार ग्रहण करना।
मध्य के ४ वर्ष में	=	उपवास, छट्ठ, अट्ठम आदि विचित्र तप करना।
पारणे में	=	विकृतिरहित आहार ग्रहण करना।
आगे के २ वर्ष में	=	एकान्तर उपवास करना।
पारणे में	=	आयंबिल करना।
आगे के ६ मास में	=	उपवास या छट्ठ करना।
पारणे में	=	ऊनोदरी युक्त आयंबिल करना।
आगे के ६ मास में	=	अट्ठम, दशम, द्वादश आदि विकृष्टतप करना।
पारणे में	=	आयंबिल करना।
१२ वें वर्ष में	=	कोटि सहित निरन्तर आयंबिल करना।

अन्यमतानुसार—१२ वें वर्ष में एकान्तर उपवास और पारणे में आयंबिल करना।

१२वें वर्ष में आयंबिल में प्रतिदिन एक-एक कवल कम करते जाना। अन्त में एक कवल का पारणा करना। फिर उसमें से भी प्रतिदिन एक-एक दाना कम करते जाना अंत में एक दाने का पारणा करना। जैसे दीपक में तैल और बाती दोनों एक ही साथ क्षीण हो जाने से दीपक स्वतः बुझ जाता है वैसे ही इस प्रकार तप करते-करते आयुष्य और शरीर एक ही साथ क्षय हो जाने से 'जीवनदीप' भी स्वतः बुझ जाता है। बारहवें वर्ष के अन्तिम चार मास में मुँह में तैल का कुल्ला भरकर रखे, जब थूंकना हो, किसी पात्र में थूंककर उष्ण जल से मुँह साफ करें। उस समय यदि तैल का कुल्ला मुँह में न रखा जाये तो अति तप करने से मुँह सर्वथा सूख जाता है और नवकार मंत्र का उच्चारण भी कठिन हो जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इस प्रकार बारह वर्ष पर्यंत संलेखना करने के बाद ही देहोत्सर्ग करने के लिये गिरि, गुफा आदि जीव-रहित स्थान में जाकर पादपोगमन, भक्त-परिज्ञा या इंगिनी-मरण आदि अनशन स्वीकार करे।

(ii) मध्यम—१२ महीना तक तप करना। तप करने का क्रम उत्कृष्ट संलेखना की तरह ही समझना किंतु वर्ष के स्थान पर मास समझना।

(iii) जघन्य—बारह पक्ष तक तप करना। तप का क्रम उत्कृष्ट संलेखना की तरह ही होता है, किंतु वर्ष के स्थान पर पक्ष समझना ॥८७५-८७७॥

१३५ द्वार : वसति-ग्रहण—

नयराइएसु घेप्पइ वसही पुव्वामुहं ठविय वसहं।
वामकडीइ निविट्ठं दीहीकअग्गिमेकपयं ॥८७८॥
सिंगक्खोडे कलहो ठाणं पुण नेव होइ चलणेसु।
अहिठाणे पोट्टरोगो पुच्छंमि य फेडणं जाण ॥८७९॥
मुहमूलंमि य चारी सिरे य कउहे य पूयसक्कारो।
खंधे पट्ठीय भरो पुट्ठंमि य धायओ वसहो ॥८८०॥

—गाथार्थ—

वृषभमुनियों द्वारा वसति ग्रहण—**नगर या गाँव में वसतिग्रहण करते समय सम्पूर्ण वसति को आगे का एक पाँव लंबा करके तथा पूर्व दिशा सन्मुख मुँह करके डाबी करवट बैठे हुए बैल के आकार की कल्पना करे ॥८७८॥**

इस प्रकार वसति की वृषभरूप कल्पना करके जो स्थान शुभ हो वहाँ वास करे। सिंग के स्थान में वास करने से कलह, पाँव के स्थान में वास करने से वसति त्याग, गुदा स्थान में वास करने से पेट की बीमारी, पूँछ के स्थान में वास करने से वसति का नाश, मुख के स्थान में वास करने से श्रेष्ठ भोजन की प्राप्ति, शिर व ककुद के स्थान में वास करने से पूजा-सत्कार, स्कंध व पृष्ठ भाग में वास करने से वसति सदा भरी रहती है ॥८७९-८८०॥

—विवेचन—

वसति ग्रहण करने से पहले उस वसति में पूर्व की ओर मुँह करके दायीं करवट बैठे हुए अग्रिम एक पाँव तिरछा फैलाये हुए बैल के आकार की कल्पना करना। तत्पश्चात् प्रशस्त प्रदेश में वसति ग्रहण करना।

बैल के किस प्रदेश में ग्रहण की गई वसति प्रशस्त या अप्रशस्त कहलाती है?

१. शृंग —शृंग के स्थान में वसति ग्रहण करे तो परस्पर साधुओं में कलह होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. चरण —चरण के स्थान में वसति ग्रहण करने से स्थिरता नहीं होती है अर्थात् शीघ्र विहार हो जाता है।

३. अपान —अपान के स्थान में वसति ग्रहण करने से उदर-रोग होता है।

४. पूँछ —पूँछ के स्थान में वसति ग्रहण करने से निष्कासित होना पड़ता है।

५. मुख —मुख के स्थान में वसति ग्रहण करने से गौचरी अच्छी मिलती है।

६. शृंग मध्य —शृंग के मध्य भाग में वसति-ग्रहण करने से मान-सम्मान व पूजा-सत्कार मिलता है। पूजा—श्रेष्ठ वस्त्र, पात्र आदि मिलना। सत्कार = अभ्युत्थानादिरूप आहार मिलना।

७. ककुद —ककुद के स्थान में वसति ग्रहण करने से पूजा = सत्कार मिलता है।

८. स्कन्ध-पृष्ठ —खभे या पीठ के स्थान में वसति ग्रहण करने से वसति में संकीर्णता होती है। अर्थात् बहुत साधुओं के आ जाने से वसति भर जाती है।

९. उदर —पेट के स्थान में वसति ग्रहण करने से मुनिजन सदा तृप्त रहते हैं ॥८७९-८८० ॥

१३६ द्वार : सचित्तता-कालमान—

उसिणोदगं तिदंडुक्कलियं फासुयजलंति जइकप्पं।
नवरि गिलाणाइकए पहरतिगोवरिवि धरियव्वं ॥८८१ ॥
जायइ सचित्तया से गिम्हंमि पहरपंचगस्सुवरिं।
चउपहरोवरि सिसिरे वासासु पुणो तिपहरुवरिं ॥८८२ ॥

—गाथार्थ—

पानी का काल—**तीन उकालायुक्त गर्म जल अथवा अन्य प्रकार से प्रासुक किया हुआ जल सामान्यतः तीन प्रहर तक मुनियों को कल्पता है। ग्लानादि के लिये अधिक समय तक भी रखा जा सकता है ॥८८१ ॥**

उष्णकाल में पाँच प्रहर के पश्चात्, शीतकाल में चार प्रहर के पश्चात् तथा वर्षाकाल में तीन प्रहर के पश्चात् प्रासुक जल भी पुनः सचित्त बन जाता है ॥८८२ ॥

—विवेचन—

- गर्म करने के पश्चात् या किसी अन्य प्रकार से अचित्त हो जाने के पश्चात् पुनः कितने समय उपरान्त सचित्त बनता है इसका निर्धारण करना।
- **उष्णजल**—जिस जल में तीन बार उबाल आ गया हो वह उष्णजल है। प्रथम उबाल में पानी मिश्र रहता है। द्वितीय उबाल में अधिक भाग अचित्त हो जाता है पर कुछ भाग सचित्त रहता है। तीसरे उबाल में जल अचित्त हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- **प्रासुकजल**—स्वकाय-शस्त्र (मीठे जल में खाराजल मिलाना, स्वकाय शस्त्र है) व परकाय शस्त्र (त्रिफला, लौंग, शक्कर आदि डालना) के द्वारा अचित्त बना जल।
  पूर्वोक्त दोनों ही प्रकार के जल मुनियों को लेना कल्पता है। दोनों ही प्रकार के जल का मुनियों को तीन प्रहर तक उपयोग करना कल्पता है। तदुपरान्त कालातिक्रान्त हो जाने से अकल्प्य बन जाता है। यदि ग्लान, वृद्ध, बालमुनि आदि के लिए दूसरी व्यवस्था न हो तो तीन प्रहर से अधिक भी जल रखा जा सकता है ॥८८१॥
- ग्लानादि के लिये रखे हुए उष्ण-प्रासुक जल का ग्रीष्मऋतु में पाँच प्रहर का काल है अर्थात् ग्रीष्मऋतु में पाँच प्रहर तक उष्ण व प्रासुक जल अचित्त रहता है तत्पश्चात् पुनः सचित्त बन जाता है। ग्रीष्मकाल अत्यन्त रूक्ष होने से उसमें जल इतने काल बाद सचित्त बनता है।
- शीतकाल में स्निग्धता के कारण चार प्रहर के पश्चात् ही जल पुनः सचित्त बन जाता है।
- वर्षाऋतु में काल अतिस्निग्ध होने से प्रासुक जल तीन प्रहर के पश्चात् पुनः सचित्त हो जाता है।
  पूर्वोक्त काल के पश्चात् भी यदि जल रखना हो तो उसमें चूना आदि क्षार पदार्थ डालकर रखना चाहिये ताकि वह अचित्त बना रहे ॥८८२॥

१३७ द्वार : स्त्रियाँ—

तिगुणा तिरूवअहिया तिरियाणं इत्थिया मुणेयव्वा।
सत्तावीसगुणा पुण मणुयाणं तयहिया चेव ॥८८३॥
बत्तीसगुणा बत्तीसरूवअहिया य तह य देवाणं।
देवीओ पन्नत्ता जिणेहिं जियरागदोसेहिं ॥८८४॥

—गाथार्थ—

तिर्यंच, मनुष्य और देव से कितनी अधिक उनकी स्त्रियाँ होती हैं?—**तिर्यंच पुरुष की अपेक्षा तिर्यंच स्त्रियाँ तीन गुणी और तीन अधिक हैं। मनुष्य की अपेक्षा मानवी सत्तावीस गुणी और सत्तावीस अधिक हैं। देवों की अपेक्षा देवियाँ बत्तीस गुणी और बत्तीस अधिक हैं, ऐसा वीतराग परमात्मा ने कहा है ॥८८३-८८४॥**

—विवेचन—

- तिर्यंच पुरुष की अपेक्षा तिर्यंच स्त्रियाँ तीन गुणा हैं।
- मनुष्य की अपेक्षा स्त्रियाँ सत्तावीस गुणा अधिक हैं।
- देव की अपेक्षा देवियाँ बत्तीस अधिक बत्तीस गुणा है।८८३-८८४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३८ द्वार : आश्चर्य—

उवसग्ग गब्भहरणं इत्थीतित्थं अभाविया परिसा।
कण्हस्स अवरकंका अवयरणं चंदसूराणं ॥८८५॥
हरिवंसकुलुप्पत्ती चमरुप्पाओ य अट्ठसयसिद्धा।
अस्संजयाण पूया दसवि अणंतेण कालेणं ॥८८६॥
सिरिरिसहसीयलेसुं एक्केक्कं मल्लिनेमिनाहे य।
वीरजिणिंदे पंच उ एगं सव्वेसु पाएणं ॥८८७॥
रिसहे अट्ठऽहियसयं सिद्धं सीयलजिणंमि हरिवंसो।
नेमिजिणेऽवरकंकागमणं कण्हस्स संपन्नं ॥८८८॥
इत्थीतित्थं मल्ली पूया अस्संजयाण नवमजिणे।
अवसेसा अच्छेरा वीरजिणिंदस्स तित्थंमि ॥८८९॥

—गाथार्थ—

दश आश्चर्य—१. उपसर्ग २. गर्भापहार ३. स्त्रीतीर्थ ४. अभावित पर्षदा ५. कृष्ण का अमरकंका-गमन ६. चन्द्र-सूर्य का अवतरण ७. हरिवंश कुलोत्पत्ति ८. चमरेन्द्र का उत्पात ९. एक सौ आठ का सिद्धिगमन और १०. असंयती-पूजा—ये दश आश्चर्य अनन्तकाल में होते हैं ॥८८५-८८६॥

श्री ऋषभदेव, शीतलनाथ, मल्लिनाथ और नेमिनाथ के तीर्थ में एक-एक आश्चर्य घटित हुआ। भगवान महावीर के शासन में पाँच आश्चर्य हुए तथा एक आश्चर्य प्रायः सभी के तीर्थ में हुआ ॥८८७॥

श्री ऋषभदेव के शासनकाल में एक सौ आठ का सिद्धिगमन हुआ। शीतल जिन के तीर्थ में हरिवंश कुल की उत्पत्ति हुई। नेमिजिन के तीर्थ में कृष्ण का अमरकंकागमन हुआ। मल्लिनाथ स्त्री तीर्थंकर हुए। नौवें सुविधिनाथ भगवान के तीर्थ में असंयती की पूजा हुई। शेष आश्चर्य भगवान महावीर के तीर्थ में हुए ॥८८८-८८९॥

—विवेचन—

● **आश्चर्य**—जिन्हें लोक विस्मय की दृष्टि से देखते हैं, वे आश्चर्य कहलाते हैं। आ-विस्मयतश्चर्यन्ते अवगम्यन्ते जनैः इति आश्चर्याणि। वे दश हैं :—

१. उपसर्ग—व्यक्ति की साधना/आराधना में विशेष बाधा डालने वाले सुर-नर-तिर्यंचकृत उपद्रव उपसर्ग है। यद्यपि तीर्थंकर के आस-पास सौ योजनपर्यन्त युद्ध-कलह, मारी-मरकी, दुर्भिक्ष के उपद्रव नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते, यदि हैं तो शान्त हो जाते हैं। तीर्थंकर का अचिंत्य प्रभाव होता है। वे श्रेष्ठपुण्य के पुंज होते हैं। तथापि भगवान महावीर को छद्मस्थावस्था व केवली अवस्था में नर-अमर व तिर्यंचकृत अनेक उपसर्ग हुए। ऐसा कभी नहीं होता, क्योंकि तीर्थाकर परमात्मा अनन्तपुण्यनिधान होने से सभी के पूज्य होते हैं, उपसर्ग के पात्र नहीं होते। अतः भगवान महावीर को होने वाले उपसर्ग लोकदृष्टि से अनन्तकालभावी आश्चर्यरूप हैं।

२. **गर्भहरण**—एक स्त्री के गर्भ को अन्य स्त्री के गर्भ में संक्रमण कराना गर्भहरण है। तीर्थंकर के जीवन में ऐसी घटनायें नहीं होती, पर इस अवसर्पिणीकाल में भगवान महावीर के जीवन में गर्भहरण की घटना घटी थी। भगवान महावीर ने मरीचि के भव में कुलमद करके नीचगोत्र कर्म बाँधा था। उस कर्म के कारण परमात्मा को देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षी में उत्पन्न होना पड़ा। बयासी दिन पश्चात् सौधर्मपति ने ज्ञान से यह देखा तो विचार किया कि 'तीर्थंकर परमात्मा कदापि नीचकुल में उत्पन्न नहीं होते। भगवान महावीर का इस प्रकार उत्पन्न होना आश्चर्यरूप है।' यह सोचकर अत्यधिक भक्ति पूर्ण हृदय से अपने सेनापति हरिणगमेषी को आदेश दिया कि—भरतक्षेत्र में, चरमतीर्थंकर भगवान महावीर पूर्वोपार्जित नीचगोत्र कर्म के उदय से तुच्छकुल में उत्पन्न हुए हैं। तुम उन्हें वहाँ से लेकर क्षत्रियकुण्डग्राम के अधिपति सिद्धार्थराजा की पत्नी त्रिशला रानी की कुक्षि में स्थापित करो। सौधर्मेन्द्र की आज्ञा स्वीकार कर हरिणगमेषी ने आंसोज सुदी तेरस की अर्धरात्रि में देवानन्दा की कुक्षि से भगवान को लेकर त्रिशला की कुक्षि में स्थापित किया। यह घटना भी आश्चर्यरूप ही है।

३. **स्त्री-तीर्थंकर**—स्त्री तीर्थंकर के द्वारा तीर्थ का (द्वादशांगरूप अथवा चतुर्विध संघ रूप) प्रवर्तन करना भी आश्चर्यरूप है। सामान्यतः तीर्थ का प्रवर्तन त्रिभुवन में अपूर्व, अनुपमेय महिमाशाली पुरुष ही करते हैं परन्तु इस अवसर्पिणी में उन्नीसवें तीर्थंकर कुंभनृपति की पुत्री मल्लिकुमारी ने तीर्थ का प्रवर्तन किया था। घटना इस प्रकार है—पश्चिम महाविदेह की सलिलावती विजय में वीतशोका नाम की एक नगरी थी। वहाँ महाबल नामक राजा राज्य करता था। चिरकाल तक राज्य का पालन कर महाबलराजा ने अपने छः मित्रों के साथ वरधर्म मुनीन्द्र के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। एक व्यक्ति जो तप करेगा, वही तप दूसरा करेगा, ऐसी प्रतिज्ञापूर्वक उन सातों ने एक साथ तपस्या करना प्रारंभ किया। एकदा महाबल मुनि ने अपने मित्रों की अपेक्षा विशिष्ट फल पाने की अभिलाषा से विशिष्ट तप करने का विचार किया तथा पारणे के दिन शिरोवेदना, उदरपीड़ा, क्षुधा का अभाव आदि अनेक बहाने बनाकर कपटपूर्वक वीसस्थानक तप की आराधना की। मायापूर्वक तप के द्वारा स्त्रीवेद के साथ तीर्थंकर नामकर्म का बंधन किया। वहाँ से आराधनापूर्वक मरकर वैजयन्त विमान में देव बने। वहाँ से आयु पूर्णकर मिथिला नगरी में कुंभ राजा की पत्नी प्रभावती की कुक्षि से पुत्रीरूप में उत्पन्न हुए। युवावस्था में दीक्षा ग्रहणकर मल्लिकुमारी ने केवलज्ञान प्राप्त किया। अष्टमहाप्रातिहार्यरूप तीर्थंकर योग्य महासमृद्धि से शोभित होकर उन्होंने तीर्थ का प्रवर्तन किया। स्त्री द्वारा तीर्थ प्रवर्तन की घटना अनन्तकाल बीतने के बाद कभी होती है, अतः आश्चर्यरूप है।

४. **अभव्या पर्षदा**—तीर्थंकर के समवसरण में व्रतग्रहण के अयोग्य श्रोतागणों की उपस्थिति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आश्चर्य रूप है। तीर्थंकर परमात्मा की देशना सुनकर कोई न कोई आत्मा अवश्य व्रत ग्रहण करता है। पर केवलज्ञान होने के पश्चात् समागत संख्यातीत देवताओं के द्वारा विरचित समवसरण में भगवान महावीर के द्वारा अतिगंभीर मधुर व मनोहारी ध्वनि से धर्मदेशना देने पर भी किसी भी आत्मा ने व्रतग्रहण नहीं किया। केवल आचार का परिपालन करने हेतु ही परमात्मा की देशना हुई। ऐसा किसी भी तीर्थंकर के समय में नहीं हुआ, किन्तु महावीर के समय में हुआ अतः यह भी आश्चर्यरूप ही है।

५. कृष्ण का अमरकंका गमन—कृष्ण वासुदेव का अमरकंका नगरी में जाना अभूतपूर्व घटना होने से आश्चर्य रूप है। हस्तिनापुर नगर में पाँचों पाण्डव द्रौपदी के साथ क्रमशः विषयसुख भोगते हुए अत्यन्त आनन्दपूर्वक दिन बिता रहे थे। एक दिन स्वैरविहार करते हुए नारद द्रौपदी के महल में पधारे। द्रौपदी ने वेषभूषा के कारण उन्हें असंयत समझकर नमस्कार भी नहीं किया। द्रौपदी के रूखे व्यवहार से नारद अत्यन्त क्रुद्ध होकर द्रौपदी को दुःखी करने का उपाय सोचते हुए उसके महल से तुरन्त निकल गये। भरतक्षेत्र में तो कृष्ण के डर से उसके अपाय का कोई भी उपाय उन्हें दृष्टिगत नहीं हुआ अतः वे स्त्रीलंपट, कपिल वासुदेव के सेवक पद्मराजा की राजधानी अमरकंका नगरी में गये। वह राजा भी नारद जी को देखकर सविस्मय उठा व सत्कारपूर्वक उन्हें अपने अन्तःपुर में ले गया। वहाँ अपनी सभी पत्नियों को दिखाते हुए बोला—भगवन्! आप सर्वत्र निराबाध भ्रमण करने वाले हैं। बताइये कि आपने मेरी पत्नियों जैसी स्वरूपवान स्त्रियाँ कहीं अन्यत्र देखी है क्या? नारद ने भी अपनी मनोभावना पूर्ण होते देखकर पद्मराज को चढ़ाते हुए कहा—राजन्! कूप-मण्डूक की तरह क्या इन रानियों को देखकर उछल रहे हो। पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी के सम्मुख तुम्हारी ये रानियाँ दासीतुल्य हैं। इतना कहकर नारद जी आकाश मार्ग से उड़ चले।

नारद जी के कथन से पद्मराज द्रौपदी को पाने हेतु अत्यन्त उत्कण्ठित हो गया। पर कहाँ जंबूद्वीप का भरत क्षेत्र और कहाँ धातकीखण्ड की अमरकंका। वहाँ से द्रौपदी को लाना उसकी शक्ति से परे की बात थी अतः उसने अपने मित्रदेव की आराधना की। आराधना से प्रसन्न हो देव प्रकट हुआ और बोला कि 'मित्र मुझे क्यों याद किया?' पद्मराज ने कहा 'मित्र! पाण्डव पत्नी द्रौपदी का अपहरण कर मुझे समर्पित करो।' देव ने कहा 'द्रौपदी महासती है उससे तुम्हारी कामना पूर्ण नहीं हो सकती, तथापि वचनबद्ध होने से मैं उसे लाकर तुम्हें समर्पित करूँगा।' देवता ने वैसा ही किया। रात को अपने महल में सोयी हुई द्रौपदी का अपहरण कर पद्मराज को समर्पित कर दी। जब द्रौपदी जगी अपने पति, महल आदि को न देखकर सहसा व्याकुल हो उठी। इतने में पद्मनाभ ने आकर उसे सान्त्वना देते हुए बड़े प्रेम से कहा—'हे मृगाक्षि! मैं धातकीखण्ड की अमरकंका का स्वामी, तुम्हारा चाहक पद्मनाभ हूँ। मैं ही तुम्हें यहाँ लाया हूँ। तुम मेरे प्रेम को स्वीकार करो।' द्रौपदी परिस्थिति को भाँपते हुए बोली—'हे पद्मनाभ! छः महिने के भीतर यदि मेरे पीछे कोई नहीं आया तो निश्चित रूप से मैं तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करूंगी।' पद्मनाभ भी भरतक्षेत्र से किसी का अमरकंका में आगमन असंभव समझकर शान्त हो गया।

इधर पाण्डवों ने द्रौपदी को महल में न पाकर सर्वत्र खोज की। जब वह कहीं न मिली तो पाण्डवों ने कृष्ण को निवेदन किया। कृष्ण यह सुनकर बड़े गंभीर हो गये। इतने में नारद जी अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्य का परिणाम जानने हेतु वहाँ पधार गये। सर्वत्र भ्रमणशील होने के कारण कृष्ण ने द्रौपदी के विषय में नारद को पूछना उचित समझकर कहा—'भगवन्! आप सर्वत्र विचरण करने वाले हैं। घूमते हुए आपने कहीं द्रौपदी को देखा क्या?' नारद ने मुस्कुराते हुए कहा—'वासुदेव! धातकीखण्ड की अमरकंका के राजा पद्मनाभ के महल में मैंने उसे देखा था।' ऐसा कहकर नारद चले गये। सुराग पाकर कृष्ण ने पाण्डवों को कह दिया कि चिन्ता करने की अब कोई आवश्यकता नहीं है। द्रौपदी का पता लग गया है। मैं उसे वहाँ से शीघ्र ही मुक्त कराके लाऊंगा और वे पाण्डवों के साथ विशाल सेना लेकर दक्षिण दिशा की ओर चल पड़े। समुद्रतट पर पहुँच कर अथाह-अपार सागर को देखकर पाण्डव बोले—'स्वामिन्! जो समुद्र मन से अलंघनीय है उसे तन से कैसे पार करेंगे?' कृष्ण ने उन्हें निश्चिन्त रहने का कहकर लवण समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थितदेव की अट्ठम अर्थात् तीन दिन के उपवास पूर्वक आराधना की। देव ने प्रसन्न होकर याद करने का कारण पूछा। कृष्ण ने कहा—'हे सुरश्रेष्ठ! द्रौपदी को लौटाने में आप हमारी मदद करें।' देव ने कहा—'जैसे पद्मनाम ने अपने मित्रदेव द्वारा उसका अपहरण करवाया, वैसे मैं भी वहाँ से उसका अपहरण कर आपको सौंप दूँ अथवा दलबल सहित पद्मनाभ को समुद्र में डालकर द्रौपदी को वहाँ से लाऊँ। जैसी आपकी आज्ञा मैं वैसा ही करने को तैयार हूँ।' कृष्ण ने कहा—'ऐसा करना अपयश का कारण है। आप तो पाँच पाण्डवों सहित हमारे छः रथों के जाने का रास्ता समुद्र में कर दीजिये ताकि हम वहाँ जाकर पद्मनाभ को जीतकर ही द्रौपदी को लायें।'

सुस्थितदेव ने वैसा ही किया। कृष्ण भी पाण्डवों सहित जल में स्थल की तरह गमन कर अमरकंका नगरी के बाहर उद्यान में जा पहुँचे। सर्वप्रथम उन्होंने दारुक दूत को भेजकर पद्मनाभ को अपने आगमन की सूचना दी साथ ही कहलवाया कि वह द्रौपदी को सहर्ष उन्हें सौंप दे। परन्तु अहंकार में चूर पद्मनाभ ने सत्य से मुँह मोड़ते हुए यही सोचा कि कृष्ण अपने क्षेत्र का वासुदेव है, यहाँ वह क्या कर सकता है? अतः दूत को कह दिया कि अपने स्वामी को जाकर कह दो कि द्रौपदी को लेना है तो युद्ध की तैयारी करे और खुद भी युद्ध की तैयारी करके मैदान में आ डटा। दूत के कथन से अत्यन्त क्रुद्ध बने कृष्ण ने ससैन्य पद्मनाभ को आते हुए देखकर ऐसा सिंहनाद किया कि पद्मनाभ की कुछ सेना मैदान छोड़कर भाग छूटी। कुछ धनुष की टंकार सुनकर भाग गई। तब अवशिष्ट सैनिकों के साथ डरकर पद्मनाभ भी मैदान छोड़कर नगरी की ओर भाग छूटा। नगरी के चारों दरवाजे बन्द करवा दिये। कृष्ण भी क्रुद्ध होकर नृसिंह रूप धारण कर नगरी की ओर चल पड़े। पाँवों के आघात से पुरी के द्वार को गिराकर भीतर घुस गये। जब पद्मनाभ को यह मालूम पड़ा तो वह भय से व्याकुल हो गया और द्रौपदी के पास जाकर प्राणों की भीख माँगने लगा। द्रौपदी ने कहा—'यदि तुम्हें प्राण प्यारे हैं तो स्त्री वेष धारण कर मेरे पीछे वासुदेव की शरण में चलो। वे ही तुम्हें प्राणों की भीख दे सकते हैं।' पद्मनाभ ने वैसा ही किया, कृष्ण ने उसे क्षमा कर द्रौपदी पाण्डवों को सौंप दी तथा वे लोग जैसे आये थे वैसे चल पड़े। कृष्ण ने जाते समय शंखनाद किया।

उस समय उस क्षेत्र का वासुदेव धातकीखण्ड की चंपापुरी में मुनिसुव्रत स्वामी भगवान के समवसरण में धर्मदेशना श्रवण कर रहा था। वासुदेव के शंख की ध्वनि सुनकर उसने तीर्थंकर को पूछा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि—'भगवन्! मेरा शंख किसने बजाया?' भगवान ने भी द्रौपदी का वृत्तान्त बताकर कृष्ण द्वारा शंखध्वनि करने की बात कही। कपिल ने अपने क्षेत्र में वासुदेव का स्वागत करने की भावना व्यक्त की। पर भगवान ने कहा कि—'कपिल! जैसे एक स्थान पर दो तीर्थंकर, दो चक्रवर्ती और दो वासुदेव एक साथ उत्पन्न नहीं हो सकते वैसे एक दूसरे से मिल भी नहीं सकते।' भगवान के ऐसा कहने पर भी कौतुकवश कपिल वासुदेव, कृष्ण को देखने की इच्छा से समुद्रतट पर गये। उन्होंने समुद्र में जाते हुए कृष्ण वासुदेव के रथ की ध्वजा देखी। तब उन्होंने शंख के माध्यम से कृष्ण को अपनी इच्छा बताई कि इस क्षेत्र का कपिल वासुदेव (मैं) आपका दर्शन करना चाहता है अतः आप पुनः लौट आइये। कृष्ण ने भी शंख बजाकर प्रत्युत्तर दिया कि आप अब आग्रह न करें, कारण हम तट से बहुत दूर निकल गये हैं और वे दोनों अपने-अपने स्थान को लौट आये।

६. चन्द्र सूर्य का अवतरण—कोशांबी नगरी में भगवान महावीर पधारे। उस समय अन्तिम प्रहर में चन्द्र व सूर्य अपने मूल विमान से परमात्मा को वन्दन करने हेतु आये। सामान्यतः देवता उत्तर वैक्रिय द्वारा रचित विमान से ही धरती पर आते हैं अतः सूर्य, चन्द्र का मूल विमान से आगमन आश्चर्यरूप है।

हरिवंश कुलोत्पत्ति—हरिवंश कुल की उत्पत्ति भी आश्चर्यरूप है। हरि = पुरुष विशेष, वंश = पुत्र-पौत्रादि परंपरा। हरि नामक पुरुष विशेष के द्वारा प्रचलित पुत्र-पौत्रादि परम्परा। यथा—इस भरतक्षेत्र की कौशांबी नगरी में सुमुख नामक राजा था। वसन्त ऋतु आने पर वह राजा हाथी पर आरूढ़ होकर क्रीड़ा हेतु नगर के बाहर बगीचे में आया। रास्ते में उसने वीरक नामक जुलाहे की अति सुन्दर लावण्यमयी पत्नी वनमाला को देखा। उसने भी राजा को बार-बार रागदृष्टि से देखा। काम से व्याकुल राजा भी उसे निर्निमेष देखने की इच्छा से हाथी को इधर-उधर घुमाता रहा पर आगे नहीं बढ़ा। तब सुमति नामक मंत्री ने आगे न बढ़ने का कारण पूछा। राजा ने तब अपने को संभाला और वहाँ से क्रीडोद्यान में गया पर हृदय-शून्य की तरह वहाँ उसका मन नहीं लगा। राजा को उद्विग्न देखकर सुमति मंत्री ने पूछा—देव! आज आप उद्विग्न कैसे दिखाई दे रहे हैं। यदि कारण कहने योग्य हो तो अवश्य कहें। राजा ने कहा—मंत्रीश्वर! आपसे गोपनीय कुछ भी नहीं है, क्योंकि आप ही मेरी उद्विग्नता को दूर करने में समर्थ हैं। ऐसा कह कर राजा ने मंत्री को अपनी उद्विग्नता का कारण बताया। मंत्री ने राजा को आश्वस्त किया कि वह शीघ्र ही उसकी इच्छा पूर्ण करेगा। राजा स्वस्थ होकर अपने महल में लौट आया।

तत्पश्चात् मंत्री ने अपने कार्य की सिद्धि के लिये 'आत्रेयिका' नामक परिव्राजिका को वनमाला के पास भेजा। परिव्राजिका ने वहाँ जाकर विरह-व्याकुल वनमाला को कहा कि—हे वत्से! आज तुम उदास क्यों हो? अगर योग्य हो तो अपनी उदासी का कारण बताओ। तब वनमाला ने आहें भरते हुए अपनी दुष्पूरणीय इच्छा बताई। इस पर आत्रेयिका ने कहा—हे वत्से! मेरी मंत्र-तंत्र की शक्ति के लिये कुछ भी असाध्य नहीं है। कल प्रातः ही मैं तुम्हारा राजा से मिलन करवा दूंगी। इस प्रकार वनमाला को आश्वस्त कर परिव्राजिका ने मंत्री को निवेदित किया कि राजा का कार्य बन गया है। मंत्री ने यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बात राजा को बताई। राजा प्रसन्न हो गया। दूसरे दिन प्रभात में परिव्राजिका ने वनमाला को राजा के महल में पहुँचा दिया। राजा ने उसे अनुराग वश अपने अन्तःपुर में रख लिया और उसके साथ अनेक विध भोग भोगने लगा।

इधर वीरक घर में वनमाला को न पाकर हा प्रिये! वनमाले! तुम कहाँ गई? इस प्रकार विलाप करता हुआ पागल की तरह गली, चौराहों पर घूमने लगा। एक दिन वह इसी अवस्था में राजा के महल के पास पहुँच गया। राजा और वनमाला ने हा वनमाले! हा वनमाले! ऐसा प्रलाप करते हुए वीरक को देखा। उसकी वह दशा देखकर राजा को बड़ी आत्मग्लानि हुई कि हमने उभय लोक-विरुद्ध अत्यन्त निन्दनीय कर्म किया है। इसके फलस्वरूप हम मर कर कहाँ जायेंगे? इस प्रकार आत्मनिन्दा करते हुए राजा और वनमाला की बिजली गिरने से सहसा मृत्यु हो गई। शुभध्यान से मरकर परस्पर स्नेहवश वे दोनों हरिवर्ष नामक क्षेत्र में युगल रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ उनका हरि-हरिणी नाम हुआ। कल्पवृक्ष से अपनी इच्छापूर्ति करते हुए वे सुखपूर्वक काल-निर्गमन करने लगे।

वीरक भी उन दोनों की मृत्यु के समाचार सुनकर स्वस्थ बन गया। अन्त में अज्ञानतापूर्वक मरकर सौधर्म देवलोक में किल्विषी देव बना। अवधिज्ञान से अपने वैरी हरि-हरिणी को देखकर उसे बड़ा रोष पैदा हुआ। उसने सोचा—ये मेरे वैरी यहाँ से मरकर क्षेत्र-स्वभाव से निश्चित रूप से देव बनेंगे। अतः इन्हें ऐसे स्थान पर रखूँ कि वहाँ से मरने पर इनकी अवश्य दुर्गति हो और उसने देवशक्ति से कल्पवृक्ष सहित उन्हें भरतक्षेत्र की चम्पानगरी में ले जाकर छोड़ दिया।

उस नगरी का राजा चन्द्रकीर्ति निःसन्तान मर गया था, अतः प्रजाजन राजा बनने योग्य पुरुषों की खोज कर रहे थे। इतने में उस देव ने अपनी शक्ति से सभी को आश्चर्यमुग्ध करते हुए आकाशवाणी की कि—हे राज्यचिन्तकों! आपके पुण्य से प्रेरित होकर राजयोग्य हरि-हरिणी का यह जोड़ा हरिवर्ष क्षेत्र से मैं लाया हूँ। इनके आहार के कल्पवृक्ष भी साथ हैं। जब ये भोजन माँगे तो कल्पवृक्ष के फलों को माँस से मिश्रित कर इन्हें खिलायें, मदिरा पिलायें। लोगों ने भी देवशक्ति से विस्मित होकर 'हरि' को राजा बना दिया। देवता ने अपनी शक्ति से उनकी आयु व शरीर प्रमाण अल्प कर दिया। राजा हरि ने भी समुद्र पर्यन्त पृथ्वी को जीतकर चिरकाल तक राज्य का पालन किया। उसी के नाम से हरिवंश कुल उत्पन्न हुआ। यह घटना भी अभूतपूर्व होने से आश्चर्यरूप है।

८. चमरेन्द्र का उत्पात—चमरेन्द्र (भवनपति निकाय का इन्द्र) का ऊपर देवलोक में जाकर उपद्रव करना आश्चर्यरूप है। ऐसा कभी नहीं होता। घटना इस प्रकार है—विभेल नामक उपनगर में पूरण नाम का एक धनाढ्य गृहस्थ था। एकदा रात्रि में उसे विचार उत्पन्न हुआ कि मुझे जो संपत्ति व यश-कीर्ति मिली है वह सब पूर्वकृत तपाराधन का ही परिणाम है। अतः आगामी भव में विशिष्ट फलप्राप्ति के लिये इस भव में मुझे गृहवास का त्याग कर दुष्कर तप करना चाहिए। ऐसा सोचकर पूरण सेठ ने प्रातःकाल अपने सभी स्वजनों को पूछकर पुत्र को अपने पद पर प्रतिष्ठित कर तापसी दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा दिन से लेकर मृत्यु पर्यन्त बेले-बेले पारणा किया। पारणे के दिन चार कोने वाले लकड़ी के पात्र में मध्याह्न बेला में घर-घर भ्रमण कर भिक्षा ग्रहण करता था। प्रथम, द्वितीय व तृतीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोने की भिक्षा क्रमशः भिखारी, पक्षी, मत्स्यादि जलचरों को डालकर चतुर्थ कोण की भिक्षा समभाव से स्वयं खाता था। इस प्रकार १२ वर्ष तक बालतप करके अन्तिम समय में एक महीने के अनशनपूर्वक मृत्यु का वरण किया। बालतप के प्रभाव से वह मरकर चमरेन्द्र बना। अवधिज्ञान से सौधर्मेन्द्र को अपने ऊपर बैठा देखकर चमरेन्द्र बड़ा क्रुद्ध हुआ और अपने अधीनस्थ देवों से पूछा अरे! यह कौन दुष्ट है जो मेरे सिर पर पाँव रखकर बैठा है। देवताओं ने कहा—स्वामिन्! आपके ऊपर बैठने वाला और कोई नहीं, पूर्वभव के प्रबल पुण्य से अर्जित महान् समृद्धि वाला सौधर्मेन्द्र है। यह सुनकर चमरेन्द्र और अधिक क्रुद्ध हुआ। मेरी अवज्ञा करने वाले इस दुष्टात्मा को मैं कड़ी शिक्षा दूँगा। ऐसा कहता हुआ, देवताओं द्वारा मना करने पर भी सौधर्मेन्द्र से युद्ध करने के लिये मुद्गर लेकर चल पड़ा। रास्ते में उसे विचार आया 'सुना जाता है कि इन्द्र बड़ा शक्तिशाली है। मानो मैं उससे पराजित हो गया तो मेरी रक्षा कौन करेगा।' ऐसा सोचकर सुसुमारपुर में कायोत्सर्ग ध्यान में स्थित भगवान महावीर के पास आया। प्रणामपूर्वक भगवान को निवेदन किया कि हे प्रभु! आपके प्रभाव से मैं इन्द्र को जीतूँगा। पश्चात् एक लाख योजन प्रमाण विशाल व विकृत शरीर बनाकर चारों ओर मुद्गर घुमाता हुआ...तीव्र गर्जना करता हुआ...देवताओं को डराता हुआ सौधर्मेन्द्र के प्रति उड़ा। एक पाँव सौधर्म विमान की वेदिका पर, दूसरा पाँव सुधर्मा सभा में रखकर मुद्गर से इन्द्रस्तंभ को तीन बार ताडन किया। इससे इन्द्र महाराज क्रुद्ध हुए। अवधिज्ञान से चमरेन्द्र को जानकर क्रोध से जलते हुए, चिनगारियों से समाकुल वज्र को उसके पीछे छोड़ा। अपने पीछे आते हुए वज्र को देखने में भी असमर्थ चमरेन्द्र ने अपने वैक्रिय का उपसंहार करके वहाँ से शीघ्र ही भाग कर भगवान महावीर की शरण स्वीकार की। जैसे ही वज्र समीप में आया, वैसे ही वह 'हे महावीर प्रभो! आपकी शरण में हूँ' बोलता हुआ अपने शरीर को सूक्ष्म से सूक्ष्म बनाकर परमात्मा के चरणों के अन्तराल में प्रविष्ट हो गया। अर्हन्त परमात्मा, अतिशय संपन्न मुनि भगवन्त आदि की निश्रा के बिना भवनपति देवों का ऊपर आगमन संभव नहीं है, ऐसा सोचकर इन्द्र महाराज अवधिज्ञान से संपूर्ण वृत्तान्त जानकर तीर्थंकर परमात्मा की आशातना न हो जाये, इस भय से शीघ्र ही मर्त्यलोक में आये और भगवान से चार अंगुल दूर स्थित अपने वज्र को पुनः खेंच लिया। परमात्मा से क्षमा याचना कर इन्द्र ने चमरेन्द्र से कहा, परमात्मा की कृपा से तुम भयमुक्त हो। इस प्रकार उसे आश्वस्त करके पुनः भगवान को नमस्कार कर इन्द्र अपने स्थान पर लौट आये। चमरेन्द्र भी इन्द्र के चले जाने पर परमात्मा के चरणों के अन्तराल से बाहर आकर प्रणामपूर्वक प्रभु की स्तुति करके अपने स्थान पर लौट आया।

९. एक साथ एक सौ आठ का मोक्ष—इस भरतक्षेत्र में भगवान ऋषभदेव परमात्मा के निर्वाण के समय उत्कृष्ट अवगाहना वाले (५०० धनुष की काया वाले) एक सौ आठ आत्मा एक साथ मोक्ष पधारे। जैसा कि संघदासगणि ने अपने **वसुदेव हिण्डी** में कहा है—

जगतगुरु भगवान ऋषभदेव एक हजार वर्ष न्यून एक लाख पूर्व केवली अवस्था में विचरण कर, चुतर्दशभक्तपूर्वक, दस हजार श्रमणों के साथ माघ वदी तेरस के दिन अभिजित् नक्षत्र में अष्टापद पर्वत पर निन्यानवें पुत्र व आठ पौत्र कुल १०७ आत्माओं के साथ एक समय में अष्टापद पर्वत पर निर्वाण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को प्राप्त हुए। शेष १०८ न्यून दस हजार मुनि उसी दिन समयान्तर से सिद्ध हुए। ऐसी घटना अनंत काल में होने से आश्चर्यरूप है। यह आश्चर्य उत्कृष्ट अवगाहना वालों की सिद्धि में ही समझना, मध्यम अवगाहना वालों की नहीं।

१०. असंयती-पूजा—असंयत = आरंभ परिग्रह में आसक्त, अब्रह्मचारियों का । पूजा = सत्कार। पूजा के योग्य संयत ही होते हैं पर इस अवसर्पिणी में संयत के बजाय असंयतों की पूजा हुई अतएव आश्चर्य हुआ। सुविधिनाथ भगवान के मोक्षगमन के कुछ काल पश्चात् काल दोष से साधुओं का सर्वथा विच्छेद हो गया था। ऐसे समय में जिज्ञासु लोग स्थविर श्रावकों को धर्म के विषय में पूछते थे। वे भी यथामति उन्हें धर्म की जानकारी देते थे। धर्मानुराग से जिज्ञासु आत्मा स्थविर श्रावकों का धन, वस्त्रादि देकर पूजा-सत्कार करते थे। वे भी पूजा-सत्कार से गर्वित बनकर स्वमति कल्पना से शास्त्रों की रचना करके स्वार्थबुद्धि से लोगों को समझाते थे कि, धरती, मंदिर, शय्या, सोना, चाँदी, लोहा, कपास, गायें, कन्या, हाथी, घोड़े आदि का सुपात्र को दान करना चाहिये और सुपात्र हम ही हैं शेष सभी कुपात्र हैं। ऐसा उपदेश देकर वे लोगों को ठगते थे। लोग भी त्यागी गुरुओं के अभाव में उन्हें ही गुरु मानते थे। यह क्रम श्री शीतलनाथ भगवान के तीर्थ प्रवर्तनकाल तक चलता रहा।

ये दसों आश्चर्य अनन्तकाल के पश्चात् इस अवसर्पिणी में हुए। ये आश्चर्य उपलक्षणमात्र हैं। अनन्तकाल में ऐसे अनेक आश्चर्य हुए हैं और होंगें ॥८८५-८८६ ॥

९वां आश्चर्य.....ऋषभदेव परमात्मा के समय हुआ।

७वां आश्चर्य.....शीतलनाथ परमात्मा के समय हुआ।

तीसरा आश्चर्य.....मल्लिनाथ परमात्मा के समय हुआ।

चौथा आश्चर्य.....नेमिनाथ परमात्मा के समय हुआ।

१. २. ४. ६. ८वां आश्चर्य....महावीर परमात्मा के समय हुआ।

१०वां आश्चर्य .....प्रायः सभी तीर्थंकरों के समय हुआ।

शंका—असंयती की पूजारूप दसवां आश्चर्य यदि सभी तीर्थंकरों के समय में घटित हुआ मानो तो 'पूजा असंजयाण नवमजिणे।' यह पाठ कैसे संगत होगा?

उत्तर—सुविधिनाथ से शान्तिनाथ पर्यन्त जो असंयती की पूजा हुई वह तीर्थोच्छेद के पश्चात् हुई। पर सामान्यतः असंयत पूजा तो प्रायः सभी तीर्थंकरों के समय होती रही। जैसे ऋषभदेव परमात्मा के समय मरीचि, कपिल आदि की पूजा तीर्थ के रहते ही हुई ॥८८७-८८९ ॥

१३९ द्वार : भाषा—

पढमा भासा सच्चा बीया उ मुसा विवज्जिया तासिं।
सच्चामुसा असच्चामुसा पुणो तह चउत्थीत्ति ॥८९० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जणवय संमय ठवणा नामे रूवे पडुच्चसच्चे य।
ववहार भाव जोगे दसमे ओवम्मसच्चे य ॥८९१ ॥
कोहे माणे माया लोभे पेज्जे तहेव दोसे य।
हास भए अक्खाइय उवघाए निस्सिया दसहा ॥८९२ ॥
उप्पन्न विगय मीसग जीव अजीवे य जीवअज्जीवे।
तह मीसगा अणंता परित्त अद्धा य अद्धद्धा ॥८९३ ॥
आमंतणि आणमणी जायणि तह पुच्छणी य पन्नवणी।
पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ॥८९४ ॥
अणभिग्गहिया भासा भासा य अभिग्गहंमि बोद्धव्वा।
संसयकरणी भासा वोयड अव्वोयडा चेव ॥८९५ ॥

—गाथार्थ—

भाषा के चार प्रकार—**पहली सत्यभाषा, दूसरी मृषा भाषा, तीसरी सत्यामृषा और चौथी असत्यामृषा भाषा है ॥८९० ॥**

१. जनपद २. संमत ३. स्थापना ४. नाम ५. रूप ६. प्रतीत्यसत्य ७. व्यवहार ८. भावसत्या ९. योगसत्या तथा १०. औपम्यसत्या—दशविध सत्यभाषा है ॥८९१ ॥

१. क्रोध २. मान ३. माया ४. लोभ ५. प्रेम ६. द्वेष ७. हास्य ८. भय ९. आख्यायिका तथा १० उपघात—ये दस प्रकार की असत्यभाषा है ॥८९२ ॥

१. उत्पन्न २. विगत ३. मिश्र ४. जीव ५. अजीव ६. जीवाजीव ७. अनंत ८. प्रत्येक ९. अद्धा १०. अद्धाद्धा—दशविध मिश्रभाषा है ॥८९३ ॥

१. आमंत्रणी २. आज्ञापनी ३. याचनी ४. पृच्छनी ५. प्रज्ञापनी ६. प्रत्याख्यानी ७. इच्छानुलोमा ८. अनभिगृहीता ९. अभिगृहीता १०. संशयकरणी ११. व्याकृता तथा १२ अव्याकृता—द्वादशविध असत्यामृषा भाषा है ॥८९४-८९५ ॥

—विवेचन—

भाषा = बोलना। इसके चार प्रकार हैं—

१. सत्या—मूलगुण, उत्तरगुण तथा जीवादि पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने वाली भाषा। यह दश प्रकार की है।

(i) जनपद सत्य—जिस देश में जिस वस्तु के लिये जिस शब्द का प्रयोग होता हो (भले अन्य देश में उस वस्तु के लिये उस शब्द का प्रयोग न भी होता हो) वह शब्द उस देश की अपेक्षा सत्य माना जाता है। उदाहरणार्थ, कोंकण देश में पानी को 'पिच्च'कहा जाता है। यदि उस देश की अपेक्षा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से यहाँ भी पानी को पिच्च कहा जाये तो वह सत्य है। इसकी सत्यता का आधार है आशयशुद्धि, इष्टार्थप्रतिपत्ति व व्यवहारप्रवृत्ति।

(ii) सम्मत सत्य—सर्व सम्मत वचन। सूर्यविकासी, चन्द्रविकासी आदि सभी कमल कीचड़ में पैदा होते हैं, किंतु पंकज शब्द का प्रयोग अरविन्द के लिये ही सर्वसम्मत है। अतः अरविंद के लिये पंकज का प्रयोग सत्य है पर कुवलयादि के लिये असत्य है, असम्मत होने से।

(iii) स्थापना सत्य— तथाविध अंकरचना या आकृतिविशेष को देखकर उसके लिये शब्द विशेष का प्रयोग करना स्थापना सत्य है। जैसे एक संख्या के आगे दो बिन्दु (१००) लगे हुए देखकर 'सौ' शब्द का तथा तीन बिन्दु लगे देखकर हजार शब्द का प्रयोग करना। तथाविध आकार विशेष को देखकर यह एक माशा है, यह एक तोला है, ऐसा शब्द प्रयोग करना अथवा पत्थर आदि की मूर्ति में, चित्र में तथाविध आकार देखकर अरिहंत की धारणा करना। जिन नहीं हैं फिर भी जिन मानना। आचार्य नहीं हैं फिर भी आचार्य मानना।

(iv) नाम सत्य—जो केवल नाम मात्र से सत्य हो। जैसे अकेला होने पर भी किसी का नाम 'कुलवर्धन' हो वह नाममात्र से सत्य है, भाव से नहीं। धन की वृद्धि नहीं करता फिर भी उसे धनवर्धन कहना। अयक्ष को यक्ष कहना।

(v) रूप सत्य—स्वरूप से सत्य। जैसे किसी ने दंभवश साधुवेष धारण किया हो, वह वेष (रूप) से साधु कहलाता है।

(vi) प्रतीत्य सत्य—अपेक्षाकृत सत्य जैसे अनामिका अंगुली को कनिष्ठा की अपेक्षा से लम्बी और मध्यमा की अपेक्षा से छोटी कहना।

प्रश्न—एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी ह्रस्वत्व व दीर्घत्व वास्तविक कैसे हो सकते हैं?

उत्तर—निमित्त भेद से एक ही वस्तु में ह्रस्वत्व व दीर्घत्व धर्म के रहने में कोई विरोध नहीं है। यदि एक ही अंगुली जैसे कनिष्ठा या मध्यमा की अपेक्षा से अनामिका को ह्रस्व और दीर्घ मानें तो विरोध है क्योंकि एक निमित्त की अपेक्षा से एक ही वस्तु में विरोधी दो धर्म नहीं रह सकते। परन्तु एक की अपेक्षा से वस्तु को ह्रस्व और दूसरे की अपेक्षा से दीर्घ मानें तो एक ही वस्तु में सत्व-असत्व धर्म की तरह ह्रस्व-दीर्घ धर्म के रहने में भी कोई विरोध नहीं होता, क्योंकि दोनों के निमित्त भिन्न हैं।

प्रश्न—यदि ह्रस्वत्व और दीर्घत्व, एक ही वस्तु में निमित्त भेद से वास्तविक हैं तो सरलता और वक्रता की तरह वे वस्तु में निमित्त निरपेक्ष परिलक्षित क्यों नहीं होते? अतः निमित्त सापेक्ष होने से ये दोनों धर्म काल्पनिक हैं?

उत्तर—ऐसा कहना गलत है। वस्तुतः वस्तुगत धर्म दो प्रकार के हैं—

(i) सहकारी के सहयोग से परिलक्षित होने वाले तथा **(ii)** स्वतः परिलक्षित होने वाले।

(i) पृथ्वीगत गन्ध जल के सहयोग से परिलक्षित होती है अतः वह प्रथम प्रकार का धर्म है।

(ii) कपूर में रहनेवाली गंध स्वतः परिलक्षित होने से दूसरे प्रकार में आती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुगत ह्रस्वत्व व दीर्घत्व धर्म सहकारी के सहयोग से परिलक्षित होने वाले धर्म हैं, सहकारी का संयोग होने पर ही वे प्रकट होंगें। अतः वे परोपाधिक हो नहीं सकते, वास्तविक हैं।

(vii) व्यवहार सत्य—जो भाषा लोक व्यवहार से सत्य मानी जाती हो। जैसे पर्वत पर घास या झाड़ जल रहे हों फिर भी लोक भाषा में कहा जाता है कि पर्वत जल रहा है। झरता पानी है फिर भी लोक भाषा में कहा जाता है कि मटकी झर रही है। पेट होने पर भी गर्भ धारण के अभाव में लोक भाषा में स्त्री को अनुदरा कहा जाता है। रोम होने पर भी काम योग्य रोम के अभाव में भेड़ को अलोमा कहा जाता है। लोक व्यवहार की अपेक्षा से साधु भी उस भाषा का प्रयोग करता है।

(viii) भाव सत्य—पाँच वर्ण वाली वस्तु को किसी एक वर्ण की अधिकता की अपेक्षा से एक वर्ण वाली कहना, जैसे 'बलाका' में पाँच वर्ण होने पर भी शुक्ल वर्ण का आधिक्य होने से उसे सफेद कहना।

(ix) योग सत्य—किसी वस्तु के सम्बन्ध से व्यक्ति को भी उस नाम से पुकारना, जैसे कोई व्यक्ति हमेशा छत्री रखता हो पर कभी छत्री न हो तो भी उसे 'छत्री 'के नाम से पुकारना। हाथ में दण्ड रखने से 'दण्डी' कहना।

(x) औपम्य सत्य—उपमेय को उपचार से उपमान के रूप में पुकारना, जैसे बहुत बड़े तालाब को 'समुद्र' कहना, अत्यन्त सुन्दर एवं सौम्य चेहरे को 'चन्द्रमा' कहना ॥८९१॥

२. मृषा भाषा—वस्तु के स्वरूप का अयथार्थ प्रतिपादन करना। इसके दस भेद हैं।

(i) क्रोधमृषा—क्रोधवश सत्य या असत्य कुछ भी बोलना असत्य ही कहलाता है, क्योंकि वह शब्दतः सत्य होने पर भी आशय की दृष्टि से असत्य ही है। जैसे घुण (लकड़ी का कीड़ा) लकड़ी को कुरेदता है। यद्यपि उसका कोई अभिप्राय नहीं होता तथापि यदा-कदा लकड़ी पर अक्षर बन जाता है। वैसे ही क्रोधवश बोलते-बोलते मुँह से सत्य बात निकल जाती है अथवा विश्वास पैदा करने के लिये भी सत्य बोलता है तथापि आशय बुरा होने से ऐसा सत्य भी असत्य ही है। जैसे क्रोधवश पिता अपने पुत्र को कहता है "तू मेरा पुत्र नहीं है।" तथा जो दास नहीं है उसे दास कहना इत्यादि।

(ii) मानमृषा—गर्व से स्वयं का उत्कर्ष बताने के लिये झूठ कहे कि "मैं पहिले ऐश्वर्यवान था, स्वामी था।"

(iii) मायामृषा—दूसरों को ठगने के लिये सत्य या असत्य कुछ भी बोलना मायामृषा है।

(iv) लोभमृषा—लोभवश अल्पमूल्य वाली वस्तु को मूल्यवान कहना लोभमृषा है।

(v) प्रेममृषा—प्रेमवश असत्य भाषण करना, जैसे रागवश कोई पुरुष किसी स्त्री को कहता है कि मैं तेरा दास हूँ।

(vi) द्वेषमृषा—द्वेषवश झूठ बोलना जैसे द्वेषवश गुणी को निर्गुणी कहना।

(vii) हास्यमृषा—मजाक में झूठ बोलना। जैसे किसी का कुछ छुपाकर मजाक में कहना कि मैंने नहीं छुपाया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(viii) भयमृषा—चोरादि के भय से असत्य बोलना।

(ix) कथामृषा—कथा को रसमय बनाने के लिये असंभव को भी संभव बनाना।

(x) उपघात मृषा—किसी को चोट पहुँचाने के लिये कहना 'तू चोर है, तू बदमाश है' इत्यादि ॥८९२॥

३. सत्यमृषा—सत्य और असत्य से मिश्रित भाषा (मिश्र भाषा)। इसके दस भेद हैं।

(i) उत्पन्नमिश्रा—गाँव में दस से कम या अधिक बच्चे जन्मने पर भी यह कहना कि आज गाँव में दस बच्चे जन्मे हैं। यह व्यवहार से सत्यमृषा है। क्योंकि कल तुम्हें सौ रुपये दूँगा, ऐसा कह कर पचास देने पर भी व्यवहार में इसे असत्य नहीं समझा जाता। यदि एक भी बच्चा न जन्मा होता या एक भी रुपया नहीं दिया होता तो पूर्वोक्त कथन सर्वथा असत्य होता अन्यथा सत्यमृषा।

(ii) विगतमिश्रा—गाँव में कम ज्यादा लोग मरने पर भी कहना कि आज इस गाँव में इतने लोग मरे।

(iii) अभयमिश्रा—जन्म या मृत्यु कम ज्यादा लोगों की हुई हो तो भी कहना कि इतने जन्मे और इतने मरे।

(iv) जीवमिश्रा—अधिक जीवित व अल्पमृत जीवयुक्त शंख, सीपादि के ढेर को देखकर, कहना कि यह जीवों का ढेर है। जीवित की अपेक्षा यह कथन सत्य है और मृत की अपेक्षा से असत्य है अतः मिश्र कथन है।

(v) अजीवमिश्रा—शंख-सीपादि के ढेर में बहुत से जीव मरे हुए हों और अल्प जीवित हो तो भी कहना कि यह मृत जीवों का ढेर है। यहाँ मरे हुए की अपेक्षा सत्य, जीवित की अपेक्षा असत्य कथन होने से यह मिश्रभाषा कहलाती है।

(vi) जीवाजीवमिश्रा—मरे हुए और जीवित जीवों के ढेर में संख्या का निश्चय न होने पर भी कहना कि इसमें इतने मरे हुए हैं और इतने जीवित हैं। संख्या निश्चित न होने पर भी निश्चित संख्या बताना मृषा है। जीवित व मृत दोनों ढेर हैं अतः यह कथन सत्य भी है।

(vii) अनंतमिश्रा—'मूला' आदि अनंतकाय है, उसके पत्ते अनंतकाय नहीं हैं, किंतु दोनों को अनंतकायिक कहना अथवा प्रत्येक वनस्पति से मिश्रित अनंतकाय को यह अनंतकाय है ऐसा कहना।

(viii) अद्धामिश्रा—काल सम्बन्धी सत्य, असत्य बोलना जैसे प्रातःकाल जल्दी उठकर कोई काम करना हो तो सोये हुए व्यक्ति को सूर्योदय न होने पर भी कहना कि 'जल्दी उठो' सूर्योदय हो गया है। रात में काम करना हो तो दिन रहने पर भी कहे कि 'रात्रि हो गई है।'

(ix) प्रत्येक मिश्रा—प्रत्येक वनस्पति और अनंतकाय मिश्रित हो तो भी उसे प्रत्येक वनस्पति ही कहना।

(x) अद्धाद्धामिश्रा—दिन या रात का एक हिस्सा अद्धाद्धा कहलाता है, जैसे प्रथम प्रहर में कोई काम कराना हो तो देर न हो जाये इसलिये करने वाले को कहना कि जल्दी करो मध्याह्न हो गया है ॥८९३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. **असत्यामृषा**—यह भाषा न तो सत्य है, न असत्य, किंतु व्यवहारोपयोगी है। इसके बारह भेद हैं।

(i) **आमंत्रणी**—हे देवदत्त! इत्यादि बोलना। यह भाषा सत्य, असत्य और मिश्र इन तीनों से विलक्षण मात्र व्यवहारोपयोगी है। अतः व्यवहार भाषा कहलाती है।

(ii) **आज्ञापनी**—किसी को काम में प्रवृत्त करने के लिये कहना कि 'यह करो।'

(iii) **याचनी**—किसी वस्तु की याचना करना कि 'मुझे यह दो।'

(iv) **पृच्छनी**—ज्ञान के लिये या संशय निवारण के लिये पूछना।

(v) **प्रज्ञापनी**—शिष्यादि को उपदेश देना जैसे जीवदया का पालन करने से दीर्घ आयुष्य मिलता है।

(vi) **प्रत्याख्यानी**—नकारात्मक भाषा। यथा—ऐसा मत करो, मत माँगो आदि।

(vii) **इच्छानुवर्तिनी**—पूछने वाले की इच्छा के अनुरूप जवाब देना। जैसे कोई पूछे कि 'मैं यह करना चाहता हूँ' तो उसे इस प्रकार उत्तर दे कि—'आप यह काम करो, मुझे भी यह काम पसन्द है।' ॥८९४॥

(viii) **अनभिगृहीता**—डित्थादि शब्द की तरह जिसका कोई निश्चित अर्थ न हो, ऐसी भाषा बोलना। जैसे एक साथ बहुत से काम आ गये हों और कोई पूछे कि 'अब मैं क्या करूँ?' तो कहना कि जैसा उचित हो, वैसा करो।

(ix) **अभिगृहीता**—निर्णयात्मक वचन बोलना। जैसे कोई पूछे कि 'अब मैं क्या करूँ' तो निश्चित कहना कि ऐसा करो।

(x) **संशयकरणी**—संशय पैदा करने वाली भाषा बोलना। जैसे अनेकार्थक शब्द का प्रयोग करना। किसी ने कहा कि 'सैन्धव' लाओ। यहाँ 'सैन्धव' शब्द के अनेक अर्थ हैं लवण, वस्त्र, पुरुष और घोड़ा। अतः सुनने वाले को संशय होता है कि क्या लाना चाहिये?

(xi) **व्याकृता**—स्पष्ट अर्थवाली भाषा बोलना।

(xii) **अव्याकृता**—गूढ़ अर्थवाली या अस्पष्ट अर्थ वाली भाषा बोलना ॥८९५॥

१४० द्वार : वचन-भेद—

कालतियं वयणतियं लिंगतियं तह परोक्ख पच्चक्खं।
उवणयऽवणयचउक्कं अज्झत्थं चेव सोलसमं ॥८९६॥

—गाथार्थ—

वचन के सोलह भेद—**कालत्रिक, वचनत्रिक, लिंगत्रिक—ये नौ वचन हुए। इनमें प्रत्यक्षवचन, परोक्षवचन, उपनय-अपनय चतुष्क एवं अध्यात्म वचन जोड़ने से वचन के सोलह भेद हुए॥८९६॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

कालत्रिक—अतीत, अनागत और वर्तमान काल का वाचक शब्द। जैसे किया, करेगा और करता है।=३

वचनत्रिक—एक वचन, द्विवचन और बहुवचन के वाचक शब्द। जैसे एक, द्वौ, बहवः।=३

लिंगत्रिक—स्त्रीलिंग, पुल्लिग और नपुंसकलिंग के वाचक शब्द। जैसे इयं स्त्री, अयं पुरुषः, इदं कुलं।=३

परोक्षनिर्देश—परोक्ष वस्तु का बोधक शब्द। जैसे सः = वह। ते = वे।=१

प्रत्यक्षनिर्देश—प्रत्यक्ष वस्तु का बोधक शब्द। जैसे अयं = यह।=१

उपनयापनयवचन—गुण, अवगुण का बोधक शब्द। जैसे यह स्त्री सुंदर है, किंतु दुःशील है। यहाँ 'सुन्दर है' यह गुण का कथन है, और 'दुःशील है' यह अवगुण का कथन है।=१

उपनयोपनय वचन—गुणों का कथन करना। जैसे यह स्त्री सुन्दर है और सुशीला भी है।=१

अपनयोपनय वचन—दोषों का कथन करके गुण बताना। जैसें यह कुरूपा है किंतु सुशीला है।=१

अपनयापनय वचन—दोषों का ही कथन करना। जैसे यह स्त्री कुरूपा है और कुशीला भी है।=१

आध्यात्मिकवचन—मन की बात छुपाकर मायावश कुछ अन्य बात कहना चाहता हो, किन्तु बोलते समय सहसा सत्य बात मुँह से बोल देना। =१ ॥८९६॥

१४१ द्वार : मास-भेद—

मासा य पंच सुत्ते नक्खत्तो चंदिओ य रिउमासो।
आइच्चोऽविय अवरोऽभिवड्ढिओ तह य पंचमओ ॥८९७॥
अहरत्त सत्तवीसं तिसत्तसत्तट्ठिभाग नक्खत्तो।
चंदो अउणत्तीसं बिसट्ठिभाया य बत्तीसं ॥८९८॥
उउमासो तीसदिणो आइच्चो तीस होइ अद्धं च।
अभिवड्ढिओ य मासो चउवीससएण छेएणं ॥८९९॥
भागाणिगवीससयं तीसा एगाहिया दिणाणं तु।
एए जह निप्फत्तिं लहंति समयाउ तह नेयं ॥९००॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

मास के पाँच भेद—१. नक्षत्रमास २. ऋतुमास ३. चन्द्रमास ४. सूर्यमास और ५. अभिवर्धितमास। सूत्र में महीनों के ये पाँच भेद बताये हैं ॥८९७॥

नक्षत्रमास सत्तावीश अहोरात्र तथा सड़सठीया इक्कीस भाग प्रमाण है।

चन्द्रमास उनतीस दिन और बासठीया बत्तीस भाग प्रमाण है। ऋतु-मास तीस दिन का है, आदित्यमास साढ़े तीस दिन का है तथा अभिवर्धितमास इकत्तीस दिन और एक सौ चौबीस भाग में से एक सौ इक्कीस भाग प्रमाण है। इन महीनों की उत्पत्ति की रीति आगम से ज्ञातव्य है ॥८९८-९००॥

—विवेचन—

(i) नक्षत्रमास (iii) ऋतुमास (v) अभिवर्धित मास
(ii) चन्द्रमास (iv) आदित्य मास

(i) अभिजित नक्षत्र से निकलकर उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में चन्द्र को प्रविष्ट होने में जितना समय लगता है, वह कालमान 'नक्षत्रमास' कहलाता है। अथवा चन्द्र को नक्षत्रमण्डल में भ्रमण करने में जितना समय लगता है, वह कालमान 'नक्षत्रमास' कहलाता है। इसका प्रमाण $२७\frac{२१}{६७}$ अहोरात्रि का है।

(ii) कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक का काल चन्द्रमास कहलाता है अथवा चन्द्र के चार से सम्बन्धित काल 'चन्द्रमास' है। इसका प्रमाण $२९\frac{३२}{६२}$ अहोरात्रि का है।

(iii) ६० दिन अर्थात् दो मास की एक ऋतु होती है। उसका आधा भाग अर्थात् एकमास (३० दिन) अवयव में समुदाय के उपचार से 'ऋतुमास' कहलाता है। इसका कालमान ३० अहोरात्रि का है। कर्ममास, सावनमास इसी के पर्याय है।

(iv) १८३ दिन प्रमाण दक्षिणायण या उत्तरायण का छट्ठा भाग आदित्यमास कहलाता है अथवा सूर्य के चार से सम्बन्धित काल 'आदित्यमास' कहलाता है। इसका प्रमाण $३०\frac{१}{२}$ अहोरात्रि का है।

(v) एक वर्ष में १२ चन्द्रमास होते हैं किंतु जिस वर्ष में एक चन्द्रमास अधिक होता है, वह 'अभिवर्धित वर्ष' कहलाता है और उसका अधिक मास 'अभिवर्धित मास' कहलाता है। इसका कालमान $३१\frac{१२१}{१२४}$ अहोरात्रि का है।

पूर्वोक्त पाँचों महीनों के कालमान की निष्पत्ति का तरीका आगम में बताया गया है। शिष्यों के अनुग्रहार्थ संक्षेप में यहाँ बताया जाता है।

तीन चन्द्र वर्ष और दो अभिवर्धित वर्ष कुल पाँच वर्ष का एक युग होता है और एक युग में १८३० अहोरात्रि होती हैं। यथा सूर्य का दक्षिण से उत्तर की ओर गमन या उत्तर से दक्षिण की ओर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गमन में १८३ दिन लगते हैं और एक युग में पाँच उत्तरायण व पाँच दक्षिणायन होते हैं। कुल मिलाकर १० अयन होते हैं। १८३ को १० से गुणा करने पर १८३० अर्थात् एक युग की अहोरात्रि का प्रमाण आता है। यह मूल संख्या है। इसे क्रमशः ६७, ६२, ६१ व ६० संख्या से विभाजित करने पर क्रमशः नक्षत्रमास, चन्द्रमास, ऋतुमास तथा आदित्यमास का दिनमान आता है।

१. नक्षत्रमास—एक युग में नक्षत्रमास ६७ होते हैं अतः १८३० में ६७ से भाग देने पर नक्षत्रमास का कालप्रमाण $२७\frac{२१}{६७}$ अहोरात्रि उपलब्ध होती हैं।

२. चन्द्रमास—युग की दिनरात्रि १८३० को ६२ से भाग देने पर $२९\frac{३२}{६२}$ चन्द्रमास का कालमान आता है।

३. ऋतुमास—१८३० अहोरात्रि में ६१ से भाग देने पर ३० अहोरात्रि ऋतु मास का कालमान प्राप्त होता है।

४. सूर्यमास—१८३० अहोरात्रि में ६० का भाग देने पर $३०\frac{१}{२}$ अहोरात्रि सूर्यमास का कालमान आता है। कहा है कि—

'नक्षत्रादि मासों के दिनमान के आनयन का उपाय यह है कि युग की दिनराशि १८३०को क्रमशः ६७, ६२, ६१ व ६० से भाग देना ।'

५. अभिवर्धितमास—युग का तीसरा व पाँचवा वर्ष अभिवर्धित होता है। अभिवर्धितवर्ष में १३ चन्द्रमास होते हैं। १३ चन्द्रमास के कुल दिन $३८३\frac{४४}{६२}$ हैं। यथा—एक चन्द्रमास का दिनमान $२९\frac{३२}{६२}$ अहोरात्रि है। एक चन्द्रमा के दिनमान को १३ से गुणा करने पर ३७७ दिन तथा $\frac{४१६}{६२}$ अंश आते हैं। ४१६ में ६२ का भाग देने पर $६\frac{४४}{६२}$ दिन हुए। ३७७ + ६ = $३८३\frac{४४}{६२}$ अभिवर्धित वर्ष के दिन होते हैं। वर्ष में मास १२ होते हैं अतः इनके मास बनाने के लिये अभिवर्धित वर्ष की संख्या में १२ का भाग देने पर ३१ अहोरात्रि उपलब्ध हुई, शेष बची ११ अहोरात्रि। इसको १२४ से गुणा करने पर १३६४ भाग हुए। $\frac{४४}{६२}$ को १२४ से गुणा करने पर ८८ भाग हुए। कुल १३६४ + ८८ = १४५२ हुए। इनमें १२ का भाग देने पर १४५२ ÷ १२ = $\frac{१२१}{१२४}$ भाग हुए अतः अभिवर्धितमास का प्रमाण $३१\frac{१२१}{१२४}$ अहोरात्रि का है ॥८९७-९०० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४२ द्वार : वर्ष-भेद—

संवच्छरा उ पंच उ चंदे चंदेऽभिवड्ढिए चेव।
चंदेऽभिवड्ढिए तह बिसट्ठिमासेहिं जुगमाणं ॥९०१ ॥

—गाथार्थ—

वर्ष के पाँच भेद हैं—**१. चन्द्रवर्ष २. चन्द्रवर्ष ३. अभिवर्धित वर्ष ४. चन्द्र वर्ष तथा ५. अभिवर्धित वर्ष। इन पाँच वर्षों में बासठ मास होते हैं और बासठ मास का एक युग बनता है।**

—विवेचन—

चन्द्रवर्ष, चन्द्रवर्ष, अभिवर्धितवर्ष, चन्द्रवर्ष तथा अभिवर्धितवर्ष इस क्रम से पाँच संवत्सर होते हैं और इन पाँच संवत्सरों से एक युग बनता है। इसलिये ये युगसंवत्सर कहे जाते हैं।

चन्द्रवर्ष—१२ चन्द्रमास से निष्पन्न संवत्सर चन्द्रवर्ष है। इसका काल $३५४\frac{१२}{६२}$ अहोरात्र है चन्द्रमास की दिन संख्या $२९\frac{३२}{६२}$ को १२ से गुणा करने पर वर्ष का दिनमान आता है।

प्रत्येक युग का दूसरा और चौथा संवत्सर चन्द्रवर्ष होता है।

अभिवर्धितवर्ष—चन्द्रवर्ष की अपेक्षा जिस संवत्सर में एक मास अधिक हो वह अभिवर्धित संवत्सर है। इसका दिन मान $३८३\frac{४४}{६२}$ अहोरात्र है।

- एक अभिवर्धित मास का परिमाण $३१\frac{१२१}{१२४}$ अहोरात्र है। इसको १२ से गुणा करने पर ३७२ दिन १४५२ अंश हुए। अंश में १२४ का भाग देने पर ११ दिन आते हैं तथा ८८ अंश शेष रहते हैं। ११ दिन पूर्वोक्त ३७२ में जोड़ने पर ३८३ दिन हुए। $\frac{८८}{१२४}$ अंश को दो से भाग देने पर $\frac{४४}{६२}$ अंश हुए, इस प्रकार पाँचवाँ संवत्सर समझना चाहिए।
- इन पाँच संवत्सर से एक युग बनता है। एक युग में तीन चन्द्र संवत्सर है। एक चन्द्र संवत्सर में १२ महीने होते हैं। तीन को बारह से गुणा करने पर ३ × १२ = ३६ मास हुए। अभिवर्धित संवत्सर युग में दो होते हैं। एक अभिवर्धित संवत्सर में १३ चन्द्रमास होते हैं अतः २ × १३ = २६ मास हुये। चन्द्रमास और अभिवर्धित मास का कुलयोग ३६ + २६ = ६२ मास हुए अर्थात् एक युग में ६२ चन्द्रमास होते हैं ॥९०१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४३ द्वार : लोक-स्वरूप—

माघवईए तलाओ ईसिं पब्भारउवरिमतलं जा।
चउदसरज्जू लोगो तस्साहो वित्थरे सत्त ॥९०२॥
उवरिं पएसहाणी ता नेया जाव भूतले एगा।
तयणुप्पएसवुड्ढी पंचमकप्पंमि जा पंच ॥९०३॥
पुणरवि पएस हाणी जा सिद्धसिलाए एक्कगा रज्जू।
घम्माए लोगमज्झो जोयणअस्संखकोडीहिं ॥९०४॥
हेट्ठाहोमुहमल्लगतुल्लो उवरिं तु संपुडठिआणं।
अणुसरइ मल्लगाणं लोगो पंचत्थिकायमओ ॥९०५॥
तिरियं सत्तावन्ना उड्ढं पंचेव हुंति रेहाओ।
पाएसु चउसु रज्जू चउदस रज्जू य तसनाडि ।९०६॥
तिरियं चउरो दोसुं छ द्दोसुं अट्ठ दस य इक्किक्के।
बारस दोसुं सोलस दोसुं वीसा य चउसुंपि ॥९०७॥
पुणरवि सोलस दोसुं, बारस दोसुंपि हुंति नायव्वा।
तिसु दस तिसु अट्ठच्छा य दोसु दोसुंपि चत्तारि ॥९०८॥
ओयरिय लोयमज्झा, चउरो चउरो य सव्वहिं नेया।
तिग तिग दुग दुग एक्किक्कगो य जा सत्तमी पुढ़वी ॥९०९॥
अडवीसा छव्वीसा चउवीसा वीसा सोल दस चउरो।
सत्तासुवि पुढवीसुं तिरियं खण्डुयगपरिमाणं ॥९१०॥
पंच सय बारसुत्तर हेट्ठा तिसया उ चउर अब्भहिया।
अह उड्ढं अट्ठ सया सोलहिया खंडुया सव्वे ॥९११॥
बत्तीसं रज्जूओ हेट्ठा रुयगस्स हुंति नायव्वा।
एगोणवीसमुवरिं इगवन्ना सव्वपिंडेणं ॥९१२॥
दाहिणपास दुखंडा वामे संधिज्ज विहिय विवरीयं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाडीजुआ तिरज्जू उड्ढाहो सत्त तो जाया ॥९१३ ॥
हेट्ठाओ वामखंडं दाहिणपासंमि ठवसु विवरीयं ।
उवरिम तिरज्जुखंडं वामे ठाणंमि संधिज्जा ॥९१४ ॥
तिन्नि सया तेयाला रज्जूणं हुंति सव्वलोगम्मि ।
चउरंसं होइ जयं सत्तण्ह घणेणिमा संखा ॥९१५ ॥
छसु खंडगेसु य दुगं चउसु दुगं दससु हुंति चत्तारि ।
चउसु चउक्कं गेवेज्जणुत्तराइं चउक्कंमि ॥९१६ ॥
सयंभुपुरिमंताओ अवरंतो जाव रज्जुमाणं तु ।
एएण रज्जुमाणेण लोगो चउदस रज्जुओ ॥९१७ ॥

—गाथार्थ—

लोक का स्वरूप—**सातवीं माघवती नामक नरक पृथ्वी के तल से लेकर इषद्प्राग्भारा अर्थात् सिद्धशिला के उपरिवर्ती भाग पर्यंत लोक की ऊँचाई १४ रज्जु परिमाण है। लोक का निम्न विस्तार ७ रज्जु है। सातवीं नरक से एक-एक प्रदेश न्यून करते-करते मध्यलोक का विस्तार एक रज्जु परिमाण रह जाता है। तत्पश्चात् एक-एक प्रदेश वृद्धि होने से पाँचवें ब्रह्मदेवलोक के समीप लोक का विस्तार पुनः पाँच रज्जु परिमाण हो जाता है। पुनः एक प्रदेश की हानि होते-होते सिद्धशिला के समीप लोक एक रज्जु परिमाण विस्तृत रह जाता है**

प्रथम रत्नप्रभा नामक नरक के ऊपर असंख्यात क्रोड़ योजन अतिक्रमण करने के पश्चात् लोक का मध्यभाग आता है ॥९०२-९०४ ॥

लोक संस्थान (रचना)—**अधोभाग में लोक की संरचना उल्टे रखे हुए शराव की तरह है। ऊपर भाग में शराव संपुट की तरह है अर्थात् सीधे रखे हुए शराव पर दूसरा शराव उल्टा रखने पर जो आकार बनता है वैसा आकार है। यह संपूर्ण लोक पंचास्तिकायमय है ॥९०५ ॥**

१४ रज्जुमय लोक के खंड बनाने की रीति—(असत् कल्पना द्वारा)—**५७ तिर्यक् रेखा और ५ ऊपर से नीचे की ओर सीधी रेखा खींचना। इससे कुल ५६ खंड बनते हैं। ४ खंड का एक रज्जु होता है। ५६ में ४ का भाग देने पर १४ आते हैं। यह त्रसनाडी का परिमाण है। १ रज्जु का चतुर्थ भाग खंड कहलाता है ॥९०६ ॥**

संपूर्ण लोक के तिर्यक् खंडों को बताते हुए सर्वप्रथम ऊर्ध्वलोक संबंधी आठ रुचक प्रदेश से लेकर लोकान्त तक के तिर्यक् खंड—**तिरछा लोक के खंडों में प्रथम की दो पंक्तियों में ४-४ खंड हैं। तत्पश्चात् क्रमशः दो पंक्तियों में ६-६, एक में ८, एक में १०, दो में १२-१२, दो में १६-१६ और चार पंक्ति में २०-२० खंड हैं ॥९०७ ॥**

उपरिवर्ती दो पंक्तियों में १६-१६ खंडों की, दो में १२-१२ खंडों की, तीन में १०-१० खंडों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की, पुनः तीन में ८-८ खंडों की, दो में ६-६ खंडों की और दो में ४-४ खंडों की हानि होती है ॥९०८॥

अधोलोक में ऊपर से लेकर नीचे तक के खंडों की संख्या—**लोक के मध्यभाग से नीचे रत्नप्रभा आदि सात नरकों में ४-४ खंड त्रसनाड़ी के भीतर है और शर्कराप्रभा आदि नरकों में क्रमशः ३-३, २-२ और १-१ खंड त्रसनाड़ी के बाहर है। यह सातवीं नरक तक समझना चाहिए ॥९०९॥**

सातवीं नरक से लेकर प्रथम रत्नप्रभा नरक तक के तिर्यक् खंडों का परिमाण—**सात नरकों के खंडों का परिमाण क्रमशः है—२८, २६, २४, २०, १६, १० और ४ ॥९१०॥**

अधोलोक में ५१२ खंड हैं तथा ऊर्ध्वलोक में ३०४ खंड हैं। संपूर्ण लोक के कुल मिलाकर ८१६ खंड हैं ॥९११॥

ऊर्ध्वलोक व अधोलोक अपने-अपने खंडों के अनुसार कुल कितने राजु परिमाण हैं:—**आठ रुचक प्रदेश से नीचे अधोलोक ३२ रज्जु परिमाण तथा ऊपर ऊर्ध्वलोक १९ रज्जु परिमाण है। इस प्रकार कुल मिलाकर लोक ५१ रज्जु परिमाण है ॥९१२॥**

ऊर्ध्वलोक में ब्रह्मलोक के समीपवर्ती तथा त्रसनाड़ी की दाहिनी तरफ के ऊपर-नीचे के दोनों खंडों को लेकर बाँई तरफ उलट कर अर्थात् ऊपर का खंड नीचे और नीचे का खंड ऊपर, इस तरह जोड़ना कि त्रसनाड़ी सहित यहाँ का विस्तार सर्वत्र ३ रज्जु परिमाण हो जाये और ऊँचाई सात रज्जु की रहे। पश्चात् अधोलोक में त्रसनाड़ी के बाँई तरफ के एक खंड को कल्पना द्वारा उठाकर त्रसनाड़ी के दाँई तरफ उलट कर जोड़ना तथा ऊपरवर्ती संवर्तित, त्रिरज्जु विस्तृत खंड को अधोलोक के संवर्तित खंड की बाँई ओर जोड़ना ॥९१३-९१४॥

घनीभूत लोक के रज्जु—समचौरस ७ रज्जु परिमाण घनीकृत लोक के रज्जु की संख्या ३४३ है ॥९१५॥

६ खंडों में प्रथम के दो देवलोक, चार खंडों में तीसरा चौथा देवलोक, दस खंड़ों में चार देवलोक, चार खंडों में चार देवलोक तथा चार खंडों में नौ ग्रैवेयक और ५ अनुत्तर विमान हैं ॥९१५॥

—विवेचन—

सातवीं नरक के भूमितल से लेकर सिद्धशिला के उपरवर्ती तल तक यह लोक चौदह रज्जु लंबा है। इसका विस्तार भिन्न-भिन्न स्थान पर भिन्न-भिन्न है। जैसे सातवें नरक के अधोभाग में इसका विस्तार देशोन सात रज्जु है। सूत्रकार ने पूरे सात रज्जु ही कहा है, कारण न्यूनता अत्यल्प होने से 'देशोन'नहीं कहा। तत्पश्चात् उत्तरोत्तर एक-एक प्रदेश की वृद्धि होते-होते समभूतला पृथ्वी के पास लोक का विस्तार एक रज्जु हो जाता है। वहाँ से पुनः एक-एक प्रदेश की वृद्धि होते-होते ऊर्ध्वलोक में पाँचवें ब्रह्मदेवलोक के पास लोक का विस्तार पाँच रज्जु परिमाण हो जाता है। यहाँ से एक-एक प्रदेश की हानि होते-होते सिद्धशिला के ऊपर लोकांत के पास लोक का विस्तार पुनः एक रज्जु रह जाता है। प्रथम नरक से असंख्याता क्रोड़ योजन ऊपर सीधे चलने पर लोक का मध्यभाग आता है।

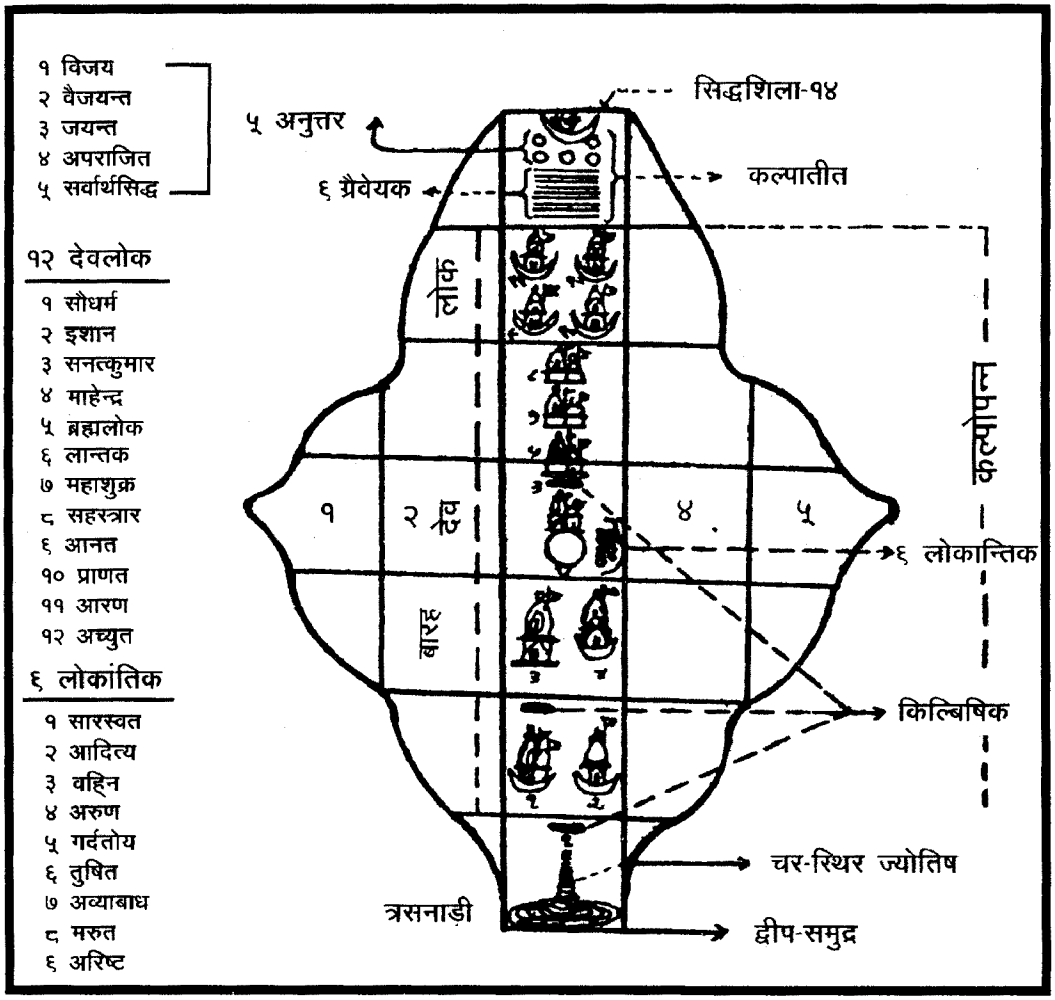
लंबाई में चौदह रज्जु परिमाण इस लोक के तीन भाग हैं—ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिरछालोक। जंबूद्वीप के मध्यभाग में रत्नप्रभा नरक के ऊपर मेरुपर्वत है। उस मेरु के मध्यभाग में आठ प्रदेश वाला 'रुचक ' है। यह रुचक गाय के स्तन के आकार का है। इसके चार प्रदेश ऊपर हैं और चार नीचे हैं। यही रुचक दिशा-विदिशा का प्रवर्तक है और तीन लोकों का विभाजक है। रुचक के ऊपरवर्ती ९०० योजन तथा अधोवर्ती ९०० योजन मिलकर १८०० योजन का तिर्यक्लोक है। तिर्यक्लोक के नीचे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधोलोक तथा ऊपर ऊर्ध्वलोक है। ऊर्ध्वलोक देशोन सात रज्जु परिमाण है और अधोलोक कुछ अधिक सात रज्जु परिमाण है। मध्य में १८०० योजन ऊँचा तिर्यक्लोक है। आठ रुचक प्रदेश के समभूतल भाग से असंख्याता क्रोड़ योजन नीचे जाने पर रत्नप्रभा नरक पर्यंत चौदह रज्जु परिमाण वाले लोक का मध्यभाग है जो कि संपूर्ण ७ रज्जु परिमाण होता है ॥९०२-९०३-९०४॥

सर्वप्रथम नीचे एक शराव उलटा रखना। उस पर दूसरा शराव ऊर्ध्वमुख स्थापित करना पुनः उस पर तीसरा शराव अधोमुख रखना। इस प्रकार करने से जैसा आकार बनता है, लोक का वैसा ही आकार है। यह लोक धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय एवं जीवास्तिकाय रूप पंचास्तिकायमय है अर्थात् इन पाँचों से व्याप्त है ॥९०५॥

असत्कल्पना के द्वारा १४ रज्जु परिमाण लोक के खंडों की संख्या कितनी होती है? यह बताते हैं।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International

For Private & Personal Use Only

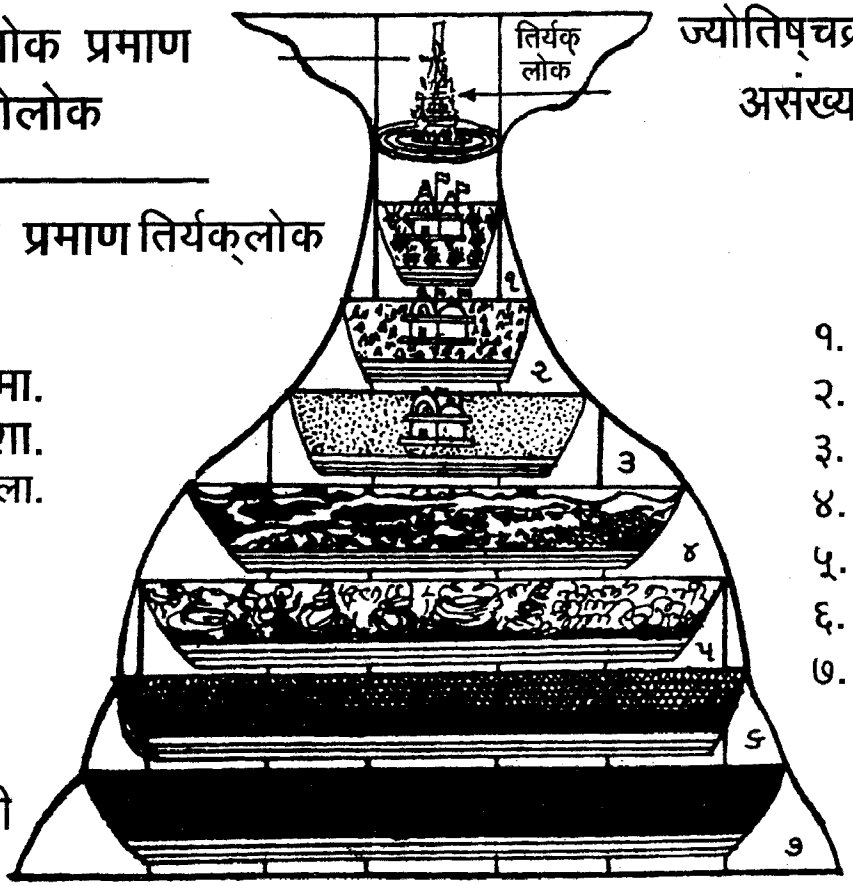
www.jainelibrary.org

सात नरक

७ राजलोक प्रमाण
अधोलोक

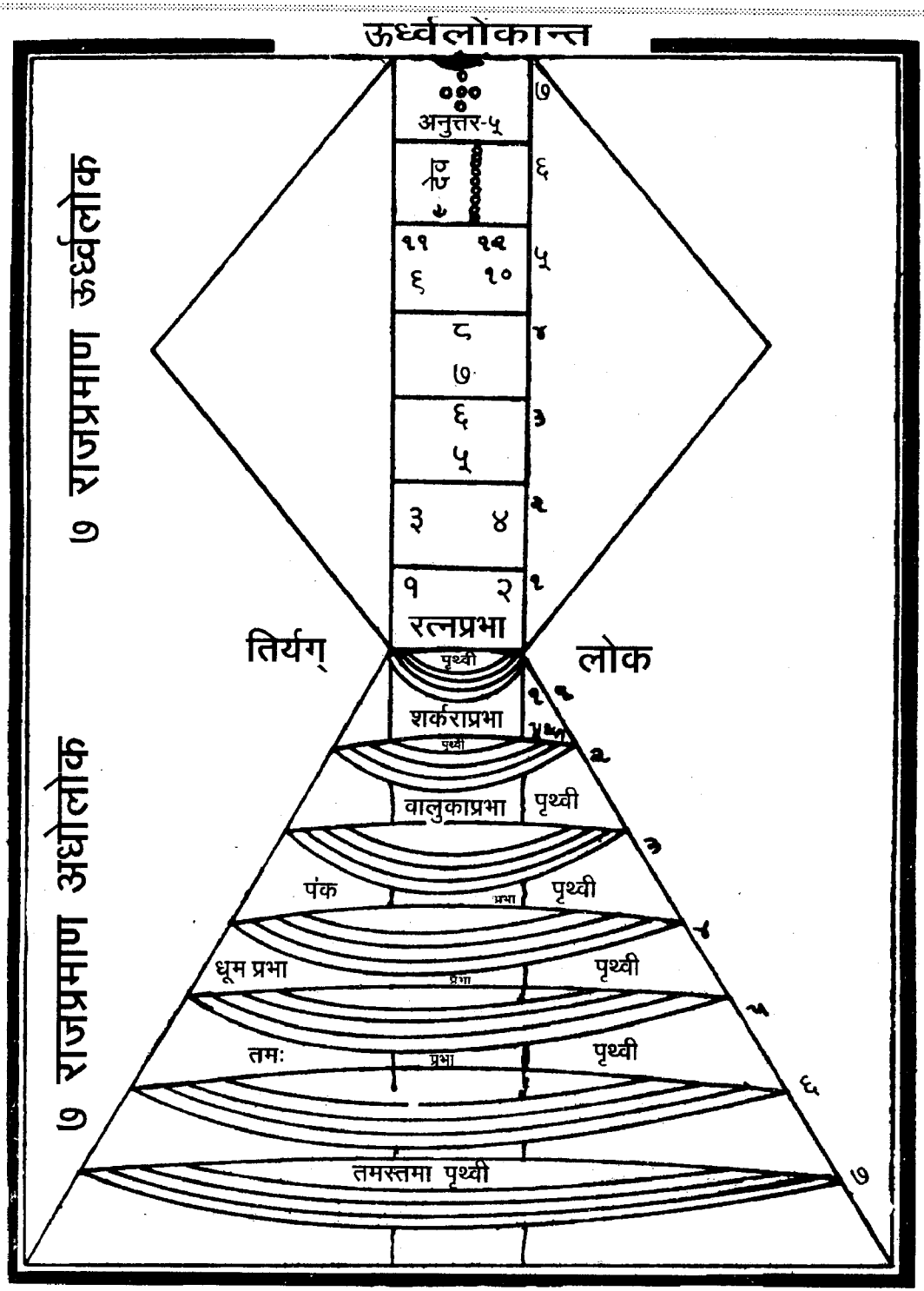
१८०० योजन प्रमाण तिर्यक्लोक

मेरुपर्वत
ज्योतिष्चक्र (सूर्य-चन्द्रादि)
असंख्य द्वीप-समुद्र



१. घमा.
२. वंशा.
३. शैला.
४. अंजना
५. रिष्टा.
६. मघा.
७. माघवती

१. रत्नप्रभा
२. शर्कराप्रभा
३. वालुकाप्रभा
४. पंकप्रभा
५. धूमप्रभा
६. तमप्रभा
७. तमस्तमप्रभा



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असत्कल्पना से किसी पट्टे को १४ रज्जु लंबा मानकर तिरछी ५७ व खड़ी ५ रेखा खींचना। इससे ऊपर से नीचे तक छप्पन खण्ड होते हैं। एक खण्ड एक रज्जु का चौथा भाग होता है अत: इसे पाद भी कहते हैं। चार खण्ड मिलाकर एक रज्जु बनता है अत: ५६ ÷ ४ = १४ रज्जु परिमाण लोक है। त्रसनाड़ी (जहाँ त्रस जीव होते हैं ऐसी ऊपर से नीचे १४ रज्जु लंबी नाली) का भी यही परिमाण है। खड़ी ५ रेखाओं से चौड़ाई में ४ खंड बनते हैं। ४ खंड = एक रज्जु है अत: त्रसनाड़ी की चौड़ाई सर्वत्र एक रज्जु परिमाण है ॥९०६ ॥

संपूर्ण लोक के चौड़ाई में कहाँ कितने खंड हैं:—सर्वप्रथम ऊर्ध्वलोक के खंडों का वर्णन करते हैं। ऊर्ध्वलोक, समभूतला पृथ्वी के मध्यभाग से लेकर ऊपर लोकान्त तक है। रुचक के मध्यभाग में तिरछी २९ वीं रेखा के ऊपर ४-४ खंड हैं। वे त्रसनाड़ी के अन्तर्वर्ती हैं। वहाँ त्रसनाड़ी के बाहर एक भी खंड नहीं हैं। उससे ऊपरवर्ती दो पंक्तियों में ६-६ खंड हैं। ४ त्रसनाड़ी के मध्य व एक-एक उसके बाहर दोनों ओर हैं। तत्पश्चात् एक ८ खंडों की तथा दूसरी १० खंडों की पंक्ति है। ४ खंड त्रसनाड़ी में हैं तथा क्रमश: २-२ व ३-३ त्रसनाड़ी के बाहर हैं। इसकी उपरवर्ती दो पंक्तियों में १२-१२ खंड हैं। ४ त्रसनाड़ी में ४-४ दोनों ओर बाहर हैं। उसके पश्चात् की दो पंक्तियों में १६-१६ खंड हैं। ४ मध्य में ६-६ त्रसनाड़ी के बाहर दोनों ओर हैं। उसकी ऊपरवर्ती ४ पंक्तियों में २०-२० खंड हैं। ४ मध्य में और ८-८ दोनों ओर बाहर हैं। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक की १४ पंक्तियों के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए खंड समझना चाहिये ॥९०७ ॥

अब इन्हीं १४ पंक्तियों में उत्तरोत्तर घटते हुए खंड बताते हैं। २० खंड़ों वाली पंक्तियों की ऊपरवर्ती दो पंक्तियों में १६-१६ खंड हैं। उससे ऊपर की दो पंक्तियों में १२-१२ खंड हैं। ऊपर की तीन पंक्तियों में ८-८ खंड हैं। उससे ऊपर की दो पंक्तियों में ६-६ खंड हैं। तत्पश्चात् सबसे ऊपरवर्ती दो पंक्तियों में मात्र नाड़ीगत ४-४ खंड हैं। इस प्रकार मैंने (टीकाकार ने) अपनी गुरु परंपरा के अनुसार रुचक से लेकर ऊपर लोकान्त पर्यंत खंडों की संख्या बताई, परन्तु कुछ आचार्य "तिरियं चउरो दोसु," इन दो गाथाओं की व्याख्या भिन्न रूप से करते हैं। उनका कथन है कि—खंडों की स्थापना पूर्वोक्त रीति से भिन्न मिलती है। उनके मतानुसार पूर्वोक्त स्थापना मध्यभाग से ऊपर लोकान्त तक की है। परन्तु अन्य आचार्यों का कहना है कि—खंडों की पूर्वोक्त स्थापना ऊर्ध्व लोकान्त से लेकर लोक के मध्यभाग तक की है ॥९०८ ॥

अब अधोलोक के खंडों का वर्णन करते हैं। लोक के मध्यभाग से लेकर ७वीं नरक तक सभी नरकों में त्रसनाड़ी के मध्य ४-४ खंड हैं। त्रसनाड़ी के बाहर रत्नप्रभा नरक में एक भी खंड नहीं है। दूसरी नरक में त्रसनाड़ी के बाहर दोनों ओर प्रति पंक्ति ३-३ खंड हैं। तीसरी नरक में त्रसनाड़ी के बाहर ६-६ खंड हैं। चौथी नरक में बाहर ८-८ खंड हैं। पाँचवीं नरक में बाहर १०-१० खंड हैं। छट्ठी नरक में बाहर ११-११ खंड हैं। अन्त में सातवीं नरक में त्रसनाड़ी से बाहर १२-१२ खंड हैं ॥९०९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार सातवीं नरक से पहली नरक तक प्रति पंक्ति तिर्यक् खंडों की संख्या निम्न है—

- सातवीं नरक में २८ खंड हैं—४ त्रसनाडीं में और १२-१२ बाहर दोनों ओर।
- छट्ठी नरक में २६ खंड हैं—४ त्रसनाड़ी में और ११-११ बाहर दोनों ओर।
- पाँचवीं नरक में २४ खंड हैं—४ त्रसनाड़ी में और १०-१० बाहर दोनों ओर।
- चौथी नरक में २० खंड हैं—४ त्रसनाड़ी में और ८-८ बाहर दोनों ओर।
- तीसरी नरक में १६ खंड हैं—४ त्रसनाड़ी में और ६-६ बाहर दोनों ओर।
- दूसरी नरक में १० खंड हैं—४ त्रसनाड़ी में और ३-३ बाहर दोनों ओर।
- पहली नरक में ४ खंड हैं—४ त्रसनाड़ी में ही हैं। बाहर एक भी नहीं है ॥९१०॥

सम्पूर्ण लोक के खंडों की संख्या—

अधोलोक के कुल ५१२ खंड हैं। यथा, प्रत्येक नरक में खंडों की जो संख्या बताई हैं उस संख्या की ४-४ पंक्तियाँ हैं अतः प्रत्येक पंक्ति की संख्या को ४ से गुणा करने पर पूर्वोक्त संख्या आती है।

- २८ × ४ = ११२ खंड।
- २६ × ४ = १०४ खंड।
- २४ × ४ = ९६ खंड।
- २० × ४ = ८० खंड।
- १६ × ४ = ६४ खंड।
- १० × ४ = ४० खंड।
- ४ × ४ = १६ खंड।

कुल ११२ + १०४ +९६ + ८० + ६४ + ४० + १६ = ५१२ खंड।

- ऊर्ध्वलोक के कुल खंडों की संख्या ३०४ है।

८ + १२ + ८ + १० + २४ + ३२ + ८० + ३२ + २४ + ३० + २४ + १२ + ८ = ३०४

अधोलोक के = ५१२ खंड। ऊर्ध्वलोक के = ३०४ खंड। कुल खंड ८१६ हुए ॥९११॥

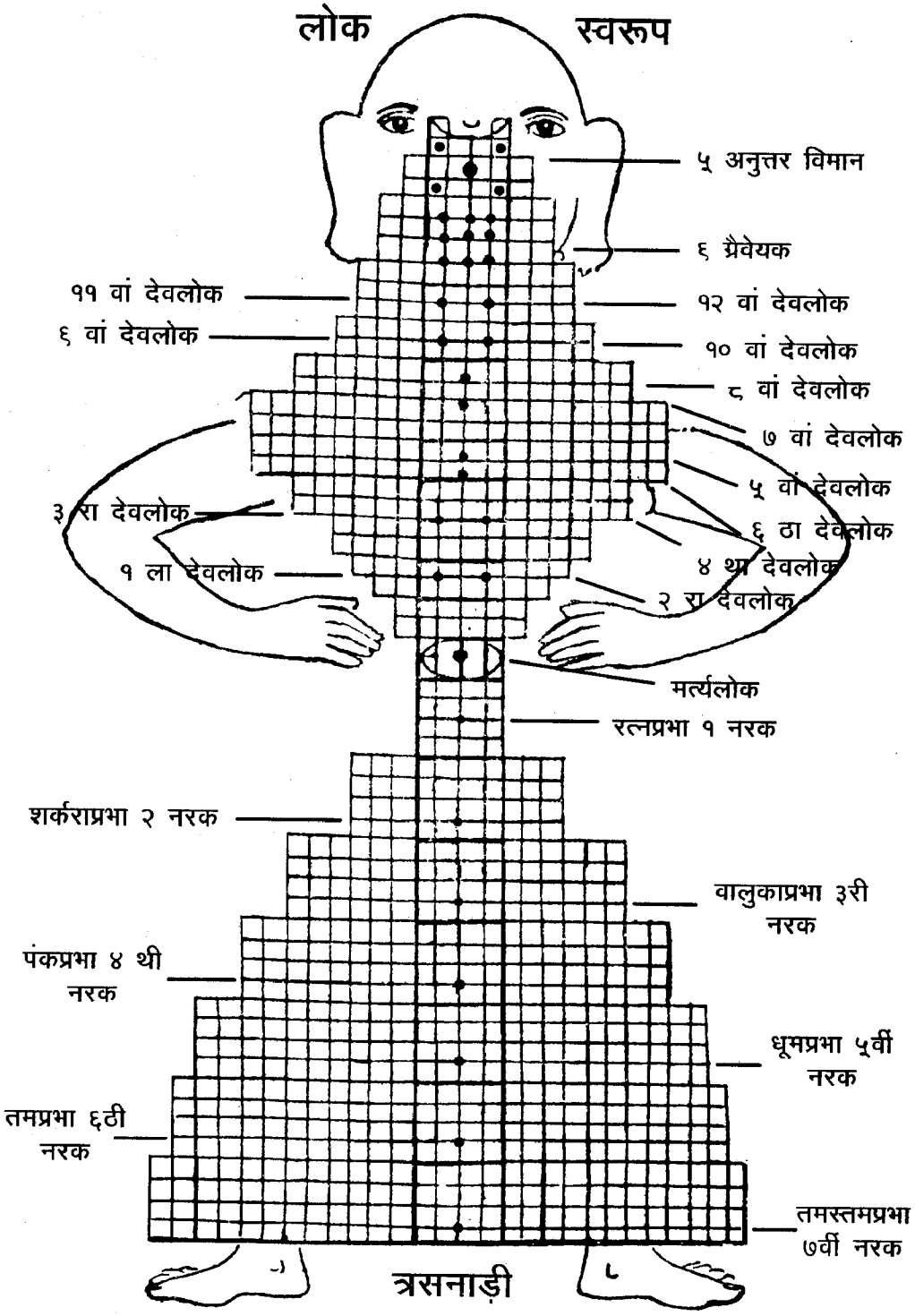
राजु तीन प्रकार के हैं—सूचीरज्जु, प्रतररज्जु व घनरज्जु।

सूचीरज्जू—चार खंड लंबी व एक खंड मोटी सूई की तरह व्यवस्थित खंड श्रेणी सूचीरज्जु है। जैसे, ०००० सूचीरज्जु है।

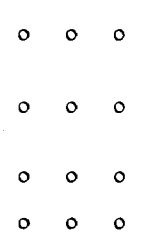
प्रतररज्जु—सूचीरज्जु को सूचीरज्जु से गुणा करने पर जो आता है। वह प्रतररज्जु है अर्थात् ४ × ४ = १६ खंडों का प्रतररज्जु है।

इसकी स्थापना इस प्रकार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



प्रतररज्जु की रचना इस प्रकार की है। इसकी लंबाई चौड़ाई बराबर है पर मोटाई एक खंड की अर्थात् $\frac{१}{४}$ योजन की है।

घनरज्जु—प्रतररज्जु को सूचीरज्जु से गुणा करने पर घनरज्जु बनता है। लंबाई, चौड़ाई व मोटाई में जिसके खंड़ों की संख्या समान हो, वह घनरज्जु है। अर्थात् घनरज्जु चारों ओर से चौकोर होता है। घन शब्द लंबाई, चौड़ाई व मोटाई की समानता में प्रयोग होता है। प्रतररज्जु लंबाई चौड़ाई में समान होता है पर मोटाई तो उसकी एक खंड परिमाण ही होती है। घनरज्जु में कुल ६४ खंड होते हैं। १६ खंड वाले प्रतर के उपर तीन बार और १६-१६ खंड जमाने से जो आकार बनता है वह घनरज्जु है। चारों ओर से वह लंबाई चौड़ाई व मोटाई में समान होता है। कहा है—

"सूचीरज्जु में ४ प्रतररज्जु में १६ तथा घनरज्जु में ६४ खंड होते हैं।"

ऊर्ध्वलोक व अधोलोक की प्रतररज्जु—

- अधोलोक के ५१२ खंड में १६ का भाग देने से अधोलोक के प्रतररज्जु होते हैं। ५१२ ÷ १६ = ३२ प्रतररज्जु।
- ऊर्ध्वलोक के ३०४ खंड में १६ का भाग देने पर ३०४ ÷ १६ = १९ प्रतररज्जु होते हैं।
- अधोलोक व ऊर्ध्वलोक दोनों के प्रतररज्जु मिलाने पर ३२ + १९ = ५१ प्रतररज्जु होते हैं ॥९१२॥

ऊपर से नीचे तक स्वरूप से लोक १४ रज्जु परिमाण है। उसका निम्न विस्तार किंचित् न्यून ७ रज्जु है। तिर्यक्लोक के मध्यभाग का विस्तार १ रज्जु तथा ब्रह्मलोक के मध्यभाग में विस्तार ५ रज्जु का है। ऊर्ध्व लोकान्त का विस्तार पुनः एक रज्जु परिमाण है। अन्यत्र लोक का विस्तार अनियत है। इस प्रकार दोनों हाथ कटि पर रखकर पाँवों को फैलाकर खड़े हुए पुरुष के तुल्य आकार वाला यह लोक है। इसका घन करने के लिए सर्वप्रथम उपरवर्ती लोकार्द्ध का घन किया जाता है यथा, सर्वत्र एक राजु विस्तृत त्रसनाड़ी के दक्षिण भागवर्ती, पाँचवें ब्रह्मदेवलोक के समीप ऊपर नीचे कोहनी के भाग में स्थित, दो रज्जु विस्तृत और किंचित् न्यून साड़े तीन रज्जु ऊँचे दो खंडों को बुद्धि कल्पना द्वारा उठाकर त्रसनाड़ी की बाईं ओर उलटकर जोड़ना। इस प्रकार लोकार्द्ध का तीन रज्जु का विस्तार एवं किंचित् न्यून सात रज्जु की ऊँचाई होती है। इसकी मोटाई ब्रह्मलोक के मध्यभाग में ५ रज्जु की तथा अन्यत्र अनियत है।

तत्पश्चात् अधोलोक में, त्रसनाड़ी के दक्षिण भागवर्ती अधोलोक संम्बन्धी खंड जो निम्न भाग में तीन रज्जु विस्तृत हैं और ऊपर की ओर क्रमशः घटते-घटते समधिक सात रज्जु की ऊंचाई पर, जहाँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसका विस्तार एक रज्जु के असंख्यातवें भाग जितना रह जाता है, उस खंड को कल्पना द्वारा उठाकर त्रसनाड़ी की बाँई ओर विपरीत अर्थात् उपर के भाग को नीचे और नीचे के भाग को ऊपर जोड़ना। इस प्रकार निम्न लोकार्द्ध देशोन ४ रज्जु विस्तृत, साधिक ७ रज्जु ऊँचा और मोटाई की अपेक्षा क्वचित् किंचित् न्यून् ७ रज्जु परिमाण वाला और क्वचित् अनियत परिमाण वाला होता है।

तत्पश्चात् ऊपरवर्ती अर्धभाग को कल्पना से उठाकर निम्नवर्ती अर्धभाग के ऊपर अर्थात् बाँई तरफ जोड़ना। इस प्रकार क्वचित् ७ रज्जु ऊँचा क्वचित् किंचित् न्यून ७ रज्जु ऊँचा विस्तार की अपेक्षा देशोन ७ रज्जु परिमाण वाला घनीकृत लोक होता है।

घन करने के पश्चात् जहाँ कहीं भी ७ रज्जु से अधिक विस्तार है उसे बुद्धि कल्पना द्वारा लेकर ऊपर नीचे यथोचित जोड़ने पर विस्तार की अपेक्षा से भी लोक पूर्ण ७ रज्जु परिमाण वाला हो जाता है। संवर्तित ऊपरवर्ती खंड की मोटाई क्वचित् ५ रज्जु है तथा निम्न खंड की मोटाई नीचे यथा संभव देशोन ७ रज्जु है। ऊपरवर्ती खंड की अपेक्षा निम्न खंड की मोटाई देशोन २ रज्जु अधिक है। इसमें से आधी मोटाई ऊपरवर्ती खंड की मोटाई में जोड़ने पर क्वचित् मोटाई ६ रज्जु की होती है।

व्यवहार की अपेक्षा यह संपूर्ण घनीकृत लोक ७ रज्जु परिमाण चौकोर आकाश खंड रूप है। व्यवहारनय किंचित् न्यून ७ हाथ आदि परिमाण वाले वस्त्र को भी पूर्ण ७ हाथ परिमाण वाला मानता है तथा वस्तु के एकदेशगत धर्म को संपूर्ण वस्तुगत मान लेता है क्योंकि व्यवहारमय स्थूलग्राही है अतः घनीकृत लोक की सर्वत्र ७ रज्जु की मोटाई व्यवहार नय की अपेक्षा से ही समझना चाहिए। लंबाई चौड़ाई भी जहाँ ७ रज्जु से न्यून है वहाँ इस नय की अपेक्षा से पूर्ण ७ रज्जु समझना चाहिए। इस प्रकार व्यवहार नय की अपेक्षा, लंबाई, चौड़ाई और मोटाई तीनों दृष्टि से ७ रज्जु परिमाण लोक का घन होता है। पट्टी आदि पर रेखांकित करके इसकी स्पष्टता करना चाहिए ॥९१३-९१४॥

बुद्धिकल्पना से जहाँ अधिक हैं, वहाँ से खंड लेकर जहाँ न्यून है वहाँ उसे जोड़ने से लोक चारों ओर से चौकोर हो जाता है। इसके ३४३ रज्जु होते हैं। जिस राशि का घन करना हो उस राशि को तीन बार गुणा करने से 'घन' बनता है। कहा है—'समत्रिराशिहतिर्घन' ७ × ७ = ४१ × ७ = ३४३ राजु।

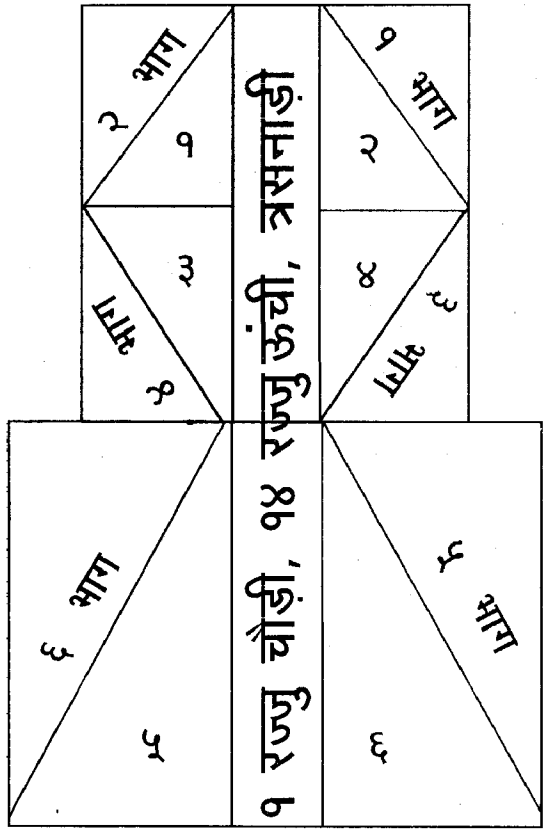
यह व्यवहारनयानुसार रज्जु की संख्या है। निश्चय से तो २३९ घनरज्जु होते हैं। निश्चयनय से तो ऊपर से नीचे जो ५६ पंक्तियाँ हैं उनमें जितने-जितने खंड हैं, उनका वर्ग करने से कुल जितनी राशि आती है उसे ६४ से भाग देने पर 'घनरज्जु' की संख्या आती है। वर्ग का अर्थ है समानराशि का अपनी समानराशि से गुणा करने पर जो संख्या आती है वह वर्ग है। जैसे ४ का ४ से गुणा करने पर १६ आते हैं, १६, ४ का वर्ग है। कहा है—'सदृशद्विराशिघातो वर्गः'। इस प्रकार सर्वसंख्या के वर्ग की कुलराशि = १५२९६ खंड होते हैं। इसके घनरज्जु १५२९६ ÷ ६४ = २३९ हैं। कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"छप्पन्न पंक्तियों में जो खंड हैं उनकी राशि का वर्ग करके, पृथक्-पृथक् संख्या को मिलाने से जो राशि आती है उसमें से ११२३२ खंड अधोलोक के हैं। सभी खंड चौकोर तथा एक रज्जु का $\frac{१}{४}$ हिस्सा है। ऊर्ध्वलोक के ४०६४ खंड हैं। दोनों को मिलाने से ११२३२ + १५२९६ कुल खंड हैं। इन्हें ६४ से भाग देने पर २३९ घनरज्जू हुए" ।९१५ ॥

कौनसा देवलोक कहाँ है?—रुचक प्रदेश की समभूतला पृथ्वी के ऊपरवर्ती ६ खंडों (१ ॥रज्जु) में सौधर्म व ईशान दो देवलोक हैं। उसके ऊपरवर्ती ४ खंडों (१ रज्जु) में सनत्कुमार व महेंद्र दो देवलोक हैं। उनके ऊपर १० खंडों में (२ ॥ रज्जु) में ब्रह्मलोक, लान्तक, शुक्र, सहस्रार ये ४ देवलोक हैं। तदनंतर ४ खंडों (१ रज्जु) में आनत-प्राणत-आरण व अच्युत ये ४ देवलोक हैं। सबसे ऊपरवर्ती ४ खंडों में नवग्रैवेयक, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित सर्वार्थसिद्ध तथा सिद्धिक्षेत्र हैं ॥९१६ ॥

रज्जु का प्रमाण—संपूर्ण द्वीप व समुद्र के अन्त में स्थित स्वयंभूरमण समुद्र के एकतट से दूसरे तट की दूरी परिमाण एक रज्जु है। इसी प्रमाण से लोक १४ रज्जु है ॥९१७ ॥



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४४ द्वार : संज्ञा ३—

सन्नाउ तिन्नि पढमेऽत्थ दीहकालोवएसिया नाम।
तह हेउवायदिट्ठीवाउवएसा तदियराओ॥ ९१८॥
एयं करेमि एयं कयं मए इममहं करिस्सामि।
सो दीहकालसन्नी जो इय तिक्कालसन्नधरो॥ ९१९॥
जे उण संचिंतेउं इट्ठाणिट्ठेसु विसयवत्थूसुं।
वत्तंति नियत्तंति य सदेहपरिपालणाहेउं॥ ९२०॥
पाएण संपइच्चिय कालंमि न यावि दीहकालंमि।
ते हेउवायसन्नी निच्चेट्ठा हुंति हु असन्नी॥ ९२१॥
सम्मद्दिट्ठी सन्नी संते नाणे खओवसमिए य।
असन्नी मिच्छत्तंमि दिट्ठिवाओवएसेणं॥ ९२२॥

—गाथार्थ—

तीन संज्ञा—**संज्ञा के तीन भेद हैं:— १. दीर्घकालोपदेशिका २. हेतुवादोपदेशिका तथा ३. दृष्टिवादोपदेशिका॥ ९१८॥**

'मैं यह करता हूँ'.....'मैंने यह किया'.....'मैं यह करूंगा' इस प्रकार तीनों कालों का अनुसन्धान करने वाला दीर्घकालिक संज्ञी है॥ ९१९॥

जो जीव निजदेह के पालन हेतु इष्ट-अनिष्ट विषयवस्तु में चिन्तनपूर्वक प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति करते हैं वे हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा वाले हैं। ये जीव प्रायः करके वर्तमान काल को लक्ष्य में रखते हुए ही प्रवृत्ति-निवृत्ति करते हैं। इनका लक्ष्य दीर्घकालीन नहीं होता।

असंज्ञी चेष्टा रहित होते हैं॥ ९२०-२१॥

सम्यग्दृष्टि तथा क्षायोपशमिकज्ञानी दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा द्वारा संज्ञी हैं, पर मिथ्यादृष्टि इस संज्ञा की अपेक्षा से असंज्ञी है॥९२२॥

—विवेचन—

संज्ञा = ज्ञान, इनके तीन प्रकार हैं—

(i) दीर्घकालोपदेशिकी (ii) हेतुवादोपदेशिकी (iii) दृष्टिवादोपदेशिकी

(i) दीर्घकालोपदेशिकी—अतीत, अनागत वस्तुविषयक ज्ञान, दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा है। जैसे 'यह किया, यह करना है, यह करूंगा' इत्यादि मनोविज्ञान। ऐसे त्रैकालिक वस्तु विषयक ज्ञानवाला आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीर्घकालोपदेश संज्ञी है। यह संज्ञा मनपर्याप्ति युक्त गर्भज तिर्यंच, गर्भज मनुष्य, देव और नरक के ही होती है क्योंकि त्रैकालिक चिन्तन उन्हीं को होता है। इस संज्ञा वाले प्राणी को सभी पदार्थ स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। जैसे चक्षुवाला प्राणी प्रदीपादि के प्रकाश में सभी पदार्थों को स्पष्ट देखता है, वैसे इस संज्ञा से संज्ञी व्यक्ति मनोद्रव्य की सहायता से उत्पन्न चिन्तन के द्वारा पूर्वापर का अनुसंधान करते हुए वस्तु का यथार्थ ज्ञान करता है।

इस संज्ञा से रहित संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय आदि अपेक्षाकृत असंज्ञी है। इनमें मनोलब्धि अल्प, अल्पतर होती है, अतः इनका ज्ञान भी अस्फुट, अस्फुटतर होता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय की अपेक्षा संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय का ज्ञान अस्फुट होता है। संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय की अपेक्षा चतुरिन्द्रिय का ज्ञान अधिक अस्फुट होता है। उसकी अपेक्षा त्रीन्द्रिय का ज्ञान अस्फुटतर होता है। उससे द्वीन्द्रिय का ज्ञान अस्फुटतम होता है। एकेन्द्रिय का ज्ञान तो सर्वथा अस्फुट होता है। क्योंकि उनके प्रायः मनोद्रव्य नहीं होता। एकेन्द्रिय के अत्यंत अल्प व अव्यक्त मन होता है, जिससे उसे भूख, प्यास इत्यादि की अव्यक्त अनुभूति होती है।

(ii) हेतुवादोपदेशिकी—जिस संज्ञा में हेतु विषयक प्ररूपणा हो अर्थात् जिस संज्ञा द्वारा प्राणी अपने देह की रक्षा हेतु इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति करता है, वह हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा है। जैसे गर्मी हो तो छाया में जाना, सर्दी हो तो धूप में जाना, भूख लगने पर आहारादि के लिये प्रवृत्ति करना आदि। यह संज्ञा प्रायः वर्तमान कालीन प्रवृत्ति, निवृत्तिविषयक है। प्रायः कहने से द्वीन्द्रिय आदि जीव जो अतीत, अनागत की भी सोच रखते हैं ये इसी संज्ञा वाले हैं। कारण, उनके चिन्तन का विषय अतीत, अनागत काल होते हुए भी अति अल्प होता है। अतः प्रवृत्ति, निवृत्ति से रहित पृथ्वी आदि के जीव असंज्ञी ही हैं। तात्पर्य यह है कि प्राणी अपने देह की सुरक्षा हेतु चिन्तनपूर्वक इष्ट, अनिष्ट में प्रवृत्ति या निवृत्ति करता है, वह संज्ञी है। इस प्रकार द्वीन्दिय आदि भी हेतुवादोपदेशसंज्ञी हैं। चिन्तनपूर्वक प्रवृत्ति-निवृत्ति, मनोव्यापार के बिना नहीं होती और वह द्वीन्द्रिय आदि जीवों के होता है, क्योंकि उनमें इष्टवस्तु में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है। इनका चिन्तन प्रायः वर्तमान विषयक ही होता है। दीर्घकालीन अतीत-अनागत विषयक नहीं होता। अतः ये दीर्घकालोपदेशिक संज्ञी नहीं हैं। जिन जीवों की प्रवृत्ति या निवृत्ति चिन्तनपूर्वक नहीं होती, वे जीव हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा की अपेक्षा असंज्ञी हैं जैसे पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीव।

यद्यपि पृथ्वी आदि में आहारादि दस संज्ञा की विद्यमानता यहाँ और प्रज्ञापनादि में बताई गई हैं, तथापि वे संज्ञी नहीं कहलाते। कारण, उनमें ये संज्ञायें अति अव्यक्त रूप में तथा अशोभनीय (तीव्र मोहनीय कर्म जन्य होने से) है। जैसे अल्प धन होने से कोई धनवान् नहीं कहलाता। आकारमात्र से कोई रूपवान नहीं कहलाता वैसे आहारादि संज्ञा होने से कोई संज्ञी नहीं कहलाता। इसीलिये हेतुवादोपदेश संज्ञी के विषय में कहा है कि—'समनस्क कृमि, कीट, पतंग आदि संज्ञी त्रसों के चार भेद हैं और पृथ्वीकाय आदि असंज्ञी जीवों के पाँच भेद हैं।'

अब दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा की अपेक्षा कौन संज्ञी है? कौन असंज्ञी है? यह बताते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(iii) दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा—जिसमें सम्यक्त्व विषयक प्ररूपणा हो वह दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा है। इस संज्ञा की अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान युक्त सम्यग्दृष्टि ही संज्ञी है। मिथ्यादृष्टि सम्यग् ज्ञान रहित होने से असंज्ञी है। यद्यपि व्यवहार की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में कोइ अन्तर नहीं होता। मिथ्यादृष्टि भी सम्यग्दृष्टि की तरह घट को घट ही कहता है पट नहीं कहता। तथापि तीर्थंकर परमात्मा द्वारा प्ररूपित वस्तु स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा न होने से, मिथ्यादृष्टि का व्यावहारिक सत्यज्ञान भी अज्ञानरूप ही है।

प्रश्न—इस संज्ञा की अपेक्षा विशिष्ट ज्ञानयुक्त सम्यग्दृष्टि ही यदि संज्ञी है तो मात्र क्षायोपशमिक ज्ञानयुक्त ही क्यों लिया, क्षायिक ज्ञानयुक्त भी लेना चाहिये। क्योंकि क्षायिक ज्ञानी की संज्ञा विशिष्टतर होती है।

समाधान—अतीत वस्तु का स्मरण और अनागत की चिन्ता करना 'संज्ञा' है। केवलज्ञानी के ज्ञान में त्रैकालिक सभी वस्तुयें सदाकाल प्रतिभाषित होने से उन्हें स्मरण, चिन्तन करने की आवश्यकता ही नहीं है। अत: इस संज्ञा की अपेक्षा क्षायोपशमिक ज्ञानी ही संज्ञी है।

प्रश्न— सर्वप्रथम 'हेतुवादोपशिकी' संज्ञा का प्रतिपादन करना चाहिये। कारण, वह अविशुद्धतर है। इस संज्ञा की अपेक्षा अल्प मनोलब्धि वाले द्वीन्द्रिय आदि भी संज्ञी कहलाते हैं। तत्पश्चात् दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा बताना चाहिये क्योंकि हेतुवादोपदेश संज्ञी की अपेक्षा दीर्घकालोपदेश संज्ञी मनपर्याप्ति-युक्त होने से अधिक विशुद्ध हैं तो यहाँ संज्ञाओं का कथन व्युत्क्रम से क्यों किया?

समाधान—आगम में सर्वत्र संज्ञी-असंज्ञी का व्यवहार दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा द्वारा ही होता है। इसी कारण यहाँ भी सर्वप्रथम उसी का उल्लेख किया है। कहा है—

"सूत्र में संज्ञी-असंज्ञी का व्यवहार 'दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा' द्वारा ही होता है अत: सर्वप्रथम उसी का कथन किया।"

गौण होने से उसके बाद हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा तथा प्रधान होने से अंत में दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा बताई गई॥ ९१८-९२२॥

१४५ द्वार : संज्ञा ४—

आहार भय परिग्गह मेहुण रूवाओ हुंति चत्तारि।
सत्ताणं सन्नाओ आसंसारं समग्गाणं॥ ९२३॥

—गाथार्थ—

चार संज्ञा—**समस्त संसारी जीवों के भववास पर्यन्त १. आहार २. भय ३. परिग्रह और ४. मैथुन—ये चार संज्ञाएं होती हैं॥ ९२३॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

संज्ञा = आभोग अर्थात् जिनका अनुभव किया जाय। ये दो प्रकार की हैं—

(i) क्षयोपशमजन्य, (ii) उदयजन्य।

(i) ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली मतिज्ञान के भेद रूप संज्ञायें।

पूर्वोक्त तीनों (दीर्घकालोपदेशिकी, हेतुवादोपदेशिकी, दृष्टिवादोपदेशिकी) संज्ञायें क्षयोपशमजन्य हैं।

(ii) कर्मोदयजन्य संज्ञा के चार भेद हैं—

(१) **आहारसंज्ञा**—क्षुधा वेदनीय के उदय से तथाविध आहारादि के पुद्गलों को ग्रहण करने का अभिलाष आहार संज्ञा है।

आहारसंज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण हैं—

(i) अवमकोष्ठता = खाली पेट (ii) क्षुधावेदनीय कर्म का उदय

(iii) भक्तकथा का श्रवण (iv) सतत आहार का चिन्तन

(२) **भयसंज्ञा**—भय मोहनीय के उदय से होने वाली अनुभूति भयसंज्ञा है। नेत्र, मुख आदि की विक्रिया तथा रोमांच आदि इसके लक्षण हैं।

भयसंज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण हैं—

(i) हीनसत्त्वता—शौर्य का अभाव (ii) भयमोहनीय का उदय

(iii) भयोत्पादक बात सुनना, दृश्य देखना (iv) सात प्रकार के भयों का चिंतन।

(३) **परिग्रह संज्ञा**— लोभ मोहनीय के उदय से आसक्तिपूर्वक सचित्त व अचित्त द्रव्य को ग्रहण करना परिग्रह संज्ञा है।

परिग्रह संज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण हैं—

(i) परिग्रहयुक्तता—त्याग का अभाव (ii) लोभवेदनीय का उदय

(iii) परिग्रहवर्धक बात सुनना या दृश्य देखना (iv) परिग्रह का चिंतन

(४) **मैथुन संज्ञा**—वेदोदयवश स्त्री या पुरुष को देखना, देखकर प्रसन्न होना, ठहरना, कांपना आदि क्रिया मैथुनसंज्ञा है।

मैथुन संज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण हैं—

(i) मांस, शोणित की वृद्धि (ii) मोहनीय कर्म का उदय

(iii) कामकथा का श्रवण (iv) मैथुन का चिंतन।

सभी संसारी जीवों को संसारवास पर्यंत ये चारों संज्ञायें होती हैं। कुछ एकेन्द्रिय जीवों में तो ये संज्ञायें स्पष्ट दिखाई देती हैं।

- वनस्पति को खाद-पानी से पोषण मिलता है (आहार संज्ञा)।
- लाजवन्ती का पौधा हाथ के स्पर्श से संकुचित हो जाता है (भय संज्ञा)।
- बिल्व-पलाशादि अपने नीचे गड़े हुए धन को छुपाते हैं (परिग्रह संज्ञा)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- कुरुबक, अशोक, तिलक आदि के पेड़, स्त्री का आलिंगन, पादप्रहार, कटाक्ष निक्षेप आदि से फलते-फूलते हैं (मैथुन संज्ञा) ॥ ९२३ ॥

१४६ द्वार : संज्ञा १०—

आहार भय परिग्गह मेहुण तह कोह माण माया य।
लोभो ह लोग सन्ना दस भेया सव्वजीवाणं ॥ ९२४ ॥

—गाथार्थ—

दश संज्ञा—**समस्त जीवों के १. आहार २. भय ३. परिग्रह ४. मैथुन ५. क्रोध ६. मान ७.माया ८. लोभ ९. लोक और १०. ओघ—ये दस संज्ञायें होती हैं॥ ९२४॥**

—विवेचन—

संज्ञा = 'यह जीव है' जिससे ऐसा जाना जाय वह संज्ञा है। इसके दस भेद हैं। इनमें से कुछ संज्ञायें वेदनीय व मोहनीय जन्य हैं तथा कुछ संज्ञायें ज्ञानावरण व दर्शनावरण के क्षयोपशम से होती हैं।

१. आहारसंज्ञा—पूर्ववत्

२. भयसंज्ञा—पूर्ववत्

३. मैथुनसंज्ञा—पूर्ववत्

४. परिग्रहसंज्ञा—

५. क्रोधसंज्ञा—जिसके उदय से नेत्र और मुख पर कठोरता आना, दांत किटकिटाना, होठ फड़फड़ाना आदि चेष्टायें हों। ये क्रोध कषाय के उदयजन्य है।

६. मानसंज्ञा—गर्व की कारणभूत संज्ञा। यह मानकषाय के उदयजन्य है।

७. मायासंज्ञा—संक्लेश पूर्वक असत्यभाषण आदि करना। यह माया कषायजन्य है।

८. लोभसंज्ञा—लालसा रखते हुए सचित्त या अचित्त द्रव्यों की प्रार्थना करना। यह लोभकषाय जन्य है।

९. ओघसंज्ञा—मंतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से शब्दादि का सामान्य ज्ञान होना, ओघ संज्ञा है।

१०. लोकसंज्ञा—मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से शब्दादि का विशेष ज्ञान होना, लोकसंज्ञा है।

- ओघसंज्ञा दर्शनोपयोगरूप है तथा लोकसंज्ञा ज्ञानोपयोगरूप है। यह **स्थानांग-टीका** का मत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचारांग की टीका के अनुसार—

- ओघसंज्ञा—अव्यक्त उपयोगरूप है जैसे, लता आदि का स्वभावतः समीपवर्ती पेड़, खंभे इत्यादि पर चढ़ना।
- लोकसंज्ञा—लोकों की स्वतन्त्र कल्पना के अनुसार प्रवृत्ति करना लोकसंज्ञा है। जैसे यह कहना कि—निसंतान की गति नहीं होती, मयूरपंख की हवा से गर्भधारण होता है, कुत्ते यक्षरूप हैं, कौए पितामह हैं इत्यादि।

अन्यमते—

- ओघसंज्ञा—ज्ञानोपयोग रूप है।
- लोकसंज्ञा—दर्शनोपयोग रूप है।

ये संज्ञायें सभी संसारी जीवों के होती हैं किंतु पञ्चेन्द्रिय जीवों में स्पष्ट दिखाई देती हैं और एकेन्द्रिय आदि में अव्यक्त रूप में होती हैं॥ ९२४॥

१४७ द्वार : संज्ञा १५—

आहार भय परिग्गह मेहुण सुह दुक्ख मोह वितिगिच्छा।
तह कोह माण माया लोहे लोगे य धम्मोघे॥ ९२५॥

—गाथार्थ—

पन्द्रह संज्ञा—**१. आहार २. भय ३. परिग्रह ४. मैथुन ५. सुख ६. दुःख ७. मोह ८. विचिकित्सा ९. क्रोध १०. मान ११. माया १२. लोभ १३. लोक १४. धर्म और १५. ओघ—ये पन्द्रह संज्ञायें हैं॥** ९२५॥

—विवेचन—

१ से १० तक पूर्ववत् समझना चाहिये।
११. सुखसंज्ञा—साता वेदनीय रूप है।
१२. दुःखसंज्ञा—असाता वेदनीय रूप है।
१३. मोहसंज्ञा—मिथ्यादर्शन रूप है।
१४. विचिकित्सासंज्ञा—चित्त की अस्थिरता है।
१५. धर्म संज्ञा—क्षमा, मार्दव आदि सद्गुणों का आसेवन करना।

- जीव विशेष का ग्रहण न होने से ये संज्ञायें यथासंभव सभी जीवों के होती हैं।
- यद्यपि चतुर्विध, दशविध, पंचदशविध आदि संज्ञाओं के प्रकार में कुछ पुनरुक्त हैं तथापि अलग-अलग स्थान पर वर्णित होने के कारण निर्दोष हैं।
- **आचारांग** में सोलहवीं शोकसंज्ञा भी है। शोकसंज्ञा = रुदनरूप एवं दीनतारूप है॥ ९२५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४८ द्वार : सम्यक्त्व-भेद—

चउसद्दहण तिलिंगं दसविणय तिसुद्धि पंचगयदोसं।
अट्ठपभावण भूसण लक्खण पंचविहसंजुत्तं॥ ९२६॥
छव्विहजयणाऽऽगारं छब्भावण भावियं च छट्ठाणं।
इय सत्तयसट्ठिलक्खणभेयविसुद्धं च सम्मत्तं॥ ९२७॥
परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि।
वावन्न कुदंसणवज्जणा य सम्मत्तसद्दहणा॥ ९२८॥
सुस्सूस धम्मराओ गुरुदेवाणं जहासमाहीए।
वेयावच्चे नियमो सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं॥ ९२९॥
अरहंत सिद्ध चेइय सुए य धम्मे य साहुवग्गे य।
आयरिय उवज्झाएसु य पवयणे दंसणे यावि॥ ९३०॥
भत्ती पुया वन्नज्जलणं, वज्जणमवन्नवायस्स।
आसायणपरिहारो, दंसणविणओ समासेणं॥ ९३१॥
मोत्तूण जिणं मोत्तूण जिणमयं जिणमयट्ठिए मोत्तुं।
संसारकच्चवारं चिंतिज्जंतं जगं सेसं॥ ९३२॥
संका कंख विगिच्छा पसंस तह संथवो कुलिंगीसु।
सम्मत्तस्सऽइयारा परिहरियव्वा पयत्तेणं॥ ९३३॥
पावयणी धम्मकही वाई नेमित्तिओ तवस्सी य।
विज्जा सिद्धो य कवी अट्ठेव पभावगा भणिया॥ ९३४॥
जिणसासणे कुसलया पभावणाऽऽययणसेवणा थिरया।
भत्ती य गुणा सम्मत्तदीवया उत्तमा पंच॥ ९३५॥
उवसम संवेगोऽवि य निव्वेओ तह य होइ अणुकंपा।
अत्थिक्कं चिय एए संमत्ते लक्खणा पंच॥ ९३६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नोअन्नतित्थिए अन्नतित्थिदेवे य तह सदेवेऽवि।
गहिए कुतित्थिएहिं वंदामि न वा नमंसामि॥ ९३७॥
नेव अणालत्तो आलवेमि नो संलवेमि तह तेसिं।
देमि न असणाईयं पेसेमि न गंधपुप्फाइं॥ ९३८॥
रायाभिओगो य गणाभिओगो, बलाभिओगो य सुराभिओगो।
कंतारवित्ती गुरुनिग्गहो य छ छिंडिआओ जिणसासणम्मि॥ ९३९॥
मूलं दारं पइट्ठाणं आहारो भायणं निही।
दुच्छक्कस्सावि धम्मस्स सम्मत्तं परिकित्तियं॥ ९४०॥
अत्थि य मिच्चो कुणई कयं च वेएइ अत्थि निव्वाणं।
अत्थि य मोक्खावाओ छस्सम्मत्तस्स ठाणाइं॥ ९४१॥

—गाथार्थ—

सम्यक्त्व के सड़सठ भेद—**चार श्रद्धा, तीन लिंग, दश विनय, तीन शुद्धि, पाँच दोष, आठ प्रभावना, पाँच भूषण, छः जयणा, छः आगार, छः भावना, छः स्थान, इन सड़सठ लक्षण भेदों से सम्यक्त्व विशुद्ध होता है॥ ९२६-२७॥**

१. परमार्थसंस्तव २. सुदृष्ट परमार्थ-सेवन ३. व्यापन्न-दर्शन-वर्जन तथा ४. कुदर्शनवर्जन—ये चार सम्यक्त्व की सद्दहणा है॥ ९२८॥

१. शुश्रूषा २. धर्मराग ३. गुरु और देव की यथासमाधि वैयावच्च करने का नियम—ये तीन सम्यक्त्व के लिंग हैं॥ ९२९॥

१. अरहंत २. सिद्ध ३. चैत्य ४. श्रुत ५. धर्म ६. साधुवर्ग ७. आचार्य ८. उपाध्याय ९. प्रवचन १०. दर्शन—इन दस पदों की भक्ति, पूजा, गुणोत्कीर्तन करना तथा अवर्णवाद और आशातना का त्याग करना दर्शनविनय है॥ ९३०-३१॥

१. जिनेश्वर २. जिनमत एवं ३. जिनमत में स्थित साधु आदि के सिवाय संपूर्ण संसार को कूड़े के समान मानना सम्यक्त्व की तीन शुद्धि है॥ ९३२॥

१. शंका २. कांक्षा ३. विचिकित्सा ४. प्रशंसा ५. संस्तव—ये सम्यक्त्व के पाँच अतिचार हैं। इन्हें प्रयत्नपूर्वक त्यागना चाहिये॥ ९३३॥

१. प्रावचनी २. धर्मकथक ३. नैमित्तिक ४. तपस्वी ५. वादी ६. विद्यावान ७. सिद्ध ८. कवि—ये आठ प्रभावक हैं॥ ९३४॥

१. जिन शासन में कुशलता २. प्रभावना ३. आयतन सेवना ४. स्थिरता और ५ भक्ति—ये पाँचों सम्यक्त्व को दीपित करने वाले उत्तम भूषण हैं॥ ९३५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. उपशम २. संवेग ३. निर्वेद ४. अनुकंपा और ५. आस्तिक्य—ये पाँच सम्यक्त्व के लक्षण हैं॥ ९३६॥

१. अन्यधर्मी को २. अन्यधर्मियों से मान्य देव को तथा ३. उनसे परिगृहीत स्वदेव को वन्दन-नमस्कार नहीं करना ४. बिना बुलाये अन्यधर्मियों से न बोलना ५. उन्हें आहार आदि न देना तथा ६. गंध-पुष्प आदि न भेजना॥ ९३७-३८॥

१. राजाभियोग २. गणाभियोग ३. बलाभियोग ४. देवाभियोग ५. कांतारवृत्ति तथा ६. गुरुनिग्रह—ये छः सम्यक्त्व के आगार हैं॥ ९३९॥

सम्यक्त्व, बारह प्रकार के श्रावकधर्म का १. मूल २. द्वार ३. प्रतिष्ठान ४. आधार ५. भाजन और ६. निधि कहा गया है॥ ९४०॥

१.आत्मा है २. नित्य है ३. कर्म का कर्त्ता है ४. कृतकर्म का भोक्ता है ५. आत्मा का मोक्ष है तथा ६. मोक्ष के उपाय हैं—ये सम्यक्त्व के छः स्थान हैं॥ ९४१॥

—विवेचन—

इन ६७ भेदों के द्वारा सम्यक्त्व का निश्चय होता है, अतः ये सम्यक्त्व के लक्षण कहलाते हैं।

४ श्रद्धा
३ लिंग
१० विनय
३ शुद्धि
५ दोष परिवर्जन
८ प्रभावना
५ भूषण
५ लक्षण
६ यतना
६ आगार
६ भावना
६ स्थान
६७ कुल

इन ६७ भेदों से शुद्ध सम्यक्त्व ही पारमार्थिक सम्यक्त्व है।
सम्यक् शब्द प्रशंसा के अर्थ में या अविरोध के अर्थ में आता है।
"सम्यग् जीवः तस्य भावः = सम्यक्त्वं" अर्थात् प्रशस्त अथवा मोक्ष के अनुकूल जीव का स्वभाव विशेष सम्यक्त्व है॥९२६-९२७॥

४. **श्रद्धान**—जिसके द्वारा सम्यक्त्व के अस्तित्व का बोध हो। इसके ४ भेद हैं :—

(१) **परमार्थसंस्तव**—जीवाजीवादि तत्त्वों का बहुमानपूर्वक अभ्यास करना।

(२) **सुदृष्टपरमार्थसेवन**—जीवाजीवादि पदार्थों को अच्छी तरह से जानने वाले आचार्यादि की उपासना करना, यथाशक्ति वैयावच्च करना।

(३-४) **व्यापन्नदर्शन वर्जन व कुदर्शनवर्जन**—वास्तव में जिनका कोई दर्शन ही नहीं है ऐसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निह्नव आदि तथा जिनका निन्दनीय दर्शन है ऐसे कुदर्शनी शाक्यादि का संग न करना। सम्यक्त्व की निर्मलता के लिये ये आवश्यक हैं।

प्रश्न—परमार्थसंस्तवादि सम्यक्त्व के भेद तो अंगारमर्दकाचार्य में भी थे, किंतु वे सम्यक्त्वी नहीं थे। क्या लक्षण रहते हुए भी उनमें सम्यक्त्व का अभाव होना लक्षण को व्यभिचारी नहीं बनाता?

उत्तर—आपका कथन ठीक है, किंतु अंगारमर्दकाचार्य में सम्यक्त्व नहीं था, तो उसके लक्षण भी नहीं थे। उनमें जो परमार्थसंस्तवादि दिखाई देते हैं, वे वास्तविक नहीं हैं, आभास मात्र हैं ॥९२८॥

३ लिंग—

१. शुश्रूषा—सुनने की इच्छा = शुश्रूषा। बोध प्राप्ति के अमोघ कारणभूत धर्म-शास्त्रों के श्रवण की इच्छा अत्यावश्यक है। वह इच्छा इतनी प्रबल होनी चाहिये कि जितनी प्रबल इच्छा एक युवान व्यक्ति को किन्नरी का संगीत सुनने की होती है।

२. धर्म राग—यह दो तरह का है—(१) श्रुत धर्म का राग और (२) चारित्र धर्म का राग। श्रुत धर्म का राग शुश्रूषा के अन्तर्गत आ जाता है। यहाँ चारित्र धर्म का राग ही अभीष्ट है। कर्मोदय के कारण चारित्र का पालन न कर सके तो भी चारित्र धर्म के प्रति राग ऐसा होना चहिए कि कई दिनों से अटवी में भटकते हुए भूखे ब्राह्मण को भोजन के प्रति होता है। उससे भी अधिक प्रबल अभिलाषा चारित्र के प्रति रखनी चहिये।

३. यथासमाधि गुरु-देव की वैयावच्च—गुरु (धर्मोपदेशक आचार्य आदि) तथा देव (अरिहंत) की यथासमाधि अर्थात् देव गुरु की अनुकूलता के अनुसार (सेवा-भक्ति) पूजा आदि आवश्यक कर्त्तव्य मानकर करना। देव की अपेक्षा गुरु शब्द का पूर्वकथन गुरु के महत्त्व का द्योतक है क्योंकि गुरु के उपदेश के बिना देव के स्वरूप का यथार्थ बोध नहीं हो सकता।

सम्यक्त्वी के गुण होते हुए भी धर्म-धर्मी को अभेद मानने से शुश्रूषा आदि तीनों समकित के लिंग हैं। इनके द्वारा हम किसी भी आत्मा में सम्यक्त्व होने का निर्णय कर सकते हैं।

उपशांतमोह, क्षीणमोह अवस्था को प्राप्त हुए आत्मा में पूर्वोक्त तीनों लक्षण साक्षात् दिखाई नहीं देते, क्योंकि वे कृतकृत्य बन चुके हैं, फिर भी शुश्रूषा आदि के फलस्वरूप मोह का उपशम और मोह का क्षय उन आत्माओं में होने से शुश्रूषा आदि कारण भी उनमें अवश्य अनुमानित हैं ॥९२९॥

१० विनय—

१. अरहंत = तीर्थंकर
२. सिद्ध = अष्टविध कर्म से मुक्त
३. चैत्य = जिनेन्द्र प्रतिमा
४. श्रुत = आचाराङ्ग आदि आगम
५. धर्म = क्षान्त्यादि रूप
६. साधु = श्रमण-समूह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. आचार्य = गच्छ व शासन के नायक
८. उपाध्याय = ज्ञानदाता
९. प्रवचन = संघ
१०. दर्शन = सम्यक्त्व (उपचार से दर्शनी को दर्शन कह सकते हैं।)

इन दस स्थानों के प्रति यथायोग्य सम्मुखगमन, आसनदान, सेवा, नमस्कार, भक्ति-पूजा आदि रूप करना। प्रशंसा द्वारा देव-गुरु के ज्ञानादि गुणों को चमकाना। निंदा-त्याग, मन, वचन, काया से आशातना का त्याग करना।

भक्ति = सम्मुख गमन, आसन-दान, उपासना करना, करबद्ध होना, अनुसरण करना आदि।

पूजा = धूप, माला, वस्त्र, पात्र, अन्न, पानी आदि अर्पण करना।

वर्णोज्ज्वलन-वर्ण = प्रशंसा, ज्वलन = ज्ञानादिगुणों को प्रकट करना अर्थात् अरिहंत आदि दश के ज्ञानादि गुणों की प्रशंसा करना।

अवर्णवादपरिहार—अरहंत आदि दस स्थानों की निन्दा न करना।

आशातना परिहार—उनके प्रति मन-वचन-काया से प्रतिकूल आचरण न करना।

अरहंत आदि दस का विनय-उपचार से दर्शन विनय कहलाता है, क्योंकि यह सम्यक्त्व के सद्भाव में ही हो सकता है ॥९३०-९३१॥

३. **शुद्धि**—वीतराग परमात्मा, उनके द्वारा प्ररूपित स्याद्वादमय जीवाजीवादि तत्त्वरूप धर्म-मार्ग तथा उस मार्ग पर चलने वाले मुनियों को छोड़कर संसार में सभी कूड़े के ढेर के समान असार है। इस प्रकार की भावना से सम्यक्त्व शुद्ध होता है, अतः ये तीन शुद्धियाँ हैं ॥९३२॥

५. दोष परिवर्जन—

(i)	**शंका**	—	सर्वज्ञ के कथन में संशय करना।
(ii)	**कांक्षा**	—	अन्य दर्शन की अभिलाषा करना।
(iii)	**विचिकित्सा**	—	सदाचार और साधु आदि की निन्दा करना।
(iv)	**कुलिंगी प्रशंसा**	—	अन्य धर्मियों की प्रशंसा करना।
(v)	**कुलिंगी संस्तव**	—	अन्य धर्मियों के साथ परिचय करना।

ये पाँचों सम्यक्त्व को मलिन करने वाले होने से दोषरूप हैं। सम्यक् दृष्टि आत्मा के द्वारा प्रयत्न-पूर्वक इनका त्याग करना चाहिये। इनका विस्तृत वर्णन ६ठे द्वार में किया गया है ॥९३३॥

८. प्रभावक—

(१) **प्रावचनी**—अतिशय संपन्न द्वादशांगी के धारक, युगप्रधान आदि।

(२) **धर्मकथी**—क्षीराश्रवादि लब्धि से संपन्न, सजल मेघ की गर्जना के समान गंभीर वाणी से जन-मन को प्रमोद पैदा करने वाली आक्षेपणी, विपेक्षणी, संवेगजनी, और निर्वेदिनी धर्मकथा को कहने वाले।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) **वादी**—वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति रूप चतुरंग पर्षदा के समक्ष प्रतिपक्ष के खंडन-पूर्वक स्वपक्ष की स्थापना करने वाले वादी हैं। वाद लब्धि संपन्न होने से जिनका वाक्-चातुर्य वाचाल वादीसमूह के द्वारा कदापि निस्तेज नहीं होता है।

(४) **नैमित्तिक**—त्रैकालिक लाभालाभ के प्रतिपादक शास्त्र के ज्ञाता।

(५) **तपस्वी**—उग्र, वीर और घोर तप करने वाले।

(६) **विद्यावान**—वज्रस्वामी की तरह प्रज्ञप्ति आदि १६ विद्यादेवियाँ या शासनदेव जिनके सहायक हों।

(७) **सिद्ध**—पादलिप्ताचार्य की तरह अंजन, पादलेप, तिलक, वशीकरण, वैक्रिय आदि सिद्धियों के स्वामी।

(८) **कवि**— अत्यन्त रसमय नई-नई रचनाओं को करने वाले, विविध भाषामय गद्य एवं पद्य के रचयिता।

देशकालोचित साधनों के द्वारा शासन की प्रभावना करने वाले प्रभावक कहलाते हैं।

यद्यपि शासन स्वयंप्रकाश है, परन्तु ये प्रभावक देश-काल के अनुसार अपनी विशिष्ट शक्तियों से शासन की प्रभावना में सहायक बनते हैं। इन प्रभावकों के द्वारा की गई प्रभावना स्व-पर के सम्यक्त्व को निर्मल करती है।

अन्यत्र—अइसेसइड्ढि धम्मकहि वाई आयरिय खवग नेमित्ति।
विज्जा रायागणसंमया य तित्थपभावंति।

अतिशेषर्द्धि—अवधि, मनःपर्यव, आमर्ष-औषधि आदि रूप अतिशय ऋद्धि सम्पन्न।

राजसम्मत्त—नृपप्रिय।

गणसम्मत्त—महाजनों से मान्य ॥९३४॥

५ **भूषण**—सम्यक्त्व को देदीप्यमान करने वाले उत्तम गुण।

(१) **जैनशासन में कुशलता**—जैनशासन के रहस्य को अच्छी तरह जानने वाला ऐसा व्यक्ति दूसरों को प्रतिबोध कर धर्मी बना सकता है।

(२) **शासनप्रभावना**—प्रवचन, धर्मकथा आदि पूर्वोक्त आठ प्रकारों के द्वारा जैनशासन की प्रभावना करना।

प्रश्न—यह बात प्रभावकता के अन्तर्गत आ जाती है, फिर यहाँ क्यों कही?

उत्तर—स्व-पर-उपकारक एवं तीर्थंकर नाम-कर्म का कारण होने से शासन प्रभावनारूप भूषण की विशिष्टता बताने के लिये इसे पुनः कहा।

(३) **आयतन आसेवना**—इसके दो भेद हैं—

१. **द्रव्य आयतन**—जिनगृहादि की सेवा करना। आयतन अर्थात् सिद्धान्त सम्मत जिन मन्दिर आदि स्थान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **भाव आयतन**—रत्नत्रय के धारक साध्वादि की पर्युपासना करना।

(४) **स्थिरता**—स्वपर को धर्म में स्थिर करना। अन्य धर्मावलम्बियों के आडम्बर को देख कर भी विचलित न होना।

(५) **भक्ति**—संघ की भक्ति, विनय, वैयावच्च करना।

ये गुण सम्यक्त्व के दीपक हैं। इनसे सम्यक्त्व की शोभा बढ़ती है। अतः ये सम्यक्त्व के भूषण हैं ॥९३५॥

५. **लक्षण**—

(१) **शम**—अपराधी पर भी क्रोध न करना। शम दो तरह से होता है— (१) कषाय के कटुपरिणाम का ज्ञान होने से (२) स्वभावतः ही कषाय पैदा न होने से।

(२) **संवेग**—सतत मोक्ष की अभिलाषा। सम्यक्त्वी जीव मनुष्य, देव आदि के सुखों को दुःख के अनुसंगी होने से दुःखरूप ही मानता है। मोक्ष सुख को ही वस्तुतः सुख मानता है।

(३) **निर्वेद**— संसार से वैराग्य होना (नरक, तिर्यंच आदि सांसारिक दुःखों से मन में घृणा पैदा होना)। समकिती आत्मा, संसार रूपी कारागृह में कर्मजन्य भयंकर कदर्थनाओं का प्रतीकार करने में अशक्त होने से संसार से उद्विग्न बन जाता है।

अन्यमते—भववैराग्य को संवेग और मोक्षाभिलाषा को निर्वेद कहते हैं।

(४) **अनुकम्पा**—दुःखीजनों के दुःख को बिना किसी पक्षपात के दूर करने की भावना (पक्षपात पूर्वक तो सिंह भी अपने पुत्रादि पर अनुकम्पा करते हैं।)

द्रव्यतः अनुकम्पा—शक्ति हो तो दुःख का प्रतीकार करना।

भावतः अनुकम्पा—दयार्द्र हृदय से दुःखी के दुःख का निवारण करना।

(५) **आस्तिक्य**—'अस्तीति मतिरस्येत्यास्तिकः तस्य भावः कर्म वा आस्तिक्यः।'

अन्यधर्मतत्त्वों को जानते हुए भी वही सत्य और निशंक है जो जिनेश्वर ने कहा है, ऐसी श्रद्धा रखना।

इन पाँचों से सम्यक्त्व का अस्तित्व जाना जाता है ॥९३६॥

६ **यतना**—सम्यक्त्व की रक्षा के लिये ६ प्रकार का उपयोग रखना चाहिये।

१-२ अन्यदर्शनी—परिव्राजक, भिक्षु, बौद्ध, साधु।

मिथ्यात्वीदेव—शंकर, विष्णु, बुद्ध आदि।

स्वदेव—दिगम्बर आदि अन्यधर्मियों के द्वारा स्वीकृत जिनप्रतिमा तथा बौद्ध आदि मिथ्यात्वियों के द्वारा स्वीकृत 'महाकाल'आदि को वन्दन-नमस्कार नहीं करना। ऐसा करने से उनके भक्तों का मिथ्यात्व दृढ़ होता है।

वन्दन = सिर झुकाकर नमस्कार करना। नमन = स्तुति पूर्वक प्रणाम करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३-४ अन्य धर्मावलम्बियों के साथ बिना बुलाये आलाप, संलाप नहीं करना। (ईषद् भाषणं आलापनं, पुनः पुनः संभाषणं संलापनं) उनके साथ संभाषण आदि करने से परिचय होता है। उनकी प्रक्रिया बार-बार देखने में आती है इससे मिथ्यात्व भाव आने की संभावना रहती है। लोकनिन्दा से बचने के लिये बोलना पड़े तो व्यवहार से बोले।

५. अन्य धर्मावलम्बियों को भोजन, पात्र आदि नहीं देना चाहिये। ऐसा करने से दूसरों को लगे कि यह इनका बहुमान कर रहा है। इससे दूसरों का मिथ्यात्व दृढ़ होता है (अन्य धर्मियों को अनुकम्पा से दान दिया जा सकता है)।

सव्वेहिं पि जिणेहिं दुज्जयजियरागदोसमोहेहिं।

सत्ताणुकंपणट्ठा दाणं न कहिंपि पडिसिद्धं।

दुर्जय ऐसे राग-द्वेष और मोह को जीतनेवाले जिनेश्वरों के द्वारा अनुकंपनीय जीवों की अनुकंपा हेतु दान देने का निषेध कहीं पर भी नहीं किया है।

६. परतीर्थिक देवों की और दूसरों के द्वारा गृहीत जिन प्रतिमाओं की पूजा करने के लिये धूप, पुष्पादिक नहीं देना चाहिये। आदि से विनय-वैयावच्च-यात्रा स्नात्रादिक भी नहीं करना चाहिये। ऐसा करने से दूसरों का मिथ्यात्व दृढ होता है।

इन छः यतनाओं का पालन करने से सम्यक्त्व निर्मल बनता है ॥९३७-९३८॥

६. आगार— आगार अर्थात् अपवाद। इच्छा न होने पर भी किसी के भय से सम्यक्त्व के विरुद्ध आचरण करना अभियोग कहलाता है।

१. राजाभियोग	—	राजा के भय से
२. गणाभियोग	—	स्वजनादि समुदाय के भय से
३. बलाभियोग	—	बलवान के हठ से
४. सुराभियोग	—	कुलदेवतादि के भय से
५. कान्तारवृत्ति	—	प्राण बचाने के लिये
६. गुरु अभियोग	—	गुरुओं के भय से (माता-पिता-कलाचार्य-वृद्ध-धर्मोपदेशक-गुरुवर्ग में आते है)

उपरोक्त छः अपवाद हैं। सम्यक्त्व या व्रत लेने के बाद पूर्वोक्त छः कारणों मे से किसी भी कारण से अन्य देवादि को वंदन-नमनादि करना पड़े तो भी सम्यक्त्व दूषित नहीं होता ॥९३९॥

६. भावना—

(१) बारह प्रकार के गृहस्थ-धर्म का मूल आधार सम्यक्त्व है, जिस प्रकार मूलहीन वृक्ष प्रबल हवा के झोंकों से गिर जाता है, वैसे सम्यक्त्व रूपी मूल से रहित धर्मवृक्ष भी कुतीर्थिकों के मत रूपी वायु-वेग से स्थिर नहीं रह सकता।

(२) बिना द्वार का नगर चारों ओर से प्राकार से वेष्टित होने पर भी नगर नहीं कहलाता क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वार के अभाव में उसमें कोई भी प्रवेश-निष्क्रमण नहीं कर सकता, वैसे सम्यक्त्व रूपी द्वार के अभाव में धर्म रूपी नगर में भी प्रवेश नहीं हो सकता।

(३) नींव रहित प्रसाद सुदृढ़ नहीं होता वैसे सम्यक्त्वरूपी नींव के बिना धर्म रूप महल भी सुदृढ़ नहीं बनता।

(४) जैसे पृथ्वी रूप आधार के बिना जगत का अस्तित्व संभव नहीं होता, वैसे सम्यक्त्व रूप आधार के बिना धर्म का अस्तित्व संभव नहीं होता।

(५) पात्र के अभाव में दूध आदि नहीं रह सकते, वैसे सम्यक्त्व रूपी पात्र के अभाव में धर्म नहीं रह सकता।

(६) बड़ा खजाना हाथ लगे बिना बहुमूल्य मणि, मोती, सुवर्ण आदि द्रव्य नहीं मिलते, वैसे सम्यक्त्व रूपी खजाना मिले बिना चारित्र रूपी संपदा की प्राप्ति नहीं होती।

पूर्वोक्त छः भावना से परिपुष्ट सम्यक्त्व शीघ्र ही मोक्ष-सुख का साधक होता है। ।९४० ॥

६ स्थान—

(i) जीव अस्ति = जीव है। शरीर से भिन्न जीव का स्वतंत्र अस्तित्व है, अन्यथा प्रत्येक प्राणी में स्वसंवेदित चैतन्य असत्य प्रमाणित होगा। चैतन्य भूतों का धर्म नहीं हो सकता। अन्यथा काठिन्यादि गुणों की तरह चैतन्य भी भूतों में सर्वत्र दिखाई देता, किंतु ऐसा होता नहीं है। पाषाण आदि में तथा मृत शरीर में चैतन्य नहीं होता। चैतन्य, कार्य-कारण की अत्यन्त विलक्षणता के कारण भूतों का कार्य भी नहीं हो सकता। भूत प्रत्यक्षतः काठिन्यादि स्वभाव वाले दिखाई देते हैं, जबकि चैतन्य उससे विलक्षण संवेदनशील है। ऐसी स्थिति में दोनों का कार्य कारण भाव कैसे हो सकता है?

इस प्रकार प्रत्येक प्राणी में स्वसंवेदन सिद्ध 'चैतन्य' है और चैतन्य जिसका गुण है, वही जीव है।

(ii) जीवो नित्यः— जीव उत्पत्ति या विनाश रहित है। जीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती, कारण उसका कोई उत्पादक नहीं है। सत् होने से विनाश भी नहीं हो सकता। यदि जीव अनित्य है तो बौद्धों की तरह उसके बन्ध व मोक्ष की व्यवस्था नहीं घटेगी। अनित्य आत्मा पूर्वापर के सम्बन्ध से रहित एक-एक ज्ञान क्षण रूप होगा। अतः बंध के ज्ञान क्षण से मोक्ष का ज्ञान-क्षण अलग होगा अर्थात् कर्म का बंधन करने वाला आत्मा अलग और मुक्त होने वाला आत्मा अलग होगा।

यह तो ऐसा होगा कि—

- भूख किसी को और तृप्ति किसी को।
- अनुभवकर्ता अन्य और स्मरणकर्ता अन्य।
- चिकित्सा का कष्ट किसी अन्य को और आरोग्य किसी अन्य को।
- तपस्या करने वाला दूसरा और स्वर्ग-सुख भोगने वाला दूसरा।
- शास्त्राभ्यास करने वाला दूसरा और शास्त्र-ज्ञाता दूसरा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः अतिव्याप्ति दोषयुक्त होने से जीव को अनित्य मानना अयुक्त है। इससे बौद्धमत का खण्डन हो जाता है।

(iii) जीवः कर्त्ता—मिथ्यात्वादि हेतुओं के द्वारा जीव कर्म का कर्ता है।

कर्म के अस्तित्त्व में प्रमाण—जीवात्मा का सुख-दुःख सकारण है। यदि अकारण होता तो आकाश की तरह सदा होता या आकाश-पुष्प की तरह कभी भी नहीं होता। कहा है कि 'हेतु निरपेक्ष पदार्थ या तो सदा सत् होते हैं या सदा असत् होते हैं' अतः सुख-दुःख का कारण भूत अदृष्ट-कर्म सिद्ध होता है।

तात्पर्य—सुख-दुःख के पीछे स्वयं-कृत कर्म ही कारण है। इससे जीव को अकर्त्ता मानने वाले सांख्य गलत सिद्ध होते हैं।

प्रश्न—यदि जीव कर्म का कर्त्ता स्वयं है तो अपने लिये दुःखदायी कर्मों का बंधन क्यों करता है? क्योंकि सभी जीव सुखाभिलाषी हैं।

उत्तर—रोग मिटाने की इच्छा वाला भी रोगी मोहवश स्वास्थ्य के लिये हानिकारक अपथ्य का सेवन कर लेता है। वैसे मिथ्यात्वादि वश दुःखदायी कर्मों का बंधन कर लेता है।

(iv) जीवः भोक्ता—जीव अपने द्वारा बद्ध कर्मों के फल का भोक्ता है। इसमें स्वानुभव, लोक और आगम प्रमाण है।

(१) अनुभव प्रमाण—सुख-दुःख का अनुभव स्वसंवेदन सिद्ध है। यदि इसे कर्मजन्य न माना जाये तो सिद्ध या आकाश की तरह संसारी जीव भी सुख-दुःख के अनुभव से शून्य होगा क्योंकि सिद्ध और आकाश की तरह संसारी जीव के भी सुख-दुःख के कारणभूत साता-असाता वेदनीय-कर्मों का अभाव है।

(२) लोक-प्रमाण—लोक में सुखी को देखकर 'यह पुण्यशाली है' एवं दुःखी को देखकर 'यह दुर्भागी है।' ऐसा कहा जाता है। इससे अदृष्ट कर्म सिद्ध होता है।

(३) आगम-प्रमाण—अन्यशास्त्र में भी कहा है—

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटिशतैरपि।"

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।"

इन वाक्यों से भी सिद्ध होता है कि बाँधा हुआ कर्म कभी निष्फल नहीं जाता।

आगम में कहा है कि प्रदेशोदय सभी कर्मों का होता है, रसोदय का नियम नहीं है। होता भी है, नहीं भी होता है। इससे जो दार्शनिक जीव को भोक्ता नहीं मानते उनका मत खंडित हो जाता है। इस प्रकार लोक व आगम प्रमाण से सिद्ध विषय में किसी भी विवेकी को विरोध नहीं हो सकता। अन्यथा कृतकर्म विफल हो जायेंगे। अतः ऐसा मानना अयुक्त है क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि वणिक्, किसान आदि को अपने किये हुए अच्छे-बुरे कर्मों का फल भोगना पड़ता है। इस प्रकार जीव का भोक्तापन सिद्ध होता है। इससे जीव को अभोक्ता मानने वाले मतों का निराकरण हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(v) निर्वाणमस्ति—निर्वाण यानि राग-द्वेष का क्षय होने के बाद जीव की अवस्था विशेष। जो दार्शनिक दीपक के बुझने की तरह निर्वाण-अवस्था में जीव का सर्वथा नाश मानते हैं, उनके मतानुसार मोक्ष सर्वथा अभाव रूप है, परन्तु पूर्वोक्त मान्यता से उनका मत खंडित हो जाता है।

बौद्ध दीपक के बुझने की तरह आत्मसंतति का सर्वथा नाश हो जाना ही मोक्ष मानते हैं। बौद्धमत जैसे, दीपक बुझता है वैसे जीव को निर्वाण प्राप्त होता है।

- दीपक बुझने के पश्चात् तथा जीव मुक्त होने के पश्चात्।
- न पृथ्वी में प्रविष्ट होता है,
- न आकाश में उड़ता है,
- न दिशा-विदिशा में दौड़ता है,

किन्तु तेल के/क्लेश के क्षय होने से केवल शांत/नष्ट हो जाता है। यह मत असत्य है, क्योंकि जिसमें स्वयं जीव का सर्वनाश हो जाता हो ऐसे निर्वाण को पाने के लिये कौन प्रयत्न करेगा? तथा दीक्षा आदि के पालन का प्रयास भी निरर्थक सिद्ध होगा।

प्रश्न—नरकादि के दुःखों से छूटने के लिये प्रयत्न क्यों नहीं करेगा?

उत्तर—दुःख नाश की इच्छा की तरह सुख की भूख भी इस आत्मा को है। यही कारण है कि कोई कितना भी दुःखी क्यों न हो, वह दुःख से मुक्त होने के लिये बेहोश होना पसंद नहीं करता। अन्यथा बेहोशी में कुछ समय के लिये दुःख का नाश तो है ही। प्रत्येक आत्मा सुख के लिये प्रयास करता है। इससे सिद्ध है कि सुख के लिये जीव का प्रयास अपने सुख-पूर्ण अस्तित्व के लिये हैं।

दीपक का दृष्टांत भी असत्य है। दीपक के बुझने का अर्थ है—अग्नि के पुद्गलों का रूपान्तरण। अपने जाज्वल्यमान रूप को छोड़कर तमसपुद्गलों के रूप में बदल जाना। अति सूक्ष्म परिणमन होने से दीपक बुझने के बाद दिखाई नहीं देता, वास्तव में उसका नाश नहीं होता है। प्रकाश के पुद्गलों का अंधकार के रूप में परिणमन होना ही दीपक का बुझना है। वैसे जीव का कर्मरहित होकर अमृत रूप परिणमन/रूपान्तरण ही मोक्ष है। अतः मोक्ष के लिये प्रयास युक्ति-युक्त है।

मोक्षोपायोऽस्ति—मोक्ष-प्राप्ति के उपाय हैं।

सम्यग् ज्ञान, सम्यग्-दर्शन एवं सम्यग् चारित्र मोक्ष प्राप्ति के उपाय हैं क्योंकि कर्म-बंधन के कारण मिथ्यात्व, अज्ञान, हिंसादि है और सम्यग्दर्शनादि उनके प्रतिपक्षी हैं, अतः ये कर्मों का नाश करने में समर्थ हैं।

प्रश्न—जैसे आपने मोक्ष के साधन माने हैं, वैसे मिथ्यादृष्टियों ने भी माने हैं, वे भी मोक्ष साधक होगें?

उत्तर—नहीं! वे मोक्ष-साधक नहीं हो सकते, क्योंकि वे कर्मबंधन के कारणभूत हिंसादि दोषों से दूषित होने से संसार के ही साधक हैं। इससे जो मोक्षगमन के उपायभूत साधनों को नहीं मानते, उनका खण्डन होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वोक्त छः स्थानों की विद्यमानता में ही सम्यक्त्व संभवित होता है। 'आत्मा है' इत्यादि छः स्थानों के विषय में बहुत कुछ कहने योग्य है पर ग्रन्थ क्लिष्ट न हो जाय इस भय से इतना ही कहा गया है ॥९४१॥

१४९ द्वार : सम्यक्त्व-प्रकार—

एगविह दुविह तिविहं चउहा पंचविह दसविहं सम्मं।
दव्वाइ कारगाई उवसमभेएहि वा सम्मं ॥ ९४२ ॥
एगविहं सम्मरुई निसग्गऽभिगमेहि तं भवे दुविहं।
तिविहं तं खइयाई अहवावि हुं कारगाईहिं ॥ ९४३ ॥
सम्मत्तमीसमिच्छत्तकम्मक्खयओ भणंति तं खइयं।
मिच्छत्तखओवसमा खाओवसमं ववइसंति ॥ ९४४ ॥
मिच्छत्तस्स उवसमा उवसमयं तं भणंति समयन्नू।
तं उवसमसेढीए आइमसम्मत्तलाभे वा ॥ ९४५ ॥
विहिआणुट्ठाणं पुण कारगमिह रोयगं तु सद्दहणं।
मिच्छद्दिट्ठी दीवइ जं तत्ते दीवगं तं तु ॥ ९४६ ॥
खइयाई सासायणसहियं तं चउविहं तु विन्नेयं।
तं सम्मत्तब्भंसे मिच्छत्ताऽऽपत्तिरूवं तु ॥ ९४७ ॥
वेययसंजुत्तं पुण एयं चिय पंचहा विणिद्दिट्ठं।
सम्मत्तचरिमपोग्गलवेयणकाले तयं होइ ॥ ९४८ ॥
एयं चिय पंचविहं निस्सग्गाभिगमभेयओ दसहा।
अहवावि निसग्गरुई इच्चाइ जमागमे भणिअं ॥ ९४९ ॥
निस्सग्गु वएसरुई आणरुई सुत्त बीय रुईमेव।
अहिगम वित्थाररुई किरिया संखेव धम्मरुई ॥ ९५० ॥
जो जिणदिट्ठे भावे चउव्विहे सद्दहेइ सयमेव।
एमेव नन्नहत्ति य स निसग्गरुइत्ति नायव्वो ॥ ९५१ ॥
एए चेव उ भावे उवइट्ठे जो परेण सद्दहइ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छउमत्थेण जिणेण व उवएसरुइत्ति नायव्वो ॥ ९५२ ॥
रागो दोसो मोहो अन्नाणं जस्स अवगयं होइ ।
आणाए रोयंतो सो खलु आणारुई नाम ॥ ९५३ ॥
जो सुत्तमहिज्जंतो सुएणमोगाहई उ सम्मत्तं ।
अंगेण बाहिरेण व सो सुत्तरुइत्ति नायव्वो ॥ ९५४ ॥
एगपएऽणेगाइं पयाइं जो पसरई उ सम्मत्ते ।
उदएव्व तिल्लबिंदू सो बीयरुइत्ति नायव्वो ॥ ९५५ ॥
सो होइ अहिगमरुई सुयनाणं जस्स अत्थओ दिट्ठं ।
एक्कारस अंगाइं पइन्नगा दिट्ठिवाओ य ॥ ९५६ ॥
दव्वाण सव्वभावा सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा ।
सव्वाहिं नयविहीहिं वित्थाररुई मुणेयव्वो ॥ ९५७ ॥
नाणे दंसणचरणे तवविणए सच्चसमिइगुत्तीसु ।
जो किरियाभावरुई सो खलु किरियारुई नाम ॥ ९५८ ॥
अणभिग्गहियकुदिट्ठी संखेवरुइत्ति होइ नायव्वो ।
अविसारओ पवयणे अणभिग्गहिओ य सेसेसुं ॥ ९५९ ॥
जो अत्थिकायधम्मं सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च ।
सद्दहइ जिणाभिहियं सो धम्मरुइत्ति नायव्वो ॥ ९६० ॥
आईपुढवीसु तीसु खय उवसम वेयगं च सम्मत्तं ।
वेमाणियदेवाणं पणिंदितिरियाण एमेव ॥ ९६१ ॥
सेसाण नारयाणं तिरियत्थीणं च तिविहदेवाणं ।
नत्थि हु खइयं सम्मं अन्नेसिं चेव जीवाणं ॥ ९६२ ॥

—गाथार्थ—

सम्यक्त्व के प्रकार —**द्रव्य, कारक, उपशम आदि भेदों के द्वारा सम्यक्त्व के एक, दो, तीन, चार, पाँच और दस प्रकार होते हैं ॥ ९४२ ॥**

'सम्यक्त्वरुचि' यह एक प्रकार है। निसर्ग और अधिगम ये दो प्रकार हैं। क्षायिक आदि अथवा कारक आदि तीन प्रकार हैं ॥ ९४३ ॥

सम्यक्त्व मोह, मिश्रमोह और मिथ्यात्वमोह के क्षय से जन्य सम्यक्त्व क्षायिक है। मिथ्यात्वमोह के क्षयोपशम से जन्य सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है ॥ ९४४ ॥

मिथ्यात्वमोह के उपशम को सिद्धान्तविद् उपशम समकित कहते हैं। यह सम्यक्त्व उपशम श्रेणी में तथा प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय होता है ॥ ९४५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमोक्त अनुष्ठान करना कारक सम्यक्त्व है। श्रद्धा करना रोचक सम्यक्त्व है। मिथ्यादृष्टि आत्मा जो तत्त्व का दीपन करता है वह दीपक सम्यक्त्व है॥ ९४६॥

क्षायिकादि तीन और सास्वादान ये सम्यक्त्व के चार प्रकार हैं। सास्वादान सम्यक्त्व, सम्यक्त्व से पतित जीव को मिथ्यात्व प्राप्ति से पूर्व होता है॥ ९४७॥

वेदक सम्यक्त्व सहित पूर्वोक्त चार, सम्यक्त्व के पाँच प्रकार हैं। सम्यक्त्व मोह के अन्तिम दलिकों का भोग करते समय वेदक सम्यक्त्व होता है॥ ९४८॥

पूर्वोक्त पाँचों सम्यक्त्व निसर्ग और अधिगम के भेद से दो-दो प्रकार के होने से सम्यक्त्व के दस प्रकार होते हैं। अथवा आगमोक्त निसर्गरुचि आदि के भेद से भी सम्यक्त्व के दस प्रकार होते हैं॥ ९४९॥

१. निसर्गरुचि २. उपदेशरुचि ३. आज्ञारुचि ४. सूत्ररुचि ५. बीजरुचि ६. अधिगम रुचि ७. विस्ताररुचि ८. क्रियारुचि ९. संक्षेपरुचि एवं १०. धर्मरुचि॥ ९५०॥

जिनेश्वरों द्वारा दृष्ट पदार्थों को द्रव्यादि चारों भेद से श्रद्धा करना। यथा 'यह पदार्थ ऐसा ही है अन्यथा नहीं हो सकता'—यह निसर्गरुचि है॥ ९५१॥

जिनेश्वर परमात्मा अथवा अन्य द्वारा उपदिष्ट तत्त्वों पर श्रद्धा करना उपदेशरुचि सम्यक्त्व है॥ ९५२॥

जिनके राग, द्वेष, मोह, और अज्ञान का नाश हो चुका है ऐसे जीवों की जिनाज्ञा में रुचि वह आज्ञारुचि सम्यक्त्व है॥ ९५३॥

अंगसूत्र या अंगबाह्य-सूत्रों का अध्ययन करते-करते जिनप्ररूपित तत्त्वों के प्रति जो श्रद्धाभाव पैदा होता है वह सूत्ररुचि सम्यक्त्व है॥ ९५४॥

जल में तेलबिंदु की तरह एक पद के द्वारा अनेक पदों में जो श्रद्धा उत्पन्न होती है वह बीजरुचि सम्यक्त्व है॥ ९५५॥

ग्यारह अंग, प्रकीर्णकसूत्र तथा दृष्टिवाद आदि श्रुतज्ञान जिसने अर्थ से पढ़े हों उसका सम्यक्त्व अधिगमरुचि कहलाता है॥ ९५६॥

सभी नय और सभी प्रमाणों के द्वारा जिसने समस्त द्रव्य और पर्यायों का ज्ञान कर लिया है वह विस्ताररुचि सम्यक्त्व है॥ ९५७॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, विनय, समिति एवं गुप्तिरूप क्रिया में भाव से रुचि होना, क्रियारुचि सम्यक्त्व है॥ ९५८॥

अन्य दर्शन के प्रति अनभिगृहीत, जिनशासन में अकुशल तथा अन्य दर्शनों को उपादेय न मानने वाला संक्षेपरुचि सम्यक्त्व है॥ ९५९॥

जो आत्मा जिनोक्त अस्तिकायधर्म, श्रुतधर्म एवं चारित्रधर्म की श्रद्धा करता है.....स्वीकार करता है वह धर्मरुचि सम्यक्त्व है॥ ९६०॥

प्रथम तीन नरक में १. क्षायिक २. औशमिक और ३. वेदक—ये तीन सम्यक्त्व होते हैं। वैमानिक देव और पंचेन्द्रिय तिर्यंच में भी ये तीन सम्यक्त्व हैं। शेष नरक जीवों के, तिर्यंचस्त्रियों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा त्रिविध देवों के क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता। शेष जीवों में इन तीन सम्यक्त्व में से एक भी सम्यक्त्व नहीं होता॥ ९६१-६२॥

—विवेचन—

अपेक्षा भेद से एकविध, द्विविध, त्रिविध, चतुर्विध, पंचविध और दशविध भी सम्यक्त्व है।

- **एकविध**—तत्त्वार्थश्रद्धारूप सम्यक्त्व।
- **द्विविध**—द्रव्य और भाव से दो प्रकार का सम्यक्त्व है। अध्यवसायों की विशुद्धि के द्वारा शुद्ध किये हुए मिथ्यात्व के पुद्गल द्रव्य सम्यक्त्व है।
- शुद्ध किये हुए पुद्गलों से जन्य जीव का श्रद्धा रूप परिणाम भाव सम्यक्त्व है। निश्चय और व्यवहार के भेद से भी दो प्रकार का सम्यक्त्व है।

नैश्चयिक—देश-काल व संहनन के अनुरूप अविकल मुनि-आचार।

व्यावहारिक—उपशम आदि लक्षणों से गम्य केवल शुभ आत्म-परिणाम ही सम्यक्त्व नहीं है किन्तु परमात्मा के शासन के प्रति प्रीति, सम्मान रखना भी कारण में कार्य के उपचार से सम्यक्त्व कहलाता है। कारण अन्ततोगत्वा विशुद्ध आत्माओं के लिए यह भी मोक्ष का साधक है। कहा है—मुनिपन सम्यक्त्व है और जो सम्यक्त्व है वही मुनिपन है। यह निश्चय सम्यक्त्व है। किन्तु व्यवहारनय के अनुसार सम्यक्त्व व सम्यक्त्व के जो कारण हैं वे भी सम्यक्त्व हैं। यदि जिनमत का अनुसरण करना हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों को मानना होगा। व्यवहार को नहीं मानने से भविष्य में तीर्थ (शासन) के नाश का प्रसंग आ सकता है।

व्यवहारनयमतमपि च प्रमाणं, तद्बलेनैव तीर्थप्रवृत्तेः अन्यथा तदुच्छेदप्रसंगात्।

जैनशासन में व्यवहारनय भी प्रमाणरूप है क्योंकि उसी के आधार पर तीर्थप्रवर्तन होता है। व्यवहारनय को न मानने पर तीर्थनाश का प्रसंग आ सकता है।

इस प्रकार पौद्गलिक व अपौद्गलिक, नैसर्गिक व अधिगम के भेद से भी द्विविध सम्यक्त्व है।

(i) पौद्गलिक—जिसमें सम्यक्त्व के पुद्गलों का वेदन होता है, ऐसा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पौद्गलिक है।

(ii) अपौद्गलिक—मिथ्यात्व, मिश्र और समकित इन तीनों के पुद्गलों के क्षय या उपशम से होने वाला आत्म-परिणाम रूप क्षायिक या उपशम सम्यक्त्व है।

नैसर्गिक व अधिगम सम्यक्त्व का स्वरूप आगे कहा जायेगा।

त्रिविध—कारक, रोचक व दीपक अथवा औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक।

चतुर्विध—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक व सास्वादन।

पंचविध—वेदक सहित पूर्वोक्त चार।

दशविध—पूर्वोक्त पाँचों सम्यक्त्व निसर्ग व अधिगम के भेद से द्विविध होने से सम्यक्त्व के दस प्रकार हैं।

एक प्रकार—विविध-उपाधियों से रहित अज्ञान, संशय और विपर्यास से शून्य 'यही तत्त्व है' ऐसा जिन प्रणीत तत्त्वों के प्रति दृढ़ श्रद्धान एकविध सम्यक्त्व है।

दो प्रकार—नैसर्गिक—तीर्थंकर व गुरु आदि के उपदेश, प्रतिमा दर्शन आदि निमित्तों के बिना स्वभावतः तत्त्वरुचि पैदा होना (नारकादिवत्) नैसर्गिक सम्यक्त्व है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधिगमिक—गुरु का उपदेश आदि निमित्तों के द्वारा उत्पन्न होने वाली तत्त्व-श्रद्धा आधिगमिक सम्यक्त्व है।

तात्पर्य—तीर्थंकर, गुरु आदि के उपदेश के बिना ही स्वतः कर्म के उपशम या क्षय द्वारा जिनवचन पर श्रद्धा होना निसर्ग सम्यक्त्व है और उपदेश, जिन प्रतिमा के दर्शन, जाति-स्मरण ज्ञान आदि बाह्य-निमित्त जन्य कर्म के उपशम या क्षय से पैदा होने वाला श्रद्धान, अधिगम सम्यक्त्व है।

त्रिविध—क्षायिकादि भेद से अथवा कारकादि भेद से त्रिविध सम्यक्त्व है।

(i) क्षायिक—अनन्तानुबंधी कषाय व तीनों दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न आत्मा का परिणाम विशेष क्षायिक सम्यक्त्व है।

(ii) क्षायोपशमिक—उदयगत मिथ्यात्व को भोगकर क्षय करने से तथा अनुदित मिथ्यात्व के उपशम से होने वाला आत्मा का परिणाम विशेष क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है। उपशम के दो अर्थ हैं—(i) कर्म के उदय को रोकना (ii) कर्मगत मिथ्या स्वभाव को दूर करना। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में दोनों बातें घटित होती हैं। मिथ्यात्वमोह के जो तीन पुंज किये जाते हैं उनमें से मिथ्यात्व व मिश्रपुंज के विषय में उपशम का प्रथम अर्थ घटित होता है क्योंकि उनका उदय अध्यवसायवश रोक दिया जाता है। परन्तु सम्यक्त्वपुंज (शुद्धपुंज) के विषय में उपशम का द्वितीय अर्थ घटित होता है क्योंकि कर्मगत मिथ्यास्वभाव के दूर होने से ही शुद्धपुंज बना है। इसीलिये उदीर्ण मिथ्यात्व के क्षय से व अनुदीर्ण मिथ्यात्व के उपशम से जिसका मिथ्या स्वभाव नष्ट हो चुका है ऐसा शुद्धपुंजरूप मिथ्यात्व भी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। जैसे अत्यंत स्वच्छ वस्त्र के भीतर से वस्तु को देखने में कोई बाधा नहीं होती वैसे शुद्ध बने मिथ्यात्व के पुद्गल भी 'तत्त्वरुचि' रूप आत्मपरिणाम की उत्पत्ति में बाधक नहीं बनते। इसी कारण वे पुद्गल भी उपचार से सम्यक्त्व कहलाते हैं।

(iii) औपशमिक—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के विपाकोदय व प्रदेशोदय दोनों के अभाव में होने वाला आत्मा का परिणाम विशेष औपशमिक सम्यक्त्व है। जैसे राख से प्रच्छन्न आग सर्वथा निष्क्रिय हो जाती है, वैसे इस सम्यक्त्व की विद्यमानता में मिथ्यात्व का प्रदेशोदय व विपाकोदय दोनों अवरुद्ध हो जाते हैं। यहाँ उपशम का अर्थ है कर्म के उदय को रोकना।

- **प्रदेशोदय**—प्रदेशोदय में जीव कर्मफल का उदय होने पर उसका सुख-दुःखात्मक अनुभव नहीं करता है। यथा—मूर्च्छावस्था में किया गया ऑपरेशन। यहां चीर-फाड़ होने के कारण पीड़ा की घटना घटित होती है, पर बेहोशी के कारण व्यक्ति को उसका अनुभव नहीं होता। जो कर्म बिना सुख दुःख का अनुभव कराये उदय में आकर निर्जरित हो जाते हैं, उनका प्रदेशोदय मानना चाहिये-जैसे ईर्यापथिक कर्म।
- **विपाकोदय**—विपाकोदय में जीव कर्म के फल का अनुभव करता है। जैसे बिना बेहोश किये ऑपरेशन करने पर चीर फाड़ की वेदना का अनुभव होता है।

आगम मते— यह सम्यक्त्व उपशम श्रेणी चढ़ने वाले आत्मा को अनन्तानुबंधी चार कषाय एवं तीन दर्शनमोहनीय का उपशम करने के पश्चात् होता है।

प्रश्न—क्या उपशम श्रेणी चढ़ने वालों को ही यह सम्यक्त्व होता है?

उत्तर—नहीं, अनादि मिथ्यात्वी को प्रथम बार यही सम्यक्त्व होता है। सर्वप्रथम आयु कर्म को छोड़कर शेष सात कर्म की स्थिति यथाप्रवृत्तिकरण द्वारा पल्योपम के असंख्यात भाग न्यून एक कोटाकोटि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सागरोपम की होती है। तत्पश्चात् अपूर्वकरण द्वारा अतिनिबिड़ राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि का भेदन होता है। उसके बाद जीव का अनिवृत्तिकरण में प्रवेश होता है। वहाँ अतिविशुद्ध अध्यवसाय के बल से प्रतिसमय जीव उदित मिथ्यात्व को भोगकर क्षय करता है तथा अनुदित का उपशमन करता है। इसके बाद जीव अन्तरकरण में प्रवेश करता है। अनिवृत्तिकरण का समय अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है। इसके अन्तिम भाग में अन्तरकरण की क्रिया प्रारंभ होती है। अनिवृत्तिकरण की अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण स्थिति का अन्तिम एक भाग जिसमें अन्तरकरण की क्रिया प्रारंभ होती है। वह भी अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण ही होता है। अन्तर्मुहूर्त्त के असंख्यात भेद हैं। इसलिये यह स्पष्ट है कि अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त्त की अपेक्षा उसके अन्तिमभाग का अन्तर्मुहूर्त्त छोटा होता है।

विशेष—जिस प्रकार वेग से प्रवाहित होने वाली सरिता की धारा में पर्वत से गिरा कोई पत्थर लुढ़कते-लुढ़कते गोल चिकना एवं चमकदार हो जाता है उसी प्रकार पुद्गल परावर्तन काल-प्रवाह में अनेक कष्टों या दुःखों को सहता हुआ जीव चरमावर्त में पहुंच जाता है। इस समय उसके अध्यवसाय शुद्ध हो जाते हैं। इन शुद्ध अध्यवसायों में से ग्रंथि-स्थान तक पहुंचाने वाले अध्यवसाय को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। जीव के विशेष पुरुषार्थ के बिना ही अपने आप प्रवर्तमान होने वाला यह यथाप्रवृत्तिकरण जीव को अनन्त बार हो सकता है। परन्तु जो जीव ग्रन्थिभेद करने वाला होता है उसके अध्यवसाय अपूर्व होते हैं। इस अपूर्व अध्यवसाय के कारण ही इस करण को अपूर्वकरण कहा जाता है। अपूर्वकरण की कालावधि अन्तर्मुहूर्त्त की है। ग्रन्थिभेद के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त में ही जीव को सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है किन्तु उसकी प्राप्ति हेतु अनिवृत्तिकरण की अवस्था में जीव को अन्तरकरण की विशिष्ट प्रक्रियायें करनी पड़ती हैं।

अन्तरकरण—अन्तरकरण का अर्थ है अभी जो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म उदयगत है, उसके उन दलिकों को जो कि अनिवृत्तिकरण के बाद अन्तर्मुहूर्त्त तक उदय में आने वाले हैं, आगे-पीछे करना अर्थात् अनिवृत्तिकरण के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाणकाल में मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के जितने दलिक उदय में आने वाले हैं उनमें से कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय पर्यन्त उदय में आने वाले दलिकों में स्थापित किया जाता है और कुछ दलिकों को उस अन्तर्मुहूर्त्त के बाद उदय में आने वाले दलिकों के साथ मिला दिया जाता है। इससे अनिवृत्तिकरण के बाद का एक अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाणकाल ऐसा हो जाता है कि जिसमें मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का दलिक रहता ही नहीं है तथा मिथ्यात्व मोहनीय के दो भाग हो जाते हैं। प्रथम भाग तो अनिवृत्तिकरण के अन्त तक उदय में आता है। दूसरा भाग, अन्तरकरण के बाद आता है। प्रथम भाग को प्रथम स्थिति कहते हैं, दूसरे भाग को द्वितीय स्थिति कहते हैं। मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से शून्य जो अन्तर्मुहूर्त्त काल है, वह अन्तरकरण काल कहलाता है। इसी समय में जीव औपशमिक-सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

औपशमिक सम्यक्त्व का काल अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है। इस काल में आत्मा अपने सामर्थ्य से सत्तागत मिथ्यात्व के दलिकों (जो अन्तरकरण के बाद उदय में आने वाले है) के तीन भाग करता है। जैसे कोई व्यक्ति औषधि के द्वारा मदनकोद्रवों का शोधन करता है, उसमें कुछ कोद्रव सर्वथा शुद्ध बन जाते हैं, कुछ अर्द्धशुद्ध बनते हैं तो कुछ सर्वथा अशुद्ध ही रहते हैं, वैसे जीव भी अपने अध्यवसायों के द्वारा सम्यक्त्व के प्रतिबंधक रस का उच्छेद करके मिथ्यात्व का शोधन करता है। मिथ्यात्व के दलिक भी शुद्ध, अर्द्धशुद्ध व अशुद्ध तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- **शुद्ध पुंज**—सम्यक्त्व मोहनीय रूप है। जिन-धर्म में रुचि का कारण होने से शुद्ध है।
- **अर्द्ध शुद्ध-पुंज**—मिश्र-मोहनीय रूप है। जिन-धर्म के प्रति उदासीनता का कारण होने से अर्द्ध-शुद्ध है।
- **अशुद्ध-पुंज**—मिथ्यात्व-रूप है। सुदेव, सुगुरु व सुधर्म के प्रति अरुचि का कारण है।

कर्मग्रन्थ के मत में —अन्तरकरण के बाद अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण उपशम सम्यक्त्व होता है। उसके बाद निश्चित रूप से जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी, मिश्र-दृष्टि या मिथ्यात्वी बनता है।

सिद्धान्त के मत से—अनादि मिथ्या-दृष्टि जीव अध्यवसाय विशेष से ग्रंथि का भेदन करके अपूर्वकरण के द्वारा मिथ्यात्व के तीन भाग करता है। उसके बाद अनिवृत्तिकरण के सामर्थ्य से शुद्ध-पुंज के पुद्गलों का वेदन करने वाला जीव औपशमिक सम्यक्त्व बिना पाये ही सर्वप्रथम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

अन्यमतानुसार—यथाप्रवृत्ति वगैरह तीनों करणों के क्रम में अन्तरकरण में औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, परन्तु उसे तीनपुंज करने की आवश्यकता नहीं रहती। औपशमिक सम्यक्त्व का काल पूर्ण होने के बाद जीव का निश्चित पतन होता है और वह निश्चित मिथ्यात्व में जाता है।

प्रश्न—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की अपेक्षा औपशमिक सम्यक्त्व में विशेष क्या बात है? क्योंकि दोनों में उदित मिथ्यात्व का क्षय व अनुदित मिथ्यात्व का उपशम होता है?

उत्तर—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व का प्रदेशोदय होता है, जबकि औपशमिक सम्यक्त्व में प्रदेशोदय भी नहीं होता।

अन्यमतानुसार—श्रेणि चढ़ने वाले औपशमिक सम्यक्त्वी को ही मिथ्यात्व का प्रदेशानुभव नहीं होता पर प्रथम बार औपशमिक सम्यक्त्व पाने वाले को तो प्रदेशानुभव होता है।

प्रश्न—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में भी मिथ्यात्व का प्रदेशोदय होता है और उपशम में भी, तो फिर उपशम सम्यक्त्व में और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में क्या अंतर रहेगा?

उत्तर—उपशम सम्यक्त्व में सम्यक्त्व मोहनीय के अणु की भी अनुभूति नहीं होती, जबकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में सम्यक्त्व मोहनीय का विपाकोदय होता है ॥९४२-९४५॥

कारक आदि के भेद से भी सम्यक्त्व तीन प्रकार का है।

(i) कारक—देश-काल संहनन के अनुरूप, शक्ति को छुपाये बिना आगमोक्त-अनुष्ठान को कराने वाला परिणाम-विशेष (यह साधुओं के होता है) है।

(ii) रोचक—श्रेणिक आदि की तरह जिसके उदय में सद्-अनुष्ठान रुचिकर तो लगते हैं, किन्तु आचरण का भाव पैदा नहीं होता है।

(iii) दीपक—जिस परिणाम-विशेष से जीव स्वयं तो मिथ्या-दृष्टि, अभव्य, जैसे अंगारमर्दक आचार्य की तरह होता है किन्तु धर्मकथा, माया या अतिशय के द्वारा शासन की प्रभावना करता है।

प्रश्न—मिथ्यादृष्टि को सम्यक्त्वी कैसे कहा जा सकता है?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर—कारण में कार्य का उपचार है, यद्यपि दीपक सम्यक्त्व वास्तव में मिथ्यादृष्टि है, किंतु दूसरों के सम्यक्त्व का कारण होने से सम्यक्त्व कहलाता है। जैसे शास्त्र का वचन है कि 'घृतमायु' अर्थात् घृत-आयु है। वास्तव में घी आयुष्य नहीं है, किंतु आयुष्य वृद्धि का कारण है और कारण में कार्य के उपचार से 'घी आयु है' ऐसा कहा जाता है ॥९४६ ॥

चार प्रकार—क्षायिकादि तीन + सास्वादन एक = चार।

अनंतानुबंधी कषाय के उदय से औपशमिक सम्यक्त्व का नाश होने के बाद जब तक जीव मिथ्यात्वी नहीं बनता उसकी मध्य की स्थिति सास्वादन सम्यक्त्व है अर्थात् जिसमें सम्यक्त्व का स्वाद है वह सास्वादन है।

अन्तरकरण में वर्तमान कोई जीव अनंतानुबंधी-कषाय के उदय से मिथ्यात्वाभिमुख होता है, किंतु जब तक वह मिथ्यात्व में नहीं पहुँच जाता, वहाँ तक वह सास्वादन गुणस्थान में रहता है। उसका काल जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से छः आवलिका है। तत्पश्चात् जीव निश्चित मिथ्यादृष्टि बन जाता है ॥९४७ ॥

पाँच प्रकार—पूर्वोक्त चार प्रकार + वेदक सम्यक्त्व = पाँच।

वेदक सम्यक्त्व—सम्यक्त्व के पुद्गलों का वेदन-अनुभव करने वाला जीव वेदक है और उससे अभिन्न होने से सम्यक्त्व भी वेदक है। यह सम्यक्त्व, सम्यक्त्वपुंज के अंतिम दलिक का अनुभव करते समय होता है। अथवा 'वेद्यते इति वेदकम्' अर्थात् जिसका वेदन—अनुभव किया जाये वह वेदक सम्यक्त्व है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार सम्यक्त्व मोहनीय के पुद्गल 'वेदक' कहलाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि—

क्षपक श्रेणि में अनन्तानुबंधी चार कषाय, मिथ्यात्वपुंज, मिश्रपुंज तथा उदीरणा द्वारा सम्यक्त्वपुंज का क्षय करता हुआ आत्मा उदीरणा पूर्ण होने के बाद जब सम्यक्त्व-पुंज के अंतिम दलिक का अनुभव करता है, उस समय के उसके परिणाम 'वेदक' सम्यक्त्व है।

प्रश्न —क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और वेदक सम्यक्त्व में क्या अंतर है, क्योंकि सम्यक्त्व-पुंज के पुद्गलों का अनुभव जीव दोनों में करता है?

उत्तर— वेदक सम्यक्त्व में जीव उदित पुद्गलों का ही अनुभव करता है, जबकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में उदित, अनुदित दोनों का अनुभव करता है, यह अन्तर है।

वस्तुतः वेदक सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व दोनों एक से ही हैं, क्योंकि वेदक सम्यक्त्व में भी मिथ्यात्व के अचरम पुद्गलों का भोग द्वारा क्षय होता है तथा चरम पुद्गलों के मिथ्या स्वभाव का नाश रूप उपशम होता है ॥९४८ ॥

औपशमिकादि पाँच सम्यक्त्व निसर्गजन्य और निमित्तजन्य के भेद से ५ × २ = १० प्रकार के हैं। अथवा **प्रज्ञापनोपांग** के अनुसार सम्यक्त्व के निम्न दस प्रकार हैं ॥९४९-९५० ॥

१. निसर्गरुचि—जिनेश्वर भगवान के द्वारा प्ररूपित जीवादि तत्त्वों पर जातिस्मरणज्ञान या सहज बुद्धि से श्रद्धा करना **एवमेवैतत् जीवादि यथा जिनैर्दृष्टं नान्यथेति।** जीवादि पदार्थों का स्वरूप जैसा जिनेश्वर परमात्मा ने देखा है, वास्तव में वैसा ही है, इस प्रकार दृढ़ श्रद्धा रखना ॥९५१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. उपदेशरुचि— गुरु आदि के तथा तीर्थंकरों के उपदेश से जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा करना। गुरु आदि छद्मस्थों का नाम तीर्थंकर के नाम से प्रथम ग्रहण करना इस बात का सूचक है कि तीर्थंकर भी पहिले तो छद्मस्थ ही होते हैं। अथवा तीर्थंकर की अपेक्षा छद्मस्थ-उपदेशक अधिक मात्रा में हैं ॥९५२ ॥

३. आज्ञारुचि—मंदकषाय वाले आत्मा का कदाग्रह के अभाव में जिनाज्ञा के अनुसार जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा करना। राग, द्वेष, मोह व अज्ञान न्यून हो जाने पर आत्मा कदाग्रही नहीं रहता। इससे माषतुषादि की तरह तीर्थंकर परमात्मा की आज्ञा में उसकी स्वतः रुचि हो जाती है।

वृत्तिकार— 'आज्ञारुचि' का अर्थ आज्ञा में रुचि ऐसा करते हैं।

ग्रन्थकार—आज्ञा द्वारा रुचि 'आज्ञा रुचि' ऐसा करते हैं ॥९५३ ॥

४. सूत्र-रुचि— गोविन्दाचार्य की तरह अंग प्रविष्ट या अंग बाह्य सूत्रों का अध्ययन करने से प्राप्त सम्यक्त्व। सूत्र-रुचि आत्मा जैसे-जैसे पढ़ता है, वैसे वैसे प्रसन्न-प्रसन्नतर अध्यवसायी बनता जाता है ॥९५४ ॥

५. बीज-रुचि—जीव आदि एक पद के ज्ञान से अनेक पदों के प्रति रुचि जगना। जिस प्रकार एक तैल का बिन्दु समूचे जल पर फैल जाता है, वैसे किसी एक तत्त्व में रुचि पैदा होने से तथाविध क्षयोपशम के द्वारा अनेक तत्त्वों में स्वतः रुचि पैदा होना। जैसे एक बीज अनेक बीजों को पैदा करता है, वैसे एक विषय की रुचि अनेक विषयों में रुचि पैदा करती है ॥९५५ ॥

६. अधिगमरुचि—श्रुतज्ञान का सम्यक् परिशीलन करने से जो रुचि पैदा होती है वह अधिगमरुचि सम्यक्त्व है। श्रुतज्ञान से यहाँ आचारांग आदि ग्यारह अंग, उत्तराध्ययन, नन्दी आदि एवं प्रकीर्णक तथा दृष्टिवाद संस्कारसूत्र का ग्रहण किया जाता है। यद्यपि दृष्टिवाद अंग के अन्तर्गत है तथापि उसका पृथक् ग्रहण उसकी प्रधानता का सूचक है। 'च' शब्द औपपातिक आदि उपांगों का संग्राहक है ॥९५६ ॥

७. विस्ताररुचि— धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य व उनके सभी पर्यायों को यथायोग्य प्रमाण के द्वारा जानना तथा सभी भावों को यथायोग्य नयों के द्वारा जानना विस्ताररुचि सम्यक्त्व है। सभी वस्तु व उसके सभी पर्यायों का ज्ञान होने से ज्ञाता की रुचि अत्यन्त निर्मल हो जाती है ॥९५७ ॥

८. क्रियारुचि—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, विनयधर्म, समिति और गुप्ति के पालन करने में भाव से रुचि होना क्रियारुचि सम्यक्त्व है। कहीं 'सच्चसमिइगुत्तीसु' ऐसा भी पाठ है। उसका अर्थ है कि—वास्तव में जो समिति-गुप्ति है उनमें रुचि होना, इससे आभासरूप समिति-गुप्ति का निराकरण हो जाता है अथवा 'सच्च' का अर्थ है—मन, वचन और काया तीनों की विसंवादिता से रहित समिति-गुप्ति का पालन करना।

'तप' आदि का चारित्र में समावेश होने पर भी उनका अतिरिक्त ग्रहण उन्हें मोक्ष का विशेष अंग सिद्ध करता है ॥९५८ ॥

९. संक्षेपरुचि—जिसे न तो बौद्ध आदि दर्शन का पक्षपात है, न जिनधर्म का ही राग है तथा जो कपिलादि के दर्शन के ज्ञान को भी उपादेय रूप नहीं मानता, ऐसा आत्मा अनाग्रही होने से अल्प

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपदेश से ही धर्म के प्रति रुचि वाला बन जाता है। जैसे चिलातीपुत्र को उपशम, विवेक और संवर इन तीन पदों के श्रवणमात्र से ही तत्त्व रुचि पैदा हो गई थी।

यहाँ मूल में 'अणभिग्गहिय कुदिट्ठी' तथा 'अणभिग्गहियो य सेसेसु' इस प्रकार दो बार 'अनभिगृहीत' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसमें प्रथम 'अनभिगृहीत' का अर्थ है, अन्यमतों के स्वीकार का निषेध तथा द्वितीय का अर्थ है अन्यमत सम्बन्धी ज्ञानमात्र का भी निषेध।

विशेष ज्ञान न होने से जिसे न तो जिनमत का पक्षपात है, न अन्यमत का, ऐसे आत्मा को संक्षेप में धर्म-श्रवण करने से ही रुचि पैदा हो जाती है ॥९५९॥

१०. धर्म-रुचि—जो आत्मा धर्मास्तिकाय आदि के गति सहायक आदि स्वभाव में, अंगप्रविष्टादि आगमरूप श्रुत-धर्म में तथा सामायिकादि चारित्र-धर्म में जिन-वचन के अनुसार श्रद्धा रखता है वह धर्म-रुचि सम्यक्त्व है।

पूर्वोक्त दस भेद शिष्यों के बुद्धि-विकास के लिये कहे गये हैं। अन्यथा निसर्ग, उपदेश या अधिगम में इनका अन्तर्भाव हो सकता है ॥९६०॥

नारकादि में सम्यक्त्व—रत्न-प्रभा, शर्कराप्रभा और वालुकाप्रभा में क्षायिक, औपशमिक, और वेदक (क्षायोपशमिक) ये तीन सम्यक्त्व होते हैं।

- यहाँ वेदक का अर्थ है कि जिस सम्यक्त्व में सम्यक्त्व के पुद्गलों का अनुभव हो, ऐसा सम्यक्त्व क्षायोपशमिक ही है। औपशमिक और क्षायिक में तो पुद्गलों का वेदन होता ही नहीं है और 'वेदक' सम्यक्त्व का क्षायोपशमिक में ही समावेश हो जाता है। क्योंकि पुद्गल का 'वेदन' दोनों में समान है।
- अनादि मिथ्यादृष्टि नारक को सर्वप्रथम अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण औपशमिक सम्यक्त्व होता है, उसके बाद शुद्ध सम्यक्त्व-पुंज के पुद्गलों का वेदन करने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। ये तादभविक हैं।
- क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी मनुष्य या तिर्यंच नरक में उत्पन्न होता है तो उसे वहाँ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पारभविक (परभव-सम्बंधी) होता है।

सैद्धान्तिक मते—विराधित सम्यक्त्वी जीव सम्यक्त्व लेकर छठी नरक तक जा सकता है।

- **कर्मग्रन्थ** के मतानुसार तिर्यंच या मनुष्य वैमानिक देव के सिवाय अन्य किसी भी गति में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व लेकर नहीं जा सकते उसे वमन करके ही जाते हैं। इसके अनुसार नरक में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पारभविक नहीं हो सकता, तादभविक ही होता है। क्षायिक सम्यक्त्व पारभविक ही होता है। जैसे कोई मनुष्य नरकायु बांधने के पश्चात् क्षपक श्रेणि आरंभ करता है तो वह केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु दर्शन सप्तक का क्षय करके क्षायिक सम्यक्त्व अवश्य प्राप्त कर लेता है। पश्चात् आयु पूर्ण होने पर मरकर नरक में जाता है। वहाँ वह क्षायिक सम्यक्त्व लेकर जाता है। इस प्रकार प्रथम तीन नरक में पारभविक क्षायिक सम्यक्त्व होता है। नरक में तद्भव सम्बन्धी क्षायिक सम्यक्त्व नहीं हो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता। क्योंकि तद्भव सम्बन्धी क्षायिक सम्यक्त्व मनुष्य को ही होता है।

- वैमानिक देवों के तथा संख्याता वर्ष की आयु वाले पंचेन्द्रिय तिर्यंच व मनुष्य के औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक तीन सम्यक्त्व होते हैं।
- वैमानिक देव में उपशम व क्षायिक सम्यक्त्व तो नरक की तरह ही होता है। वैमानिक देवताओं का उपशम सम्यक्त्व तद्भव सम्बन्धी होता है, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि को सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्व ही होता है। क्षायिक सम्यक्त्व नरक की तरह देवों के भी पारभविक ही है। परन्तु उपशम सम्यक्त्व के पश्चात् होने वाला क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वैमानिक देवों में तद्भव सम्बन्धी होता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी मनुष्य या तिर्यंच मरकर यदि वैमानिक देव में उत्पन्न होते हैं तो उनका क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पारभविक होता है।
- मनुष्य दो प्रकार के हैं। संख्यात वर्ष की आयु वाले तथा असंख्यात वर्ष की आयु वाले। संख्याता वर्ष की आयु वाले मनुष्य का उपशम सम्यक्त्व तद्भव सम्बन्धी है क्योंकि उन्हें सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्व ही होता है अथवा उपशम श्रेणि करने वाले को भी उपशम सम्यक्त्व होता है। पर मनुष्य में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तद्भव सम्बन्धी व पारभविक दोनों होता है। उपशम सम्यक्त्व के पश्चात् होने वाला क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तद्भव सम्बन्धी है तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी देव से निकलकर मनुष्य में उत्पन्न होने वाले आत्मा की अपेक्षा पारभविक है। मनुष्य में क्षायिक सम्यक्त्व भी दोनों भव सम्बन्धी होता है। क्षपक श्रेणी करने वाले को तद्भव संबंधी होता है तथा क्षायिक सम्यग्दृष्टि देव या नरक से निकलकर मनुष्य होने वाले की अपेक्षा पारभविक है।
- असंख्याता वर्ष की आयु वाले मनुष्य में उपशम सम्यक्त्व नारक जीवों की तरह होता है और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तद्भवसम्बन्धी होता है, क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी तिर्यंच व मनुष्य मरकर वैमानिक देव में ही जाते हैं, अन्यत्र नहीं। जो तिर्यंच व मनुष्य मिथ्यादृष्टि अवस्था में युगलिक मनुष्य की आयु बाँधने के पश्चात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं वे मृत्यु के समय सम्यक्त्व का वमन (मिथ्यात्व की स्पर्शना) करके ही मरते हैं। अतः वहाँ उत्पन्न होने के बाद कर्मग्रन्थ के मतानुसार जीव मिथ्यात्वी ही रहते हैं। उन्हें पारभविक क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पुनः प्राप्त नहीं होता।
- सिद्धान्त के मतानुसार तो युगलिक में भी पारभविक क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। क्योंकि संख्याता वर्ष की आयु वाले बद्धायु क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी युगलिक मनुष्य में पैदा होते हैं।
- युगलिक तिर्यंचों में तीनों सम्यक्त्व होते हैं। उनकी प्राप्ति युगलिक मनुष्य की तरह समझना चाहिये।
- **शेष चार नरक**—पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमस्प्रभा, तमस्तमप्रभा, युगलिक पंचेन्द्रिय-तिर्यंच, उनकी स्त्रियाँ तथा भवनपति, व्यंतर व ज्योतिषी देवों में क्षायिक सम्यक्त्व दोनों भव सम्बन्धी नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता। तद्भव सम्बन्धी क्षायिक सम्यक्त्व संख्याता आयु वाले मनुष्य को ही होता है तथा पारभविक क्षायिक सम्यक्त्व इसलिये नहीं होता कि क्षायिक सम्यक्त्वी मरकर इनमें उत्पन्न नहीं होता। इनमें उपशम व क्षायोपशमिक दो सम्यक्त्व ही होते हैं।

- एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय में तद्भव सम्बन्धी या परभव सम्बन्धी तीनों में से एक भी सम्यक्त्व नहीं होता।
- बादर पृथ्वी, पानी, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय की अपर्याप्तावस्था में पारभविक तथा पर्याप्ता संज्ञी पंचेन्द्रिय में तद्भव सम्बन्धी सास्वादन सम्यक्त्व होता है।
- सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर तेजस्-वायु में लेशमात्र भी सम्यक्त्व वाला आत्मा उत्पन्न नहीं होता, अतः इनमें सास्वादन सम्यक्त्व भी नहीं होता, ऐसा **कर्म-ग्रन्थकार** का मत है।
- सिद्धांत के मतानुसार तो पृथ्वी आदि एकेन्द्रियमात्र में सास्वादन सम्यक्त्व नहीं होता। जैसे कि प्रज्ञापना में कहा है—

पुढविकाइयाणं पुच्छा, गोयमा! पुढ़विकाइया नो सम्मदिट्ठी,

मिच्छादिट्ठी, नो सम्ममिच्छदिट्ठी, एवं जाव वणफ्फइकाइया।

अर्थ—हे गौतम! पृथ्विकाय के जीव सम्यग्दृष्टि वाले, मिश्रदृष्टिवाले नहीं होते पर मिथ्यादृष्टिवाले ही होते हैं। अप्काय से लेकर वनस्पतिकाय तक ऐसा ही समझना चाहिये॥ ९६१-९६२॥

१५० द्वार : कुलकोटि—

बारस सत्त य तिन्नि य सत्त य कुलकोडिसयसहस्साइं।
नेया पुढविदगागणिवाऊणं चेव परिसंखा॥ ९६३॥
कुलकोडिसयसहस्सा सत्तट्ठ य नव य अट्ठवीसं च।
बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-हरियकायाणं॥ ९६४॥
अद्धत्तेरस बारस दस दस नव चेव सयसहस्साइं
जलयरपक्खिचउप्पयउरभुयसप्पाण कुलसंखा॥ ९६५॥
छव्वीसा पणवीसा सुरनेरइयाण सयसहस्साइं।
बारस य सयसहस्सा कुलकोडीणं मणुस्साणं॥ ९६६॥
एगा कोडाकोडा सत्ताणउई भवे सयसहस्सा।
पन्नासं च सहस्सा कुलकोडीणं मुणेयव्वा॥ ९६७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

कुल = सजातीय जीवों का समूह।		कोटि = जाति विशेष
१. पृथ्विकाय	=	१२ लाख कुलकोटि
२. अप् काय	=	७ लाख कुलकोटि
३. तेउकाय	=	३ लाख कुलकोटि
४. वायुकाय	=	७ लाख कुलकोटि
५. वनस्पतिकाय	=	२८ लाख कुलकोटि
६. द्वीन्द्रिय	=	७ लाख कुलकोटि
७. त्रीन्द्रिय	=	८ लाख कुलकोटि
८. चतुरिन्द्रिय	=	९ लाख कुलकोटि
९. जलचर	=	$१२\frac{१}{२}$ लाख कुलकोटि
१०. खेचर	=	१२ लाख कुलकोटि
११. चतुष्पद	=	१० लाख कुलकोटि
१२. भुजपरिसर्प	=	९ लाख कुलकोटि
१३. उरःपरिसर्प	=	१० लाख कुलकोटि
१४. देवों की (चार) निकाय	=	२६ लाख कुलकोटि
१५. नारक	=	२५ लाख कुलकोटि
१६. मनुष्य	=	१२ लाख कुलकोटि

कुल मिलाकर सर्व जीवों की एक करोड़ सत्ताणु लाख पचास हजार कुल कोटि होती हैं॥ ९६३-९६७॥

१५१ द्वार : जीव-योनि—

पुढविदगअगणिमारुय एक्केक्के सत्त जोणिलक्खाओ।
वणपत्ते य अणंते दस चउदस जोणिलक्खाओ॥ ९६८॥
विगलिंदिएसु दो दो चउरो चउरो य नारयसुरेसुं।
तिरिएसु होंति चउरो चउदस लक्खा य मणुएसु॥ ९६९॥
समवन्नाइसमेया बहवोऽवि हु जोणिलक्खभेयाओ।
सामन्ना घिप्पंतिह एक्कगजोणीइ गहणेणं॥ ९७०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

जीवों की योनि—**पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु की सात-सात लाख योनियाँ हैं। प्रत्येक वनस्पति की दस लाख, साधारण वनस्पति की चौदह लाख, विकलेन्द्रिय की दो-दो लाख, नारक की चार लाख, देवता की चार लाख, तिर्यंच पंचेन्द्रिय की चार लाख तथा मनुष्य की चौदह लाख योनियाँ हैं॥ ९६८-६९॥**

सामान्य वर्ण गंधादि वाली लाखों योनियाँ होने पर भी वर्णादि की समानता के कारण वे सभी एक ही योनिरूप मानी जाती हैं॥ ९७०॥

—विवेचन—

योनि = जहाँ तैजस्-कार्मण शरीर वाले जीवों का औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर प्रायोग्य पुद्गल स्कन्धों के साथ मिश्रण होता है वह योनि कहलाती है। अर्थात् जीवों का उत्पत्तिस्थान 'योनि' है।

१. पृथ्विकाय	७ लाख	८. त्रीन्द्रिय	२ लाख
२. अप् काय	७ लाख	९. चतुरिन्द्रिय	२ लाख
३. तेउकाय	७ लाख	१०. नारक	४ लाख
४. वायुकाय	७ लाख	११. देवता	४ लाख
५. प्रत्येक वनस्पति	१० लाख	१२. तिर्यंच पंचेन्द्रिय	४ लाख
६. साधारण वनस्पति	१४ लाख	१३. मनुष्य	१४ लाख
७. द्वीन्द्रिय	२ लाख		
कुल ८४ लाख जीवयोनि है।			

प्रश्न—जीव अनन्त हैं इसलिये उनके उत्पत्तिस्थान भी अनन्त होने चाहिये, ८४ लाख ही कैसे?

उत्तर—यद्यपि जीव अनन्त हैं तथापि उनके उत्पत्ति स्थान अनन्त नहीं हो सकते। कारण सभी जीवों का सामान्य आधारभूत लोक असंख्य प्रदेशी है तथा विशेष आधारभूत नरक निष्कुट (नारकों का उत्पत्ति स्थान), देवशय्या (देवताओं का उत्पत्ति स्थान), साधारण व प्रत्येक जीवों के शरीर भी असंख्याता ही हैं। अतः सभी जीवों के उत्पत्ति स्थान कुल मिलाकर भी अनन्त नहीं हो सकते।

प्रश्न—पूर्व कथनानुसार यद्यपि उत्पत्ति स्थान अनन्त नहीं हैं तथापि असंख्याता तो हैं ही। अतः असंख्याता क्यों नहीं कहा?

उत्तर—सभी जीवों के उत्पत्ति स्थान (योनि) यद्यपि अलग-अलग हैं तथापि वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शादि की साम्यता के कारण कई उत्पत्ति स्थान परस्पर एक माने जाते हैं। अतः ज्ञानियों की दृष्टि में परस्पर वर्णादि की भिन्नता वाले उत्पत्ति स्थान ८४ लाख ही होते हैं॥ ९६८-९६९॥

सामान्यतः समान वर्ण, गंध, रस और स्पर्श वाली लाखों योनियाँ अलग-अलग होने पर भी जातीय दृष्टि से सभी एक मानी जाती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न—योनि और कुल में क्या अन्तर है?

उत्तर—जीवों का उत्पत्ति स्थान 'योनि' कहलाती है। गोबर आदि बिच्छु का उत्पत्ति स्थान होने से उसकी योनि है। समान योनि वाले जीवों की अनेक जातियाँ पृथक्-पृथक् कुल हैं। जैसे गोबर में कृमि, कीट, बिच्छू आदि अनेक जाति वाले जीव उत्पन्न होते हैं, उनकी योनि एक होने पर भी कुल अलग-अलग हैं। कृमिकुल, कीटकुल, बिच्छूकुल आदि। अथवा एक योनि में उत्पन्न होने वाले सजातीय जीवों में भी जिनका वर्णादि समान होता है वे परस्पर एक कुल के माने जाते हैं। जैसे गोबर में उत्पन्न होने वाले लाल बिच्छुओं का एक कुल माना जाता है। पीतवर्ण वालों का एक कुल माना जाता है। इस प्रकार वर्णादि की भिन्नता से सजातीय जीवों के भी कुल अलग-अलग हो जाते हैं।

प्रज्ञापना सूत्र के अनुसार योनि तीन प्रकार की है—

(i) शीतयोनि **(ii)** उष्णयोनि **(iii)** मिश्रयोनि।

इनमें से नारकों की शीत और उष्णयोनि है।

(क) प्रथम, द्वितीय और तृतीय नरक में उष्णवेदना होने से उनकी 'शीतयोनि' है।

(ख) चतुर्थ नरक के उष्णवेदना वाले नरकावास की 'शीतयोनि' है।

(ग) चतुर्थ नरक के शीतवेदना वाले नरकावास की 'उष्णयोनि' है।

(घ) पञ्चम नरक के शीतवेदना वाले नरकावास की 'उष्णयोनि' है।

(ङ) पञ्चम नरक के उष्णवेदना वाले नरकावास की 'शीतयोनि' है।

(च) षष्ठ और सप्तम नरक के शीतवेदना वाले नरकावास की 'उष्णयोनि' है।

- शीतयोनि वाले नारकों को उष्णवेदना और उष्णयोनि वालों को शीतवेदना अत्यंत कष्टप्रद होती है। पापकर्म की अधिकता के कारण, नरक के जीवों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि सभी वस्तुयें प्रतिकूल ही मिलती हैं ताकि उन्हें वेदना अधिक हो, यही कारण है कि योनि भी उन्हें प्रतिकूल ही मिलती है।

(छ) देवता, गर्भज मनुष्य व गर्भज तिर्यंच की 'मिश्रयोनि' है।

(ज) पृथ्वी, पानी, वायु, वनस्पति, विकलेन्द्रिय, संमूर्च्छिम तिर्यंच व संमूर्च्छिम मनुष्य की शीत, उष्ण व मिश्र तीनों योनियाँ हैं।

(झ) तेउकाय की उष्णयोनि है।

अथवा **(i)** सचित्त **(ii)** अचित्त **(iii)** मिश्र के भेद से योनि तीन प्रकार की है—

१. देवता व नारकी की अचित्तयोनि है। कारण उनका उत्पत्ति स्थान अन्य जीवों से अपरिगृहीत (जीवरहित) होता है। यद्यपि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव चौदह राजुलोक में व्याप्त होने से देवता व नारकों के उपपात क्षेत्र में भी हैं ही तथापि वे अपने उपपात क्षेत्र के पुद्गलों के साथ अनुविद्ध नहीं रहते, इसलिये देवता व नारकी की योनि अचित्त कहलाती है।

२. एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संमूर्च्छिम तिर्यंच व संमूर्च्छिम मनुष्य की तीनों प्रकार की योनि हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैसे—

(क) जीवित गाय आदि के शरीर में उत्पन्न होने वाले कृमि आदि की 'सचित्तयोनि' है।

(ख) अचित्तकाष्ठ आदि में उत्पन्न होने वाले 'घुण' आदि की अचित्तयोनि है।

(ग) सचित्त-अचित्त काष्ठ व गाय के 'व्रण' में उत्पन्न होने वाले 'घुण' 'कृमि' आदि की तथा गर्भज मनुष्य-तिर्यंच की मिश्रयोनि है।

- योनि द्वारा आत्मसात् किये गये शुक्र (वीर्य) मिश्रित शोणित (रक्त) के पुद्गल सचित्त योनि है।
- सचित्त से विपरीत पुद्गल अचित्त योनि है।

अथवा संवृतादि के भेद से भी योनि के तीन प्रकार हैं—

(i) संवृत **(ii)** विवृत **(iii)** संवृतासंवृत (उभय)

(i) नारक, देव और एकेन्द्रिय की संवृत योनि है। नारक जीवों का उत्पत्ति स्थान (निष्कुट) ढके हुए गवाक्ष की तरह है। देवता, देवदूष्य के अन्दर प्रच्छन्न जन्मते हैं तथा एकेन्द्रियों का उत्पत्ति स्थान सर्वथा अनुपलक्षित है, अतः इन तीनों की संवृतयोनि है।

(ii) विकलेन्द्रिय, संमूर्च्छिम मनुष्य व संमूर्च्छिम तिर्यंच की विवृतयोनि है क्योंकि इनके उत्पत्ति स्थान—(जलाशय, गटर आदि) स्पष्ट दिखाई देते हैं, अतः उनकी विवृत योनि है।

(iii) गर्भज तिर्यंच और गर्भज मनुष्य की उभय रूप योनि है। उनका आन्तरिक गर्भस्थरूप दिखाई नहीं देता अतः संवृतयोनि है। उदरवृद्धि आदि लक्षणों से बाहर गर्भ का ज्ञान होता है अतः विवृतयोनि है। इस प्रकार इनकी योनि उभयरूप है।

मनुष्य योनि के सम्बन्ध में विशेष—

मनुष्य की तीन प्रकार की योनि होती है—

(i) कूर्मोन्नता (कछुए की पीठ की तरह जिसका मध्य भाग उन्नत है)।

(ii) शंखावर्त्ता (शंख की तरह आवर्त्त वाली)।

(iii) वंशीपत्रा (बांस के दो पत्रों को जोड़ने पर जो आकार बनता है वैसे आकार वाली)।

(अ) तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव कूर्मोन्नता योनि में उत्पन्न होते हैं।

(ब) सामान्य मनुष्य वंशीपत्रा योनि में उत्पन्न होते हैं।

(स) शंखावर्तायोनि 'स्त्रीरत्न' की ही होती है। इस योनि में गर्भ-उत्पादक क्षमता नहीं होती। कदाचित् गर्भ उत्पन्न हो जाये तो भी उसकी निष्पत्ति नहीं हो सकती। कहा है—

प्रबलतमकामाग्निपरितापतो ध्वंसगमनात् इति वृद्धप्रवादः।

प्रबलतम काम की आग से जलकर गर्भ नष्ट हो जाता है। ऐसी वृद्ध पुरुषों की मान्यता है ॥९७०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१५२ द्वार : त्रैकाल्यवृत्त-विवरण—

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीवषट्कायलेश्याः
पञ्चान्ये चास्तिकाया व्रत-समिति-गति-ज्ञान-चारित्र-भेदाः ।
इत्येते मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः,
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः ॥ ९७१ ॥
एयस्स विवरणमिणं तिक्कालमईयवट्टमाणेहिं ।
होइ भविस्सजुएहिं दव्वच्छक्कं पुणो एयं ॥ ९७२ ॥
धम्मत्थिकायदव्वं दव्वमहम्मत्थिकायनामं च ।
आगास-काल-पोग्गल जीवदव्वस्सरूवं च ॥ ९७३ ॥
जीवाजीवा पुन्नं पावाऽऽसव-संवरो य निज्जरणा ।
बंधो मोक्खो य इमाइं नवपयाइं जिणमयम्मि ॥ ९७४ ॥
जीवं छक्कं इग बि ति चउ पणिंदिय अणिंदियसरूवं ।
छक्काया पुढवि जलानल वाउ वणस्सइ तसेहिं ॥ ९७५ ॥
छल्लेसाओ कण्हा नीला काऊ य तेउ पउम सिया ।
कालविहीणं दव्वच्छक्कं इह अत्थिकायाओ ॥ ९७६ ॥
पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहेहि इहं ।
पंच वयाइं भणियाइं पंच समिईओ साहेमि ॥ ९७७ ॥
इरिया भासा एसण गहण परिट्ठवण नामिया ताओ ।
पंच गईओ नारय तिर नर सुर सिद्ध नामाओ ॥ ९७८ ॥
नाणाइं पंच मइ सुय ओहि मण केवलेहि भणियाइं ।
सामइय छेय परिहार सुहुम अहक्खाय चरणाइं ॥ ९७९ ॥

—गाथार्थ—

त्रिकाल द्रव्यषट्क—**तीन काल, छः द्रव्य, नवतत्त्व, छः जीव, छः काय, छः लेश्या, पाँच अस्तिकाय, पाँच व्रत, पाँच समिति, पाँच गति, पाँच ज्ञान, पाँच चारित्र इन्हें त्रिभुवन पूज्य अरिहंत भगवन्तों ने मोक्ष का मूल कहा है। जो बुद्धिमान आत्मा इन्हें जानता है, मानता है, इनका आदर करता है, और इनकी स्पर्शना करता है वह विशुद्धदृष्टि वाला है॥ ९७१ ॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वोक्त पदार्थों का विवरण इस प्रकार है—भूत, भविष्य और वर्तमान—ये तीन काल हैं। छः द्रव्य निम्न प्रकार से समझना चाहिये॥ ९७२॥

१. धर्मास्तिकाय २. अधर्मास्तिकाय ३. आकाशास्तिकाय ४. काल ५. पुद्गलास्तिकाय तथा ६. जीवास्तिकाय रूप छः द्रव्य हैं॥ ९६३॥

१. जीव २. अजीव ३. पुण्य ४. पाप ५. आस्रव ६. संवर ७. निर्जरा ८. बंध और ९. मोक्ष जिनशासन में—ये नवपद हैं॥ ९७४॥

१. एकेन्द्रिय २. द्वीन्द्रिय ३. त्रीन्द्रिय ४. चतुरिन्द्रिय ५. पंचेन्द्रिय एवं अनीन्द्रिय रूप—छः जीव हैं। १. पृथ्वी २. जल ३. अग्नि ४. वायु ५. वनस्पति एवं ६. त्रस—ये छः काय हैं॥ ९७५॥

१. कृष्ण २ नील ३. कापोत ४. तेज ५. पद्म और ६. शुक्ल—ये छः लेश्यायें हैं। कालरहित पूर्वोक्त छः द्रव्य ही अस्तिकाय रूप हैं॥ ९७६॥

१. हिंसा २. असत्य ३. स्तेय ४. मैथुन एवं ५. परिग्रह इनके त्याग रूप—ये पाँच व्रत हैं। पाँच समितियाँ इस प्रकार कहूँगा॥ ९७७॥

१. ईर्यासमिति २. भाषासमिति ३. एषणासमिति ४. ग्रहणसमिति ५. परिष्ठापना समिति—ये पाँच समितियाँ हैं। १. नरकगति २. तिर्यंचगति ३. मनुष्यगति ४. देवगति एवं ५ सिद्धगति—ये पाँच गतियाँ हैं॥ ९७८॥

१. मतिज्ञान २. श्रुतज्ञान ३. अवधिज्ञान ४. मनःपर्यवज्ञान एवं ५. केवलज्ञान—ये पंचविध ज्ञान हैं। १. सामायिक २. छेदोपस्थापनीय ३. परिहार विशुद्धि ४. सूक्ष्मसंपराय और ५. यथाख्यात—ये पाँच चारित्र हैं॥ ९७९॥

—विवेचन—

इसमें तीन काल, षट्द्रव्य, जीवादि नवतत्त्व/नवपद, व्रत आदि मोक्ष के कारणभूत पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बताया जायेगा जैसा कि त्रिलोकपूज्य, सहजात, कर्मक्षयजन्य तथा देवताओं से विरचित चौंतीस अतिशय रूप परम ऐश्वर्य से सम्पन्न तीर्थंकर परमात्मा ने बताया है। इन पदार्थों का यथार्थ- बोध मोक्ष का कारण है अतः विवेक बुद्धिसंपन्न जो आत्मा इन पदार्थों के यथार्थस्वरूप के प्रति श्रद्धा रखते हैं, यथायोग्य उन्हें आत्मसात् करते हैं वे निश्चय से सम्यक् दृष्टि हैं। अब संक्षेप में उन पदार्थों का स्वरूप क्रमशः बताते हैं॥९७१॥

३ काल—

(i) अतीत — जिस काल की वर्तमान पर्याय बीत चुकी हो अर्थात् बीता काल अतीतकाल है।

(ii) वर्तमान — जो चल रहा है। सर्वसूक्ष्म, निरंश समय प्रमाण वर्तमान काल है।

(iii) भावी — जो काल अभी वर्तमान पर्याय को प्राप्त नहीं हुआ पर होगा वह भावी काल है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६ द्रव्य—

(i) धर्म — धर्म अर्थात् धर्मास्तिकाय। यहाँ धर्म का अर्थ है स्वभावतः गतिक्रिया में परिणत जीव और पुद्गल को गति करने में सहायक द्रव्य। अस्ति यानि प्रदेश। काय यानि समूह/प्रदेशों का समूह अस्तिकाय है। स्वभावतः गति क्रिया में परिणत जीव व पुद्गल को सहायक बनने वाला प्रदेश समूह धर्मास्तिकाय है।

(ii) अधर्म — अधर्म अर्थात् अधर्मास्तिकाय। स्वभावतः स्थितिशील जीव व पुद्गल को ठहरने में सहायक बनने वाला प्रदेश समूह अधर्मास्तिकाय है।

- पूर्वोक्त दोनों द्रव्य असंख्य प्रदेशी, अमूर्त तथा लोकव्यापी हैं। चौदह रज्जु परिमाण आकाश प्रदेश की लोकसंज्ञा का कारण ही धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय है। इनके कारण ही वहाँ जीव तथा पुद्गलों का प्रचार प्रसार है अन्यथा अलोक में भी जीव पुद्गल का प्रचार- प्रसार हो जाता और वह भी लोकसंज्ञा का भागी बनता।

(iii) आकाश — आङ् का अर्थ है मर्यादा, काश का अर्थ है प्रकाशित होना अर्थात् अपने स्वरूप का परित्याग नहीं करते हुए पदार्थ समूह जिसमें संयोग सम्बन्ध से रहता है, अपने स्वरूप से दीपित होता है वह आकाश है। यदि यहाँ आङ् का अर्थ अभिविधि करें तो अर्थ होगा कि जो सभी पदार्थों को व्याप्त करके रहता है...प्रकाशित होता है वह आकाश है। यह लोकालोक व्यापी, अमूर्त व अनन्त प्रदेशी द्रव्य है।

(iv) काल — समस्त वस्तु समूह की गणना जिसके द्वारा होती है वह काल है अथवा केवली व छद्मस्थ दोनों के द्वारा होने वाला समय की सीमा से युक्त सजीव व निर्जीव वस्तुओं के ज्ञान का माध्यम काल है। जैसे—इस वस्तु को उत्पन्न हुए आवलिका...मुहूर्त्त...दिन बीत चुका है इत्यादि कथन काल से सम्बन्धित है। इस प्रकार काल एक द्रव्य विशेष है।

(v) पुद्गल — चय-उपचय स्वभाव वाला द्रव्य विशेष पुद्गल है। परमाणु से लेकर अनंत अणु वाले स्कंध सभी पुद्गल हैं। ये अपने संयोग से किसी द्रव्य की वृद्धि तथा अपने वियोग से किसी द्रव्य की हानि करते हैं ऐसे पुद्गलों का समूह पुद्गलास्तिकाय है।

(vi) जीव — जिसके लिये इन शब्दों का प्रयोग होता है, जैसे जीवन्ति (जी रहा है), जीविष्यन्ति (जीयेगा), जीवितवन्तः (जी चुका) वह जीव पदार्थ है। जीव प्रति शरीर भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक जीव असंख्यात प्रदेशी, लोकव्यापी तथा अमूर्त है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- प्रदेशों का समूह अस्तिकाय है। काल निरंश, समयप्रमाण होने से अप्रदेशी है। अत: वह अस्तिकाय नहीं कहलाता।

षड्द्रव्यों का उपयोग—

- जीव व पुद्गलों की गति में सहायक होने से धर्मास्तिकाय उपयोगी है।
- जीव व पुद्गलों की स्थिति में सहायक होने से अधर्मास्तिकाय उपयोगी है।
- जीवादि पदार्थों का आधार होने से आकाशास्तिकाय उपयोगी है।
- बकुल, अशोक, चम्पक आदि के फूलों-फलों के लगने व पकने के समय का निर्णायक होने से काल उपयोगी है।
- घट, पटादि के निर्माण के लिये पुद्गलास्तिकाय उपयोगी है।
- प्रत्येक प्राणी में स्वसंवेदनसिद्ध चैतन्य की सिद्धि के लिये जीवद्रव्य उपयोगी है ॥९७२-९७३ ॥

९ पद—

(i) जीव — सुख, दु:ख का उपभोक्ता अर्थात् उपयोग स्वभाव वाला है।

(ii) अजीव — जड़ स्वभाव वाला, जैसे धर्मास्तिकाय आदि है।

(iii) पुण्य — जिसके उदय में जीव को सुख का अनुभव होता है।

(iv) पाप — जिसके उदय में जीव को दु:ख का अनुभव होता है।

(v) आस्रव — जिसके द्वारा शुभाशुभ कर्मों का आगमन होता हो वे आस्रव हैं, जैसे हिंसा....झूठ आदि।

(vi) संवर — आस्रव द्वारों का निरोध करने वाला संवर है, जैसे समिति, गुप्ति आदि।

(vii) निर्जरा — भोगकर या तप द्वारा कर्मों का आंशिक क्षय करना निर्जरा है।

(viii) बंध — कर्म-प्रदेशों का आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह मिलना बंध है।

(ix) मोक्ष — सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से आत्म-स्वरूप का प्रकट होना मोक्ष है।

- जिनशासन में पूर्वोक्त नवपद अत्यन्त सारभूत हैं।
- आस्रव, बंध, पुण्य व पाप ये चारों संसार के मूल कारण होने से 'हेय' हैं।
- संवर व निर्जरा जीव के मुख्य साध्य मोक्ष के कारण होने से 'उपादेय' हैं।
- शिष्य को हेय-उपादेय का ज्ञान सुगमता से हो, इसके लिये जीव-अजीव आदि नव पदार्थ अलग-अलग बताये हैं। वास्तव में देखा जाए तो मूल पदार्थ जीव और अजीव दो ही हैं। पुण्य-पाप आदि का उन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानांगसूत्र में कहा है कि—

"संसार के सभी पदार्थ जीव-अजीव का विस्तार है।" यदि और भी अधिक विस्तार करना चाहे तो पदार्थ अनन्त भी हो सकते हैं।

प्रश्न—जीव-अजीव में पुण्य-पाप आदि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है?

उत्तर—पुण्य-पाप कर्मस्वरूप है। बंध पुण्य पाप रूप हैं। कर्म पुद्गल रूप है और पुद्गल अजीव है। अत: पुण्य-पाप व बंध का अजीव में समावेश होता है। मिथ्यात्व आदि आत्म-परिणामरूप आस्रव का जीव में तथा पुद्गल (कर्म) रूप आस्रव का अजीव में समावेश होता है। आस्रव निरोध रूप संवर भी आत्मा का परिणाम विशेष होने से जीव के अन्तर्गत ही है। निर्जरा भी जीवरूप ही है क्योंकि आत्मा ही अपनी शक्ति से कर्म का क्षय करती है। संपूर्ण कर्मों का क्षयरूप मोक्ष भी आत्मस्वरूप होने से जीव है। इस प्रकार मुख्य दो ही तत्त्व हैं।

- कहीं सात तत्त्व भी हैं। पुण्य-पाप का बंध में समावेश करके जीवादि सात तत्त्व माने हैं ॥९७४॥

६ जीव—

(i) एकेन्द्रिय — मात्र जिनके शरीर होता है वे जीव। जैसे—पृथ्वी, पानी, तेजस्, वायु और वनस्पति।

(ii) द्वीन्द्रिय — जिनके शरीर व जीभ दो इन्द्रियाँ होती हैं। जैसे—शंख, सीप, अक्ष, कौड़ी, जोंक, कृमि, बरसाती कीड़े, पानी के पोरे आदि।

(iii) त्रीन्द्रिय — जिनके शरीर, जीभ व नाक तीन इन्द्रियाँ होती हैं। जैसे—जूं, माकड़, गोशाला आदि में उत्पन्न होने वाला जन्तु, इन्द्रगोप, कुन्थुए, मकोड़े, कीड़ियाँ, उदेही, आदि।

(iv) चतुरिन्द्रिय — जिनके शरीर, जीभ, नाक व आँख होती हैं। जैसे—भौंरा, मक्खी, डाँस-मच्छर, बिच्छू, कीड़े, पतंगे आदि।

(v) पंचेन्द्रिय — जिनके पाँच इन्द्रियाँ—शरीर, जीभ, नाक, आँख व कान हैं। जैसे—हाथी, मगर, मयूर, मनुष्य आदि।

(vi) अनीन्द्रिय — संपूर्ण कर्मों का क्षय हो जाने से जो शरीर रहित हो चुके हैं ऐसे सिद्धात्मा अनीन्द्रिय हैं।

६ काय—

(i) पृथ्विकाय — जिनका शरीर कठिन स्पर्श वाला होता है वे पृथ्विकाय हैं।

(ii) अप्काय — जल ही है शरीर जिनका वह अप्काय है।

(iii) तेजस्काय — आग ही है शरीर जिनका वह तेउकाय है।

(iv) वायुकाय — वायु ही है शरीर जिनका वह वायुकाय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(v) वनस्पतिकाय — वृक्ष, लतादिरूप शरीर है जिनका वह वनस्पति काय है।

(vi) त्रसकाय — गतिशील शरीर वाला त्रसकाय है ॥९७५॥

६ लेश्या — जिनके द्वारा जीव कर्मों से लिप्त बनता है वे लेश्या हैं। कृष्ण नील, कापोत, तेज, पद्म व शुक्ल द्रव्य के संयोग से उत्पन्न होने वाले आत्मा के शुभ-अशुभ परिणाम विशेष लेश्या है। कहा है—भिन्न-भिन्न रंग के संयोग से जैसे स्फटिक भिन्न-भिन्न रंग वाला दिखाई देता है वैसे कृष्णादि द्रव्य के संयोग से आत्मा भी भिन्न-भिन्न परिणाम वाला बनता है। ये परिणाम लेश्या हैं।

- लेश्या के स्वरूप के सम्बन्ध में मुख्यतया तीन मत हैं।

(i) योग परिणाम **(ii)** कर्मनिष्यन्द तथा **(iii)** कर्मवर्गणानिष्पन्न।

(i) इस मतानुसार लेश्या योग-वर्गणा के अन्तर्गत स्वतंत्र द्रव्य है, क्योंकि लेश्या का अन्वय-व्यतिरेक सयोगीपन के साथ है। इस मतवालों का कथन है कि योगवर्गणा के अन्तर्गत कुछ द्रव्य ऐसे हैं कि जो आत्मा में तथाविध शुभ-अशुभ परिणाम उत्पन्न करते हैं। लेश्या कषाय का परिणाम नहीं है पर योग के अन्तर्गत पित्त आदि द्रव्य जैसे कषाय का उद्दीपन करते हैं वैसे लेश्यायें भी कषाय की उद्दीपक होती हैं। अन्यथा (यदि लेश्याओं को कषाय का परिणाम मानें तो) १२-१३-१४ गुणस्थानों में लेश्या का अभाव होगा क्योंकि वहाँ कषाय का अभाव है, परन्तु वहाँ शुक्ल लेश्या होती है। यह मत **हरिभद्रसूरि** आदि का है।

(ii) इस मत का आशय है कि लेश्याद्रव्य कर्मनिष्यन्दरूप (बध्यमान कर्म के प्रवाहरूप) है। चौदहवें गुणस्थान में कर्म के होने पर भी उसका निष्यन्द न होने से लेश्या का अभाव होता है। इस मत के अनुसार लेश्या कर्मप्रवाह रूप है। कर्म के प्रवाह के कारण ही आत्मा में शुभ-अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं।

(iii) तीसरे मत का यह मानना है कि लेश्या द्रव्य कर्मवर्गणा से बने हुए हैं, परन्तु वे आठ कर्मों से भिन्न हैं जैसे कि कार्मणशरीर। कहा है—'कार्मणशरीरवत्पृथगेव कर्माष्टकात्कार्मणवर्गणानिष्पन्नानि कृष्णादिद्रव्याणि' इति।

- लेश्या के छः प्रकार हैं। कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म व शुक्ल।

कृष्ण —कृष्ण-द्रव्यरूप अथवा कृष्ण द्रव्य के संयोग से उत्पन्न परिणाम।

नील —नील-द्रव्य अथवा नील द्रव्य के संयोग से उत्पन्न परिणाम।

कापोत —कापोत-द्रव्य अथवा कापोत द्रव्य के संयोग से उत्पन्न परिणाम।

तेज —तैजस्-द्रव्य अथवा तैजस् द्रव्य के संयोग से उत्पन्न परिणाम।

पद्म —कमल सदृश द्रव्य अथवा वैसे द्रव्य के संयोग से उत्पन्न परिणाम।

शुक्ल —शुक्ल द्रव्य अथवा शुक्ल द्रव्य के संयोग से उत्पन्न परिणाम।

- प्रथम तीन लेश्या अशुभ हैं व अन्तिम तीन लेश्या शुभ हैं। इन लेश्याओं का स्वरूप समझाने हेतु जामुन खाने के इच्छुक छः पुरुषों का तथा ग्रामघातक छः पुरुषों का दृष्टान्त बताते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



१. कृष्ण लेश्या
२. नील लेश्या
३. कापोत लेश्या

६ लेश्या

४. तेजो लेश्या
५. पद्म लेश्या
६. शुक्ल लेश्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई छः पुरुष जामुन खाने की इच्छा करते हुए चले जा रहे थे। इतने में पके हुए, रसपूर्ण जामुनों के भार से झुक गई हैं शाखायें जिसकी, ऐसे कल्पवृक्ष के समान जामुन के पेड़ को देखा। सभी खुश होकर बोले—अच्छा हुआ समय पर पेड़ मिल गया। अब जामुन खाकर हमें अपनी भूख मिटानी चाहिये। सभी पेड़ के पास आये और फल पाने का उपाय सोचने लगे।

एक पुरुष बोला इस वृक्ष पर चढ़ना मौत को बुलाना है अतः इस पर चढ़ने की अपेक्षा फलों से लदी हुई बड़ी-बड़ी शाखा वाले इस वृक्ष को काट गिराना ही अच्छा है।

यह सुनकर दूसरे ने कहा—वृक्ष काटने से क्या लाभ? केवल फलों से लदी शाखाओं को काटने से ही हमारा काम पूर्ण हो जायेगा।

तीसरे ने कहा—बड़ी शाखाओं को क्यों काटा जाये, छोटी-छोटी शाखाओं को काटने से ही अपना काम चल सकता है।

चौथे ने कहा—शाखाओं को भी क्यों काटना? फलों के गुच्छों को ही तोड़ लीजिये।

पाँचवां बोला—गुच्छों से क्या प्रयोजन है? उनमें से पके फलों को ही चुन लेना अच्छा है।

अन्त में छठे पुरुष ने कहा—ये सब विचार व्यर्थ हैं। हम लोगों को चाहिये उतने फल तो नीचे भी गिरे हुए हैं। क्या उनसे हमारा काम नहीं चल सकता?

दूसरा दृष्टान्त—

छः पुरुष धन लूटने के इरादे से कहीं जा रहे थे। रास्ते में किसी गाँव को देखकर एक व्यक्ति बोला—'पशु-पक्षी, पुरुष, स्त्री, बाल और वृद्ध जो कोई भी दिखे उसे मारो और धन लूट लो।'

दूसरे ने कहा—पशु-पक्षी आदि को मारने से क्या लाभ है? केवल जो विरोध करे उन्हें मारो और धन लूट लो।

यह सुनकर तीसरा बोला—बिचारी स्त्रियों को क्यों मारना, केवल पुरुषों को ही मारो।

चौथा बोला—सब पुरुषों को नहीं, जो सशस्त्र हों, उन्हीं को मारो।

पाँचवें ने कहा—जो सशस्त्र पुरुष विरोध नहीं करते उन्हें क्यों मारना अतः जो विरोध करे उन्हें ही मारो।

अंत में छठे पुरुष ने कहा—किसी को मारने से क्या लाभ? अपने को तो धन से काम है। जैसे भी हो सके धन लूट लो। किसी को मारो मत।

दोनों दृष्टान्तों में विचारों की छः स्थितियाँ क्रमशः कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म व शुक्ल लेश्या की परिचायक हैं। इनसे लेश्याओं का स्वरूप स्पष्ट जाना जाता है। प्रत्येक दृष्टांत के छह-छह पुरुषों में पूर्व-पूर्व पुरुष के परिणामों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर पुरुष के परिणाम शुभ-शुभतर व शुभतम हैं।

५ अस्तिकाय — काल द्रव्य को छोड़कर शेष द्रव्य ही अस्तिकाय हैं, जैसे, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय व जीवास्तिकाय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न—कालद्रव्य के साथ अस्तिकाय का प्रयोग क्यों नहीं होता?

उत्तर—अनेक प्रदेश वाले द्रव्य के लिये ही 'अस्तिकाय' का प्रयोग होता है। काल एक समय रूप होने से 'अस्तिकाय' नहीं कहलाता। अतीत व अनागत समय क्रमशः नष्ट व अनुत्पन्न होने से प्रज्ञापक पुरुष के द्वारा की जाने वाली प्ररूपणा की अपेक्षा वर्तमान समय रूप काल ही यथार्थ है।

प्रश्न—यदि काल एक समयरूप है तो आवलिका, मुहूर्त्त, दिवस आदि का व्यवहार ही समाप्त हो जायेगा? क्योंकि आवलिका आदि असंख्येय समय प्रमाण होने से अस्तिकाय रूप होंगे।

उत्तर—स्थिर, स्थूल व त्रैकालिक वस्तु को स्वीकार करने वाले व्यवहारनय की अपेक्षा से आवलिका, मुहूर्त्त आदि की प्ररूपणा होती है। निश्चयनय के अनुसार तो आवलिका आदि यथार्थ कालद्रव्य नहीं हैं ॥९७६॥

५. व्रत — व्रत = शास्त्रविहित नियम। व्रत पाँच हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह।

५ समिति — ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदान-निक्षेप समिति व परिष्ठापना समिति। ये पाँच समिति भी व्रत स्वरूप ही हैं। समिति का विस्तृत स्वरूप ६६वें और ६७वें द्वार में कहा गया है।

५ गति — नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति व सिद्धगति।
गति = कर्मरूपी रस्सी से आकृष्ट प्राणियों के द्वारा जहाँ जाया जाता है वह गति है।

- नारक जीवों की गति नरक गति है।
- एकेन्द्रिय आदि तिर्यंचों की गति तिर्यंचगति है।
- मनुष्यों की गति मनुष्यगति है।
- देवों की गति देवगति है।
- जो कर्मोदय जन्य नहीं है परन्तु जहाँ जीव कर्मरहित हो गमन करता है वह 'सिद्धिगति' है। गमन करने रूप साम्यता के कारण ही इसे 'गति' रूप माना गया है ॥९७७-९७८॥

५ ज्ञान — मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान व केवलज्ञान। इनका स्वरूप आगे कहा जायेगा।

५ चारित्र — जिसके द्वारा भवसागर पार किया जाये वह चारित्र है। वे पाँच हैं। एक पद का ग्रहण पूरे पदसमुदाय का बोध कराता है अतः यहाँ पद के एक देश का ग्रहण होने पर भी सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय व यथाख्यात चारित्र का ग्रहण होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) सामायिक — राग-द्वेष रहित जीवन सामायिक है अथवा जिस अनुष्ठान से ज्ञान, दर्शन, चारित्र का लाभ होता हो वह सामायिक चारित्र है।

- यद्यपि सभी चारित्र सामायिकरूप हैं तथापि छेद आदि विशेषण से युक्त होने से अर्थ व शब्द दोनों की अपेक्षा से परस्पर भिन्न हैं। सामायिक चारित्र दो प्रकार का है—इत्वरिक व यावत्कथिक।
- **इत्वरिक**—बड़ी दीक्षा से पूर्व का चारित्र। यह चारित्र भरत व ऐरवत क्षेत्र में प्रथम व अंतिम तीर्थंकर के समय में होता है।
- **यावत्कथिक**—यावज्जीव का चारित्र। यह चारित्र भरत व ऐरवत क्षेत्र में २२ तीर्थंकर के काल में तथा महाविदेह में होता है।

प्रश्न—इत्वरिक चारित्र भी ग्रहण करते समय तो यावज्जीव का ही लिया जाता है। 'यथा—सामायिकं करोमि भदंत? यावज्जीवं.....।' बड़ी दीक्षा के समय पाँच महाव्रत स्वीकार करने पर सामायिक चारित्र का त्याग हो जाता है। क्या वहाँ यावज्जीव के लिये गृहीत प्रतिज्ञा का भंग नहीं होता?

उत्तर—यह पहिले ही कह दिया गया कि—सभी चारित्र सामान्यत: सामायिकरूप हैं, क्योंकि सभी चारित्र सावद्ययोगों की विरतिरूप होते हैं। परन्तु विशुद्धि के तारतम्य से वे छेदोपस्थापनीय आदि भिन्न-भिन्न नामों से कहे जाते हैं। अत: जैसे यावत्कथिक सामायिक अथवा छेदोपस्थापनीय संयम, विशिष्ट विशुद्धिवाले सूक्ष्मसंपराय आदि चारित्र का पालन करने पर भंग नहीं होते, वैसे इत्वर सामायिक चारित्र भी विशुद्धिरूप 'छेदोपस्थापनसंयम' का पालन करने पर भंग नहीं होता। हाँ, यदि दीक्षा छोड़ दी जाये तो उसका भंग अवश्य हो जाता है। परन्तु चारित्र के उत्तरोत्तर विशुद्ध रूप को स्वीकार करने पर पूर्व स्वीकृत चारित्र का कदापि भंग नहीं होता।

(ii) छेदोपस्थापन — जिस चारित्र में पूर्वपर्याय का नाश तथा पाँच महाव्रतों का स्वीकार होता है वह छेदोपस्थापन चारित्र है। वह दो प्रकार का है सातिचार व निरतिचार।

- **सातिचार**—जिसके अहिंसादि मूल गुणों का नाश हो चुका हो उसको पुन: व्रतधारण करवाना।
- **निरतिचार**—इत्वर सामायिक वाले नूतनदीक्षित मुनि को पाँच महाव्रत उच्चराना अथवा एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जाते समय उस तीर्थ सम्बन्धी महाव्रतों को ग्रहण करना। जैसे, पार्श्वनाथ के तीर्थ से भगवान महावीर के तीर्थ को स्वीकार करते समय पाँच महाव्रतरूप धर्म को स्वीकार करना।

(iii) परिहार विशुद्धि — परिहार = तप विशेष। विशुद्धि = कर्मनिर्जरारूप। जिस चारित्र में तप विशेष के द्वारा कर्मनिर्जरा की जाती हो वह परिहार विशुद्धि चारित्र है। इसका विस्तृत विवेचन ६९वें द्वार में प्रतिपादित कर चुके हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(iv) सूक्ष्मसंपराय — संपराय = संसार में भ्रमण कराने वाला कषाय का उदय। सूक्ष्म = लोभ का सूक्ष्म अंश। अर्थात् जिस चारित्र में मात्र लोभांश का उदय हो वह सूक्ष्म-संपराय चारित्र है। उसके दो भेद हैं—

- विशुद्ध्यमान—क्षपक श्रेणी व उपशम श्रेणि में चढ़ने वाले का चारित्र।
- संक्लिश्यमान—उपशमश्रेणि से गिरने वाले का चारित्र।

(v) अथाख्यात — अथ = यथार्थ, वास्तविक। आङ् उपसर्ग अभिविधि के अर्थ में है। ख्यातं = कहा गया अर्थात् जैसा बताया गया है वैसा चारित्र। अकषायचारित्र। इसका दूसरा नाम यथाख्यात भी है। यथा = जीवलोक में चारित्र का जैसा स्वरूप प्रसिद्ध है। ख्यातं = वैसा चारित्र। अर्थात् जीवलोक में कषाय का अभाव भी चारित्र कहा गया है, वैसा चारित्र यथाख्यात है। इसके दो भेद हैं। छाद्मस्थिक व कैवलिक।

- छाद्मस्थिक—उपशान्तमोह व क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती आत्मा का चारित्र।
- कैवलिक—सयोगी व अयोगी केवली का चारित्र ॥ ९७९ ॥

१५३ द्वार : श्राद्ध-प्रतिमा—

दंसण वय सामाइय पोसह पडिमा अबंभ सच्चित्ते।
आरंभ पेस उद्दिट्ठ वज्जए समणभूए य ॥ ९८० ॥
जस्संखा जा पडिमा तस्संखा तीए हुंति मासावि।
कीरंतीसुवि कज्जाउ तासु पुव्वुत्तकिरिया उ ॥ ९८१ ॥
पसमाइगुणविसिट्ठं कुग्गहसंकाइसल्लपरिहीणं।
सम्मदंसणमणहं दंसणपडिमा हवइ पढमा ॥ ९८२ ॥
बीयाणुव्वयधारी सामाइकडो य होइ तइयाए।
होइ चउत्थी चउद्दसीअट्ठमिमाईसु दिवसेसु ॥ ९८३ ॥
पोसह चउव्विहंपि य पडिपुण्णं सम्म सो उ अणुपाले।
बंधाई अइयारे पयत्तओ वज्जईमासु ॥ ९८४ ॥
सम्ममणुव्वय-गुणवयसिक्खावयवं थिरो य नाणी य।
अट्ठमीचउद्दसीसुं पडिमं ठाएगराईयं ॥ ९८५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असिणाण वियडभोई मउलियडो दिवसबंभयारी य।
रत्तिं परिमाणकडो पडिमावज्जेसु दिवसेसुं ॥ ९८६ ॥
झायइ पडिमाए ठिओ तिलोयपुज्जे जिणे जियकसाए।
नियदोसपच्चणीयं अन्नं वा पंच जा मासा ॥ ९८७ ॥
सिंगारकहविभूसुक्करिसं इत्थीकहं च वज्जितो।
वज्जइ अबंभमेगंतओ य छट्ठीइ छम्मासे ॥ ९८८ ॥
सत्तम्मि सत्त उ मासे नवि आहारइ सच्चित्तमाहारं।
जं जं हेट्ठिल्लाणं तं तं चरिमाण सव्वंपि ॥ ९८९ ॥
आरंभसयंकरणं अट्ठमिया अट्ठ मास वज्जेइ।
नवमा नव मासे पुण पेसारंभेऽवि वज्जेइ ॥ ९९० ॥
दसमा दस मासे पुण उद्दिट्ठकयंपि भत्त नवि भुंजे।
सो होइ उ छुरमुंडो सिहलिं वा धारए कोई ॥ ९९१ ॥
जं निहियमत्थजायं पुच्छंत सुयाण नवरि सो तत्थ।
जइ जाणइ तो साहइ अह नवि तो बेइ नवि याणे ॥ ९९२ ॥
खुरमुंडो लोएण व रयहरणं पडिग्गहं च गिण्हित्ता।
समणो हूओ विहरइ मासा एक्कारसुक्कोसं ॥ ९९३ ॥
ममकारेऽवोच्छिन्ने वच्चइ सन्नायपल्लि दट्ठुं जे।
तत्थवि साहुव्व जहा गिण्हइ फासुं तु आहारं ॥ ९९४ ॥

—गाथार्थ—

श्रावक-प्रतिमा—१. दर्शन २. व्रत ३. सामायिक ४. पौषध ५. प्रतिमा ६. अब्रह्मचर्य ७. सचित्तत्याग ८. आरंभत्याग ९. प्रेष्यत्याग १०. उद्दिष्ट त्याग तथा ११. श्रमणभूत—ये ग्यारह श्रावक प्रतिमायें हैं॥ ९८० ॥

जिस प्रतिमा का क्रमांक जितना है उस प्रतिमा का कालमान उतने ही मास का है। उत्तरोत्तर प्रतिमाओं में पूर्व प्रतिमाओं से सम्बन्धित सभी क्रियायें व प्रस्तुत प्रतिमा सम्बन्धी क्रियायें दोनों ही करनी पड़ती हैं॥ ९८१ ॥

प्रशमादि गुणों से विशिष्ट, कुग्रह-शंका आदि शल्यों से रहित होने से निर्दोष ऐसे सम्यग् दर्शन का पालन ही प्रथम दर्शन प्रतिमा है॥ ९८२ ॥

प्रतिमाधारी श्रावक दूसरी प्रतिमा में अणुव्रती, तीसरी प्रतिमा में सामायिक कर्त्ता, चतुर्थ प्रतिमा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में चतुर्दशी, अष्टमी आदि पर्व तिथिओं में पूर्णरूपेण चतुर्विध पौषधधारी होता है तथा प्रतिमाराधनकाल में बंध, वधादि अतिचारों का सर्वथा त्याग करता है॥ ९८३-९८४॥

सम्यक्त्व, अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत का पालन करने वाला, स्थिर, तथा ज्ञानी आत्मा अष्टमी-चतुर्दशी को रात में प्रतिमावहन करे॥ ९८५॥

अन्य दिवसों में स्नानरहित, दिन में भोजन करने वाला, लुंगी की तरह धोती पहिनने वाला, दिन में ब्रह्मचारी एवं रात्रि में परिमाणकृत होता है॥ ९८६॥

कायोत्सर्ग प्रतिमाधारी आत्मा, त्रैलोक्यपूज्य, जितकषायी ऐसे जिनेश्वर परमात्मा का ध्यान करता है। अथवा अपने क्रोधादि दोषों के दुश्मनरूप क्षमादि गुणों का पाँच महीना पर्यंत ध्यान करता है॥ ९८७॥

शृंगारकथा, विभूषा का उत्कर्ष, स्त्रीकथा तथा सभी प्रकार के अब्रह्म का छः मास तक छट्ठी प्रतिमा को धारण करने वाला त्याग करता है॥ ९८८॥

सात मास परिमाण वाली सातवीं प्रतिमा में प्रतिमाधारक सचित्त आहार का त्यागी होता है। जो विधि निम्न प्रतिमाओं की है वह ऊपर की प्रतिमाओं में भी करनी चाहिये॥ ९८९॥

आठवीं प्रतिमा में प्रतिमाधारी आठ मास तक आरंभ का त्यागी होता है। नौवीं प्रतिमा में नौ मास तक प्रेष्यारंभ का त्याग करता है॥ ९९०॥

प्रतिमाधारी दसवीं प्रतिमा में दस मास तक उद्दिष्ट भोजन का त्यागी होता है। शिर का मुंडन करता है अथवा कोई चोटी भी रखता है। भूमिगत धन के विषय में यदि पुत्रादि पूछे तो जानता हो तो अवश्य बताता है। न जानता हो तो कहे कि—मैं नहीं जानता॥ ९९१-९९२॥

उत्कृष्टतः उस्तरे से मुंडन करके अथवा लोच करके ग्यारह मास पर्यंत रजोहरण और पात्रग्रहण कर साधु की तरह विचरण करता है॥ ९९३॥

ममत्व का नाश न होने के कारण प्रतिमाधारी, स्वजनों को मिलने हेतु गाँव आदि में जाता है। वहाँ भी साधु की तरह ही प्रासुक आहार-पानी ग्रहण करता है॥ ९९४॥

—विवेचन—

(१) दर्शन.....सम्यक्त्व

(२) व्रत.....अणुव्रत

(३) सामायिक.....सावद्य का त्याग और निरवद्य का सेवन

(४) पौषध.....अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व दिन में किया जाने वाला अनुष्ठान विशेष

(५) प्रतिमा.....कायोत्सर्ग (विधिपूर्वक पाँचों प्रतिमाओं को ग्रहण करना)

(६) अब्रह्मवर्जन.....अब्रह्मचर्य का त्याग करना।

(७) सचित्तवर्जन.....सचेतन द्रव्य का त्याग करना।

(८) आरंभवर्जन.....स्वयं खेती आदि आरंभ नहीं करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(९) प्रेष्य.....अन्य को पाप में प्रवृत्त नहीं करना

(१०) उद्दिष्ट.....प्रतिमाधारी श्रावक को उद्देश्य बनाकर अचित्त किया हुआ या पकाया हुआ भोजन ग्रहण नहीं करना।

(११) श्रमण भूत.....साधु की तरह रहना

दर्शन, व्रत आदि के साथ 'प्रतिमा' शब्द का प्रयोग करके दर्शन प्रतिमा....व्रतप्रतिमा इस प्रकार कथन करना चाहिये। पूर्वोक्त ११ श्राद्ध प्रतिमायें हैं। श्राद्ध = श्रावक, प्रतिमा = अभिग्रह, प्रतिज्ञा विशेष ॥९८०॥

जो प्रतिमा जितने क्रमांक की है उस प्रतिमा का वहन काल उतने महिने का समझना। उदारणार्थ—९वीं प्रतिमा का वहन काल ९ मास, ११वीं का ११ मास कुल ११ प्रतिमा का वहन काल ५ $\frac{१}{२}$ वर्ष का है।

यद्यपि इन प्रतिमाओं का कालमान **दशाश्रुतस्कंध** आदि में साक्षात् नहीं कहा गया है फिर भी **उपासकदशा** आदि में आनन्दादि श्रावकों का प्रतिमावहन काल कुल मिलाकर ५$\frac{१}{२}$ वर्ष का बताया है। यह परिमाण पूर्वोक्त रीति से प्रत्येक प्रतिमा का वहन काल मानने पर ही संगत होता है।

- उत्तर प्रतिमाओं में उनके लिये विहित आराधना के साथ पूर्व प्रतिमाओं की भी सारी क्रिया-आराधना करनी होती है। जैसे दूसरी प्रतिमा में, दूसरी प्रतिमा की आराधना के साथ, प्रथम प्रतिमा का भी सारा क्रिया अनुष्ठान करना होता है। यावत् ग्यारहवीं प्रतिमा में दशवीं प्रतिमा तक का सम्पूर्ण अनुष्ठान करना पड़ता है ॥९८१॥

१. दर्शन प्रतिमा — शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य—इन पाँच गुणों से युक्त, कदाग्रह से रहित, शंका-कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि प्रशंसा और संस्तव, इन पाँचों अतिचारों से विशुद्ध सम्यग् दर्शन का स्वीकार करना। कदाग्रह = तत्त्व के प्रति मिथ्या आग्रह रखना। कदाग्रह, शंका, कांक्षा आदि शल्यरूप है क्योंकि इनके कारण आत्मा दुःखी होती है।

यद्यपि सम्यग् दर्शन, प्रतिमाधारी को पहले भी था किन्तु दर्शन प्रतिमा का वहन करते समय कदाग्रह शंकादि दोष, राजाभियोग आदि छः अपवादों से रहित (निरपवाद) तथा अणु व्रतादि के पालन से विकल मात्र सम्यग्-दर्शन का विशेष रूप से पालन करना आवश्यक है। इसीलिये **उपासकदशा** में वर्णित ग्यारह ही प्रतिमाओं का साढ़े पाँच वर्ष का कालमान संगत होता है। अन्यथा सम्यग्दर्शनादि का अस्तित्व पूर्व होने से प्रतिमाओं का कालमान निर्धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। हाँ, **दशाश्रुतस्कन्ध** में इस प्रतिमा का कालमान ऐसा नहीं कहा गया है, क्योंकि वहाँ दर्शन प्रतिमा श्रद्धारूप ही मानी गई है ॥९८२॥

२. व्रत प्रतिमा — पाँच अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षा-व्रत, इनका निरपवाद रूप से पालन करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. सामायिक प्रतिमा — सावद्य-योग का त्याग एवं निरवद्ययोग का सेवन रूप सामायिक दोनों संध्याकाल में करना। (जिस दिन पौषध न हो उस दिन)।

४. पौषध प्रतिमा — चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा, इन पर्व-तिथियों में आहार, शरीर-सत्कार, अब्रह्मचर्य और व्यापार त्याग रूप पौषध विधि पूर्वक करना।

पूर्वोक्त चारों ही प्रतिमा में बन्ध, वधादि १२ व्रत सम्बन्धी ६० अतिचारों का प्रयत्न-पूर्वक त्याग करना चाहिये ॥९८३-९८५ ॥

५. कायोत्सर्ग प्रतिमा — पूर्वोक्त ४ प्रतिमायुक्त महान सत्त्वशील आत्मा रात्रि में चौराहे पर अथवा जीर्ण मकान आदि में कायोत्सर्ग ध्यान में खड़ा रहे। यदि उपसर्ग हो तो सहन करे। इन प्रतिमाओं को धारण करने वाला प्रतिमा-कल्प का पूर्णज्ञाता व प्रवीण होना चाहिये क्योंकि अज्ञानी आत्मा सभी कार्यों के लिये अयोग्य माना गया है तो आराधना विशेष के लिये तो कहना ही क्या है? यह प्रतिमा पौषध दिन (अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा) में वहन की जाती है। प्रतिमाधारी सम्पूर्ण रात्रि कायोत्सर्ग में रहता है।

अन्य दिनों में (अपर्व दिनों में) काउस्सग्ग प्रतिमा वाले की चर्या कैसी हो?

- स्नानादि परिवर्जक
- दिन में प्रकाशयुक्त स्थान में भोजन करने वाला
- रात्रि में भोजन का त्यागी (प्रतिमा वहन से पूर्व रात्रिभोजन का नियम न हो तो)
- दिन में ब्रह्मचारी
- रात्रि में परिमाणकृत ब्रह्मचारी (स्त्रियों का अथवा स्त्री सम्बन्धी भोगों का परिमाण करने वाला)
- मुकुलिबद्ध = बिना लांघ की धोती पहिनने वाला अर्थात् लुंगी की तरह धोती पहिनने वाला।

कायोत्सर्ग में क्या चिन्तन करे?—

(१) त्रिलोक पूज्य, वीतराग परमात्मा का ध्यान करे।

(२) अपने काम-क्रोधादि दोषों के प्रतिपक्षी ब्रह्मचर्य-क्षमा इत्यादि महान् गुणों का चिंतन करे।

यह प्रतिमा पाँच मास की है ॥९८६-९८७ ॥

६. ब्रह्मचर्य प्रतिमा — काम-कथा, विभूषा (स्नान-विलेपन-धूपन आदि) आदि का त्याग करे (योग्य विभूषा करे), स्त्री के साथ प्रणय कथा न करे। पूर्व-प्रतिमा में दिन में अब्रह्म का त्याग था किन्तु इस प्रतिमा में रात्रि को भी त्याग समझना। इसीलिये इस प्रतिमा में चित्त को चंचल करने वाली काम-कथा आदि का त्याग बताया गया। यह प्रतिमा ६ मास की है ॥९८८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. सचित्तवर्जक प्रतिमा — सात मास तक सचित्त अशन-पान-खादिम-स्वादिम का पूर्ण त्याग करने रूप सातवीं प्रतिमा है ॥९८९ ॥

८. आरंभ त्याग प्रतिमा — पृथ्वीकायादि छः काय का स्वयं आरम्भ न करे। आजीविका के लिये दूसरों से आरंभ कराना पड़े तो करा सकते हैं पर हिंसादि पापों का तीव्र परिणाम नहीं होना चाहिए।

प्रश्न—यद्यपि प्रतिमाधारी स्वयं आरंभ नहीं करता किन्तु दूसरों से कराता है अतः उससे हिंसा तो हो ही जाती है?

उत्तर—आपकी बात सत्य है किंतु पहले वह स्वयं भी हिंसा करता था व दूसरों से भी करवाता था, इस प्रकार उभयजन्य हिंसा होती थी। पर अब स्वयं सावद्य व्यापार में प्रवृत्त न होने से स्वकृत हिंसा का त्यागी हो जाता है अतः आठवीं प्रतिमा में इतना लाभ है। भयंकर रोग में थोड़ा भी स्वास्थ्य लाभ हो तो वह अपने हित के लिये ही होता है, वैसे थोड़ा भी आरम्भ त्याग आत्म-हित के लिये होता है।

९. प्रेष्यारंभ त्याग प्रतिमा — स्वयं तो पाप व्यापार रूप खेती आदि का काम सर्वथा न करे, किन्तु सेवक आदि से भी नहीं करावे। अल्प आरम्भ वाले कार्य का निषेध नहीं है जैसे किसी को आसन इत्यादि देना। नौ महीने तक कुटुम्ब का सारा कार्यभार पुत्र, भ्राता आदि को सौंपकर, धन-धान्यादि परिग्रह के प्रति यथाशक्य अनासक्ति रखते हुए आरम्भ करने व कराने के त्याग रूप नवमी प्रतिमा का पालन करे ॥९९० ॥

१०. उद्दिष्ट भोजन वर्जन प्रतिमा — इस प्रतिमा का वाहक प्रतिमाधारी श्रावक उसको उद्देश्य करके बनाया हुआ भोजन न ले। १०वीं प्रतिमा के वाहक आराधक मस्तक का मुंडन (अस्त्रादि से) करवाते हैं। कुछ शिखा रखते हैं। इस प्रतिमा का आराधक सांसारिक कोई भी कार्य नहीं करता। सिर्फ इतनी सी छूट रहती है कि यदि जमीन आदि में गड़े धन के बारे में पारिवारिक जन पूछे तो जानता हो तो बताये कि अमुक जगह धन गड़ा हुआ है (अन्यथा आजीविका का अन्तराय होता है)। यदि नहीं जानता हो तो स्पष्ट कहे कि मैं नहीं जानता, बस, इसके सिवाय और कुछ भी गृह कार्य करना नहीं कल्पता ॥९९१-९९२ ॥

११. श्रमणभूत प्रतिमा — हाथ से अथवा अस्त्रादि से मस्तक का मुंडन करे। साधु की तरह रजोहरण, पात्र आदि उपकरण रखे। इस प्रकार साधु की तरह समाचरण करता हुआ अर्थात् समिति-गुप्ति का पालन करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ प्रतिमाधारी गृहस्थ घर में गौचरी के लिये प्रवेश करते समय इस प्रकार बोले—"प्रतिमाधारी श्रमणोपासक को भिक्षा दो।" यदि कोई पूछे कि तुम कौन हो? तो कहे कि "मैं श्रमणोपासक (प्रतिमाधारी) हूँ।"

इस प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमा का आराधक-मास कल्पादि विधि के अनुसार ग्यारह मास तक साधु की तरह विहार करे। यह कालमान उत्कृष्ट है।

जघन्य—प्रत्येक प्रतिमा का जघन्यकाल अन्तमुहूर्त (४८ मि.) है, यह काल मृत्यु के समय अथवा दीक्षा लेने से पूर्व प्रतिमा के अभ्यासी के लिये संभवित होता है अथवा नहीं। ममत्व का सम्पूर्ण विच्छेद न होने से प्रतिमाधारी स्वजनों को मिलने हेतु उनके गाँव जाता है, किन्तु रहता साधु की तरह है। उनके किसी भी कार्य में सहभागी नहीं बनता। जैसे साधु प्रासुक और एषणीय आहारादि लेते हैं, वैसे वह भी लेता है। स्नेहीजन स्नेहवश अकल्पनीय आहार पानी देने का आग्रह करे तो भी वह नहीं लेता।

आवश्यक चूर्णि के मत से पीछे की ७ प्रतिमाओं के नाम इस प्रकार हैं :—

रात्रिभोजन त्याग रूप	—५ वीं प्रतिमा
सचित्त आहार त्याग रूप	—६ठी प्रतिमा
दिन में ब्रह्मचारी और रात्रि में परिमाणकृत।	—७वीं प्रतिमा
दिन और रात ब्रह्मचर्य का पालन, स्नान, केश, रोम, नखादि की विभूषा के त्याग रूप	—८वीं प्रतिमा
स्वयं आरंभ न करने रूप	—९वीं प्रतिमा
दूसरों से आरंभ न कराने रूप	—१०वीं प्रतिमा
उद्दिष्ट भक्त-पान वर्जन, श्रमण भूत	—११वीं प्रतिमा ॥९९३-९९४॥

१५४ द्वार : अबीजत्व—

जव जवजव गोहुम सालि वीहि धन्नाण कोट्ठयाईसुं।
खिविऊणं पिहियाणं लित्ताणं मुद्दियाणं च॥ ९९५॥
उक्कोसेणं ठिइ होइ तिन्नि वरिसाणि तयसु एएसिं।
विद्धंसिज्जइ जोणी तत्तो जायइ अबीयत्तं॥ ९९६॥
तिल मुग्ग मसूर कलाय मास चवलय कुलत्थ तुवरीणं।
तह कसिणचणय वल्लाण कोट्ठयाईसु खिविऊणं॥ ९९७॥
ओलित्ताणं पिहियाण लंछियाणं च मुद्दियाणं च।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्किट्ठठिई वरिसाण पंचगं तो अबीयत्तं ॥ ९९८ ॥
अयसी लट्टा कंगू कोडूसग सण वरट्ट सिद्धत्था।
कोद्दव रालग मूलग बीयाणं कोट्ठयाईसु ॥ ९९९ ॥
निक्खित्ताणं एयाणुक्कोसठिईए सत्त वरिसाइं।
होइ जहन्नेण पुणो अंतमुहुत्तं समग्गाणं ॥ १००० ॥

—गाथार्थ—

धान्य का अबीजत्व—१. यव २. यवयव ३. गेंहू ४. शाली ५. व्रीहि—इन धान्यों को कोठी आदि में डालकर कोठी को बराबर ढंक कर ऊपर से लीपने के पश्चात् भीतर रखा हुआ धान्य तीन वर्ष तक सचित्त रहता है। तत्पश्चात् वह अबीज बन जाता है॥ ९९५-९६ ॥

१. तिल २. मूंग ३. मसूर ४. त्रिपुट ५. उड़द ६. चौले ७. कुलत्थ ८. तूवर ९. काले चने १०. बाल आदि धान्यों को कोठी में ढंक कर उसे ऊपर से लीपकर लांछित एवं मुद्रित कर रखने से अधिक से अधिक पाँच वर्ष के पश्चात् अबीज बनते हैं॥ ९९७-९८ ॥

१. अयसी २. लट्ठ ३. कंगू ४. कोटुसन्न ५.शण ६. बंटी ७. सरसों ८. कोद्रव ९. रालक और १०. मूलक के बीज को कोठी आदि में डालकर रखने से उत्कृष्टतः सात वर्ष पर्यन्त सचित्त रहते हैं। तत्पश्चात् अबीज बनते हैं। सभी धान्य जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् अबीज बन जाते हैं॥ ९९९-१००० ॥

—विवेचन—

(i) गेहूँ
(ii) यव
(iii) शाली (डांगर)
(iv) यवयव (यवविशेष)
(v) व्रीहि (चावल)

इन पाँच धान्यों को कोठार, कोठी, मटके आदि में डालकर, दरवाजे, मुंह आदि को गोबर इत्यादि से इस प्रकार बन्द कर दिया जाये कि भीतर वायु का प्रवेश लेशमात्र भी न हो तो ये धान्य तीन वर्ष के पश्चात् अचित्त बनते हैं। तदनन्तर इन्हें बोने पर भी ये नहीं उगते ॥९९५-९९६ ॥

(i) तिल (iv) चौला (vii) वाल (x) काले चने।
(ii) मूंग (v) मसूर, अन्य मतानुसार चना (viii) तूअर
(iii) उड़द (vi) मटर (ix) कुलत्थ (अनाज विशेष)

पूर्वोक्त रीति से इन्हें रखा जाये तो पाँच वर्ष के पश्चात् ये 'अबीज' बनते हैं ॥९९७-९९८ ॥

(i) अलसी (iv) कोद्रवविशेष (vii) सरसों (x) मूले के बीज
(ii) कुसुंभा (v) शण (धान्यविशेष) (viii) कोदवी
(iii) कांगनी (पीले रंग के चावल) (vi) बंटी (ix) कंगू

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- पूर्वोक्त रीति से रखने पर सात वर्ष के पश्चात् अबीज बनते हैं। पूर्वोक्त काल धान्य की अचित्तता का उत्कृष्ट काल है। जघन्य से तो सभी धान्य अन्तर्मुहूर्त पश्चात् अचित्त हो सकते हैं। परन्तु इसका ज्ञान अतिशय ज्ञानी ही कर सकते हैं। छद्मस्थ इसका ज्ञान करने में असमर्थ हैं। इसीलिये अचित्त होने पर भी व्यवहार दृष्टि से उनका उपयोग नहीं किया जा सकता। तालाब का पानी अचित्त होने पर भी भगवान महावीर ने प्यास से व्याकुल मुनियों को पीने की आज्ञा नहीं दी, क्योंकि इस प्रकार की अचित्तता छद्मस्थ आत्माओं के लिये अज्ञात है। ऐसा न हो कि इसे उदाहरण बनाकर परवर्ती साधुगण सचित्त पानी का भी उपयोग करने लगे॥ ९९९-१००० ॥

१५५ द्वार : क्षेत्रातीत का अचित्तत्व—

जोयणसयं तु गंता अणहारेणं तु भंडसंकंती।
वायागणिधूमेहि य विद्धत्थं होइ लोणाई॥ १००१ ॥
हरियालो मणसिल पिप्पली य खज्जूर मुद्दिया अभया।
आइन्नमणाइन्ना तेऽवि हु एमेव नायव्वा॥ १००२ ॥
आरुहणे ओरुहणे निसियण गोणाइणं च गाउम्हा।
भोम्माहारच्छेओ उवक्कमेणं तु परिणामो॥ १००३ ॥

—गाथार्थ—

धान्यों की क्षेत्र आदि के द्वारा अचित्तता—**सौ योजन जाने के पश्चात् आहार के अभाव से, एक स्थान से दूसरे स्थान पर बार-बार संक्रमण करने से, पवन, आग, धुआं आदि लगने से नमक आदि द्रव्य अचित्त बन जाते हैं॥ १००१ ॥**

१. हरताल २. मनशिल ३. पीपर ४. खजूर ५. हरड़े आदि द्रव्य भी सौ योजन उपरान्त पूर्वोक्त कारणों से अचित्त बन जाते हैं। अचित्त हो जाने पर भी कुछ वस्तुयें कल्प्य होती हैं और कुछ अकल्प्य ही रहती हैं॥ १००२ ॥

नमक आदि का गाड़ी आदि में चढ़ाने, उतारने, उस पर बैठने, गाय आदि के शरीर की उष्मा लगने तथा योग्य भूमि सम्बन्धी आहार न मिलने रूप उपक्रम के लगने से अचित्तरूप परिणमन हो जाता है॥ ११०३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

१. लवण (नमक) आदि पृथ्विकायिक विवक्षित क्षेत्र से सौ योजन उपरान्त ले जाने पर पूर्ण रूप से अचित्त हो जाते हैं। सौ योजन के पश्चात् उन जीवों को या तो अनुकूल आहार नहीं मिलता या अनुकूल मौसम नहीं मिलता, अतः वे मर जाते हैं।

केचित्—कुछ आचार्यों का मन्तव्य है कि लवण आदि पृथ्विकायिक वस्तुयें विवक्षित स्थान से २०० कोस ले जाने पर अचित्त हो जाती हैं। **निशीथचूर्णि** में कहा है—'केइ पठंति गाउयसयगाहा'।

२. एक पात्र से दूसरे पात्र में, एक स्थान से दूसरे स्थान में रखने से, वायु, अग्नि तथा धुआं लगने से भी नमक आदि पृथ्विकाय अचित्त बन जाता है।

- अप्काय, तेऊकाय, वायुकाय तथा वनस्पतिकाय की अचित्तता भी पृथ्विकाय की तरह ही समझना ॥१००१॥
- हरताल, मैनशिल (दोनों धातु विशेष है), दाख, पीपर, हरड़े आदि भी सौ योजन ले जाने पर अचित्त हो जाती हैं। इनकी अचित्तता के भी पूर्वोक्त ही कारण हैं। परन्तु इनमें कुछ चीजें स्वभावतः कल्प्य हैं तो कुछ चीजें अकल्प्य हैं। जैसे—पीपर, हरड़े आदि कल्प्य होने से अचित्त हो जाने के बाद ग्राह्य हैं, पर खजूर, दाख आदि अकल्प्य होने से अचित्त हो जाने के बाद भी अग्राह्य ही हैं॥१००२॥
- **अचित्तता के कारण—**
  गाड़ी आदि में अथवा बैल आदि की पीठ पर रखने से अथवा नीचे उतारने से लवणादि अचित्त बनते हैं।
  नमक आदि पर बैठने से, बैल आदि के शरीर की गर्मी से अथवा लवणादि पृथ्विकायिक जीवों को आहार आदि न मिलने से वे अचित्त बन जाते हैं।
  उपक्रम लगने से भी अचित्त बन जाते हैं। उपक्रम = जिससे लंबी आयु अल्प समय में क्षीण हो जाती है वह उपक्रम है। जैसे स्वकायशस्त्र, परकायशस्त्र व उभयकाय शस्त्र।
  स्वकायशस्त्र—सजातीय शस्त्र जैसे—खारा पानी, मीठे पानी का शस्त्र है।
  परकायशस्त्र—विजातीय शस्त्र जैसे वनस्पति के लिये आग शस्त्र है।
  उभयकायशस्त्र—मिट्टीयुक्त जल, शुद्धजल के लिये शस्त्र है॥१००३॥

१५६ द्वार : धान्य-संख्या—

धन्नाइं चउवीसं जव गोहुम सालि वीहि सट्ठी य।
कोद्दव अणुया कंगू रालय तिल मुग्ग मासा य॥ १००४॥
अयसि हरिमंथ तिउगड निप्फाव सिलिंद रायमासा य।
इक्खू मसूर तुवरी कुलत्थ तह धन्नय कलाया॥ १००५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

चौबीस प्रकार के धान्य—(१) यव-जौ, (२) गेहूँ, (३) शाली (डांगर), (४) व्रीहि (चांवल), (५) षष्टिका (६० रात में पकने वाली शाली विशेष), (६) कोद्रव-कोदरी, (७) युगन्धरी, (८) कांगनी, (९) कंगूविशेष, (१०) तिल, (११) मूंग, (१२) उड़द, (१३) अलसी, (१४) काले चने, (१५) त्रिपुटग (धान्यविशेष) (१६) वाल, (१७) शिलिन्द (मोंठ), (१८) चौला, (१९) इक्षु-बंटी, (२०) मसूर, (२१) तूअर, (२२) कुलत्थ, (२३) कुसुंभरी (धनिया) तथा (२४) मटर ॥ १००४-१००५ ॥

१५७ द्वार : मरण—

आवीइ ओहि अंतिय वलायमरणं वसट्टमरणं च ।
अंतोसल्लं तब्भव बालं तह पंडियं मीसं ॥ १००६ ॥
छउमत्थमरण केवलि वेहायस गिद्धपिट्ठमरणं च ।
मरणं भत्तपरिन्ना इंगिणि पाओवगमणं च ॥ १००७ ॥
अणुसमयनिरंतरमाविइसन्नियं तं भणंति पंचविहं ।
दव्वे खेत्ते काले भवे य भावे य संसारे ॥ १००८ ॥
एमेव ओहिमरणं जाणि मओ ताणि चेव मरइ पुणो ।
एमेव आइअंतियमरणं नवि मरइ ताणि पुणो ॥ १००९ ॥
संजमजोगविसन्ना मरंति जे तं वलायमरणं तु ।
इंदियविसयवसगया मरंति जे तं वसट्टं तु ॥ १०१० ॥
गारवपंकनिबुड्डा अइयारं जे परस्स न कहंति ।
दंसणनाणचरित्ते ससल्लमरणं हवइ तेसिं ॥ १०११ ॥
मोत्तुं अकम्मभूमिय नरतिरिए सुरगणे य नेरइए ।
सेसाणं जीवाणं तब्भवमरणं च केसिंचि ॥ १०१२ ॥
मोत्तूण ओहिमरणं आवी (इ) यंतियंतियं चेव ।
सेसा मरणा सव्वे तब्भवमरणेण नायव्वा ॥ १०१३ ॥
अविरयमरणं बालं मरणं विरयाण पंडियं बिंति ।
जाणाहि बालपंडियमरणं पुण देसविरयाणं ॥ १०१४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मणपज्जवोहिनाणी सुयमइनाणी मरंति जे समणा।
छउमत्थमरणमेयं केवलिमरणं तु केवलिणो ॥ १०१५ ॥
गिद्धाइभक्खणं गिद्धपिट्ठ उब्बंधणाइ वेहासं।
एए दोन्निऽवि मरणा कारणजाए अणुन्नाया ॥ १०१६ ॥
भत्तपरिन्ना इंगिणि पायवगमणं च तिन्नि मरणाइं।
कन्नसमज्झिमजेट्ठा धिइसंघयणेण उ विसिट्ठा ॥ १०१७ ॥

—गाथार्थ—

सत्रह प्रकार के मरण—**१. आवीचिमरण २. अवधिमरण ३. आत्यन्तिकमरण ४. वलन्मरण ५. वशार्त्तमरण ६. अन्तःशल्यमरण ७. तद्भवमरण ८. बालमरण ९. पंडितमरण १०. मिश्रमरण ११. छद्मस्थमरण १२. केवलिमरण १३. वैहायसमरण १४. गृध्रपृष्ठमरण १५. भक्तपरिज्ञामरण १६. इंगिनीमरण तथा १७. पादपोपगमनमरण—ये सत्रह प्रकार का मरण है॥ १००६-७॥**

१. आवीचिमरण—**प्रतिसमय आयुष्य का घटते जाना आवीचिमरण है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव के भेद से इनके पाँच प्रकार हैं॥ १००८॥**

२-३. अवधिमरण और आत्यन्तिक मरण—**जिस अवस्था में मृत्यु हुई, पुनः उसी अवस्था में मरना अवधिमरण है। जिस अवस्था में मृत्यु हुई उस अवस्था में पुनः कभी नहीं मरना आत्यन्तिक मरण है॥ १००९॥**

४-५. वलन्मरण और वशार्त्तमरण—**संयम योग से उद्विग्न होकर मरना वलन्मरण है। विषयाधीन होकर पतंगे आदि की तरह मरना वशार्त्तमरण है॥ १०१०॥**

६. अन्तःशल्यमरण—**गारवरूप कर्दम में निमग्न जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्र के सम्बन्ध में सेवित दोषों को कभी भी गुरु के समक्ष नहीं कहते। ऐसे जीवों का मरण, सशल्य मरण कहलाता है॥ १०११॥**

७. तद्भवमरण—**युगलिक मनुष्य-तिर्यंच, देव और नारकी को छोड़कर शेष सभी जीवों का तद्भवमरण होता है॥ १०१२॥**

अवधिमरण, आवीचिमरण, आत्यंतिकमरण इन तीनों को छोड़कर शेष सभी मरण तद्भवमरण पूर्वक होता है, ऐसा समझना चाहिये॥ १०१३॥

८-१०. बाल-पंडित एवं मिश्रमरण—**अविरतिधारी जीव का बालमरण, विरतिधारी जीव का पंडितमरण तथा देशविरतिधारी जीव का बालपंडितमरण होता है॥ १०१४॥**

११-१२. छद्मस्थ और केवलिमरण—**मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, श्रुतज्ञानी तथा मतिज्ञानी श्रमण का मरण छद्मस्थ मरण है। केवलज्ञानी का मरण केवलीमरण है॥ १०१५॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३-१४. वैहायस और गृध्रपृष्ठ-मरण—**अपने शरीर को गृध्र आदि का भक्ष्य बनाकर मरना गृध्रपृष्ठ मरण है। वृक्ष, पर्वत आदि से लटककर, गिरकर मरना वैहायस मरण है। आगाढ़ कारण उपस्थिति होने पर इन दोनों मरण की अनुज्ञा परमात्मा ने दी है॥ १०१६॥**

१५-१६-१७. भक्तपरिज्ञा-इंगिनी एवं पादपोपगमन मरण—**भक्त परिज्ञामरण, इंगिनीमरण तथा पादपोपगमन मरण—ये तीनों ही मरण धृति और संघयण की उत्तरोत्तर विशिष्टता के कारण से क्रमशः जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट कहलाते हैं॥ १०१७॥**

—विवेचन—

१. आवीचि-मरण—जिस प्रकार उत्तर लहर का उठना और पूर्व लहर का नष्ट होना सतत चलता रहता है, वैसे आयुकर्म के उत्तर-दलिकों का उदय में आना एवं पूर्व-पूर्व दलिकों का उदय में आकर क्षीण होते रहना, आवीचि-मरण कहलाता है। अथवा जैसे लहरों का कोई अंत नहीं होता, वैसे जिस मरण का भी कभी अंत नहीं होता, प्रत्युत प्रतिसमय चलता रहता है, वह आवीचि-मरण कहलाता है। वीचि = अंत होना, जिसका अंत नहीं होता वह आवीचि मरण है। इसके पाँच प्रकार हैं—

द्रव्यतः—नरक, तिर्यंच आदि चारों गतियों में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत, प्रतिसमय अपनी-अपनी आयु के दलिकों को भोगकर नाश करना द्रव्य आवीचिमरण है।

क्षेत्रतः—अपनी-अपनी आयु के भोगने योग्य क्षेत्र में प्रतिसमय आयुकर्म के पुद्गलों की निर्जरा करना। चार गति की अपेक्षा से तत्सम्बन्धी क्षेत्र भी चार प्रकार का है।

कालतः—अपने-अपने आयुकाल में प्रतिसमय आयुकर्म की निर्जरा करना। यहाँ काल का अर्थ है आयुकाल, नहीं कि अद्धाकाल (सूर्य आदि की क्रिया से व्यक्त होने वाला समय) क्योंकि अद्धाकाल देवलोक आदि में नहीं होता। चार प्रकार की आयु की अपेक्षा यह मरण भी चार प्रकार का है।

भवतः—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव भव में प्रतिसमय आयुकर्म की निर्जरा करना। नरकादि भवों की अपेक्षा से यह मरण चार प्रकार का है।

भावतः—नरकादि की आयु क्षय करना। आयु-क्षय रूप भाव की प्रधानता की अपेक्षा से यह भाव आवीचिमरण कहलाता है॥१००८॥

२. अवधिमरण—जैसे आवीचिमरण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से पाँच प्रकार का है, वैसे अवधिमरण के भी पाँच भेद हैं। अवधि अर्थात् मर्यादा। अवधि सापेक्ष मरण अवधि मरण अर्थात् जिन पुद्गलों की अपेक्षा मरा था, उन्हीं पुद्गलों की अपेक्षा से पुनः कालान्तर में मरना अवधिमरण है।

(i) **द्रव्यतः**—सारांश यह है कि नरकादि भवों के हेतुभूत आयुकर्म के जिन पुद्गलों को भोगकर जीव मरा था, उन्हीं पुद्गलों को कालान्तर में भोगकर जब भी वह मरेगा, वह मरण अवधिमरण कहलायेगा। क्योंकि उन पुद्गलों को पुनः ग्रहण करने की अवधि तक उन पुद्गलों की अपेक्षा से जीव मृत होता है। जैसे मनुष्य आयु के पुद्गलों को भोगकर मरने के पश्चात् पुनः जब भी उस आयु के पुद्गलों को भोगकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव मरेगा, उस अवधि में मनुष्य आयु की अपेक्षा से जीव मृत है और उसका वह मरण अवधिमरण है। द्रव्य सापेक्ष मरण होने से यह द्रव्य अवधिमरण कहलाता है। ग्रहण करके छोड़े हुए पुद्गलों का पुनर्ग्रहण अध्यवसायों की विचित्रता के कारण शक्य है।

(ii) क्षेत्रतः—एक बार पाये हुए क्षेत्र को पुनः पाने तक का अन्तरकाल क्षेत्र की अपेक्षा से अवधिमरण है।

(iii) काल—विशेष प्रमाणयुक्त आयु को एकबार पाकर पुनः उतने ही प्रमाण की आयु जब तक न मिले, वह मध्यवर्ती काल, उस काल की अपेक्षा से काल-अवधिमरण है।

(iv) भव—किसी विशेष भव को छोड़कर दुबारा उसे नहीं पाये तब तक की अवधि उस भव की अपेक्षा से भव-अवधिमरण है।

(v) भाव—एक बार नरकादि आयु को क्षयकर दुबारा उसी आयु को क्षय करने की अवधि भाव-अवधि-मरण है।

३. आत्यन्तिक मरण—आयु के जिन दलिकों को एकबार भोग लिया उन्हें दुबारा कभी भी ग्रहण न करना। यह भी पूर्ववत् ५ प्रकार का है ॥१००९॥

४. वलन्मरण—बिना भाव से मात्र, लज्जावश संयम का पालन करना जैसे—'इस कष्ट से मुझे कब मुक्ति मिलेगी?' ऐसा चिन्तन करते हुए अन्त में मृत्यु का वरण करना। यह संयम से पीछे हटते हुए जीव का मरण होने से वलन्मरण है। यह मरण भग्नपरिणामी व्रती को ही संभव है, क्योंकि अव्रती के संयम ही नहीं होता तो उससे मुक्त होने का वह विषाद कैसे करेगा? विषाद के अभाव में वलन्मरण संभव नहीं होता।

५. वशार्त्त-मरण—इन्द्रियों की गाढ़ आसक्ति से पीड़ित होकर मृत्यु का वरण करना। जैसे, रूप की आसक्ति के कारण पतंगों का मरना ॥१०१०॥

६. अन्तःशल्य-मरण—ऋद्धि, रस और शाता के अतिरेक से गर्वित बनकर रत्नत्रय में लगे हुए अतिचारों का प्रायश्चित्त किये बिना ही मरना। ऐसा आत्मा अभिमानवश या लज्जावश प्रायश्चित्त नहीं करता, जैसे 'यदि प्रायश्चित्त लूँगा तो आचार्य आदि के पास जाना पड़ेगा, वन्दनादि करना पड़ेगा। प्रायश्चित्त के रूप में मिला हुआ तप-आराधन आदि करना पड़ेगा अथवा मैं बहुश्रुत हूँ, आचार्य अल्पश्रुत हैं, ये क्या मुझे प्रायश्चित्त देंगे? अल्पश्रुत आचार्य को मेरे जैसा कैसे वन्दन करेगा?' इस प्रकार अभिमान से अथवा लज्जा के कारण 'लोग क्या कहेंगे कि मेरे जैसा बहुश्रुत भी ऐसा पाप करता है?' प्रायश्चित्त नहीं करता। जैसे कील आदि द्रव्य-शल्य शरीर में चुभन पैदा करते हैं, तथा कालान्तर में शरीर के अंगों को सड़ा देते हैं, वैसे अनालोचित पाप (भाव-शल्य) भी आत्मा को कालान्तर में हानि पहुँचाते हैं। ऐसे भाव-शल्यों की आलोचना किये बिना ही मरना अन्तःशल्य मरण है। अभिमानरूपी कीचड़ में फंसे हुए व्यक्तियों का यही मरण होता है ॥१०११॥

७. तद्भव-मरण—जिस भव का आयु पूर्ण कर जीव मरा हो, पुनः उसी भव में आकर मरना,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह मरण कर्मभूमि में उत्पन्न अयुगलिक तिर्यंच और मनुष्य को ही होता है, क्योंकि वे ही पुनः उस भव का आयुष्य बाँध सकते हैं। देवता, नारकी और युगलिक नर-तिर्यंच मरकर पुनः उसी भव में नहीं जा सकते अतः उनका तद्भव मरण नहीं होता।

'गाथागत 'तु' शब्द इस बात का ज्ञापक है कि संख्यातावर्ष की आयु वाले तिर्यंच व मनुष्यों का ही तद्भवमरण होता है। असंख्यात वर्ष की आयु वाले युगलिक होने से अकर्मभूमि के जीवों की तरह देव में ही उत्पन्न होते हैं। संख्याता वर्षायु वाले सभी का तद्भव मरण नहीं होता पर जिन्होंने तद्भव का आयुष्य बाँधा हो, उन्हीं का होता है ॥१०१२॥

८. बाल-मरण—बाल का अर्थ है विरतिरहित, अतः विरतिरहित मिथ्यात्वी या समकिती का मरण।

९. पंडित-मरण—सर्वविरति-संयमी का मरण।

१०. बाल-पंडितमरण—देशविरति श्रावकों का मरण ॥१०१४॥

११. छद्मस्थ-मरण—ज्ञानावरणादि कर्मों से युक्त मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और मतिज्ञानी श्रमणों का मरण। यहाँ मनःपर्यवज्ञान का नाम प्रथम इसलिये दिया गया कि वह ज्ञान मति आदि अन्य छाद्मस्थिक ज्ञानों की अपेक्षा अधिक विशुद्ध है तथा वह संयमियों को ही होता है। अवधि आदि के विषय में इसी प्रकार समझना चाहिये।

१२. केवली-मरण—केवलज्ञानी का मरण। समस्त कर्मपुद्गलों के क्षय से जो निर्वाण होता है ॥१०१५॥

१३. वैहायस-मरण—वृक्ष की शाखा से लटक कर, वृक्ष या पर्वत से छलांग लगाकर आत्म-हत्या करना। गिरना, लटकना आदि क्रिया आकाश से सम्बन्धित होने से इस मरण को वैहायस-मरण कहते हैं। 'व्योमनि भवं = वैहायसं।'

१४. गृध्रपृष्ठ-मरण—गीध, शृगाल इत्यादि हिंसक पशु-पक्षियों का भक्ष्य बनकर मृत्यु का वरण करना। इसके दो भेद हैं—

(i) अपने पीठ, पेट इत्यादि अवयवों को अलता इत्यादि के रस से रक्त, मांस की तरह लाल रंगकर जान-बूझकर हिंसक पशु-पक्षियों का भक्ष्य बनना।

(ii) शरीर को खाने के लिये आये हुए हिंसक प्राणियों का प्रतिरोध न करना अथवा हिंसक प्राणियों के भक्ष्यरूप हाथी, ऊँट इत्यादि के कलेवर में प्रवेश करके स्वयं को भक्ष्य बनाना।

प्रश्न—वैहायस और गृधपृष्ठ दोनों ही मरण आत्मघात रूप हैं तो इन्हें अलग क्यों बताया?

उत्तर—यद्यपि दोनों आत्मघातरूप हैं फिर भी साहस की दृष्टि से इनमें अन्तर है। गृधपृष्ठ मरण महाशक्तिशाली व्यक्ति स्वीकार कर सकता है, जबकि वैहायस मरण में इतने साहस की अपेक्षा नहीं रहती। यह भेद बताने के लिये दोनों को अलग से बताया।

प्रश्न—आगम में कहा है कि जिनाज्ञा से भावित आत्मा के लिये स्व-पर का कोई भेद नहीं होता। अतः वह स्व और पर दोनों के सुख-दुःख को समान भाव से ग्रहण करता है। जैसे वह दूसरों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की पीड़ा को पाप समझता है, वैसे अपनी पीड़ा को भी पाप समझता है, कहा है **"भावियजिणवयणाणं, ममत्तरहियाण नत्थि हु विसेसो। अप्पाणंमि परंमि य, तो वज्जे पीडमुभओऽवि।"** ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त मरण आत्म-पीड़न रूप होने से उन्हें स्वीकार करना आगम विरुद्ध है तथा आत्मा पीड़ित न बने इसलिये तो भक्त-परिज्ञादि मरण स्वीकारने से पहले संलेखना आदि करना अनिवार्य बताया है। इस तरह मरने से शासन की निंदा भी होगी अतः इस प्रकार की मृत्यु आगम-सम्मत कैसे हो सकती है?

उत्तर—धर्म पर लगे हुए लांछन को धोने के लिये तथा धर्म संकट की स्थिति में बचाव के अन्य उपाय न होने पर अगत्या पूर्वोक्त मरण को स्वीकारना भी शास्त्र-सम्मत है। जैसे उदायी राजा की हत्या के पश्चात् धर्म की निन्दा के भय से आचार्य भगवन्त ने भी आत्महत्या का मार्ग अपना लिया था ॥१०१६॥

१५. भक्त-परिज्ञा मरण—भक्त-परिज्ञा अर्थात् भोजन-विषयक ज्ञान। यह दो प्रकार का है—

(i) ज्ञ-परिज्ञा और **(ii)** प्रत्याख्यान परिज्ञा।

(i) ज्ञ-परिज्ञा—इस जीव ने खाने की लालसा के कारण अनेक पाप किये हैं। भोजन के विषय में इस प्रकार का चिंतन करना ज्ञ-परिज्ञा है।

(ii) प्रत्याख्यान-परिज्ञा—ज्ञ-परिज्ञापूर्वक चतुर्विध-आहार, बाह्य-उपधि, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अन्तरंग-परिग्रह एवं त्रिविध-आहार का यावज्जीव-त्याग कर मृत्यु का वरण करना प्रत्याख्यान-परिज्ञा है।

१६. इंगिनी-मरण—उठने-बैठने की निश्चित मर्यादा रखते हुए, अनशन-पूर्वक मृत्यु का वरण करना इंगिनी-मरण है।

भक्त-परिज्ञा मरण में चतुर्विध या त्रिविध आहार का त्याग होता है। शरीर की सेवा-शुश्रूषा साधक स्वयं कर सकता है या दूसरों से भी करवा सकता है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा-आ सकता है, किंतु इंगिनी-मरण में साधक निश्चित स्थान को छोड़कर एक कदम भी इधर-उधर नहीं जा सकता। इस मरण में दूसरों से सेवा करवाना सर्वथा निषिद्ध है। यथासमाधि स्वयं ही स्वयं का काम करता है।

१७. पादपोपगमन—जैसे वृक्ष टूट कर गिरने के बाद भूमि सम हो या विषम वह पड़ा ही रहता है, वैसे साधक का एकबार सम या विषम स्थान पर सोने के बाद हिले-डुले बिना ऐसी ही स्थिति में मरना, पादपोपगमन मरण कहलाता है।

अन्तिम तीन-मरण, धृति (संयम के प्रति स्थिरता) और संघयणयुक्त आत्मा ही स्वीकार कर सकते हैं, कहा है—

धीरेणवि मरियव्वं, कापुरिसेणावि अवस्समरियव्वं।

तम्हा अवस्समरणे, वरं खु धीरत्तणे मरिउं॥

अर्थ—धीर पुरुष भी मरते हैं व कायर पुरुष भी मरते हैं। जब मृत्यु अवश्यंभावी है तो धीरतापूर्वक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मरना ही श्रेष्ठ है—ऐसी शुभ भावना से भावित आत्मा ही पूर्वोक्त अनशन को स्वीकार करते हैं। इन तीनों मरण का फल वैमानिक देवत्व या मोक्षगमन है, किन्तु इन्हें स्वीकार करने वाले आत्माओं का धैर्य विशिष्ट, विशिष्टतर और विशिष्टतम होने से ये मरण क्रमशः जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट कहलाते हैं—

जघन्य	मध्यम	उत्कृष्ट
१. भक्तपरिज्ञा मरण अप्रथमसंघयणी साधु-साध्वी और देश-विरति श्रावक, स्वीकार कर सकते हैं।	२. इंगिनी-मरण। यह मरण विशिष्ट धैर्य और संहननयुक्त साधु भगवंत ही स्वीकार कर सकते हैं, साध्वी नहीं।	३. पादपोपगमन। यह मरण पर्वत व भींत के समान निश्चल, वज्रऋषभनाराच संघयणी, तीर्थंकर या विशिष्ट मुनि ही स्वीकार करते हैं।

कहा है—प्रथम संघयण पर्वत व दीवार के समान मजबूत है। १४ पूर्वी के विच्छेद के साथ उसका भी विच्छेद होता है।

सभी तीर्थंकर परमात्मा कर्मभूमि में उत्पन्न होते हैं, सर्वज्ञ सभी के गुरु व सभी से पूजित हैं। सभी का मेरु पर अभिषेक होता है। सर्व लब्धियुक्त होते हैं। सभी परिषहों को जीतकर पादपोपगमन द्वारा मोक्ष जाते हैं। शेष तीनों कालों में होने वाले अनगार तीनों मरण को वरण करते हैं। तीर्थंकर द्वारा सेवित होने से पादपोपगमन ज्येष्ठ है। भक्तपरिज्ञा और इंगिनीमरण साधुओं द्वारा सेवित होने से ज्येष्ठ नहीं कहलाते ॥१०१७॥

१५८ द्वार : पल्योपम—

पलिओवमं च तिविहं उद्धारऽद्धं च खेत्तपलियं च।
एक्केक्कं पुण दुविहं बायर सुहुमं च नायव्वं ॥ १०१८ ॥
जं जोयणविच्छिन्नं तं तिउणं परिरएण सविसेसं।
तावइयं उव्विद्धं पल्लं पलिओवमं नाम ॥ १०१९ ॥
एगाहियबेहियतेहियाण उक्कोस सत्तरत्ताणं।
सम्मट्ठं संनिचियं भरियं वालग्गकोडीहिं ॥ १०२० ॥
तत्तो समए समए इक्किक्के अवहियंमि जो कालो।
संखिज्जा खलु समया बायरउद्धारपल्लंमि ॥ १०२१ ॥
एक्केक्कमओ लोमं कट्ठुमसंखिज्जखंडमद्दिस्सं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समछेयाणंतपएसियाण पल्लं भरिज्जाहि ॥ १०२२ ॥
तत्तो समए समए एक्केक्के अवहियंमि जो कालो ।
संखिज्ज वासकोडी सुहुमे उद्धारपल्लंमि ॥ १०२३ ॥
वाससए वाससए एक्केक्के बायरे अवहियंमि ।
बायर अद्धापलियं संखेज्जा वासकोडीओ ॥ १०२४ ॥
वाससए वाससए एक्केक्के अवहियम्मि सुहुमंमि ।
सुहुमं अद्धापलियं हवंति वासा असंखिज्जा ॥ १०२५ ॥
बायरसुहुमायासे खेत्तपएसाणुसमयमवहारे ।
बायरसुहुमं खेत्तं उस्सप्पिणीओ असंखेज्जा ॥ १०२६ ॥

—गाथार्थ—

पल्योपम—पल्योपम के तीन भेद हैं। उद्धारपल्योपम, अद्धापल्योपम एवं क्षेत्रपल्योपम। पूर्वोक्त तीनों ही बादर और सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार के हैं॥ १०१८ ॥

एक योजन विस्तृत, कुछ अधिक तीन गुणा परिधिवाला तथा एक योजन गहरा खड्डा पल्य कहलाता है॥ १०१९ ॥

एक दिन, दो दिन, तीन दिन या अधिक में अधिक सात रात-दिन के बालक के केशों के सूक्ष्म अग्रभागों से आकण्ठ दबा-दबा कर उस पल्य को भरना चाहिये॥ १०२० ॥

तत्पश्चात् प्याले में से प्रतिसमय एक-एक बालाग्र को निकालना चाहिये। जितने समय में वह प्याला रिक्त होता है, वह समय की इकाई बादर उद्धार पल्योपम कहलाती है। यह संख्याता समय प्रमाण है॥ १०२१ ॥

एक-एक बालाग्र के चर्मचक्षु से दिखाई न दे ऐसे असंख्यात खंड करके पूर्वोक्त परिमाणवाले पल्य को ठूंस-ठूंस कर भरना चाहिये। प्रत्येक खंड अनन्त प्रदेश रूप, एक सदृश होते हैं॥ १०२२ ॥

तत्पश्चात् प्रतिसमय एक-एक खंड प्याले में से निकालते-निकालते जितने समय में प्याला खाली होता है वह कालखंड सूक्ष्म उद्धारपल्योपम कहलाता है। सूक्ष्म उद्धारपल्योपम संख्याताक्रोड वर्ष परिमाण होता है॥ १०२३ ॥

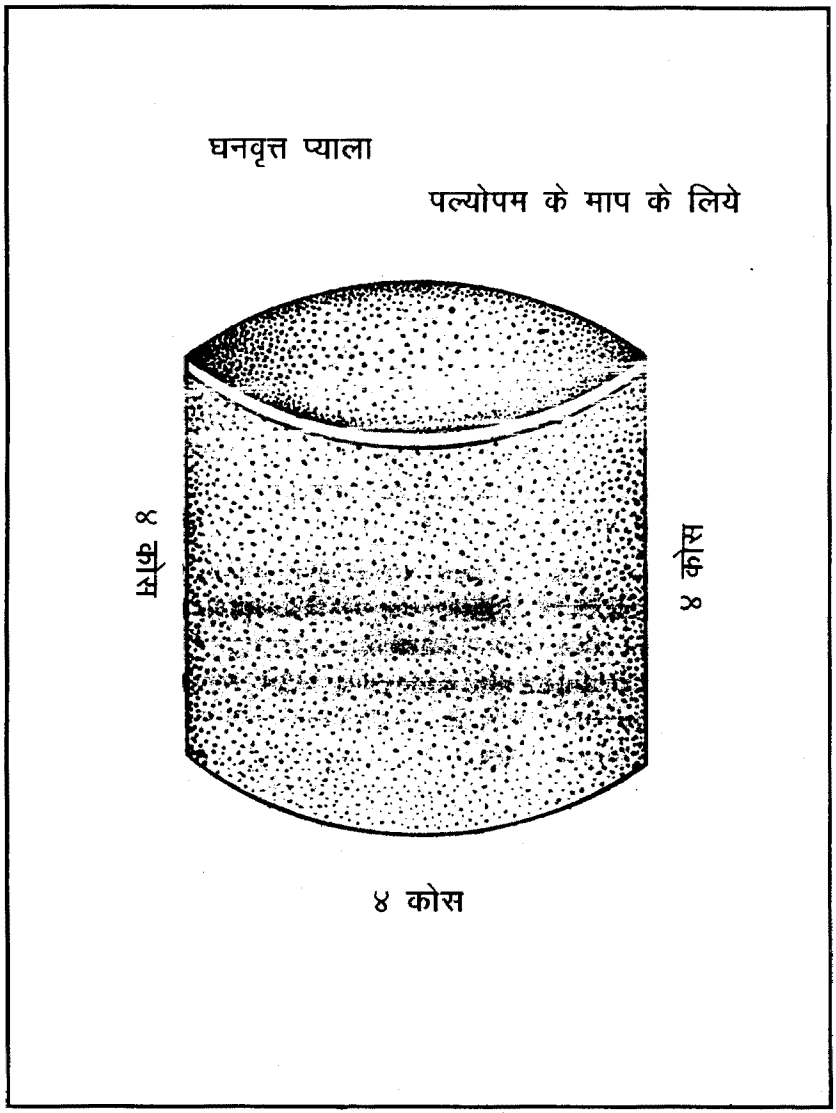
एक एक बादर बालाग्र को सौ-सौ वर्ष के पश्चात् निकालने पर संख्याता क्रोड़ वर्ष में प्याला खाली होता है। यह बादर अद्धापल्योपम का परिमाण है॥ १०२४ ॥

सौ-सौ वर्ष के पश्चात् एक-एक सूक्ष्म बालाग्र को निकालने पर असंख्यात क्रोड वर्ष व्यतीत होते हैं। यह सूक्ष्म अद्धापल्योपम का परिमाण है॥ १०२५ ॥

सूक्ष्म एवं बादर बालाग्र से ठसाठस भरे हुए प्याले के आकाश प्रदेशों को प्रति समय निकालने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर जितना समय व्यतीत होता है वह सूक्ष्म बादर क्षेत्र पल्योपम का परिमाण है। इसमे असंख्यात उत्सर्पिणी व्यतीत होती है॥ १०२६॥



—विवेचन—

पल्य = धान्य रखने का गोलाकार पात्र विशेष।

उपमा = पात्र विशेष से जिस कालपरिमाण को उपमित किया जाये वह कालावधि पल्योपम हैं। इसके तीन भेद हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) उद्धारपल्योपम **(ii)** अद्धापल्योपम तथा **(iii)** क्षेत्र पल्योपम। पूर्वोक्त तीनों पल्योपम सूक्ष्म व बादर के भेद से दो-दो प्रकार के हैं ॥१०१८॥

(i) बादर उद्धार पल्योपम—

उत्सेधांगुल के द्वारा निष्पन्न एक योजन प्रमाण लंबा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा एक गोल पल्य = प्याला बनाना चाहिये। जिसकी परिधि कुछ कम $३\frac{१}{६}$ योजन होती है (गोलाकार वस्तु की परिधि अपने परिमाण से ६ भाग अधिक तीन गुणी होती है)। एक दिन से लेकर सात दिन तक के उगे हुए बालाग्रों से उस पल्य को आकंठ इतना ठसाठस भरना चाहिये कि न उन्हें आग जला सके, न वायु उड़ा सके और न जल उसमें प्रवेश पा सके। उस पल्य से प्रति समय एक-एक बालाग्र निकालने पर जितने समय में वह पल्य खाली हो, उस काल को बादर उद्धार पल्योपम कहते हैं। यह पल्योपम संख्याता समय प्रमाण ही होता है क्योंकि बालाग्र संख्याता ही है ॥१०१९-१०२१॥

(ii) सूक्ष्म उद्धार पल्योपम—

बादर उद्धारपल्य से सम्बन्धित एक-एक केशाग्र के अपनी बुद्धि के द्वारा असंख्यात-असंख्यात टुकड़े करने चाहिये। द्रव्य की अपेक्षा से ये टुकड़े इतने सूक्ष्म होते हैं कि अत्यन्त विशुद्ध आँखों वाला पुरुष अपनी आँख से जितने सूक्ष्म पुद्गल द्रव्य को देखता है, उसके भी असंख्यातवें भाग प्रमाण होते हैं तथा क्षेत्र की अपेक्षा से सूक्ष्म पनक जीव का शरीर जितने क्षेत्र को रोकता है, उससे असंख्यातगुणी अवगाहना वाले होते हैं। वृद्धमतानुसार बालाग्रों का प्रमाण बादर पर्याप्ता पृथ्वीकाय के शरीर तुल्य होता है। **अनुयोगद्वार** की टीका में **हरिभद्रसूरिजी** ने कहा है कि—"बादर-पृथिवीकायिकपर्याप्त-शरीरतुल्यान्यसंख्येयखण्डानि।" फिर भी ये बालाग्र अनंतप्रदेश रूप अर्थात् अनंतपरमाणु रूप हैं। इन केशाग्रों को पहले की ही तरह पल्य में ठसाठस भर देना चाहिये। पहले ही की तरह प्रति समय केशाग्र के एक-एक खण्ड को निकालने पर संख्यात करोड़ वर्ष में वह पल्य खाली होता है। अतः इस काल को सूक्ष्म उद्धार पल्योपम कहते हैं। इसमें एक बालाग्र के असंख्याता खंड किये जाते हैं। अतः एक बालाग्र के खंडों को निकालने में असंख्याता समय लग जाता है तो संपूर्ण बालाग्रों को निकालने में संख्याता करोड़ वर्ष लगें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? ॥१०२२-१०२३॥

(iii) बादर अद्धा पल्योपम—

पूर्वोक्त बादर उद्धारपल्य में से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक केशाग्र निकालने पर जितने समय में वह पल्य खाली होता है उतने समय को बादर अद्धा पल्योपम काल कहते हैं। बादर अद्धापल्योपम संख्याता करोड़ वर्ष का होता है ॥१०२४॥

(iv) सूक्ष्म अद्धा पल्योपम—

पूर्वोक्त सूक्ष्म उद्धार पल्य में से सौ-सौ वर्ष के बाद केशाग्र का एक-एक खंड निकालने पर जितने समय में वह पल्य खाली होता है, उतने समय को सूक्ष्म अद्धा पल्योपमकाल कहते हैं। यह असंख्याता करोड़ वर्ष का होता है ॥१०२५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(v) बादर क्षेत्र पल्योपम—

पूर्ववत् एक योजन लंबे-चौड़े और गहरे प्याले में एक दिन से लेकर सात दिन तक के उगे हुए बालों के अग्र भाग को पहले की ही तरह ठसाठस भर दो। वे अग्रभाग आकाश के जिन प्रदेशों को स्पर्श करें, उनमें से प्रति समय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते करते जितने समय में समस्त प्रदेशों का अपहरण किया जा सके, उतने समय को बादर क्षेत्र पल्योपम कहते हैं। यह काल असंख्यात उत्सर्पिणी और असंख्यात अवसर्पिणी काल के बराबर होता है। कारण क्षेत्र अतिसूक्ष्म है, एक-एक बालाग्र पर स्थित आकाश प्रदेशों का अपहार करने में अंगुल के असंख्यातवें भाग में असंख्याती उत्सर्पिणी समाप्त होती हो तो संपूर्ण प्याले के बालाग्रों पर स्थित आकाश प्रदेशों का अपहार करने में असंख्याती उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी लगे तो आश्चर्य ही क्या है?

(vi) सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम—

बादर क्षेत्र के बालाग्रों में से प्रत्येक के असंख्यात खंड करके उन्हें उसी पल्य में पहले की तरह भर दो। उस पल्य में वे खंड आकाश के जिन प्रदेशों का स्पर्श करें और जिन प्रदेशों को स्पर्श न करें, उनमें से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय में स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेशों का अपहरण किया जा सके, उतने समय को एक सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम काल कहते हैं। इसका काल भी असंख्यात उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के बराबर होता है, पर पूर्व की अपेक्षा यह काल असंख्यातगुणा है। कारण, स्पृष्ट आकाश प्रदेशों की अपेक्षा अस्पृष्ट आकाश प्रदेश असंख्यात गुण अधिक हैं।

प्रश्न—जो पल्य इतना ठसाठस भरा है कि जिसमें आग-पानी आदि का भी लेशमात्र प्रवेश नहीं हो सकता तो वहाँ अस्पृष्ट आकाश प्रदेश कैसे संभवित हो सकते हैं?

उत्तर—बालाग्रों के असंख्यातवें भाग की अपेक्षा आकाश प्रदेश अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं। **अनुयोगद्वार सूत्र** में सोदाहरण इस बात को स्पष्ट किया है कि पल्य में बालाग्रों से अस्पृष्ट आकाश प्रदेशों का अस्तित्व है। जैसे—प्रश्नकर्ता पूछता है कि 'क्या पल्य में बालाग्रों से अस्पृष्ट आकाश प्रदेश हैं?' सूत्रकार कहते हैं—हाँ, हैं। प्रश्नकर्ता—उदाहरण देकर समझाइये। सूत्रकार—कद्दू (कोला) से भरे पल्य में किसी ने बीजोरे (नींबू) डाले, वे अन्दर समा गये। फिर क्रमशः बिल्व...आंवले...बेर...चने डाले वे भी समा गये, इससे स्पष्ट हो जाता है कि पल्य में बालाग्रों से अस्पृष्ट आकाश प्रदेश असंख्यात हैं। यद्यपि स्थूलबुद्धि वालों की अपेक्षा यथोक्त पल्य में लेशमात्र भी अवकाश न होने के कारण अस्पृष्ट आकाश प्रदेश की यत्किंचित् भी संभावना नहीं रहती तथापि ज्ञानियों की दृष्टि में सूक्ष्म बालाग्र की अपेक्षा आकाश प्रदेश अतिसूक्ष्म होने के कारण अस्पृष्ट असंख्यात आकाश प्रदेश पल्य में होते हैं। देखा भी जाता है कि अत्यन्त ठोस दिखाई देने वाले खंभे, भींत आदि में कील ठोकी जाये तो भीतर घुस जाती है। यदि वे सर्वथा ठोस होते तो कील आदि भीतर प्रवेश नहीं पा सकते।

यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि यदि बालाग्रों से स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं तो बालाग्रों का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। इस शंका और उसके समाधान का चित्रण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुयोगद्वार की **टीका** में इस प्रकार किया है—

प्रश्न—यदि आकाश के स्पृष्ट और अस्पृष्ट प्रदेशों का ग्रहण करना है तो बालाग्रों का कोई प्रयोजन नहीं रहता, क्योंकि उस दशा में पूर्वोक्त पल्य के अन्दर जितने प्रदेश हों, उनके अपहरण करने से ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है?

उत्तर—आपका कहना ठीक है, किंतु प्रस्तुत पल्योपम से **दृष्टिवाद** में द्रव्यों के प्रमाण का विचार किया जाता है। उनमें से कुछ द्रव्यों का प्रमाण तो उक्त बालाग्रों से स्पृष्ट आकाश के प्रदेशों के द्वारा ही मापा जाता है। अतः दृष्टिवाद में वर्णित द्रव्यों के मान में उपयोगी होने के कारण बालाग्रों का निर्देश करना सप्रयोजन है, निष्प्रयोजन नहीं है ॥१०२६॥

१५९ द्वार : सागरोपम—

उद्धारपल्लगाणं कोडाकोडी भवेज्ज दसगुणिया।
तं सागरोवमस्स उ एक्कस्स भवे परीमाणं॥ १०२७॥
जावइओ उद्धारो अड्ढाइज्जाण सागराण भवे।
तावइआ खलु लोए हवंति दीवा समुद्दा य॥ १०२८॥
तह अद्धापल्लाणं कोडाकोडी भवेज्ज दसगुणिया।
तं सागरोवमस्स उ परिमाणं हवइ एगस्स॥ १०२९॥
सुहुमेण उ अद्धासागरस्स माणेण सव्वजीवाणं।
कम्मठिई कायठिई भवट्ठिई होइ नायव्वा॥ १०३०॥
इह खेत्तपल्लगाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिया।
तं सागरोवमस्स उ एक्कस्स भवे परीमाणं॥ १०३१॥
एएण खेत्तसागरउवमाणेणं हविज्ज नायव्वं।
पुढविदगअगणिमारुयहरियतसाणं च परिमाणं॥ १०३२॥

—गाथार्थ—

सागरोपम—**उद्धारपल्योपम को दस कोटाकोटी (दस करोड़ × दस करोड़) से गुणा करने पर जो संख्या आती है वह एक सागरोपम का परिमाण है॥ १०२७॥**

ढाई सूक्ष्म उद्धार सागरोपम के जितने समय होते हैं उतने लोक में द्वीप समुद्र हैं॥ १०२८॥

सूक्ष्म एवं बादर अद्धापल्योपम को दस कोटाकोटी से गुणा करने पर क्रमशः बादर अद्धासागरोपम तथा सूक्ष्म अद्धासागरोपम होता है॥ १०२९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूक्ष्म अद्धासागरोपम के द्वारा सभी जीवों की कर्मस्थिति, कायस्थिति तथा भवस्थिति का माप किया जाता है॥ १०३० ॥

बादर क्षेत्रपल्योपम को दस कोटाकोटी से गुणा करने पर सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम का परिमाण आता है। सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम के द्वारा पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय एवं त्रसकाय के जीवों का परिमाण किया जाता है॥ १०३१-३२ ॥

—विवेचन—

सागरोपम = परिमाप की अपेक्षा से जिसे सागर की उपमा दी जाये वह सागरोपम है। पल्योपम की तरह इसके भी छः भेद हैं।

(i) बादर उद्धार सागरोपम (ii) सूक्ष्म उद्धार सागरोपम।
(iii) बादर अद्धा सागरोपम (iv) सूक्ष्म उद्धार सागरोपम।
(v) बादर क्षेत्र सागरोपम (vi) सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम।

(i) दश कोटा-कोटी बादर उद्धार पल्योपम का एक बादर उद्धार सागरोपम होता है। बादर उद्धार पल्योपम व सागरोपम का केवल यही उपयोग है कि इनके द्वारा सूक्ष्म उद्धार पल्योपम और सूक्ष्म उद्धार सागरोपम सरलता से समझ में आ जाते हैं॥१०२७ ॥

(ii) दस कोटा-कोटी सूक्ष्म उद्धार पल्य का एक सूक्ष्म उद्धार सागरोपम होता है। सूक्ष्म उद्धार पल्योपम व सागरोपम से द्वीप व समुद्रों की गणना की जाती है। ढाई सूक्ष्म उद्धार सागरोपम के अथवा पच्चीस कोटा-कोटी सूक्ष्म उद्धार पल्योपम के जितने समय होते हैं उतने तिर्च्छालोक में द्वीप व समुद्र हैं॥१०२८ ॥

(iii) दस कोटा-कोटी बादर अद्धा पल्योपम का एक बादर अद्धासागरोपम होता है॥१०२९ ॥

(iv) दस कोटा-कोटी सूक्ष्म अद्धा पल्योपम का एक सूक्ष्म अद्धासागरोपम होता है। दस कोटा-कोटी सूक्ष्म अद्धा सागरोपम की एक अवसर्पिणी और उतने की ही एक अवसर्पिणी होती है। सूक्ष्म अद्धा पल्योपम तथा सागरोपम के द्वारा देव, तिर्यंच और नारकों की आयु, ज्ञानावरणादि कर्मों की स्थिति, पृथ्वीकाय आदि जीवों की कायस्थिति आदि का ज्ञान किया जाता है॥१०३० ॥

(v) दस कोटा-कोटी बादर क्षेत्र पल्योपम का एक बादर क्षेत्र सागरोपम काल होता है।

(vi) दस कोटी-कोटी सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम का एक सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम होता है। सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम तथा सागरोपम के द्वारा दृष्टिवाद में द्रव्यों के परिमाप—पृथ्वी, जल, तेऊ, वायु, वनस्पति और त्रसजीवों के परिमाप का विचार किया जाता है।

- सूक्ष्म उद्धार, सूक्ष्म अद्धा व सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम का भी यही प्रयोजन बताया गया है॥ १०३१-१०३२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६० द्वार : अवसर्पिणी—

दसकोडाकोडीओ अद्धाअयराण हुंति पुन्नाओ ।
अवसप्पिणीए तीए भाया छच्चेव कालस्स ॥१०३३ ॥
सुसमसुसमा य सुसमा तइया पुण सुसमदुस्समा होइ ।
दूसमसुसम चउत्थी दूसम अइदूसमा छट्ठी ॥१०३४ ॥
सुसमसुसमाए कालो चत्तारि हवंति कोडिकोडीओ ।
तिन्नि सुसमाए कालो दुन्नि भवे सुसमदुसमाए ॥१०३५ ॥
एक्का कोडाकोडी बायालीसाए जा सहस्सेहिं ।
वासाण होइ ऊणा दूसमसुसमाइ सो कालो ॥१०३६ ॥
अह दूसमाए कालो वाससहस्साइं एक्कवीसं तु ।
तावइओ चेव भवे कालो अइदूसमाएवि ॥१०३७ ॥

—गाथार्थ—

अवसर्पिणी का स्वरूप—**दस कोड़ाकोड़ी अद्धा-सूक्ष्मसागरोपम से एक अवसर्पिणी पूर्ण होती है। एक अवसर्पिणी के छः भाग होते हैं ॥१०३३ ॥**

१. सुषम-सुषमा २. सुषमा ३. सुषम-दुःषमा ४. दुःषम-सुषमा ५. दुःषमा तथा ६. अति दुःषमा—ये अवसर्पिणी काल के छः भाग हैं ॥१०३४ ॥

सुषमा-सुषमा, चार कोड़ाकोड़ी सूक्ष्म अद्धा-सागरोपम काल परिमाण है। सुषमा तीन कोड़ा-कोड़ी सागर परिमाण है। सुषम-दुःषमा दो कोड़ाकोड़ी सागर का है। दुःषम-सुषमा बयालीस हजार वर्ष न्यून एक कोड़ाकोड़ी सागर परिमाण है। दुःषमा और अतिदुःषमा का काल परिमाण पृथक्-पृथक् इक्कीस हजार वर्ष का है ॥१०३५-१०३७ ॥

—विवेचन—

अवसर्पिणी = जिसमें आरों का प्रमाण क्रमशः न्यून होता जाता है अथवा जिस काल में जीवों के आयु, शरीर, बल आदि भावों का ह्रास होता जाता है वह अवसर्पिणी काल है ।

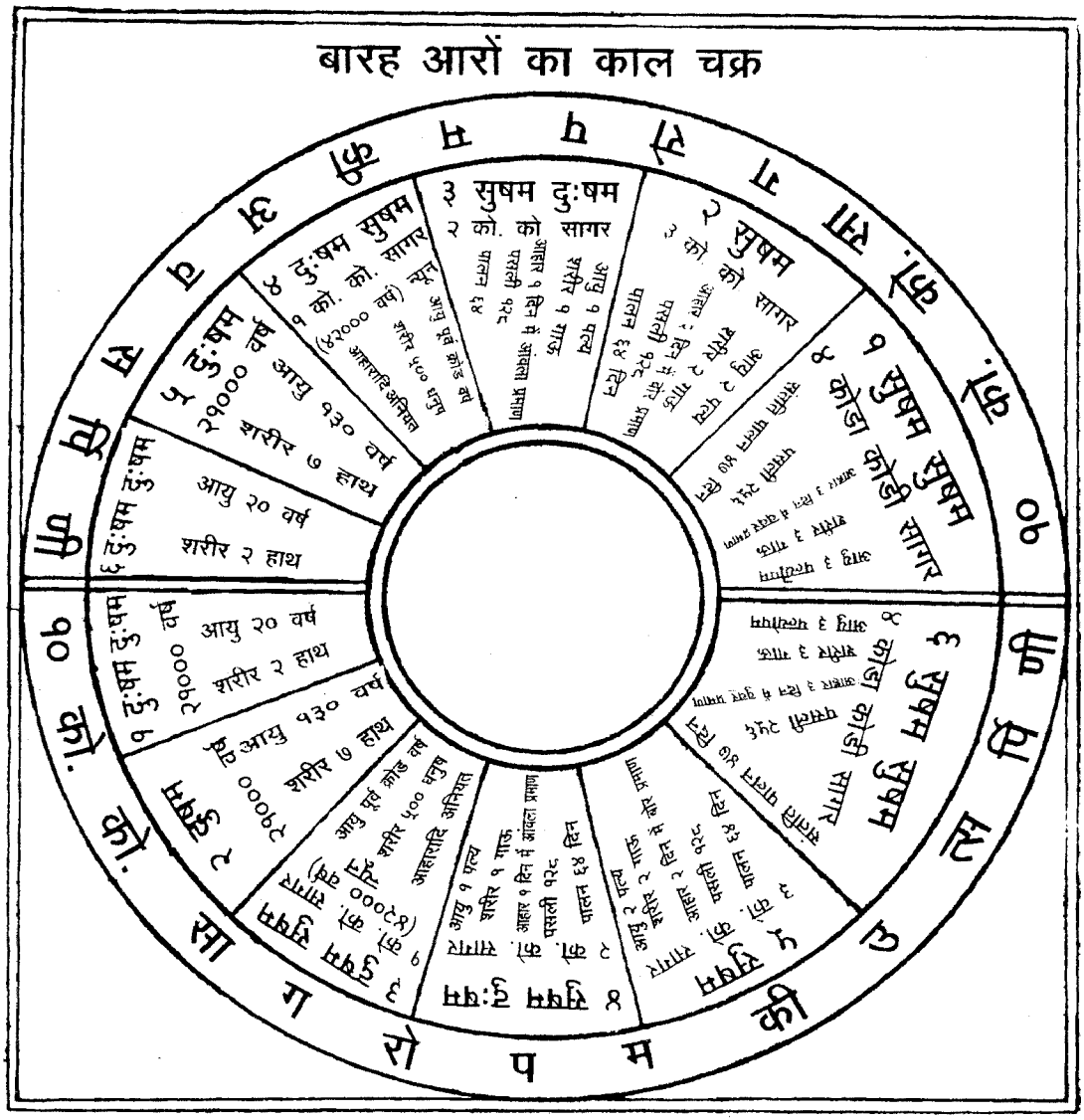
अतर = जिसका पार पाना अशक्य है वह अतर-सागरोपम। दस कोटा-कोटी सूक्ष्म अद्धा सागरोपम की एक अवसर्पिणी होती है। एक अवसर्पिणी के छः काल खंड है। जिनके लिये शास्त्रों में 'आरा' शब्द का प्रयोग हुआ है।

१. सुषम-सुषमा—एकान्त सुखरूप काल। इसका कालप्रमाण चार कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आरे के मनुष्यों का देहमान तीन कोस का तथा आयु तीन पल्योपम की होती है। कल्पवृक्ष आदि अनेक शुभ-श्रेष्ठ वस्तुओं का सद्भाव इस आरे में होता है।

२. **सुषमा**—सुखरूप काल। यह अवसर्पिणी का द्वितीय भाग है। इसका काल प्रमाण तीन कोड़ाकोड़ी सागरोपम का है। इस आरे के मनुष्यों का देहमान तथा आयु क्रमशः दो कोस, दो पल्योपम का है। कल्पवृक्ष आदि श्रेष्ठ वस्तुयें पूर्वापेक्षा हीनतर होती हैं।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. सुषम-दुःषमा—सुख-दुःखरूप काल। यह अवसर्पिणी का तृतीय भाग है। यह दो कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। इस आरे के मनुष्यों का देह माप एक कोस का तथा आयु प्रमाण एक पल्योपम का है। कल्पवृक्ष आदि श्रेष्ठ वस्तुओं का प्रभाव हीनतम होता है।

४. दुःषम-सुषमा—दुःख-सुख रूप काल। यह अवसर्पिणी का चतुर्थ भाग है। इसका कालमाप बयालीस हजार वर्ष न्यून एक कोड़ाकोड़ी सागर का है। मनुष्यों का देहमान पाँच सौ धनुष से सात हाथ पर्यंत तथा आयु पूर्वक्रोड़ वर्ष की होती है। कल्पवृक्ष आदि का प्रभाव प्रायः नष्ट हो जाता है।

५. दुःषमा—दुःख रूप काल। यह अवसर्पिणी का पञ्चम भाग है। इसका कालमान इक्कीस हजार वर्ष का है। मनुष्यों का देहमान व आयु (सौ वर्ष से पूर्व) अनियत है। अन्त में बीस वर्ष की आयु तथा देहमाप दो हाथ का है। इस ओर में श्रेष्ठ वस्तुओं की अनन्तगुण हानि होती है।

६. दुःषम-दुःषमा—अत्यन्त दुःखरूप काल। यह अवसर्पिणी का छठा भाग है। इसका कालमान इक्कीस हजार वर्ष का है। इस आरे के मनुष्यों का देहमान अनियत है। अन्त में एक हाथ का ही देहमान होता है। आयु प्रमाण सोलह वर्ष का है। औषधि आदि शुभ वस्तुओं की हानि हो जाती है।

छः आरों का विशेष स्वरूप आगमों से जानना चाहिये ॥१०३३-३७॥

१६१ द्वार : उत्सर्पिणी—

अवसप्पिणीव भागा हवंति उस्सप्पिणीइवि छ एए।
पडिलोमा परिवाडी नवरि विभाएसु नायव्वा ॥१०३८॥

—गाथार्थ—

उत्सर्पिणी का स्वरूप—**अवसर्पिणी की तरह उत्सर्पिणी के भी छः भाग हैं परन्तु उनका क्रम पूर्वापेक्षया विपरीत समझना चाहिये ॥१०३८॥**

—विवेचन—

उत्सर्पिणी—जिसमें आरों का कालमाप क्रमशः बढ़ता जाता है। अथवा जिस काल में जीवों की आयु, देहमान आदि क्रमशः बढ़ते जाते हैं, वह उत्सर्पिणी काल है। इसके भी छः भाग होते हैं जो कि पूर्ववत् आरे कहलाते हैं। पर इतना अन्तर है कि इसमें आरों का क्रम पूर्व की अपेक्षा विपरीत होता है जैसे, दुःषम-दुःषमा, दुःषमा, दुःषम-सुषमा, सुषम-दुःषमा, सुषमा, सुषम-सुषमा।

इस प्रकार बीस कोड़ाकोड़ी सूक्ष्म अद्धा सागरोपम प्रमाण बारह आरे होते हैं तथा बारह आरे अर्थात् उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी मिलकर एक कालचक्र होता है। जिस प्रकार चक्र में आरे होते हैं तथा वह गोलाकार (अंतहीन) होता है, कालचक्र भी बारह आरों वाला तथा अन्तहीन सतत गतिमान होता है। कालचक्र का प्रवर्तन पाँच भरत व पाँच ऐरवत क्षेत्र में अनादि अनन्त काल तक होता रहता है। जैसे अहोरात्रि में प्रथम दिन है या रात बताना असंभव होता है वैसे कालचक्र में प्रथम उत्सर्पिणी है या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवसर्पिणी, बताना असंभव है। यह चक्र तो सतत गतिशील है। इसका कभी अन्त नहीं होता। यदि कहीं प्रारम्भ व अन्त होता तो प्रथम कौन है बताना शक्य था ॥१०३८॥

१६२ द्वार : पुद्गल-परावर्त—

ओसप्पिणी अणंता पोग्गलपरियट्टओ मुणेयव्वो।
तेऽणंता तीयद्धा अणागयद्धा अणंतगुणा ॥१०३९॥
पोग्गलपरियट्टो इह दव्वाइ-चउव्विहो मुणेयव्वो।
थूलेयरभेएहिं जह होइ तहा निसामेह ॥१०४०॥
ओरालविउव्वा-तेयकम्म-भासाण-पाण-मणएहिं।
फासेवि सव्वपोग्गल मुक्का अह बायरपरट्टो ॥१०४१॥
अहव इमो दव्वाई ओरालविउव्वतेयकम्मेहिं।
नीसेसदव्वगहणंमि बायरो होइ परियट्टो ॥१०४२॥
दव्वे सुहुमपरट्टो जाहे एगेण अह सरीरेणं।
फासेवि सव्वपोग्गल अणुक्कमेणं नणु गणिज्जा ॥१०४३॥
लोगागासपएसा जया मरंतेण एत्थ जीवेणं।
पुट्ठा कमुक्कमेणं खेत्तपरट्टो भवे थूलो ॥१०४४॥
जीवो जइया एगे खेत्तपएसंमि अहिगए मरइ।
पुणरवि तस्साणंतरि बीयपएसंमि जइ मरए ॥१०४५॥
एवं तरतमजोगेण सव्वखेत्तंमि जइ मओ होइ।
सुहुमो खेत्तपरट्टो अणुक्कमेणं नणु गणेज्जा ॥१०४६॥
ओसप्पिणीए समया जावइया ते य नियमरणेणं।
पुट्ठा कमुक्कमेणं कालपरट्टो भवे थूलो ॥१०४७॥
सुहुमो पुण ओसप्पिणी पढमे समयंमि जइ मओ होइ।
पुणरवि तस्साणंतरबीए समयंमि जइ मरइ ॥१०४८॥
एवं तरतमजोएण सव्वसमएसु चेव एएसुं।
जइ कुणइ पाणचायं अणुक्कमेणं नणु गणिज्जा ॥१०४९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एग समयंमि लोए सुहुमागणिजिया उ जे उ पविसंति।
ते हुंतऽसंखलोयप्पएसतुल्ला असंखेज्जा ॥१०५०॥
तत्तो असंखगुणिया अगणिक्काया उ तेसि कायठिई।
तत्तो संजमअणुभागबंधठाणाणिऽसंखाणि ॥१०५१॥
ताणि मरंतेण जया पुट्ठाणि कमुक्कमेण सव्वाणि।
भावंमि बायरो सो सुहुमो य कमेण बोद्धव्वो ॥१०५२॥

—गाथार्थ—

पुद्गल परावर्तन का स्वरूप—अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी मिलकर एक पुद्गल परावर्तन होता है। ऐसी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी भूतकाल में अनन्त हुई और भविष्य में अनन्तगुणा होगी ॥१०३९॥

जिनेश्वर परमात्मा के शासन में पुद्गल परावर्तन के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार हैं। चारों ही पुद्गल परावर्तन बादर और सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार के हैं ॥१०४०॥

औदारिक, वैक्रिय, तैजस्, कार्मण, भाषा, श्वासोच्छ्वास और मन के रूप में सर्व पुद्गलों को स्पर्श करके जितने समय में जीव विसर्जित करता है, वह कालखण्ड बादर द्रव्य पुद्गल परावर्तन कहलाता है ॥१०४१॥

अथवा औदारिक, वैक्रिय, तैजस् और कार्मण शरीर के रूप में सर्वद्रव्यों को जीव ग्रहण करके जितने समय में विसर्जित करता है, वह काल बादर पुद्गल परावर्तन कहलाता है ॥१०४२॥

किसी एक शरीर के द्वारा अनुक्रम से सभी पुद्गलों का स्पर्श करके विसर्जित करने में जितना समय लगता है वह द्रव्य सूक्ष्म पुद्गल परावर्त कहलाता है ॥१०४३॥

इस जगत में जीव लोकाकाश के सर्व प्रदेशों को क्रम या उत्क्रम से जितने समय में स्पर्श करता है वह काल परिमाप बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त है ॥१०४४॥

कोई जीव किसी एक क्षेत्र प्रदेश को आश्रय करके मरा हो और पुनः उसी के समीपस्थ दूसरे प्रदेश में मरे—इस प्रकार तरतम योग से जितने समय में सर्व आकाश प्रदेशों को अपने मरण के द्वारा स्पर्श करता है वह कालखण्ड सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त कहलाता है ॥१०४५-४६॥

जितने समय में एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के सभी समय को क्रम या उत्क्रम से अपनी मृत्यु के द्वारा स्पर्श करता है वह काल विशेष बादर काल पुद्गल परावर्त कहलाता है ॥१०४७॥

अवसर्पिणी के प्रथम समय में मरने के पश्चात् पुनः उसके समीपस्थ दूसरे समय में मरना—इस प्रकार अनुक्रम से उत्सर्पिणी के सभी समयों में मृत्यु का वरण करना—इसमें जितना समय लगता है वह समय विशेष सूक्ष्मकाल पुद्गल परावर्त कहलाता है ॥१०४८-४९॥

इस लोक में एक समय में जितने जीव सूक्ष्म अग्निकाय में प्रवेश करते हैं वे असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशतुल्य असंख्याता होते हैं ॥१०५०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक समय उत्पन्न सूक्ष्म अग्निकाय जीवों की अपेक्षा पूर्वोत्पन्न अग्निकाय जीव असंख्यगुणा अधिक हैं। उनसे उनकी कायस्थिति असंख्यगुण हैं। कायस्थिति की अपेक्षा संयमस्थान एवं रसबंध के स्थान असंख्यगुण हैं ॥१०५१ ॥

उन सभी रसबंध के स्थानों को जीव जितने समय में क्रम या अक्रम से स्पर्श करते हुए मरता है वह समय विशेष बादर भाव पुद्गल परावर्त कहलाता है। सूक्ष्मभाव पुद्गल परावर्त में उन स्थानों की स्पर्शना क्रमपूर्वक होती है ॥१०५२ ॥

—विवेचन—

पुद्गलपरावर्त = अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी मिलकर एक पुद्गल परावर्त होता है।

- अतीतकाल अनन्त पुद्गल परावर्त प्रमाण है। अतीत की अपेक्षा भविष्य काल अनन्तगुणा अधिक है।

प्रश्न—भगवती सूत्र में कहा है कि अनागत काल अतीत की अपेक्षा एक समय ही अधिक है। वैसे अतीत व अनागत काल अनादि अनन्त होने से समान हैं पर प्रश्न का मध्यकालीन समय बच जाता है। वह अविनष्ट होने से अतीत में समाविष्ट नहीं हो सकता, पर अनागत में ही समाविष्ट होता है। अतः अतीत की अपेक्षा अनागत काल समयाधिक होता है। यहाँ आप उसे अनन्तगुणा अधिक कैसे कह रहे हो? आपके इस कथन का आगम से विरोध नहीं होगा क्या?

उत्तर—जैसे अनागत काल का अन्त नहीं है वैसे अतीत काल की आदि नहीं है। इस प्रकार अन्तहीनता की दृष्टि से दोनों समान होने से आगम में दोनों को तुल्य कहा गया है। यदि समय संख्या की अपेक्षा वर्तमान में दोनों को समान मान लिया जाय तो आपत्ति होगी। यथा—एक समय बीतने के बाद अनागत काल अतीत की अपेक्षा एक समय न्यून होगा, दो समय बीतने के बाद दो समय न्यून होगा। न्यूनता का क्रम प्रतिसमय चलता रहेगा। एक समय ऐसा होगा कि अनागत काल क्षीण हो जायेगा। ऐसा कदापि नहीं होता अतः मानना होगा कि समय संख्या की अपेक्षा अतीत अनागत काल कदापि समान नहीं है। पर अतीत की अपेक्षा अनागत काल अनन्त गुणा अधिक है और इसी कारण अनन्तकाल बीतने पर भी वह क्षीण नहीं होता। वर्तमान काल एक समय रूप होने से उसका अलग से प्रतिपादन नहीं किया ॥१०३९ ॥

- पूर्वोक्त पुद्गल परावर्त के चार भेद हैं। द्रव्य पुद्गल परावर्त, क्षेत्र पुद्गल परावर्त, काल पुद्गल परावर्त तथा भाव पुद्गल परावर्त। इनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं—बादर और सूक्ष्म। इस प्रकार पुद्गल परावर्त के कुल आठ भेद हुए ॥१०४० ॥
- यह लोक अनेक प्रकार की पुद्गलवर्गणाओं से भरा हुआ है। वर्गणा का अर्थ है समानजातीय पुद्गलों का समूह। उन वर्गणाओं में आठ वर्गणाएँ ग्रहण योग्य बतलाई हैं, अर्थात् वे जीवों के द्वारा ग्रहण की जाती हैं। जीव उन्हें ग्रहण करके उनसे अपना शरीर, वचन, मन आदि की रचना करता है। वे वर्गणायें हैं—औदारिक ग्रहण योग्य वर्गणा, वैक्रिय ग्रहण योग्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्गणा, आहारक ग्रहण योग्य वर्गणा, तैजस् ग्रहण योग्य वर्गणा, भाषा ग्रहण योग्य वर्गणा, श्वासोच्छ्वास ग्रहण योग्य वर्गणा, मनोग्रहण योग्य वर्गणा और कार्मण ग्रहण योग्य वर्गणा।

१. बादर द्रव्य पुद्गल परावर्त—जितने समय में एक जीव समस्त परमाणुओं को अपने औदारिक, वैक्रिय, तैजस्, भाषा, आनपान, मन और कार्मणशरीर रूप में परिणमाकर उन्हें भोगकर छोड़ देता है उस समय की इकाई को बादर द्रव्य पुद्गल परावर्त कहते हैं। यहाँ आहारक शरीर को छोड़ दिया है, क्योंकि आहारक शरीर एक जीव के अधिक से अधिक चार बार ही हो सकता है। अत: वह पुद्गल परावर्त के लिये उपयोगी नहीं है ॥१०४१-१०४२ ॥

२. सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्त—जितने समय में जीव समस्त परमाणुओं को औदारिक आदि सात वर्गणाओं में से किसी एक वर्गणारूप में परिणत कर उन्हें ग्रहण करके छोड़ देता है, उतने समय को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्त कहते हैं। बादर में तो समस्त परमाणुओं को सात रूप से भोगकर छोड़ता है और सूक्ष्म में उन्हें केवल किसी एक रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि यदि समस्त परमाणुओं को एक औदारिक शरीर रूप में परिणत करते समय मध्य-मध्य में कुछ परमाणुओं को वैक्रिय आदि शरीर रूप में ग्रहण करके छोड़ दे, या समस्त परमाणुओं को वैक्रिय शरीर रूप में परिणत करते समय मध्य-मध्य में कुछ परमाणुओं को औदारिक आदि शरीर रूप से ग्रहण करके छोड़ दे तो वे गणना में नहीं लिये जाते। जिस शरीर रूप में परिवर्तन चालू है, उसी शरीर रूप में जो पुद्गल परमाणु ग्रहण करके छोड़े जाते हैं, उन्हीं का सूक्ष्म में ग्रहण किया जाता है।

द्रव्य पुद्गल परावर्त के बारे में एक दूसरा मत भी है, जो इस प्रकार है—समस्त पुद्गल परमाणुओं को औदारिक, वैक्रिय, तैजस् और कार्मण इन चार शरीर रूप में ग्रहण करके छोड़ देने में जीव को जितना काल लगता है, उसे बादर द्रव्य पुद्गल परावर्त कहते हैं और समस्त पुद्गल परमाणुओं को उक्त चारों शरीरों में से किसी एक शरीर रूप में परिणत कर छोड़ देने में जितना काल लगता है उतने काल को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल परावर्त कहते हैं।

- शब्द के अर्थ बोध के दो निमित्त हैं—(i) व्युत्पत्ति निमित्त (ii) प्रवृत्ति निमित्त। i. समस्त पुद्गल परमाणुओं को औदारिकादि विवक्षित किसी एक शरीर के रूप में परिणत कर छोड़ देने में जितना काल लगता है वह काल पुद्गल परावर्त है। यह पुद्गल परावर्त का व्युत्पत्ति निमित्त है। ii. अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण काल, पुद्गल परावर्त शब्द का प्रवृत्ति निमित्त है। 'क्षेत्र पुद्गल परावर्त' में शब्द का व्युत्पत्ति निमित्त घटित न होने पर भी प्रवृत्तिनिमित्त घटित होता है अत: उसे 'पुद्गल परावर्त' कहने में कोई विरोध नहीं आता। जैसे 'गौ' शब्द का व्युत्पत्ति निमित्त है 'गमन करना', किन्तु उसका प्रवृत्ति निमित्त है खुर, ककुद, पूँछ व गलकंबल युक्त पिण्ड। अत: बैठी हुई गाय को 'गो' कहने में कोई विरोध नहीं आता क्योंकि उसमें 'गो' शब्द का प्रवृत्ति निमित्त घटित हो रहा है ॥१०४३ ॥

३. बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त—कोई एक जीव संसार में भ्रमण करते-करते आकाश के किसी एक प्रदेश में मरा, वही जीव पुन: आकाश के किसी दूसरे प्रदेश में मरा, फिर तीसरे में मरा, इस प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब वह लोकाकाश के समस्त प्रदेशों में क्रम-उत्क्रम से मर चुकता है तो उतने काल को बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त कहते हैं ॥१०४४ ॥

४. सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त—कोई जीव भ्रमण करते-करते आकाश के किसी एक प्रदेश में मरण करके पुनः उस प्रदेश के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश में मरण करता है, पुनः उसके निकटवर्ती तीसरे प्रदेश में मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर-अनन्तर प्रदेश में क्रमशः मरण करते-करते जब समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में मरण कर लेता है, तब सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त होता है।

इन दोनों क्षेत्र-पुद्गलपरावर्तों में केवल इतना अन्तर है कि बादर में तो क्रम का विचार नहीं किया जाता, उसमें व्यवहित प्रदेश में मरण करने पर भी यदि वह प्रदेश पूर्व स्पृष्ट नहीं है तो उसका ग्रहण होता है। अर्थात् वहाँ क्रम से या बिना क्रम से समस्त प्रदेशों में मरण कर लेना ही पर्याप्त समझा जाता है। किन्तु सूक्ष्म में समस्त प्रदेशों में क्रम से ही मरण करना चाहिये। अक्रम से जिन प्रदेशों में मरण होता है उनकी गणना नहीं की जाती। इससे स्पष्ट है कि पहले से दूसरे में समय बहुत अधिक होता है।

सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त के सम्बन्ध में एक बात और भी ज्ञातव्य है। वह यह कि एक जीव की जघन्य अवगाहना लोक के असंख्यातवें भाग की बतलाई है। अतः यद्यपि एक जीव लोकाकाश के एक प्रदेश में नहीं रह सकता, तथापि किसी देश में मरण करने पर उस देश का कोई एक प्रदेश आधार मान लिया जाता है। अतः यदि उस विवक्षित प्रदेश से दूरवर्ती किन्हीं प्रदेशों में जीव मरण करता है तो वे प्रदेश गणना में नहीं लिये जाते। किन्तु अनन्तकाल बीत जाने पर भी जब कभी विवक्षित प्रदेश के अनन्तर जो प्रदेश है, उसी में मरण करता है, तो वह गणना में लिया जाता है। किन्हीं-किन्हीं का मत है कि लोकाकाश के जितने प्रदेशों में जीव मरण करता है, वे सभी प्रदेश ग्रहण किये जाते हैं, उनका मध्यवर्ती कोई विवक्षित प्रदेश ग्रहण नहीं किया जाता ॥१०४५-१०४६ ॥

५. बादर काल पुद्गल परावर्त—जितने समय में एक जीव अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सब समयों में क्रम या बिना क्रम के मरण कर चुकता है, उतने काल को बादर-काल पुद्गल परावर्त कहते हैं ॥१०४७ ॥

६. सूक्ष्मकाल पुद्गल परावर्त—कोई जीव किसी विवक्षित अवसर्पिणी काल के पहले समय में मरा, पुनः उसके दूसरे समय में मरा, पुनः तीसरे समय में मरा। इस प्रकार क्रमशः अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सब समयों में जब मरण कर चुकता है तो उसे सूक्ष्म काल पुद्गल परावर्त कहते हैं।

यहाँ भी समयों की गणना क्षेत्र की तरह क्रमशः ही की जाती है, व्यवहित की गणना नहीं की जाती। आशय यह है कि कोई जीव अवसर्पिणी के प्रथम समय में मरा, उसके बाद एक समय कम बीस कोटा कोटी सागर के बीत जाने पर जब पुनः अवसर्पिणी काल प्रारम्भ हो, उस समय यदि वह जीव उसके दूसरे समय में मरे तो वह द्वितीय समय गणना में लिया जाता है। मध्य के शेष समयों में उसकी मृत्यु होने पर भी वे गणना में नहीं लिये जाते। किन्तु यदि वह जीव उक्त अवसर्पिणी के द्वितीय समय में मरण को प्राप्त न हो, किन्तु अन्य समय में मरण करे तो उसका भी ग्रहण नहीं किया जाता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। परन्तु अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के बीतने पर भी जब कभी अवसर्पिणी के दूसरे समय में ही मरता है, तब उस समय का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार तीसरे चौथे आदि समयों में मरण करके जितने समय में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समस्त समयों में मरण कर चुकता है, उस काल को 'सूक्ष्म काल पुद्गल परावर्त' कहते हैं ॥१०४८-१०४९ ॥

७. बादर भाव पुद्गल परावर्त—तरतम भेद को लिये हुए अनुभाग-बंधस्थान असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के बराबर है। उन अनुभाग बंध स्थानों में से एक-एक अनुभाग बंध स्थान में क्रम से या अक्रम से मरण करते-करते जीव जितने समय में समस्त अनुभाग-बंध स्थानों में मरण कर चुकता है, उतने समय को बादर भावपुद्गल परावर्त कहते हैं।

८. सूक्ष्म भाव पुद्गल परावर्त—सबसे जघन्य अनुभाग-बंधस्थान में वर्तमान कोई जीव मरा, उसके बाद उस स्थान के अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभाग बंध स्थान में वह जीव मरा, उसके बाद उसके अनन्तरवर्ती तीसरे अनुभाग बंध स्थान में मरा। इस प्रकार क्रम से जितने समय में समस्त अनुभाग बंध स्थानों में जीव मरण कर लेता है, वह काल सूक्ष्म भाव पुद्गल परावर्त कहलाता है।

यहाँ पर भी कोई जीव सबसे जघन्य अनुभाग बंध स्थान में मरण करके, उसके बाद अनन्तकाल बीत जाने पर भी जब प्रथम अनुभाग बंध स्थान के अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभाग बंध स्थान में मरण करता है, तभी वह मरण गणना में लिया जाता है। किन्तु अक्रम से होने वाले अनंतानंत मरण भी गिनती में नहीं आते। इसी तरह कालान्तर में द्वितीय अनुभागबंध स्थान के अनन्तरवर्ती तीसरे अनुभाग बंध स्थान में जब मरण करता है तो वह मरण गिनती में आता है। इस प्रकार बादर व सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तों का स्वरूप जानना चाहिये।

● अनुभाग बंध के स्थान का परिमाप—

अनुभाग बंध के स्थान का परिमाप जानने से पूर्व उस परिमाप की इकाई क्या है, यह जानना आवश्यक है। अतः सर्वप्रथम इसे ही बताते हैं।

सूक्ष्म तेऊकाय में एक समय में असंख्याता पृथ्विकायिक जीव उत्पन्न होते हैं। यहाँ असंख्याता का अर्थ है असंख्याता लोक के आकाश प्रदेशों की राशितुल्य। प्रवेश का अर्थ है विजातीय जीवों का अन्य जातीय जीवों के रूप में उत्पन्न होना। **भगवती** में प्रवेश शब्द की यही व्याख्या की गई है। पृथ्वी आदि अन्यकाय तथा बादर तेऊकाय से निकलकर सूक्ष्म तेऊकाय में उत्पन्न होने वाले जीव ही यहाँ ग्रहण किये गये हैं, पर जो जीव पहिले ही सूक्ष्म तेऊकाय में थे और मरकर पुनः उसी में उत्पन्न हुए हों ऐसे जीवों का यहाँ ग्रहण नहीं होता, कारण वे सूक्ष्म तेऊकाय में पहिले ही प्रविष्ट हो चुके थे।

अतः एक समय में उत्पन्न सूक्ष्म अग्निकाय के जीव सब से अल्प हैं। उनकी अपेक्षा पूर्वोत्पन्न सभी अग्निकाय के जीव असंख्यात गुणा अधिक है। क्योंकि सूक्ष्म अग्निकाय जीव की आयु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है और एक समय में असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण सूक्ष्म अग्निकाय के जीव उत्पन्न होते हैं, अतः सिद्ध है कि एक समय में उत्पन्न अग्निकाय जीवों की अपेक्षा पूर्वोत्पन्न सूक्ष्म अग्निकाय के जीव असंख्यातगुणा अधिक हैं। सभी सूक्ष्म अग्निकाय के जीवों की अपेक्षा प्रत्येक जीवों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायस्थिति असंख्यात गुणा है। क्योंकि उत्कृष्ट से एक जीव की कायस्थिति असंख्याता उत्सर्पिणी अवसर्पिणी प्रमाण है। एक जीव की कायस्थिति की अपेक्षा संयम स्थान व अनुभाग बंध के स्थान असंख्यात गुणा है, क्योंकि एक जीव एक कायस्थिति में असंख्याता स्थितिबंध करता है और एक स्थिति-बंध में असंख्याता अनुभागबंध के स्थान हैं। संयम स्थान व अनुभाग बंध के स्थान संख्या में समान है यह बताने के लिये यहाँ उनका ग्रहण किया गया। संयम स्थान का स्वरूप आगे कहेंगे।

प्रश्न—अनुभाग बंध के स्थान का क्या अर्थ है?

उत्तर—जहाँ जीव ठहरता है वह स्थान है। अनुभाग बंध का अर्थ है रसबंध। अर्थात् कषाय सहित किसी एक अध्यवसाय विशेष से गृहीत पुद्गलों का विवक्षित एक समय में बद्ध रस का परिमाण। वे अनुभाग बंध के स्थान असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों की संख्या के बराबर हैं। कारण में कार्य के उपचार की अपेक्षा अनुभागबंध के स्थानों (रस) के उत्पादक काषायिक अध्यवसाय विशेष भी अनुभागबंध के स्थान कहलाते हैं।

सूक्ष्म पुद्गल परावर्त का सरलता से अवबोध कराने के अतिरिक्त बादर पुद्गल परावर्त का अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। चारों सूक्ष्म पुद्गल परावर्त में से भी जहाँ कहीं सूक्ष्म पुद्गल परावर्त की चर्चा है वहाँ क्षेत्र पुद्गल परावर्त का ही ग्रहण किया गया है। जैसे **जीवाभिगम** में क्षेत्रमार्गणा के संदर्भ में कहा है कि—सादि सांत मिथ्यादृष्टि जीव जघन्य से अन्तर्मुहूर्त्त, उत्कृष्ट से अनन्त उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी तथा क्षेत्र की अपेक्षा देशोन अर्धपुद्गल परावर्त तक संसार में रहता है। इससे प्रायः यह सिद्ध होता है कि जहाँ विशेष निर्देश नहीं हैं, वहाँ पुद्गल परावर्त से क्षेत्र पुद्गल परावर्त का ही ग्रहण किया जाता है। तत्त्व बहुश्रुतगम्य है।

जैन वाङ्मय में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का बड़ा महत्त्व है। किसी भी विषय की चर्चा तब तक पूर्ण नहीं समझी जाती जब तक उसमें उस विषय का वर्णन द्रव्य, क्षेत्र वगैरह की अपेक्षा से न किया गया हो। यहाँ परावर्तन का प्रकरण है। परिवर्त का अर्थ होता है—परिणमन अर्थात् उलटफेर, रद्दोबदल इत्यादि। कहावत प्रसिद्ध है कि यह संसार परिवर्तनशील या परिणमनशील है। उसी परिवर्त या परिवर्तन का वर्णन यहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से किया है। द्रव्य से यहाँ पुद्गल द्रव्य का ग्रहण किया है, क्योंकि एक तो प्रत्येक परिवर्त के साथ ही पुद्गल शब्द लगा हुआ है और उसके ही द्रव्य पुद्गल परिवर्त वगैरह चार भेद बतलाये हैं। दूसरे जीव के परिवर्तन या संसार परिभ्रमण का कारण एक तरह से पुद्गल द्रव्य ही है, संसारदशा में उसके बिना जीव रह ही नहीं सकता। अस्तु, उस पुद्गल का सबसे छोटा अणु-परमाणु ही यहाँ द्रव्य पद से अभीष्ट है। वह परमाणु आकाश के जितने भाग में समाता है उसे प्रदेश कहते हैं और वह प्रदेश, क्षेत्र अर्थात् लोकाकाश का ही, क्योंकि जीव लोकाकाश में ही रहता है, एक अंश है। पुद्गल का एक परमाणु आकाश के एक प्रदेश से उसी के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश में जितने समय में पहुँचता है, उसे समय कहते हैं। यह काल का सबसे छोटा हिस्सा है। भाव से यहाँ अनुभागबन्ध के कारणभूत जीव के कषायरूप भाव लिये गये हैं। इन्हीं द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के परिवर्तन को लेकर चार परिवर्तनों की कल्पना की गई है। जब जीव पुद्गल के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक-एक करके समस्त परमाणुओं को भोग लेता है तो वह द्रव्य पुद्गल परावर्त कहलाता है। जब आकाश के एक-एक प्रदेश में मरण करके समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में मर चुकता है, तब एक क्षेत्र पुद्गल-परावर्त कहलाता है। इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये। वास्तव में जब जीव अनादिकाल से इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है तो अब तक एक भी परमाणु ऐसा नहीं बचा है, जिसे इसने न भोगा हो, आकाश का एक भी प्रदेश ऐसा बाकी नहीं है, जहाँ यह मरा न हो, उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का एक भी ऐसा समय बाकी नहीं है, जिसमें यह न मरा हो और ऐसा एक भी कषाय स्थान बाकी नहीं है, जिसमें यह न मरा हो। प्रत्युत उन परमाणु, प्रदेश, समय और कषाय स्थानों को यह जीव अनेक बार अपना चुका है। उसी को दृष्टि में रखकर द्रव्य पुद्गल परावर्त आदि नामों से काल का विभाग कर दिया है। जो पुद्गल परावर्त जितने काल में होता है उतने काल के परिमाण को उस पुद्गल परावर्त के नाम से पुकारा जाता है। यद्यपि द्रव्य पुद्गल परावर्तन के सिवाय अन्य किसी भी परावर्त में पुद्गल का परावर्तन नहीं होता, क्योंकि क्षेत्र पुद्गल परावर्त में क्षेत्र का, काल पुद्गल परावर्त में काल का और भाव पुद्गल परावर्त में भाव का परावर्तन होता है, किन्तु पुद्गल परावर्तन का काल अनन्त उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल के बराबर बतलाया है। क्षेत्र, काल और भाव परावर्त का काल भी अनन्त उत्सर्पिणी अनन्त अवसर्पिणी होता है, अतः इन परावर्तों की भी पुद्गलपरावर्त संज्ञा रख दी है ॥१०५०-१०५२॥

१६३ द्वार : कर्मभूमि—

भरहाइ विदेहाइं एरवयाइं च पंच पत्तेयं।
भन्नंति कम्मभूमी धम्मजोग्गा उ पन्नरस ॥१०५३॥

—गाथार्थ—

पन्द्रह कर्मभूमि—**भरतक्षेत्र, महाविदेह क्षेत्र एवं ऐरवत क्षेत्र प्रत्येक पाँच-पाँच होने से धर्म के योग्य कर्मभूमियाँ पन्द्रह होती हैं ॥१०५३॥**

—विवेचन—

कर्मभूमि = जहाँ कृषि, व्यापार आदि होते हैं अथवा जहाँ श्रुतधर्म और चारित्र-धर्म की आराधना होती है। व्यावहारिक और धार्मिक क्रिया प्रधान भूमि कर्मभूमि कहलाती है।

भरत = ५ ऐरवत = ५ महाविदेह = ५	१ भरत २ भरत २ भरत	१ ऐरावत २ ऐरवत २ ऐरवत	१ महाविदेह = जंबुद्वीप में २ महाविदेह = धातकी खंड में २ महाविदेह = अर्ध पुष्कर में
१५ कर्म भूमि	५ भरत	५ ऐरवत	५ महाविदेह

॥१०५३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६४ द्वार : अकर्मभूमि—

हेमवयं हरिवासं देवकुरू तह य उत्तरकुरूवि ।
रम्मय एरन्नवयं इय छब्भूमी उ पंचगुणा ॥१०५४ ॥
एया अकम्मभूमीउ तीस सया जुअलधम्मजणठाणं ।
दसविहकप्पमहद्दुमसमुत्थभोगा पसिद्धाओ ॥१०५५ ॥

—गाथार्थ—

तीस अकर्मभूमि—**हिमवन्त, हरिवास, देवकुरु, उत्तरकुरु, रम्यकवास और ऐरण्यवत—इन छः भूमिओं को पाँच से गुणा करने पर तीस अकर्मभूमि होती हैं। ये सतत युगलिकों का निवास स्थान हैं तथा दशविध कल्पवृक्षों से उत्पन्न भोगों के कारण यह भूमि भोगभूमि के नाम से प्रसिद्ध है ॥१०५४-५५ ॥**

—विवेचन—

अकर्मभूमि—कृषि, व्यापार आदि से रहित अथवा श्रुतधर्म और चारित्रधर्म की आराधना से विहीन क्षेत्र अकर्मभूमि है। वहाँ युगलिक मनुष्य और तिर्यंच होते हैं तथा उनके जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति दस प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा होती है।

हेमवत	=	५	उत्तरकुरु	=	५	= ३० अकर्मभूमि
हरिवर्ष	=	५	रम्यक	=	५	
देवकुरु	=	५	ऐरण्यवत	=	५	

॥१०५४-१०५५ ॥

१६५ द्वार : मद—

जाइ कुल रूव बल सुय तव लाभिस्सरिय अट्ठ मयमत्तो ।
एयाइं चिय बंधइ असुहाइं बहुं च संसारे ॥१०५६ ॥

—गाथार्थ—

आठ प्रकार के मद—**१. जाति २. कुल ३. रूप ४. बल ५. श्रुत ६. तप ७. लाभ और ८. ऐश्वर्य—इन आठ मदों से उन्मत्त जीव बहुविध अशुभकर्मों का बंधन करके संसार में परिभ्रमण करता है ॥१०५६ ॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

१. जातिमद	५. श्रुतमद
२. कुलमद	६. तपमद
३. रूपमद	७. लाभमद
४. बलमद	८. ऐश्वर्यमद

- जाति आदि आठ मदों से उन्मत्त आत्मा जन्मान्तर में इन आठों से हीन बनते हैं तथा दीर्घ काल तक इस संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

जाति = माता से सम्बन्धित। कुल = पिता से सम्बन्धित उग्र, भोग आदि कुल। रूप = शारीरिक सौन्दर्य। बल = सामर्थ्य। श्रुत = अनेक शास्त्रों का अवबोध। तप = अनशनादि। लाभ = इच्छित वस्तु की प्राप्ति। ऐश्वर्य = प्रभुत्व ॥१०५६॥

१६६ द्वार : प्राणातिपात-भेद—

भू जल जलणानिल वण बि ति चउ पंचिंदिएहिं नव जीवा।
मणवयणकाय गुणिया हवंति ते सत्तवीसंति ॥१०५७॥
एक्कासीई सा करणकारणाणुमइताडिया होइ।
सच्चिय तिकालगुणिया दुन्नि सया होंति तेयाला ॥१०५८॥

—गाथार्थ—

प्राणातिपात के २४३ भेद—**१. पृथ्वी २. जल ३. अग्नि ४. वायु ५. वनस्पति ६. द्वीन्द्रिय ७. त्रीन्द्रिय ८. चतुरिन्द्रिय तथा ९. पञ्चेन्द्रिय—इन नौ को मन-वचन और काया से गुणा करने पर सत्तावीस भेद होते हैं। पूर्वोक्त सत्तावीस भेदों को करना-कराना और अनुमोदन करना—इन तीन से गुणा करने पर इक्यासी भेद हुए। इक्यासी को तीन काल से गुणा करने पर प्राणातिपात के २४३ भेद होते हैं ॥१०५७-५८॥**

—विवेचन—

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेंद्रिय	इन ९ जीवों की ३ करण (करना-कराना और अनुमोदन), ३ योग (मन-वचन और काया) से हिंसा ९ × ३ = २७ × ३ = ८१ इसे तीन काल से सम्बन्धित करने पर (भूत, भविष्य और वर्तमान) ८१ × ३ = २४३ हिंसा के भेद होते हैं। ॥१०५७-५८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६७ द्वार : परिणाम-भेद—

संकप्पाइतिएणं मणमाईहिं तहेव करणेहिं।
कोहाइचउक्केणं परिणामेऽट्ठोत्तरसयं च ॥१०५९॥
संकप्पो संरंभो परितावकरो भवे समारंभो।
आरंभो उद्दवओ सुद्धनयणं च सव्वेसिं ॥१०६०॥

—गाथार्थ—

परिणाम के १०८ भेद—**संकल्प आदि तीन को मन आदि तीन योग, करना आदि तीन करण तथा क्रोध आदि चार कषायों के द्वारा गुणा करने पर परिणाम के एक सौ आठ भेद होते हैं ॥१०५९॥**

संरंभ अर्थात् संकल्प, पीड़ाप्रद क्रिया समारंभ तथा जीव की हिंसा करना आरंभ है। यह अर्थ सभी शुद्धनयों को मान्य हैं ॥१०६०॥

—विवेचन—

परिणाम = मन के अध्यवसाय अर्थात् भाव। धर्मक्रिया व अधर्मक्रिया दोनों में परिणामों की प्रमुख भूमिका है। एक सी दिखाई देने वाली क्रियाओं का भी परिणाम भेद के कारण फलभेद हो जाता है। इस द्वार में १०८ परिणामों की चर्चा की गई है। मूल तीन परिणाम हैं। १ संकल्प या सरंभ, २ समारंभ व ३ आरंभ। ये तीनों योग से होते हैं अतः ३ × ३ = ९ भेद हुए। पूर्वोक्त ९ तीनों करणों से होते हैं, अतः ९ × ३ = २७ हुए। २७ भेद में से प्रत्येक भेद क्रोध, मान, माया व लोभ वश होने से २७ × ४ = १०८ परिणाम के भेद हुए। भांगों के प्रकार—

क्रोधवश जीव का काया से संरंभ करना
मानवश जीव का काया से संरंभ करना
मायावश जीव का काया से संरंभ करना
लोभवश जीव का काया से संरंभ करना

- इस प्रकार चार करने के, चार कराने के, चार अनुमोदन के = १२, इस प्रकार वचन और मन के १२-१२ जोड़ने से = ३६ हुए। + ३६ संरंभ के, + ३६ समारंभ के, + ३६ आरंभ के, = १०८ ॥१०५९॥

१. संरंभ — "मैं हिंसा करूं" ऐसा संकल्प करना।
२. समारंभ — दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाली प्रवृत्ति करना।
३. आरंभ — दूसरों के प्राण का नाश करने वाली प्रवृत्ति करना।

ये तीनों नैगमादि शुद्ध नय से संमत हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. शुद्धनय—नैगम, संग्रह, व्यवहार ये तीन नय शुद्ध नय हैं। शुद्ध अर्थात् कर्म से मलिन जीवात्मा को शोधन करने वाले। यहाँ शुद्ध शब्द में अन्तर्निहित प्रेरणा होने से इसका अर्थ होता है—दूसरों को शुद्ध करने वाला।

नैगमादि तीन नय विविध पर्यायों में अनुगत द्रव्य को मान्यता देते हैं। इससे कृतकर्म फल-भोग और अकृत का अनागमन संभव होता है अर्थात् कृत-नाश और अकृत-आगम जैसे दोष यहाँ पर नहीं आते। इन नयों की अपेक्षा से धर्म-देशनादि में प्रवृत्त होने वाले आत्मा की वास्तविक शुद्धि हो सकती है, अतः ये शुद्ध नय कहलाते हैं।

ऋजुसूत्रादि चार नय पर्यायमात्र को मानने वाले हैं। पर्यायें परस्पर भिन्न होने से अशुद्ध हैं। इसमें कृतनाश और अकृत आगम के दोष आते हैं। मानव-पर्याय में किये गये कर्म का फल मानव को न मिलकर देव पर्याय को मिलता है, जिसने कि कर्म किया ही नहीं है। तब तो कोई धर्म करने में प्रवृत्त ही नहीं होगा। क्योंकि कृत कर्म का फल तो उसे मिलता ही नहीं, ऐसी स्थिति में जीव की शुद्धि नहीं होगी। अतः ये नय अशुद्ध कहलाते हैं।

अथवा 'सुद्धनयाणं च सव्वेसिं' इस मूल पाठ में प्राकृत के नियमानुसार 'सुद्धनयाणं' से पूर्व 'अ' का लोप हो चुका है। अतः इसका अर्थ पूर्व की अपेक्षा सर्वथा भिन्न हो जाता है। उसका सारांश यह है कि—अशुद्धनयों की अपेक्षा से संरंभ आदि तीन मान्य हैं। शुद्ध नयों को नहीं। नैगम, व्यवहार और संग्रह रूप प्रथम तीन नय व्यवहारपरक होने से अशुद्ध हैं तथा ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुढ़ व एवंभूत—ये चार नय निश्चयपरक होने से शुद्ध हैं। उनके मत में मात्र संरंभ ही हिंसारूप है, समारंभ और आरंभ नहीं। ये चारों नय निश्चय प्रधान होने से हिंसा के विचार से युक्त आत्मा को ही हिंसा मानते हैं। "आया चेवउ हिंसा.....।" समारंभ और आरंभ हिंसात्मक क्रियारूप होने से ये नय उन्हें वास्तविक हिंसा नहीं मानते ॥१०६०॥

१६८ द्वार : ब्रह्मचर्य-भेद—

दिव्वा कामरइसुहा तिविहं तिविहेण नवविहा विरई।
ओरालियाउवि तहा तं बंभं अट्ठदसभेयं ॥१०६१॥

—गाथार्थ—

ब्रह्मचर्य के १८ भेद—**दिव्यकामरति सुख का त्रिविध-त्रिविधेन त्याग करने रूप नौ प्रकार की विरति तथा औदारिक शरीर संम्बन्धी नौ प्रकार की विरति—इस प्रकार ब्रह्मचर्य के १८ भेद हैं ॥१०६१॥**

—विवेचन—

वैक्रिय शरीर सम्बन्धी, दिव्यविषयों की भोगासक्ति का, तीन करण (करना, कराना और अनुमोदन करना) और तीन योग (मन, वचन, काया) से त्याग करना = ९ भेद ब्रह्मचर्य के।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार औदारिक शरीर सम्बन्धी भोगों का तीन करण व तीन योग से त्याग करना = ९ भेद। ९ + ९ = १८ भेद ब्रह्मचर्य के।

दिव्यात् कामरतिसुखात्, त्रिविधं त्रिविधेन विरतिरिति नवकम्।

औदारिकादपि तथा, तद् ब्रह्माष्टादशविकल्पम्।

अर्थात् मन से वैक्रिय सम्बन्धी अब्रह्म का सेवन १. न करूं २. न कराऊं और न अनुमोदूं। इसी प्रकार वचन और काया से कुल ९।

इसी तरह औदारिक के भी समझना ९ + ९ = १८ ॥१०६१॥

१६९ द्वार : काम-भेद—

कामो चउवीसविहो संपत्तो खलु तहा असंपत्तो।
चउदसहा संपत्तो दसहा पुण होअसंपत्तो ॥१०६२॥
तत्थ असंपत्तेऽत्था चिंता तह सद्ध संभरण मेव।
विक्कवय लज्जनासो पमाय उम्माय तब्भावो ॥१०६३॥
मरणं च होइ दसमो संपत्तंपि य समासओ वोच्छं।
दिट्ठीए संपाओ दिट्ठीसेवा य संभासो ॥१०६४॥
हसिय ललिओवगूहिय दंत नहनिवाय चुंबणं चेव।
आलिंगण मादाणं कर सेवणऽणंगकीडा य ॥१०६५॥

—गाथार्थ—

काम के २४ प्रकार—**काम के २४ प्रकार हैं। मुख्य दो भेद हैं। असंप्राप्त और संप्राप्त। असंप्राप्त के १० भेद हैं और संप्राप्त के १४ भेद हैं ॥१०६२॥**

असंप्राप्त के १. अर्थ २. चिंता ३. श्रद्धा ४. स्मरण ५. विकल्प ६. लज्जानाश ७. प्रमाद ८. उन्माद ९. तद्भाव और १०. मृत्यु—ये दस भेद हैं। संप्राप्त काम के १. दृष्टिसंपादन २. दृष्टिसेवा ३. संभाषण ४. हास्य ५. ललित ६. अवगूहन ७. दंतक्षत ८. नखक्षत ९. चुंबन १०. आलिंगन ११. आदान १२. करसेवन १३. आसेवन और १४. अनंगक्रीड़ा—ये १४ भेद हैं ॥१०६३-६५॥

—विवेचन—

१ काम—इसके दो भेद हैं—**(i)** संयोग और **(ii)** विप्रयोग।

- **संयोग**—कामियों के परस्पर संयोग से उत्पन्न सुख। यह १४ प्रकार का है।

(i) दृष्टिसंपात — स्त्री के विकारवर्धक स्तनादि अंगों का अवलोकन करना।

(ii) दृष्टिसेवा — हाव-भाव से युक्त दृष्टि मिलाना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(iii) संभाषण — कामवर्धक वार्तालाप करना।
(iv) हसित — व्यंग्यपूर्ण मधुर-मधुर मुस्कुराना।
(v) ललित — पाशा आदि खेलना।
(vi) उपगूढ़ — कसकर आलिंगन देना।
(vii) दंतपात — दन्तक्षत करना।
(viii) नखनिपात — नख आदि से घात करना।
(ix) चुम्बन — चूमना।
(x) आलिंगन — स्पर्श करना।
(xi) आदान — स्तन आदि को रागवश पकड़ना।
(xii) करण — वात्स्यायन के कामशास्त्र में वर्णित कामक्रीड़ा की पूर्वभूमिका रूप ८४ आसन करना।
(xiii) आसेवन — मैथुन क्रिया करना।
(xiv) अनंगक्रीड़ा — विषय सेवन के मुख्य अंगों के अतिरिक्त मुख, स्तन कूंख आदि से क्रीड़ा करना।

पूर्वोक्त १४ प्रकारों से प्राप्त होने वाला सुख संयोग-काम है।

२. वियोग—परस्पर वियोग में उत्पन्न स्थिति विशेष। इसके १० भेद हैं।

(i) अर्थ — स्त्री की अभिलाषा करना। किसी स्त्री के विषय में मात्र सुनकर ही पाने की इच्छा करना।
(ii) चिन्ता — उसका कैसा सुन्दर रूप है। उसके कैसे गुण हैं। इस प्रकार रागवश चिन्तन करना।
(iii) श्रद्धा — स्त्री संभोग की अभिलाषा करना।
(iv) संस्मरण — स्त्री के रूप की कल्पना करके अथवा चित्र आदि देखकर स्वयं को सान्त्वना देना।
(v) विक्लव — वियोग जन्य व्यथा के कारण आहार आदि की उपेक्षा करना।
(vi) लज्जानाश — गुरुजनों की लज्जा छोड़कर उनके संमुख प्रेमिका के गुणगान करना।
(vii) प्रमाद — स्त्री के लिये विविध क्रियायें करना।
(viii) उन्माद — विक्षिप्त की तरह प्रलाप करना।
(ix) तद्भावना — स्त्री की कल्पना से स्तंभादि का आलिंगन करना।
(x) मरणं — राग की तीव्रता के कारण असह्य व्यथा से मूर्च्छित हो जाना। यहाँ मरण का अर्थ प्राणत्याग नहीं है। अन्यथा शृंगाररस का भंग हो जायेगा।

वृत्तिकार अभिनवगुप्त ने भी इनकी व्याख्या इसी प्रकार की है ॥१०६२-६५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७० द्वार : प्राण—

इंदिय बल ऊसासा उ पाण चउ छक्क सत्त अट्ठेव ।
इगि विगल असन्नी सन्नी नव दस पाणा य बोद्धवा ॥१०६६ ॥

—गाथार्थ—

प्राण दस—५ इन्द्रिय, ३ बल, श्वासोच्छ्वास और आयु—ये दस प्राण हैं। इनमें से एकेन्द्रिय के चार, विकलेन्द्रिय के क्रमशः छः, सात और आठ, असंज्ञी के नौ तथा संज्ञी के दस प्राण होते हैं ॥१०६६ ॥

—विवेचन—

(i)	इन्द्रिय	=	५ स्पर्शेन्द्रिय, रसेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय
(ii)	बल	=	३ मनबल, वचनबल और कायबल
(iii)	श्वासोच्छ्वास	=	१
(iv)	आयु	=	१

किसमें कितने प्राण हैं?

(i)	एकेन्द्रिय	=	४ प्राण (स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास, आयु)
(ii)	द्वीन्द्रिय	=	६ प्राण (रसनेन्द्रिय, वचनबल सहित पूर्वोक्त ४ = ६)
(iii)	त्रीन्द्रिय	=	७ प्राण (घ्राणेन्द्रिय सहित पूर्वोक्त ६ = ७)
(iv)	चतुरिन्द्रिय	=	८ प्राण (चक्षुरिन्द्रिय सहित पूर्वोक्त ७ = ८)
(v)	असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय	=	९ प्राण (श्रोत्रेन्द्रिय सहित पूर्वोक्त ८ = ९)
(vi)	संज्ञी पञ्चेन्द्रिय	=	१० प्राण (मनबल सहित पूर्वोक्त ९ =१०) ॥१०६६ ॥

१७१ द्वार : कल्पवृक्ष—

मत्तंगया य भिंगा तुडियंगा दीव जोइ चित्तंगा ।
चित्तरसा मणियंगा गेहागारा अणियणा य ॥१०६७ ॥
मत्तंगएसु मज्जं सुहपेज्जं भायणा य भिंगेसु ।
तुडियंगेसु य संगयतुडियाइं बहुप्पगाराइं ॥१०६८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीवसिहा जोइसनामगा य एए करेंति उज्जोयं।
चित्तंगेसु य मल्लं चित्तरसा भोयणट्ठाए ॥१०६९॥
मणियंगेसु य भूसणवराइं भवणाइ भवणरुक्खेसु।
तह अणियणेसु धणियं वत्थाइं बहुप्पयाराइं ॥१०७०॥

—गाथार्थ—

दस कल्पवृक्ष—१. **मत्तांगक २. भृतांग ३. त्रुटितांग ४. दीप ५. ज्योति ६. चित्रांग ७. चित्ररसा ८. मणिअंग ९. गेहाकार तथा १०. अनग्ना—ये दस प्रकार के कल्पवृक्ष हैं ॥१०६७॥**

मत्तांगक कल्पवृक्ष में से सुखदायी पेय मद्य, भृतांग से बर्तन, त्रुटितांग से अनेक प्रकार के वादित्र प्राप्त होते हैं। दीपशिखा और ज्योतिरंग कल्पवृक्ष प्रकाश देते हैं। चित्रांग से माला और चित्ररस से भोजन मिलता है। मणिअंग से श्रेष्ठ आभूषण, भवनवृक्ष से घर, अनग्न से अनेकविध वस्त्र मिलते हैं ॥१०६८-७०॥

—विवेचन—

कल्पवृक्ष—इच्छित वस्तुओं को देने वाले पेड़। ये १० प्रकार के हैं।

१. मत्तांगदा या मत्तांगा—मत्त = मद, अंग = कारण, दा = देने वाले, अर्थात् मादक पदार्थों को देने वाले मत्तांगदा अथवा मत्त = मद, अंग = कारण अर्थात् मादक पदार्थ जिनमें हैं वे मत्तांग। इन कल्पवृक्षों के फल स्वभावतः विशिष्ट बल-कान्ति को देने वाले रस से युक्त एवं सुगन्धित मद्य से पूर्ण होते हैं। परिपक्व होने के कारण इनसे सतत मद झरता रहता है।

२. भृतांगा—भृत = भरना, अंग = कारण अर्थात् वस्तुओं को भरने के पात्र, भाजन को देने वाले 'भृतांगा' कल्पवृक्ष हैं। इन वृक्षों पर सहज स्वाभाविक सोने, चांदी व रत्नमय, थाली, कटोरी, कलश, चम्मच आदि विविध आकार में परिणत, अनेक पात्र फल की तरह शोभायमान लगे रहते हैं। पात्रों के उत्पादक होने से वृक्ष भी भृतांग कहलाते हैं।

३. त्रुटितांगा—त्रुटिता = वादित्र, अंग = कारण, अर्थात् ऐसे वृक्ष जो तत, वितत, घन, शुषिर आदि अनेक प्रकार के वादित्रों से फल की तरह लदे रहते हैं। तत = वीणादि, वितत = पटह आदि, घनं = झालर, शुषिर = ढोल।

४. दीपांगा—सुवर्ण और मणियों से निर्मित दीपक जिस प्रकार प्रकाश फैलाते हैं वैसे 'दीपांग' कल्पवृक्ष स्वाभाविक प्रकाशमान होते हैं। इनमें 'दीप' फल की तरह लगे रहते हैं।

५. ज्योतिषांगा—सूर्य मण्डल की तरह सर्वत्र प्रकाश करने वाले। इनमें फल की तरह 'सूर्य के आकार वाले' फल लगे रहते हैं।

६. चित्रांगा—नानावर्णयुक्त कुसुममालाओं से सुशोभित कल्पवृक्ष।

७. चित्ररसा—युगलिकों के भोजन योग्य, दाल-भात, मिष्टान्न आदि से भी अति सुस्वादु, इन्द्रियों के पोषक, बलवर्धक विविधरसपूर्ण फलवाले।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. **मण्यंगा**—स्वाभाविक परिणाम से परिणत मणिमय अनेकविध आभूषण जैसे कड़े, कुण्डल, मुकुट, बाजूबन्द, हार आदि से फलों की तरह सुशोभित।

९. **गेहाकार**—इन कल्पवृक्षों का स्वाभाविक परिणमन घरों की तरह होता है। उन्नत प्राकार, सीढियाँ, चित्रशाला बड़े-बड़े गवाक्ष, अनेक गुप्त व प्रकट अन्तर गृह, अत्यन्त स्निग्ध आंगन वाले महलवत् घरों से युक्त ये कल्पवृक्ष होते हैं। जिनमें युगलिक निवास करते हैं।

१०. **अनग्ना**—विविध प्रकार के वस्त्रों को देने वाले जिससे निवास करने वाले लोग नग्न नहीं रहते वे 'अनग्ना' कल्पवृक्ष हैं। इन कल्पवृक्षों में स्वाभाविक रूप से देवदूष्य की तरह सुन्दर, कोमल व मनोहर अनेक प्रकार के वस्त्र पैदा होते हैं ॥१०६७-७० ॥

१७२ द्वार : नरक—

घम्मा वंसा सेला अंजण रिट्ठा मघा य माघवई।
नरयपुढवीण नामाइं हुंति रयणाइं गोत्ताइं ॥१०७१ ॥
रयणप्पह सक्करपह वालुयपह पंकपहभिहाणाओ।
धूमपह तमपहाओ तह महातमपहा पुढवी ॥१०७२ ॥

—गाथार्थ—

नरक—**१. घम्मा २. वंसा ३. शैला ४. अंजना ५. रिष्टा ६. मघा ७. माघवती—ये नरकपृथ्वी के नाम हैं।**

१. रत्नप्रभा २. शर्कराप्रभा ३. वालुकाप्रभा ४. पंकप्रभा ५. धूमप्रभा ६. तमःप्रभा तथा ७. महातमःप्रभा—ये नरकपृथ्वी के गोत्र हैं ॥१०७१-७२ ॥

—विवेचन—

नाम—अर्थ निरपेक्ष किन्तु वस्तु का बोध कराने वाला, अनादि काल से प्रसिद्ध नाम कहलाता है।

गोत्र—अर्थ सापेक्ष, अन्वर्थक वस्तु का बोध कराने वाला गोत्र है।

गो = अपने अभिधायक शब्द की, त्राणाद् = यथार्थता का पालन करने वाला।

जैसे—घम्मा, वंशा आदि नरक के नाम अर्थ निरपेक्ष होते हुए भी अनादिकाल से प्रथम, द्वितीय आदि नरक का बोध कराते हैं अतः वे नाम हैं। परन्तु गोत्र जैसे 'रत्नप्रभा' यह प्रथम नरक के लिये इसलिये प्रयुक्त हुआ कि प्रथम नरक रत्नों की अधिकता वाली है। इस तरह सभी नाम-गोत्रों के लिये समझना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	नरक के नाम	नरक गोत्र	
(i)	घमा	रत्नप्रभा	(रत्नों की अधिकता वाली)
(ii)	वंशा	शर्कराप्रभा	(पत्थरों की अधिकता वाली)
(iii)	शैला	वालुकाप्रभा	(रेत की अधिकता वाली)
(iv)	अंजना	पंकप्रभा	(कीचड़ की अधिकता वाली)
(v)	रिष्ठा	धूमप्रभा	(धूएँ की अधिकता वाली)
(vi)	मघा और	तमःप्रभा	(अंधकार बहुल)
(vii)	माघवती	तमःतमप्रभा	(गाढ़ अंधकार वाली)

- 'प्रभा' शब्द बाहुल्य का वाचक है। अर्थात् जहाँ रत्नों का बाहुल्य है वह 'रत्नप्रभा' नरक है..... इत्यादि ॥१०७१-७२॥

१७३ द्वार : नरकावास—

तीसा य पन्नवीसा पन्नरस दस चेव तिन्नि य हवंति।
पंचूण सयसहस्सं चेव अणुत्तरा नरया ॥१०७३॥

—गाथार्थ—

नारकों के आवास—**सात नरक में क्रमशः ३० लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, ३ लाख, ९९,९९५ तथा अनुत्तर अर्थात् अंतिम नरक में ५ नरकावास हैं॥१०७३॥**

—विवेचन—

प्रथम नरक में	३०,००,०००	नरकावास है।
द्वितीय नरक में	२५,००,०००	"
तृतीय नरक में	१५,००,०००	"
चतुर्थ नरक में	१०,००,०००	"
पंचम नरक में	३,००,०००	"
षष्ठ नरक में	९९,९९५	"

सप्तम नरक में जो पांच नरकावास हैं वे निम्न हैं—

पूर्व दिशा में	=	काल नरकावास,
पश्चिम दिशा में	=	महाकाल नरकावास,
दक्षिण दिशा में	=	रोरुक नरकावास,
उत्तर दिशा में	=	महारोरुक नरकावास,
मध्य दिशा में	=	अप्रतिष्ठान नरकावास
कुल संख्या ८४,००,०००	=	नरकावास है। ॥१०७३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७४ द्वार : नरक-वेदना—

सत्तसु खेत्तसहावा अन्नोऽन्नुद्दीरिया य जा छट्ठी ।
तिसु आइमासु वियाणा परमाहम्मियसुरकया य ॥१०७४॥

—गाथार्थ—

नरक की वेदना—**क्षेत्र स्वभावजन्य वेदना सातों ही नरक में होती है। छट्ठी नरक तक परस्पर कृत वेदना भी होती है तथा प्रथम तीन नरक पर्यन्त परमाधामीकृत वेदना भी होती है॥१०७४॥**

—विवेचन—

नरक में तीन प्रकार की वेदना होती है।

(i) क्षेत्र के प्रभाव से होने वाली वेदना। पहली से सातवीं तक क्षेत्रजन्य वेदना होती है।

- पहली नरक से तीसरी नरक तक उष्ण वेदना होती है। पहली, दूसरी और तीसरी नरक के नारक शीत-योनि वाले हैं और वहाँ की धरती योनि-स्थान के सिवाय सर्वत्र अंगारे की तरह तपी हुई होती है।
- पंक-प्रभा के ऊपर वाले नरकावासों में उष्ण वेदना है और नीचे के नरकावासों में शीत वेदना है।
- धूमप्रभा के बहुत से नरकावास शीत-वेदना वाले हैं, और थोड़े उष्ण वेदना वाले हैं।
- छट्ठी और सातवीं नरक शीत वेदना वाली है।

क्षेत्र का स्पर्श योनि स्थान से विपरीत होने के कारण नरक के जीवों को क्षेत्रजन्य वेदना होती है। क्षेत्र स्वभावजा वेदना नीचे की नरकों में तीव्र, तीव्रतर व तीव्रतम होती है।

१. क्षेत्र-स्वभावजन्य वेदना के दस प्रकार—

(i) उष्ण — भयंकर गर्मी में, मध्याह्न काल के समय, चारों ओर जलती हुई अग्नि ज्वालाओं के बीच किसी पित्तरोगी मनुष्य को बिठाने पर उसे जो वेदना होती है, उससे अनन्तगुणी उष्ण वेदना प्रतिपल नरक के जीवों को होती है।

- नरक के जीवों को उष्ण वेदना वाले स्थान से उठाकर यदि जलते हुए अंगारों पर सुला दिया जाये तो उन्हें कुछ शांति का अनुभव होता है और नींद आ जाती है। इससे नरक की उष्ण वेदना का अनुमान लगता है।

(ii) शीत — पोष, माह की रात्रि में चारों ओर हिमपात हो रहा हो, भयंकर हवा चल रही हो, ऐसे समय में हिमाचल-पर्वत की चोटी पर रहे हुए निर्वस्त्र मनुष्य को वहाँ जो शीत वेदना का अनुभव होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, उससे अनन्तगुणी शीतवेदना का अनुभव नरक के जीवों को होता है।

- नरक के जीवों को शीत वेदना वाले स्थान से उठाकर हिमालय की चोटी पर सुलाया जाये तो वे वहाँ अत्यंत सुख का अनुभव करते हुए गहरी नींद में सो जाते हैं।

(iii) क्षुधा — ढाई द्वीप में पैदा होने वाला सम्पूर्ण अनाज खा ले तो भी नरक के जीवों की भूख नहीं मिटती।

(iv) तृषा — सम्पूर्ण समुद्र, सरोवर और नदी का पानी पी ले तो भी नरक के जीवों की प्यास नहीं बुझती।

(v) खुजली — नरक के जीवों के शरीर पर छुरियों द्वारा खुजली की जाये तो भी वह नहीं मिटती।

(vi) परवशता — वे जीव सदा परवश होते हैं।

(vii) ज्वर — मनुष्य को अधिक से अधिक जितना ज्वर आ सकता है, उससे अनन्तगुणा अधिक ज्वर नरक के जीवों को हमेशा रहता है।

(viii) दाह — भीतर से सदा जलते रहते है।

(ix) भय — अवधिज्ञान और विभंगज्ञान के द्वारा आगामी दुःख का ज्ञान होने से नरक के जीव सतत भयभीत रहते हैं।

(x) शोक — भय के कारण सदा शोकातुर रहते हैं।

२. परस्पर कृत वेदना—

नरक के जीवों के द्वारा परस्पर पैदा की जाने वाली वेदना। इसके दो भेद हैं—

(i) प्रहरण कृत — शस्त्रादि द्वारा कृत वेदना। पहली नरक से पाँचवीं नरक पर्यंत होती है।

(ii) शरीर कृत — शरीर द्वारा कृत वेदना। सामान्यतः यह वेदना सातों नरक में होती है। यह कथन अशास्त्रीय नहीं है। जैसा कि **जीवाभिगम** में कहा है—हे भदन्त! रत्नप्रभा पृथ्वी के नारक एक रूप की विकुर्वणा करने में समर्थ हैं या अनेक रूपों की विकुर्वणा करने में समर्थ हैं?—दोनों में समर्थ हैं। यदि एक रूप की विकुर्वणा करते हैं तो एक बड़े मुद्गर, करवत, खड्ग, शक्ति, हल, गदा, मूसल, चक्र, बाण, भाला, तोमर, शूल, दंड, भिंडीमाल रूप की विकुर्वणा करते हैं। यदि अनेक रूपों की विकुर्वणा करते हैं तो वे मुद्गर, मुषण्ढी, करवत, असि, शक्ति, हल, गदा, मूशल, चक्र, धनुष, भाला, शूल आदि संख्याता, स्वशरीर संबद्ध व समानाकर शस्त्रों की विकुर्वणा करते हैं तथा परस्पर उनका प्रयोग करके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदना उत्पन्न करते हैं। प्रहरणकृत वेदना पहली नरक से पाँचवीं नरक तक होती है। छठी व सातवीं नारकी के नैरइये मृतगाय के कलेवर में उत्पन्न होने वाले वज्रमुखी, क्षुद्र जन्तुओं के रूप की विकुर्वणा करके परस्पर एक दूसरे के शरीर पर घोड़े की तरह आरोहण कराते हैं। काटते हैं। इक्षु के कीड़ों की तरह एक दूसरे के शरीर में प्रवेश कराते हैं। नारकी के जीव अपने शरीर से संबद्ध समानाकार व संख्याता शस्त्रों की ही विकुर्वणा कर सकते हैं, पर असंख्याता, असमानाकार व शरीर से भिन्न शस्त्रों की विकुर्वणा नहीं कर सकते, स्वभावतः उनका ऐसा ही सामर्थ्य होता है।

- एक कुत्ता दूसरे कुत्ते को देखकर लड़ पड़ता है, वैसे एक नरक का जीव दूसरे नरक के जीव को देखकर उस पर टूट पड़ता है।
- क्षेत्र के प्रभाव से प्राप्त होने वाले शस्त्रों को लेकर नरक के जीव एक दूसरे के टुकड़े कर डालते हैं। जैसे कि कत्लखाना (Slaughter-house) हो।
- परस्पर कृत वेदना मिथ्यादृष्टि नारकों में ही होती है। जो सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं, वे तत्त्वचिन्तन द्वारा दूसरों से की गई वेदना शांति पूर्वक सहन करते हैं किन्तु अपनी ओर से वे किसी को वेदना नहीं पहुँचाते। वे वेदना और दुःख को अपना कर्मजन्य प्रसाद मानते हैं। यही कारण है कि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा सम्यग् दृष्टि आत्मा मानसिक पीड़ा से अधिक पीड़ित रहते हैं।

३. **परमाधामी कृत वेदना**—पहली, दूसरी और तीसरी नरक में होती है।

- तपी हुई लोहे की पुतली के साथ आलिंगन करवाना।
- पिघले हुए शीशे का रस पिलाना।
- शस्त्रों से शरीर पर घाव करके उस पर नमक डालना।
- गरम-गरम तेल से स्नान करवाना।
- घाणी में पीलना।
- चने की तरह भट्टी में भूंजना।
- करवत से चीरना।
- भाले की तीक्ष्ण नोंक पर पिरोना।
- अग्नि के समान जलती रेत पर चलाना।
- पर्वत या ताल के पेड़ पर चढ़ाकर नीचे गिराना।
- घन या कुल्हाड़ी से चोट करना।
- सिंह, बाघ आदि हिंसक जानवरों का रूप बनाकर अनेक प्रकार से नरक के जीवों की कदर्थना करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- मुर्गों की तरह नरक के जीवों को परस्पर लड़ाना।
- तलवार की धार तुल्य तीक्ष्ण असि पत्रों पर उन्हें चलाना।
- वैतरणी नदी में उन्हें तिराना।
- जब परमाधामी कुंभी में डालकर नरक के जीवों को पकाते हैं, तब वे जीव दारुण वेदना के कारण पाँच सौ योजन ऊपर तक उछलते है और गिरते हैं। उस समय अपने द्वारा विकुर्वित व्याघ्र, सिंह द्वारा उन्हें मरवाना। **जीवाभिगम** में कहा है कि—विभिन्न वेदनाओं से घिरे हुए, दुःखार्त्त नरक के जीव उत्कृष्टतः ऊपर ५०० योजन तक उछलते हैं। नीचे गिरते समय परमाधामियों के द्वारा विकुर्वित, वज्रमुखी पक्षी चोंच द्वारा उन्हें टांच देते हैं। जब वे जमीन पर गिरते हैं तो वहाँ व्याघ्र आदि हिंसक पशु उन्हें फाड़ डालते हैं ॥१०७४॥

१७५ द्वार : नरकायु—

सागरमेगं तिय सत्त दस य सत्तरस तह य बावीसा।
तेत्तीसं जाव ठिई सत्तसु पुढवीसु उक्कोसा ॥१०७५॥
जा पढमाए जेट्ठा सा बीयाए कणिट्ठिया भणिया।
तरतमजोगो एसो दसवाससहस्स रयणाए ॥१०७६॥

—गाथार्थ—

नरक के जीवों की आयु—**सातों नरक की उत्कृष्ट आयु क्रमशः १. सागर, ३ सागर, ७ सागर, १० सागर, १७ सागर, २२ सागर तथा ३३ सागर की है ॥१०७५॥**

पूर्व नरक का उत्कृष्ट आयु उत्तर नरक का जघन्य आयु होता है। इस प्रकार तरतम योग से रत्नप्रभा का जघन्य आयु दस हजार वर्ष का है ॥१०७६॥

—विवेचन—

- अपनी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति के बीच की स्थिति नरक के जीवों की मध्यम स्थिति होती है।
- सातवीं नरक के काल, महाकाल, महारोर और रोर, इन चारों नरकावासों की जघन्य स्थिति २२ सागर की है।

नारकी	उत्कृष्ट आयु	जघन्य आयु
१. रत्नप्रभा	१. सागरोपम	१०००० वर्ष
२. शर्कराप्रभा	३. सागरोपम	१ सागरोपम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. वालुकाप्रभा	७ सागरोपम	३ सागरोपम
४. पंकप्रभा	१० सागरोपम	७ सागरोपम
५. धूमप्रभा	१७ सागरोपम	१० सागरोपम
६. तमःप्रभा	२२ सागरोपम	१७ सागरोपम
७. तमस्तमप्रभा	३३ सागरोपम	२२ सागरोपम ॥१०७५-७६ ॥

१७६ द्वार : अवगाहना—

पढमाए पुढवीए नेरइयाणं तु होइ उच्चत्तं ।
सत्त धणु तिन्नि रयणी छच्चेव य अंगुला पुण्णा ॥१०७७ ॥
सत्तमपुढवीए पुणो पंचेव धणुस्सयाइं तणुमाणं ।
मज्झिमपुढवीसु पुणो अणेगहा मज्झिमं नेयं ॥१०७८ ॥
जा जम्मि होइ भवधारणिज्ज अवगाहणा य नरएसु ।
सा दुगुणा बोद्धवा उत्तरवेउव्वि उक्कोसा ॥१०७९ ॥
भवधारणिज्जरूवा उत्तरविउव्विया य नरएसु ।
ओगाहणा जहन्ना अंगुल अस्संखभागो उ ॥१०८० ॥

—गाथार्थ—

नरक के जीवों के शरीर का परिमाण—**प्रथम पृथ्वी के नारकों के शरीर की ऊँचाई ७ धनुष, ३ हाथ एवं ६ अंगुल की है। सातवीं पृथ्वी के नारकों के शरीर की उंचाई पाँच सौ धनुष की है। मध्य नरक के जीवों की मध्यम उंचाई अनेक प्रकार की है ॥१०७७-७८ ॥**

जिस नरक में जितनी भवधारणीय अवगाहना होती है, उससे दोगुनी उस नरक की उत्कृष्ट उत्तरवैक्रिय अवगाहना समझनी चाहिये ॥१०७९ ॥

नरक में भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण है ॥१०८० ॥

—विवेचन—

अवगाहना = जिसमें जीव रहते हैं। अवगाहना, तनु, शरीर एकार्थक शब्द हैं।

अवगाहना के दो भेद हैं—(i) भवधारणीय और (ii) उत्तरवैक्रिय।

(i) **भवधारणीय**—जिस शरीर को जीव जीवन पर्यन्त धारण करता है अर्थात् जन्म से प्राप्त शरीर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ii) **उत्तरवैक्रिय**—स्वाभाविक शरीर ग्रहण करने के बाद, कार्य विशेष के अनुरूप वैक्रियशक्ति के द्वारा निर्मित विविध प्रकार के शरीर।

ये दोनों ही शरीर जघन्य और उत्कृष्ट भेद से दो प्रकार के हैं—

नरक	भवधारणीय उत्कृष्ट अवगाहना	उत्तरवैक्रिय उत्कृष्ट अवगाहना
१. रत्नप्रभा	७ धनुष ३ हाथ ६ अंगुल	१५ धनुष २ हाथ १२ अंगुल
२. शर्कराप्रभा	१५ धनुष २ हाथ १२ अंगुल	३१ धनुष और एक हाथ
३. वालुकाप्रभा	३१ धनुष और १ हाथ	६२ धनुष और २ हाथ
४. पंकप्रभा	६२ धनुष और २ हाथ	१२५ धनुष
५. धूम प्रभा	१२५ धनुष	२५० धनुष
६. तमःप्रभा	२५० धनुष	५०० धनुष
७. तमस्तमप्रभा	५०० धनुष	१००० धनुष

- सातों नरक की भवधारणीय जघन्य अवगाहना, उत्पत्तिकाल की अपेक्षा अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है।
- सातों नरक की उत्तरवैक्रिय जघन्य अवगाहना अंगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण होती है। करण, उत्तरवैक्रिय के प्रारम्भ में इतनी ही अवगाहना होती है। इससे कम नहीं हो सकती, क्योंकि जीव प्रदेशों का इतना ही संकोच होता है। कुछ आचार्य उत्तरवैक्रिय के प्रारम्भ में असंख्यातवें भाग की अवगाहना मानते हैं, वह ठीक नहीं है, क्योंकि **प्रज्ञापना** और **अनुयोगद्वार** से विरोध आता है। **प्रज्ञापना** में कहा है—नरक के जीवों की उत्तरवैक्रिय के प्रारम्भ में जघन्य अवगाहना अंगुल के संख्यातवें भाग की है तथा उत्कृष्ट अवगाहना १००० धनुष की है। **अनुयोगद्वार** की **टीका** में आचार्य भगवंत **हरिभद्रसूरि** जी ने कहा है कि—तथाविध प्रयत्न नहीं हो पाने के कारण उत्तरवैक्रिय के प्रारंभ में नरक के जीवों की जघन्य अवगाहना अंगुल के संख्यातवें भाग की ही होती है ॥१०७७-८०॥

१७७ द्वार : विरह-काल—

चउवीसई मुहुत्ता सत्त अहोरत्त तह य पन्नरस।
मासो य दोय चउरो छम्मासा विरहकालो उ ॥१०८१॥,
उक्कोसो रयणाइसु सव्वासु जहन्नओ भवे समयो।
एमेव य उव्वट्टणसंखा पुण सुरवराण समा ॥१०८२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

नारकों के उत्पत्ति और च्यवन का विरहकाल—**रत्नप्रभा आदि सातों ही नरक में, उत्पत्ति और च्यवन का उत्कृष्ट विरहकाल क्रमशः २४ मुहूर्त्त, ७ अहोरात्र, १५ दिन, १ मास, २ मास, ४ मास तथा ६ मास का है। जघन्य विरहकाल सर्वत्र एक समय का है। सातों ही नरक में च्यवन-मरण देवों के तुल्य समझना चाहिये ॥१०८१-८२॥**

—विवेचन—

मनुष्य व तिर्यंचगति से आकर जीव नरक में निरन्तर जन्मते हैं वैसे नरक के जीव निरन्तर मरते हैं, पर यदा-कदा उनके जन्म-मरण का अन्तर भी पड़ता है। वह इस प्रकार है।

सामान्य रूप से सातों नरकों का जन्म और मरण का विरह काल—उत्कृष्ट १२ मुहूर्त्त और जघन्य एक समय है। **समवायाँगसूत्र** में भी इसी प्रकार कहा है।

विशेष रूप से जन्म और मरण का उत्कृष्ट विरह काल निम्न है—

रत्नप्रभा	२४ मुहूर्त्त
शर्कराप्रभा	७ दिन
वालुकाप्रभा	१५ दिन
पंकप्रभा	१ महीना
धूमप्रभा	२ महीना
तमःप्रभा	४ महीना
तमस्तमप्रभा	६ महीना

विशेष रूप से सातों नरकों का उपपात और मरण का विरह काल जघन्य एक समय है।

एक समय में जन्मने वाले व मरने वाले नारकों की संख्या जघन्य १-२ है तथा उत्कृष्ट संख्याता-असंख्याता है ॥१०८१-८२॥

१७८ द्वार : लेश्या—

काऊ काऊ तह काऊनील नीला य नीलकिण्हा य।
किण्हा किण्हा य तहा सत्तसु पुढवीसु लेसाओ ॥१०८३॥

—गाथार्थ—

नारकों की लेश्या—**कापोत, कापोत, कापोतनील, नील, नीलकृष्ण, कृष्ण तथा कृष्ण—ये क्रमशः सातों नरक की लेश्यायें हैं ॥१०८३॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

१. रत्नप्रभा	कापोत लेश्या		
२. शर्कराप्रभा	कापोत लेश्या	पूर्व की अपेक्षा से क्लिष्टतर	
३. वालुकाप्रभा	कापोत, नील ले.	पूर्व की अपेक्षा से क्लिष्टतर	ऊपर के प्रतरों में कापोत,
४. पंकप्रभा	नील लेश्या	पूर्व की अपेक्षा से क्लिष्टतर	नीचे के प्रतरों में नील,
५. धूमप्रभा	नील, कृष्ण ले.	पूर्व की अपेक्षा से क्लिष्टतर	ऊपर के प्रतरों में नील,
६. तमःप्रभा	कृष्ण लेश्या	पूर्व की अपेक्षा से क्लिष्टतर	नीचे के प्रतरों में कृष्ण,
७. तमस्तमप्रभा	कृष्ण लेश्या	पूर्व की अपेक्षा से क्लिष्टतम	लेश्या समझनी चाहिए।

पूर्व नरकों की अपेक्षा उत्तरवर्ती नरकों में सजातीय व विजातीय दोनों लेश्यायें क्लिष्टतर और क्लिष्टतम होती हैं।

किसी का मत है कि—नारकी और देवों की जो लेश्याएँ बताई गई है वे द्रव्यलेश्या ही हैं। अन्यथा सातवीं नारकी के जीवों को सम्यक्दर्शन की प्राप्ति का उल्लेख जो आगमों में है, वह कैसे घटेगा? कारण, तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या में ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, प्रथम की तीन लेश्याओं में नहीं। **आवश्यक सूत्र** में कहा है कि—

सम्मत्तस्स य तिसु उवरिमासु पडिवज्जमाणओ होई।

पुव्वपडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेसाए॥

"सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला आत्मा तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या वाला ही होता है। पूर्व प्रतिपन्न अन्य लेश्यावर्ती भी हो सकता है।"

सातवीं नरक के जीवों में तेज, पद्म, शुक्ल लेश्या होती ही नहीं है। उनमें तो मात्र कृष्ण लेश्या ही होती है, अतः उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

तथा सौधर्म देवलोक में केवल तेजोलेश्या ही होती है, किन्तु वह परमात्मा महावीर देव पर भयंकर उपसर्ग करने वाले संगम आदि देवों में नहीं हो सकती, क्योंकि तेजोलेश्या के सद्भाव में परिणाम प्रशस्त होते हैं और प्रशस्त परिणाम में इस प्रकार उपसर्ग करने का भाव नहीं आ सकता।

तथा नरक के जीवों में तीन ही लेश्यायें होती है, यह कथन भी संगत नहीं है। **जीवसमास** में कहा है—नरक में तीन लेश्यायें, द्रव्य लेश्या की अपेक्षा समझना, भाव परावर्तन की अपेक्षा तो वहाँ भी छः लेश्यायें होती है। अतः देव और नरक में प्रतिनियत लेश्यायें बाह्यवर्णरूप द्रव्य लेश्यायें ही समझना।

समाधान—पूर्वोक्त कथन आगम ज्ञान की अबोधता के सूचक हैं। आगम के अनुसार देव और नरक की प्रतिनियत लेश्याओं को बाह्य वर्ण रूप द्रव्य-लेश्या न मानकर ही पूर्वोक्त तीनों शंकाओं का समाधान किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेश्या अर्थात् जीव के शुभाशुभ परिणाम। वे परिणाम कृष्ण, नील, पीत आदि द्रव्य के संयोग से उत्पन्न होते हैं। वे द्रव्य कृष्णादि लेश्या वाले जीवों के सदा सन्निहित रहते हैं। उन द्रव्यों के साहचर्य से आत्मा में जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, मुख्यरूप से तो वे ही लेश्या हैं, किन्तु गौण रूप से उन परिणामों के हेतुभूत द्रव्य भी लेश्या कहलाते हैं। यहाँ नरक और देवों की जो प्रतिनियत लेश्याएँ बताई गईं, वे कृष्णादि द्रव्य रूप लेश्याएँ हैं, क्योंकि उन लेश्या द्रव्यों का उदय देव और नरक के जीवों को अवस्थित होता है। अत: देव और नरक की प्रतिनियत लेश्यायें द्रव्यलेश्या रूप हैं, नहीं कि बाह्य-वर्ण-रूप।

तिर्यंच और मनुष्यों के लेश्या द्रव्य अवस्थित नहीं होते, वे अन्य लेश्याद्रव्यों को पाकर अपने स्वरूप का परित्यागकर उस रूप में परिणत हो जाते हैं, जैसे श्वेतवस्त्र किरमची आदि रंग के सम्पर्क से अपना रूप त्यागकर तद्रूप बन जाते हैं। यदि ऐसा न माना जाये तो ३ पल्योपम की आयु वाले मनुष्य-तिर्यंच की लेश्या की स्थिति जो तीन पल्योपम की बताई है, वह संगत नहीं होगी, कारण स्वाभाविक रूप में लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की ही है। मनुष्य और तिर्यंचों की लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति ३ पल्योपम की परिणमन की अपेक्षा से घटित होती है।

देव और नरक के सम्बन्ध में लेश्या का विचार अलग है। देव और नारकों के लेश्याद्रव्य अन्य लेश्याद्रव्यों के संपर्क में आने पर भी अपने स्वरूप का परित्याग कर अन्य रूप में परिणत नहीं होते, मात्र तदाकार बन जाते हैं। उसके प्रतिबिंब को ग्रहण कर लेते हैं। जैसे मणि में काला धागा पिरो दें तो धागे के कृष्ण वर्ण के सम्बन्ध से मात्र मणि का आकार काला हो जाता है। स्फटिक के पास जपा पुष्पादि (लाल रंग का एक फूल) रखने से स्फटिक, पुष्प के प्रतिबिंब के कारण लाल दिखाई देता है। किन्तु दोनों ही अपने स्वरूप का त्याग कर अन्य रूप में परिणत नहीं होते। अर्थात् प्रथम उदाहरण में मणि का रंग नहीं बदलता और दूसरे उदाहरण में स्फटिक अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता। वैसे यहाँ भी कृष्ण-लेश्या के द्रव्य, नील-लेश्या के द्रव्यों को पाकर कदाचित् नील-लेश्या का आकार ग्रहण कर लेते हैं और कदाचित् उसके प्रतिबिंब को ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु कृष्ण-लेश्या के द्रव्य, सर्वथा नील-लेश्या के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श रूप में परिणत नहीं होते। स्वरूप से तो वे कृष्ण लेश्या के द्रव्य ही रहते हैं। **प्रज्ञापनासूत्र** के लेश्यापद में यही बताया है। विस्तारभय से वह पाठ यहाँ नहीं दिया।

इस प्रकार सातवीं नरक के जीवों से सम्बन्धित कृष्णलेश्या के द्रव्य, तेजोलेश्या के द्रव्य को पाकर जब तदाकार या तत्प्रतिबिंब भाव से युक्त बनते हैं, तब सदा अवस्थित कृष्ण लेश्या के द्रव्य का सम्पर्क होने पर भी तेजो-लेश्या के द्रव्य का प्राबल्य होने से सातवीं नरक के जीवों में भी शुभ-भाव की जागृति होती है, और इसी कारण उनमें सम्यक्त्व पाने की संभावना रहती है। इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

इस प्रकार प्रतिनियत कृष्णलेश्या के द्रव्य का योग होने पर भी सातवीं नरक के जीवों को सम्यक्त्व प्राप्ति में कोई विरोध नहीं है।

प्रश्न—इस प्रकार तो सातवीं नरक में भी तेजोलेश्या का सद्भाव सिद्ध होता है और यह बात आगम विरोधी होने से असंगत है, क्योंकि सूत्र में सातवीं नरक में मात्र कृष्ण-लेश्या का ही सद्भाव बताया है, अत: पूर्वोक्त बात कैसे संगत होगी?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तर—सातवीं नरक के जीवों का सम्पर्क सदा कृष्ण-लेश्या के द्रव्यों के साथ ही रहता है। तेजो-द्रव्य का सम्पर्क तो मात्र आकार या प्रतिबिंब रूप से ही होता है। वह भी यदा-कदा अल्प-समय के लिये। जबकि कृष्ण-लेश्या के द्रव्य तेजो-लेश्या के सम्पर्क काल में भी अपने स्वरूप में विद्यमान रहते हैं। इसीलिए सूत्र में सातवीं नरक के जीवों में केवल कृष्ण-लेश्या ही बताई गई है।

उपर संगम के उपसर्ग को अघटित बताया वह भी ठीक नहीं है। पूर्व कथन के अनुसार वह भी सत्य घटित हो जाता है। प्रतिनियत तेजो-लेश्या के द्रव्यों का सम्पर्क होने पर भी आकार एवं प्रतिबिंब रूप से यदा-कदा कृष्ण-लेश्या का भी संभव रहता है। उस समय अप्रशस्त परिणाम होने से उपसर्ग करने की बात घटित हो सकती है।

भावपरावर्तन की अपेक्षा नारक और देवों में छः ही लेश्यायें होती हैं। इस कथन का नारक और देवों में तीन लेश्या मानने वाले आगम वचन के साथ विरोध होता है। यह बात भी पूर्वोक्त मान्यता से असत्य प्रमाणित हो जाती है, क्योंकि आकार या प्रतिबिंब रूप से भले अन्यान्य लेश्यायें आती जाती हैं, किन्तु सूत्र-सम्मत लेश्या के द्रव्य तो उस समय भी अपने स्वरूप में विद्यमान रहते ही हैं और उन लेश्याओं के परिणाम नष्ट हो जाने के बाद भी वे अपने स्वरूप में यथावस्थित रहते हैं। इस प्रकार प्रायः अवस्थित होने के कारण सातवीं नरक में तीन लेश्याओं का होना भी संग है तथा आकार एवं प्रतिबिंब के आधार से सभी लेश्यायें नरक एवं देव में घट सकती हैं। इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

देव और नारक की द्रव्य लेश्यायें बाह्य-वर्ण रूप न होकर कृष्णादि द्रव्य रूप हैं। इसका सबल प्रमाण है **भगवती** का वह पाठ, जिसमें वर्ण की चर्चा करने के पश्चात् लेश्या की चर्चा की गई है। यदि द्रव्य-लेश्यायें बाह्य-वर्ण रूप होती तो वर्ण की चर्चा से अलग लेश्या की चर्चा करना निरर्थक हो जाता।

देखें—**भगवतीसूत्र** १-२-२१ सूत्र। इसमें प्रथम नारकों के वर्ण की चर्चा करने के पश्चात् लेश्या के बारे में पृथक् चर्चा की है। यथा—

हे भगवन्त! नरक के जीव समानवर्ण वाले हैं? हे गौतम! ऐसा नहीं है। हे भगवन्! ऐसा नहीं होने का क्या कारण है? हे गौतम! नरक के जीव दो प्रकार के हैं—पूर्वोत्पन्न और पश्चात् उत्पन्न। इनमें से जो पूर्वोत्पन्न हैं वे विशुद्धतर वर्ण वाले हैं और जो पश्चात् उत्पन्न हैं वे अविशुद्धतर वर्ण वाले हैं। इसीलिए कहा गया है कि सभी नरक के जीव समान वर्ण वाले नहीं होते।

इस प्रकार वर्ण का स्वरूप बतलाने के पश्चात् लेश्या का स्वरूप बताते हैं। यथा—

हे भगवन्! नरक के जीव समान लेश्या वाले हैं? हे गौतम! ऐसा नहीं है। हे भगवन्! ऐसा नहीं होने का क्या कारण है? हे गौतम! नरक के जीव दो प्रकार के हैं। पूर्वोत्पन्न और पश्चात् उत्पन्न।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो पूर्वोत्पन्न हैं वे विशुद्धतर लेश्या वाले हैं और जो पश्चात् उत्पन्न हैं वे अविशुद्धतर लेश्या वाले हैं। इसीलिये कहा गया है कि सभी नरक के जीव समान लेश्या वाले नहीं हैं।

इस सूत्र में नारकों की लेश्या का वर्णन किया गया है। यदि वर्ण और लेश्या एक होते तो लेश्या का वर्ण से अलग वर्णन करना व्यर्थ सिद्ध होता। अतः लेश्या का वर्ण से अलग वर्णन यह सिद्ध करता है कि द्रव्य लेश्या शारीरिक-वर्णरूप नहीं है और जो परिवर्तित होती है वह भाव-लेश्या है ॥१०८३॥

१७९ द्वार : नारकों का अवधिज्ञान—

चत्तारि गाउयाइं अद्धट्ठाइं तिगाउयं चेव।
अड्ढाइज्जा दोन्नि य दिवड्ढ मेगं च नरयोही ॥१०८४॥

—गाथार्थ—

नारकों का अवधिज्ञान—**सातों नरक में क्रमशः ४ कोस, ३$\frac{१}{२}$ कोस, ३ कोस, २$\frac{१}{२}$ कोस, १$\frac{१}{२}$ कोस तथा १ कोस क्षेत्र परिमाण वाला अवधिज्ञान होता है ॥१०८४॥**

—विवेचन—

नरक	उत्कृष्ट अवधिक्षेत्र	जघन्य अवधि क्षेत्र
१.	४ कोश	३ $\frac{१}{२}$ कोश
२.	३ $\frac{१}{२}$ कोश	३ कोश
३.	३ कोश	२ $\frac{१}{२}$ कोश
४.	२ $\frac{१}{२}$ कोश	२ कोश
५.	२ कोश	१ $\frac{१}{२}$ कोश
६.	१ $\frac{१}{२}$ कोश	१ कोश
७.	१ कोश	० $\frac{१}{२}$ कोश

नरक के जीवों को अपने अवधिज्ञान से पूर्वोक्त दूरी में रहे हुए रूपी पदार्थों का ज्ञान होता है ॥१०८४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८० द्वार : परमाधामी—

अंबे अंबरिसी चेव, सामे य सबलेइ य।
रूद्दो वरुद्द काले य महाकालित्ति आवरे ॥१०८५॥
असिपत्ते धणू कुंभे वालू वेयरणी इय।
खरस्सरे महाघोसे पन्नरस परमाहम्मिया ॥१०८६॥

—गाथार्थ—

परमाधामी—**१. अंब २. अंबरीष ३. श्याम ४. शबल ५. रौद्र ६. उपरौद्र ७. काल ८. महाकाल ९. असिपत्र १०. धनु ११. कुंभ १२. वालुक १३. वैतरणी १४. खरस्वर तथा १५. महाघोष—ये पन्द्रह परमाधामी हैं ॥१०८५-८६॥**

—विवेचन—

परमाधामी—संक्लिष्ट परिणामी और अत्यंत अधार्मिक वृत्ति वाले देव विशेष। ये पन्द्रह प्रकार के हैं—

(i) **अम्ब** — जो नारकों को आकाश में उछालते हैं।

(ii) **अम्बरीष** — जो नारकों के टुकड़े-टुकड़े करके भट्टी में भूंजने लायक बनाते हैं।

(iii) **श्याम** — जो चाबुक या शस्त्रादि के प्रहार से नारकों के टुकड़े करके इधर-उधर फेंकते हैं और वर्ण से श्याम हैं।

(iv) **शबल** — जो नारकों की आंतें, मेद, कलेजा आदि क्रूरतापूर्वक काटते हैं और वर्ण से कर्बुर हैं।

(v) **रौद्र** — जो भाला, त्रिशूल इत्यादि की नोंक पर नारकों को पिरोते हैं। अतिक्रूर होने से इन्हें रौद्र कहा जाता है।

(vi) **उपरौद्र** — जो नारकों के अंग-उपांग को तोडते-मरोड़ते हैं। वे अत्यन्त रौद्र होने से उपरौद्र कहलाते हैं।

(vii) **काल** — जो नरक के जीवों को हांडी इत्यादि में पकाते हैं एवं वर्ण से काले हैं।

(viii) **महाकाल** — जो नारकों के नरम-नरम मांस को काटकर खाते हैं और वर्ण से अत्यन्त काले हैं।

(ix) **असिपत्र** — जो तलवार की धार तुल्य तीक्ष्ण पत्तों वाले वनों की विकुर्वणा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करके उन पर नरक के जीवों को चलाते हैं अथवा वे पत्ते उन पर गिराकर उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े करते हैं।

(x) **धनु** — जो अर्ध-चन्द्रादि आकार वाले बाण फेंककर नारकों के कान, नाक आदि का छेदन करते हैं।

(xi) **कुम्भ** — जो नारकों को कुंभी में डालकर पकाते हैं।

(xii) **वालुक** — कदम्ब पुष्प के आकार वाली या वज्र समान आकार वाली जलती रेत पर चने की तरह नरक के जीवों को सेकते हैं।

(xiii) **वैतरणी** — गर्म किया हुआ रक्त या पिघले हुए शीशे से भरी हुई नदी में नरक के जीवों को अत्यन्त कदर्थना पूर्वक तिराते हैं।

(xiv) **खरस्वर** — जो वज्र-तुल्य तीक्ष्ण काँटों से व्याप्त शाल्मली वृक्ष पर नरक के जीवों को चढ़ाकर तीव्र आवाज करते हैं।

(xv) **महाघोष** — जो भय से भागते हुए नारकों को घोर आवाज करके रोकते हैं।

- **भगवती सूत्र** में महाकाल के पश्चात् नौवां असि है (जो नारकों को तलवार से काटता है) १०वां असिपत्र है। शेष पूर्ववत् है अर्थात् धनु के स्थान पर **भगवती** में असि नाम है।
- पूर्व भव में पंचाग्नि तप आदि अज्ञान कष्ट को करने वाले मनुष्य मरकर अति निर्दय, पापात्मा परमाधामी बनते हैं। आसुरी स्वभाव के कारण प्रथम तीन नरक में ये परमाधामी, नरक के जीवों को विविध प्रकार की वेदना देते हैं।
- अत्यन्त दुःख से पीड़ित नरक के जीवों को देखकर ये परमाधामी, परस्पर झगड़ने वाले मुर्गे, कुत्ते, सांड आदि को देखकर हर्षित होने वाले मुनष्यों की तरह अट्टहास्य करते हैं, उछलते हैं, कूदते हैं। नारकों की कदर्थना को देखकर उन्हें जितना आनन्द आता है, उतना आनन्द रमणीय नाटक देखने में भी नहीं आता है ॥१०८५-८६॥

१८१ द्वार : लब्धि-संभव—

तिसु तित्थ चउत्थीए केवलं पंचमीए सामन्नं।
छट्ठीए विरइऽविरई सत्तमपुढ़वीए सम्मत्तं ॥१०८७॥
पढमाओ चक्कवट्टी बीयाओ रामकेसवा हुंति।
तच्चाओ अरहंता तहऽंतकिरिया चउत्थीओ ॥१०८८॥
उवट्टिया उ संता नेरइया तमतमाओ पुढवीओ।
न लहंति माणुसत्तं तिरिक्खजोणिं उवणमंति ॥१०८९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छट्ठीओ पुढवीओ उव्वट्टा इह अणंतरभवंमि ।
भज्जा मणुस्सजम्मे संजमलंभेण उ विहीणा ॥१०९० ॥

—गाथार्थ—

नरक से आगत जीवों को लब्धि-प्राप्ति—**प्रथम तीन नरक से आगत जीव तीर्थंकर बन सकता है। चतुर्थ नरक से आगत जीव केवलज्ञानी हो सकता है। पाँचवीं नरक से निकलकर साधु, छट्ठी नरक से निकलकर श्रावक तथा सातवीं नरक से निकल कर समकिती बन सकता है ॥१०८७ ॥**

प्रथम नरक से निकलकर चक्रवर्ती, द्वितीय नरक से निकलकर बलदेव, तृतीय नरक से निकल कर अरिहंत एवं चतुर्थ नरक से निकलकर जीव मोक्ष पद प्राप्त करता है। ।१०८८ ॥

—विवेचन—

नारकी	क्या बन सकते हैं?
पहली से तीसरी नरक तक के जीव	तीर्थंकर
पहली से चौथी नरक तक के जीव	केवलज्ञानी (४थी नरक के जीव तीर्थंकर नहीं बनते)
पहली से पाँचवी नरक तक के जीव	साधु
पहली से छट्ठी नरक तक के जीव	देश विरति
पहली से सातवीं नरक तक के जीव	सम्यक्त्वी
विशेष लब्धि संभव—	
पहली नरक से निकले हुए जीव	चक्रवर्ती
दूसरी नरक तक के जीव	बलदेव, वासुदेव
तीसरी नरक तक के जीव	तीर्थंकर
चौथी नरक तक के जीव	मुक्तिगामी
पाँचवीं नरक तक के जीव	साधु बन सकते हैं (केवली नही)
छट्ठी नरक तक के जीव	कदाचित् मनुष्य बनते हैं, कदाचित् नहीं भी बनते। यदि मनुष्य बनते हैं तो भी सर्वविरति प्राप्त नहीं कर सकते।
सातवीं नरक के जीव	नियमत: तिर्यंच ही बनते हैं।

श्रेणिक की तरह पूर्वबद्ध नरकायु वाले जीव ही पहली, दूसरी और तीसरी नरक से निकलकर तीर्थंकर बनते हैं ॥१०८७-९० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८२ द्वार : उपपात—

असन्नी खलु पढमं दोच्चं च सरिसिवा तइय पक्खी ।
सीहा जंति चउत्थिं उरगा पुण पंचमिं पुढविं ॥१०९१ ॥
छट्ठिं च इत्थियाओ मच्छा मणुया य सत्तमिं पुढविं ।
एसो परमुववाओ बोद्धव्वो नरयपुढवीसु ॥१०९२ ॥
वालेसु य दाढीसु य पक्खीसु य जलयरेसु उववन्ना ।
संखिज्जाउठिईया पुणोऽवि नरयाउया हुंति ॥१०९३ ॥

—गाथार्थ—

कौन जीव किस नरक में जाता है? **असंज्ञी जीव प्रथम नरक में, सरीसृप द्वितीय नरक पर्यन्त, पक्षी तृतीय नरक पर्यन्त, सिंह चार नरक पर्यन्त, सर्प पाँच नरक पर्यन्त, स्त्रियाँ छः नरक पर्यन्त तथा मानव और मत्स्य सात नरक पर्यन्त माने जाते हैं। इस प्रकार नरक का उत्पाद समझना चाहिये ॥१०९१-९२ ॥**

नरक में से निकलकर संख्याता आयु वाले सांप, सिंह, गृद्ध तथा मत्स्य आदि बनकर पुनः नरक में उत्पन्न होते हैं ॥१०९३ ॥

—विवेचन—

(i)	असंज्ञी (संमूर्च्छिम) पर्याप्ता पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच	पहली नरक में
(ii)	गर्भज भुजपरिसर्प (गोधा, नोलिया आदि)	दूसरी नरक पर्यंत
(iii)	गर्भज-पक्षी (गृध आदि)	तीसरी नरक पर्यंत
(iv)	गर्भज चतुष्पद (सिंह आदि)	चौथी नरक पर्यंत
(v)	गर्भज उरपरिसर्प (सर्प आदि)	पाँचवी नरक पर्यंत
(vi)	स्त्री (स्त्रीरत्न आदि)	छट्ठी नरक पर्यंत
(vii)	गर्भज जलचर (मत्स्य आदि) और मनुष्य	सातवीं नरक पर्यंत

यह आगति उत्कृष्ट समझना। जघन्यतः रत्नप्रभा के प्रथम प्रतर तक और मध्यम रूप से अपने उत्कृष्ट उत्पाद से पूर्व की नरक तक उत्पन्न होते हैं।

- **विशेष**—नरक से निकलकर जीव संख्याता आयुष्य वाले सांप, सिंह, गीध, मत्स्य आदि में उत्पन्न होते हैं। वहाँ क्रूरता पूर्वक जीव वधादि करने से पुनः नरक में जाते हैं। यह बहुमत की अपेक्षा से घटित होता है। ऐसे तो सांप आदि भी सम्यक्त्व को प्राप्त करके शुभ गति में जाते हैं ॥१०९१-९३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८३ द्वार : १८४ द्वार : उत्पद्यमान— उद्वर्तमान—

एमेव य उव्वट्टणसंखा पुण सुरवराण समा ॥१०८२ ॥

—गाथार्थ—

नारकों की उत्पत्ति एवं च्यवन की संख्या—**नरक जीवों की उत्पत्ति एवं च्यवन की संख्या १०८२ गाथा में देवताओं की उत्पत्ति एवं च्यवन की संख्या के तुल्य बताई गई है।**

—विवेचन—

सातों ही नरक में एक समय में जघन्यत: १-२-३ जीव जन्मते और मरते हैं। उत्कृष्टत: संख्याता और असंख्याता जीव जन्मते और मरते हैं।

इन दोनों द्वारों का वर्णन १७७वें द्वार में आ चुका है अत: पुन: यहाँ नहीं किया गया है।

१८५ द्वार : कायस्थिति—

अस्संखोसप्पिणिसप्पिणीउ एगिंदियाण य चउण्हं।
ता चेव ऊ अणंता वणस्सइए उ बोद्धव्वा ॥१०९४ ॥
वाससहस्सासंखा विगलाणं ठिइउ होइ बोद्धव्वा।
सत्तट्ठभवा उ भवे पणिंदितिरिमणुय उक्कोसा ॥१०९५ ॥

—गाथार्थ—

एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय तथा संज्ञी जीवों की कायस्थिति—**चार एकेन्द्रियों की कायस्थिति असंख्याता उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी परिमाण, वनस्पतिकाय की अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी परिमाण, विकलेन्द्रिय की संख्याता हजार वर्ष तथा पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच-मनुष्य की उत्कृष्ट कायस्थिति सात-आठ भव की होती है ॥१०९४-९५ ॥**

—विवेचन—

कायस्थिति—पृथ्विकायादि के जीव मरकर जितने समय तक एक काय में पुन: पुन: पैदा हो सकते हैं, वह काल जीव की 'कायस्थिति' है।

कायस्थिति का परिमाप, काल और क्षेत्र दो तरह से समझा जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- पृथ्वी, अप्, तेजस् और वायुकाय के जीवों की कायस्थिति, काल की अपेक्षा असंख्याता उत्सर्पिणी अवसर्पिणी है।
- असंख्यात-लोकाकाश के प्रदेशों में से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश का अपहार करने पर जितना समय लगता है इतनी उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल प्रमाण पृथ्वी आदि जीवों की कायस्थिति है।
- काल की अपेक्षा वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट काय-स्थिति अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी है।
- क्षेत्र की अपेक्षा अनन्त लोकाकाश में से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश का अपहार करने पर जितना समय लगता है अर्थात् क्षेत्र की अपेक्षा वनस्पतिकाय की कायस्थिति असंख्येय पुद्गल परावर्त है। यह असंख्याता का प्रमाण आवलिका के असंख्यात भाग में जितने समय होते हैं, तत्तुल्य समझना।
- सूक्ष्म निगोद के जीव दो प्रकार के होते हैं—सांव्यवहारिक और असांव्यवहारिक।

सांव्यवहारिक—सूक्ष्म निगोद से निकलकर जो जीव पृथ्वी आदि में उत्पन्न हो चुके हों अर्थात् जो जीव 'यह पृथ्विकायिक है'...'यह अप्कायिक है' इत्यादि व्यवहार के योग्य बन चुके हों वे सांव्यवहारिक है। एक बार व्यवहार राशि में आने के बाद पुनः निगोद में चले जाने पर भी वह सांव्यवहारिक कहलाता है।

असांव्यवहारिक—जो जीव अनादिकाल से सूक्ष्म निगोद में ही पड़े हैं, अभी तक पृथ्वी आदि व्यवहार दशा में नहीं आये हैं वे असांव्यवहारिक हैं।

पूर्वोक्त कायस्थिति सांव्यवहारिक जीवों की अपेक्षा से है। असांव्यवहारिक जीवों की अपेक्षा से तो वह अनादि है।

अतः मरुदेवी माता के प्रसंग से कोई व्यभिचार नहीं होगा। मरुदेवी माता का जीव वनस्पति से निकलकर मोक्ष गया था किन्तु सांव्यवहारिक जीव होने के कारण उनके मोक्षगमन में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। श्री **जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण** ने कहा है कि—कायस्थिति का कालमान भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न है। जो जीव संव्यवहार से बाह्य हैं, अर्थात् असंव्यावहारिक है, उनकी कायस्थिति अनादि अवश्य है पर कुछ जीवों की अनादि अनंत है व कुछ जीवों की अनादि सांत है। अनादि अनंत कायस्थिति वाले जीव असंव्यवहार राशि से निकलकर कभी भी संव्यवहार राशि में नहीं आयेंगे। जो अनादि सांत स्थिति वाले हैं वे एक दिन अवश्य संव्यवहार राशि में आवेंगे।

- जो असांव्यवहारिक जीव कभी भी व्यवहार राशि में नहीं आयेंगे, उनकी अपेक्षा से कायस्थिति अनादि अनन्त है तथा जो असांव्यवहारिक जीव समय आने पर व्यवहार राशि (पृथ्वी आदि) में उत्पन्न होंगे, उनकी अपेक्षा से कायस्थिति अनादि सान्त हैं।

प्रश्न—अव्यवहार राशि से निकलकर जीव व्यवहार राशि में कैसे आता है?

समाधान— विशेषणवती ग्रंथ में कहा है—यह प्रकृति का नियम है कि जितने जीव व्यवहार राशि से निकलकर सिद्ध बनते हैं, उतने ही जीव अव्यवहार राशि से निकलकर व्यवहार राशि में आ जाते हैं। जो जीव अनादि सूक्ष्म निगोद से निकलकर अन्य जीवनिकाय अर्थात् पृथ्विकाय आदि में उत्पन्न होते हैं, वे जीव पृथ्वि.....अप् आदि विविध व्यवहार के योग्य बन जाने के कारण सांव्यवहारिक कहलाते हैं। किन्तु जो अनादिकाल से सूक्ष्म निगोद में हैं, वे असांव्यवहारिक कहलाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृथ्वि आदि में उत्पन्न हुए सांव्यवहारिक जीव यद्यपि पुनः निगोद में जा सकते हैं तथापि वहाँ वे जीव संव्यवहार राशि के ही कहलाते हैं, क्योंकि अब वे पृथ्वि अप् इत्यादि विविध व्यवहार के योग्य बन चुके हैं। अतः गाथा में उक्त कायस्थिति का कालमान सांव्यवहारिक जीवों का है। असांव्यवहारिक जीव तो अनादि अनंतकाल तक पुनः-पुनः निगोद में ही जन्म-मरण करते रहते हैं, पर कभी भी त्रसादि भाव को प्राप्त नहीं होते।

विकलेन्द्रिय की कायस्थिति संख्याता हजार वर्ष की है। **पंचसंग्रह** में कहा है कि 'विगलाण य वाससहस्स संखेज्ज' अर्थात् विकलेन्द्रिय की संख्याता हजार वर्ष की कायस्थिति है।

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च व संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य की उत्कृष्ट कायस्थिति सात-आठ भव है।

यथा—संज्ञी पंञ्चेन्द्रिय तिर्यंच व मनुष्य यदि सात भव तक सतत तिर्यंच व मनुष्य बने तो संख्याता वर्ष की आयु वाले ही बनते हैं। आठवां भव करे तो युगलिक मनुष्य (असंख्याता वर्ष की आयु वाले) का करते हैं। वहाँ से मरकर देवता बनते हैं। आठों भवों का उत्कृष्ट कालमान पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक (दो पूर्व क्रोड़ से नौ पूर्व क्रोड़) तीन पल्योपम है।

- सभी जीवों की जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है ॥१०९४-९५ ॥

१८६ द्वार : भव-स्थिति—

बावीसई सहस्सा सत्तेव सहस्स तिन्निऽहोरत्ता।
वाए तिन्नि सहस्सा दसवाससहस्सिया रुक्खा ॥१०९६ ॥
संवच्छराइं बारस राइंदिय हुंति अउणपन्नासं।
छम्मास तिन्नि पलिया पुढवाईणं ठिउक्कोसा ॥१०९७।
सण्हा य सुद्ध वालुय मणोसिला सक्करा य खरपुढवी।
एक्कं बारस चउदस सोलस अट्ठार बावीसा ॥१०९८ ॥,

—गाथार्थ—

एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय और संज्ञी जीवों की भवस्थिति—**श्लक्ष्ण, शुद्ध, वालुका, मनशिल, शर्करा तथा खरपृथ्वी की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः एक हजार, बारह हजार, चौदह हजार, सोलह हजार, अट्ठारह हजार तथा बावीस हजार वर्ष है ॥१०९८ ॥**

—विवेचन—

जीव-नाम	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
पृथ्वीकाय	२२ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
श्लक्ष्णपृथ्वी	१ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुद्धा (कुमारमृत्तिका)	१२ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
बालुरेत	१४ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
मनःशिल	१६ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
शर्करा	१८ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
खर पृथ्वी	२२ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
अप्काय	७ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
तेउकाय	३ अहोरात्र	अन्तर्मुहूर्त्त
वायुकाय	३ हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
वनस्पतिकाय	१० हजार वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
द्वीन्द्रिय	१२ वर्ष	अन्तर्मुहूर्त्त
त्रीन्द्रिय	४९ अहोरात्रि	अन्तर्मुहूर्त्त
चतुरिन्द्रिय	६ मास	अन्तर्मुहूर्त्त
पञ्चेन्द्रिय (तिर्यंच व मनुष्य)	३ पल्योपम	अन्तर्मुहूर्त्त

॥१०९६-९८॥

१८७ द्वार : शरीर-परिमाण—

जोयणसहस्समहियं ओहपएगिंदिए तरुगणेसु ।
मच्छजुयले सहस्सं उरगेसु य गब्भजाईसु ॥१०९९॥
उस्सेहंगुलगुणियं जलासयं जमिह जोयणसहस्सं ।
तत्थुप्पन्नं नलिणं विन्नेयं भणिय मित्तंतु ॥११००॥
जं पुण जलहिदहेसुं पमाणजोयणसहस्समाणेसुं ।
उप्पज्जइ वरपउमं तं जाणसु भूवियारंति ॥११०१॥
वणऽणंतसरीराणं एगमनिलसरीरगं पमाणेणं ।
अनलोदगपुढवीणं असंखगुणिया भवे वुड्ढी ॥११०२॥
विगलिंदियाण बारस जोयणा तिन्नि चउर कोसा य ।
सेसाणोगाहणया अंगुलभागो असंखिज्जो ॥११०३॥
गब्भचउप्पय छग्गाउयाइं भुयगेसु गाउयपुहुत्तं ।
पक्खीसु धणुपुहुत्तं मणुएसु य गाउया तिन्नि ॥११०४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

एकेन्द्रिय आदि का शरीर-परिमाण—**वनस्पतिकाय रूप एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट देहमान साधिक एक हजार योजन का है। मत्स्य आदि संमूर्च्छिम और गर्भज जलचरों का तथा सर्प आदि गर्भज उरपरिसर्प का उत्कृष्ट देहमान एक हजार योजन का है ॥१०९९॥**

उत्सेधांगुल से निर्मित योजन की अपेक्षा से एक हजार योजन गहरे जलाशय में उत्पन्न होने वाले कमल की अपेक्षा से वनस्पति का पूर्वोक्त देहमाप घटित होता है। जो समुद्र या जलाशय प्रमाणांगुल की अपेक्षा हजार योजन गहरे हैं उनमें उत्पन्न कमल पृथ्वीकाय के विकाररूप हैं ॥११००-११०१॥

अनंतकाय वनस्पति के शरीर की अपेक्षा सूक्ष्मवायुकाय के शरीर का परिमाण असंख्यगुण अधिक है। वायुकाय की अपेक्षा अग्निकाय का शरीर असंख्यातगुण अधिक है। अग्निकाय की अपेक्षा अप्काय का शरीर असंख्यातगुण अधिक है तथा अप्काय की अपेक्षा पृथ्वीकाय का शरीर असंख्यातगुण बड़ा है ॥११०२॥

विकलेन्द्रिय का शरीर परिमाप क्रमशः बारह योजन, तीन कोस एवं चार कोस है। शेष जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल का असंख्यातवां भाग परिमाण है ॥११०३॥

गर्भज चतुष्पद की अवगाहना छः कोस की, भुजपरिसर्प की कोस पृथक्त्व की, पक्षियों की धनुष पृथक्त्व की एवं मनुष्य की अवगाहना तीन कोस की है ॥११०४॥

—विवेचन—

१. एकेन्द्रिय	१००० योजन साधिक	(यह परिमाप प्रत्येक वनस्पति की अपेक्षा से है।अन्यथा पृथ्वि, अप, तेउ, वायु और साधारण वनस्पति संमूर्च्छिम मनुष्य तथा सभी अपर्याप्त जीवों का जघन्य और उत्कृष्ट शरीर-प्रमाप अंगुल के असंख्यातवें भाग का है)
२. द्वीन्द्रिय	१२ योजन उत्कृष्ट	जघन्य
३. त्रीन्द्रिय	३ कोष उत्कृष्ट	अंगुल का
४. चतुरिन्द्रिय	४ कोष उत्कृष्ट	असंख्यातवां भाग

• वनस्पति का साधिक १००० योजन का शरीर प्रमाण गोतीर्थ, पद्मद्रह आदि में उत्पन्न होने वाली लता, कमलनाल आदि की अपेक्षा से समझना।

पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच—

'व्याख्या करने से विशेष ज्ञान होता है'—इस न्याय के अनुसार पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचों की विस्तार से अवगाहना बताई जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. जलचर (गर्भज सम्मूर्च्छिम पर्याप्ता)	१००० योजन	उत्कृष्ट	जघन्य
२. उरपरिसर्प (गर्भज पर्याप्ता)	१००० योजन	उत्कृष्ट	शरीर
३. चतुष्पद (गर्भज पर्याप्ता)	६ कोस	उत्कृष्ट	प्रमाण
४. भुजपरिसर्प (गर्भज पर्याप्ता)	२ से ९ कोस	उत्कृष्ट	अंगुल
५. भुजपरिसर्प(सम्मूर्च्छिम पर्याप्ता)	२ से ९ धनुष	उत्कृष्ट	का
६. चतुष्पद (सम्मूर्च्छिम पर्याप्ता)	२ से ९ कोस	उत्कृष्ट	असंख्यातवां
७. उरपरिसर्प (सम्मूर्च्छिम पर्याप्ता)	२ से ९ योजन	उत्कृष्ट	भाग
८. खेचर (गर्भज व सम्मूर्च्छिम)	२ से ९ धनुष	उत्कृष्ट	है।

- जघन्य शरीरमान उत्पत्ति के समय होता है।

पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच के २० भेद—

१. जलचर — इसके गर्भज व संमूर्च्छिम दो भेद हैं। इनमें से प्रत्येक के पर्याप्ता-अपर्याप्ता दो-दो भेद हैं। २ × २ = ४ भेद

२. स्थलचर — इसके चतुष्पद, उरपरिसर्प व भुजपरिसर्प तीन भेद हैं। तीनों के गर्भज व समूर्च्छिम दो-दो भेद हैं। इनमें से प्रत्येक के पर्याप्ता और अपर्याप्ता दो-दो भेद हैं—३ × २ × २ = १२ भेद हैं।

३. खेचर — गर्भज व संमूर्च्छिम द्विविध हैं। पर्याप्ता अपर्याप्ता के भेद से प्रत्येक के दो-दो भेद हैं २ × २ = ४ भेद।

कुल मिलाने से ४ + १२ + ४ = २० भेद हुए।

पञ्चेन्द्रिय मनुष्य—

	उत्कृष्ट अवगाहना	**जघन्य अवगाहना**
१. मनुष्य (गर्भज पर्याप्ता)	३ कोस	अंगुल
२. मनुष्य (सम्मूर्च्छिम) तथा सभी अपर्याप्ता की अवगाहना	अंगुल का असंख्यातवां भाग	का असंख्यातवां भाग है।

पूर्वोक्त अवगाहना **प्रज्ञापनासूत्र** के अवगाहना-संस्थानपद के अनुसार कही गई है।

प्रश्न—प्रत्येक वनस्पतिकाय के शरीर का परिमाण साधिक एक हजार योजन का है। इनके शरीर का माप 'उस्सेहपमाणओ मिणसु देहं' इस आगम वचन के अनुसार उत्सेधांगुल से किया जाता है तथा जहाँ ये वनस्पतियाँ उत्पन्न होती है उन समुद्र, पद्मद्रह आदि का माप प्रमाणांगुल से माना जाता है। ऐसी स्थिति में प्रमाणांगुल से एक हजार योजन गहरे समुद्र, पद्मद्रह आदि में उत्पन्न होने वाले कमलनाल आदि की लंबाई उत्सेधांगुल की अपेक्षा से बहुत अधिक (१००० योजन से बहुत अधिक) होगी क्योंकि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्सेधांगुल से प्रमाणांगुल बहुत अधिक बड़ा है। अतः प्रत्येक वनस्पति की उत्सेधांगुल से साधिक एक हजार योजन की अवगाहना कैसे घटित होगी।

उत्तर—पूर्वोक्त दोष यहाँ नहीं होगा, क्योंकि उत्सेधांगुल से साधिक एक हजार योजन की ऊँचाई वाले कमल आदि, 'परमाणु रहरेणू' इत्यादि क्रम से निष्पन्न उत्सेधांगुल से एक हजार योजन गहरे जो समुद्र गोतीर्थ आदि मनुष्य लोक में हैं, उन्हीं में उत्पन्न होते हैं। किन्तु प्रमाणांगुल से एक हजार योजन गहरे समुद्र, पद्मद्रह आदि में जो कमल उत्पन्न होते हैं वे पृथ्वी के विकार रूप हैं। सारांश यह है कि—प्रमाणांगुल से एक हजार योजन गहरे समुद्र आदि में होने वाले कमल पृथ्विकायरूप है जैसे, पद्मसरोवर में लक्ष्मीदेवी का कमल है। किन्तु अन्य गोतीर्थ आदि में जो कमल हैं वे वनस्पति रूप हैं। पूर्वोक्त शरीर परिमाण उन्हीं की अपेक्षा से है। क्योंकि वहाँ लता आदि भी साधिक एक हजार योजन लंबी होती है।

विशेषणवती ग्रन्थ में भी कहा है कि—लक्ष्मीदेवी का निवासरूप कमल पृथ्वी-परिणाम रूप है, किन्तु गोतीर्थ आदि में उत्पन्न होने वाले कमल वनस्पतिरूप हैं। उत्सेधांगुल से एक हजार योजन गहरे शेष जलाशयों में उत्पन्न होने वाली लतायें भी लंबाई की अपेक्षा एक हजार योजन की होती हैं।

यहाँ पृथ्वीकाय आदि का देहमान जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही अंगुल का असंख्यातवां भाग बताया है, किन्तु जघन्य से उत्कृष्ट असंख्यातवां भाग असंख्यात गुण अधिक होता है, क्योंकि असंख्यात के भी असंख्यात प्रकार हैं। जैसे सूक्ष्म साधारण वनस्पति के असंख्यात शरीर = सूक्ष्म वायुकाय का शरीर।

- अर्थात् वायुकाय के शरीर का प्रमाप रूप अंगुल का असंख्यातवां भाग इतना बड़ा है कि उसमें सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय के असंख्यात शरीर का समावेश हो जाता है। आगे भी इसी तरह समझना है।

सूक्ष्म वनस्पतिकाय के शरीर से असंख्यात गुण अधिक बड़ा = सूक्ष्म तेउकाय का शरीर है।
सूक्ष्म तेउकाय के शरीर से असंख्यात गुण अधिक = सूक्ष्म अप्काय का शरीर है।
सूक्ष्म अप्काय के शरीर से असंख्यात गुण अधिक = सूक्ष्म पृथ्वीकाय का शरीर है।
सूक्ष्म पृथ्वीकाय के शरीर से असंख्यात गुण अधिक = बादर वायुकाय का शरीर है।
बादर वायुकाय के शरीर से असंख्यात गुण अधिक = बादर अग्निकाय का शरीर है।
बादर अग्निकाय के शरीर से असंख्यात गुण अधिक = बादर अप्काय का शरीर है।
बादर अप्काय के शरीर से असंख्यात गुण अधिक = बादर पृथ्वीकाय का शरीर है।
बादर पृथ्वीकाय के शरीर से असंख्यात गुण अधिक = बादर निगोद का शरीर है।

वनस्पति के जीव अनन्त हैं, किन्तु उनके शरीर असंख्याता हैं, कारण एक से लेकर असंख्यात शरीर में वनस्पति के अनंत जीव रहते हैं ॥१०९९-११०४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८८ द्वार : इन्द्रिय-स्वरूप—

कायंबपुप्फगोलय मसूर अइमुत्तयस्स कुसुमं च ।
सोयं चक्खू घाणं खुरप्पपरिसंठिअं रसणं ॥११०५ ॥
नाणागारं फासिंदियं तु बाहल्लओ य सव्वाइं ।
अंगुलअसंखभागं एमेव पुहुत्तओ नवरं ॥११०६ ॥
अंगुलपुहुत्त रसणं फरिसं तु सरीरवित्थडं भणियं ।
बारसहिं जोयणेहिं सोयं परिगिण्हए सद्दं ॥११०७ ॥
रूवं गिण्हइ चक्खू जोयणलक्खाओ साइरेगाओ ।
गंधं रसं च फासं जोयणनवगाउ सेसाणि ॥११०८ ॥
अंगुलअसंखभागा मुणंति विसयं जहन्नओ मोत्तुं ।
चक्खुं तं पुण जाणइ अंगुलसंखिज्जभागाओ ॥११०९ ॥

—गाथार्थ—

इन्द्रियों का स्वरूप तथा विषयग्रहण—**कदंब पुष्प के गोलक के आकार वाले कान, मसूर के समान आँख, शिरीष पुष्प के समान नाक, खुरपे जैसी जीभ तथा स्पर्शेन्द्रिय विभिन्न आकृति की होती है। सभी इन्द्रियाँ अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी मोटी एवं चौड़ी होती है ॥११०५-०६ ॥**

रसनेन्द्रिय अंगुलपृथक्त्व विस्तार वाली है। स्पर्शेन्द्रिय शरीर परिमाण विस्तृत है। श्रोत्रेन्द्रिय बारह योजन से आगत शब्द ग्रहण कर सकती है। आँख साधिक लाख योजन दूरस्थ रूप को ग्रहण कर सकती है। शेष इन्द्रियाँ अपने विषय रूप रस, गंध एवं स्पर्श को नौ योजन दूर से ग्रहण कर सकती है ॥११०७-०८ ॥

आँख को छोड़कर शेष चार इन्द्रियाँ जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग की दूरी पर स्थित स्व-स्व विषयों को ग्रहण करती है। चक्षु इन्द्रिय अंगुल के संख्यातवें भाग की दूरी पर स्थित अपने विषय को ग्रहण करती है ॥११०९ ॥

—विवेचन—

इन्द्र = 'इदि' ऐश्वर्ये धातु से बना है। अर्थात् जो ज्ञानादि अनंत ऐश्वर्य से युक्त है वह इन्द्र है। प्रत्येक जीव तीन लोक के ऐश्वर्य से संपन्न होता है। इसलिये उसे इन्द्र कहते हैं। इन्द्र-जीव जिस चिह्न से पहचाना जाये, उसे इन्द्रिय कहते हैं। यह इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति है।

जिससे अपने विषय का ज्ञान होता है, उसे इन्द्रिय कहते हैं। यह इन्द्रिय की परिभाषा है। इसके मुख्य पाँच भेद हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. स्पर्शनेन्द्रिय — जिस इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है वह स्पर्शन-इन्द्रिय—त्वचा।
२. रसनेन्द्रिय — जिस इन्द्रिय से रस का ज्ञान होता है वह है रसन-इन्द्रिय—जीभ।
३. घ्राणेन्द्रिय — जिस इन्द्रिय से गंध का ज्ञान होता है वह है घ्राण-इन्द्रिय—नाक।
४. चक्षुरिन्द्रिय — जिस इन्द्रिय से रूप का ज्ञान होता है वह है चक्षु-इन्द्रिय—आँख।
५. श्रोत्रेन्द्रिय — जिस इन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है वह है श्रोत्र-इन्द्रिय—कान।

इन्द्रिय के दो भेद हैं—

१. द्रव्येन्द्रिय — नाक, कान आदि इन्द्रियों की बाहरी और भीतरी पौद्गलिक रचना (आकार विशेष) को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।
२. भावेन्द्रिय — आत्मा के क्षयोपशम विशेष को भावेन्द्रिय कहते हैं।

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं—निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय।

इन्द्रिय की आकार रचना को निर्वृत्ति-द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। आकार भी दो प्रकार के हैं—**(i)** बाह्य और **(ii)** आभ्यंतर

(i) बाह्य निर्वृत्ति — आँख, कान आदि इन्द्रियों का बाह्य आकार। भिन-भिन्न जीवों की अपेक्षा इन्द्रियों का आकार भिन्न-भिन्न होता है। उदाहरणार्थ मनुष्य के कान लंबे-गोल व सीपं के आकार के होते हैं। किन्तु घोड़े के कान नीचे से चौड़े और ऊपर की ओर जाते-जाते एकदम पतले व तीखे होते हैं।

(ii) आभ्यंतर निर्वृत्ति — आँख, कान आदि इन्द्रियों के बाह्य आकारों के भीतर में स्थित, स्वच्छतर पुद्गलों की रचना। इन्द्रियों का आभ्यंतर आकार निम्न है। जैसे—

- श्रोत्रेन्द्रिय का आभ्यंतर आकार कदंब के फूल जैसा है।
- चक्षुरिन्द्रिय का मसूर की दाल जैसा है।
- घ्राणेन्द्रिय का अतिमुक्तक पुष्प जैसा है।
- रसनेन्द्रिय का खुरपे जैसा है।
- स्पर्शनेन्द्रिय का आकार अनेक प्रकार का होता है क्योंकि जीवों के शरीर का आकार अलग-अलग है। यही कारण है कि स्पर्शन-इन्द्रिय के बाह्य-आभ्यंतर दो भेद नहीं होते क्योंकि उसका आभ्यंतर आकार, बाह्य आकार के समान ही होता है।

(२) उपकरण द्रव्येन्द्रिय — आभ्यंतर निर्वृत्ति के भीतर रहने वाली अपने-अपने विषय की ग्राहक पौद्गलिक शक्ति विशेष उपकरण द्रव्येन्द्रिय है।

प्रश्न—आभ्यंतर निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय में क्या भेद है।

उत्तर—आभ्यंतर निर्वृत्ति है इन्द्रियों की भीतरी पौद्गलिक संरचना और उपकरण है उसके भीतर विद्यमान अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने वाली पौद्गलिक शक्ति। वात, पित्त आदि से उपकरण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्येन्द्रिय का नाश हो जाने पर मात्र आभ्यंतर द्रव्येन्द्रिय से विषयों का ग्रहण नहीं होता। उदाहरणार्थ—बाह्यनिर्वृत्ति है तलवार, आभ्यंतर निर्वृत्ति है तलवार की धार और उपकरण है तलवार की छेदन-भेदन शक्ति।

उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय और आभ्यंतर निर्वृत्ति अपेक्षा भेद से भिन्न और अभिन्न दोनों हैं। भिन्न इस दृष्टि से है कि आभ्यंतर निर्वृत्ति इन्द्रिय का सद्भाव होने पर भी यदि उपकरण इन्द्रिय आहत हो जाती है तो विषय का ज्ञान नहीं होता है। अभिन्न इस दृष्टि से है कि उपकरण इन्द्रिय, आभ्यंतर निर्वृत्ति इन्द्रिय की शक्ति रूप है और शक्ति व शक्तिमान के मध्य अभेद सम्बन्ध होता है।

भावेन्द्रिय के दो भेद हैं—

(१) लब्धि-भावेन्द्रिय — इन्द्रियों से संबद्ध ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का क्षयोपशम लब्धि भावेन्द्रिय है।

(२) उपयोग-भावेन्द्रिय — ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति की प्रवृत्ति को उपयोग भावेन्द्रिय कहते हैं।

नाम	विस्तार	जघन्य विषयमान	उत्कृष्ट विषयमान
१. श्रोत्र	अंगुल का असंख्यातवां भाग	अंगुल के असंख्यातवें भाग की दूरी से आगत शब्द	१२ योजन से आगत शब्द
२. चक्षु	अंगुल का असंख्यातवां भाग	अंगुल के संख्यातवें भाग की दूरी पर स्थित रूप	साधिक १ लाख योजन में स्थित रूप
३. घ्राण	अंगुल का असंख्यातवां भाग	अंगुल के असंख्यातवें भाग से आगत गंध को	९ योजन से आगत गंध को रस को तथा स्पर्श को ग्रहण करती है।
४. रसन	२ से ९ अंगुल	रस को, स्पर्श को	
५. स्पर्शन	स्व-शरीर प्रमाण	ग्रहण करती है।	

- श्रोत्र, चक्षु, घ्राण व रसन इन चारों इन्द्रियों का विस्तार आत्मांगुल से तथा स्पर्शनेन्द्रिय का विस्तार उत्सेधांगुल से मापा जाता है। यदि अन्य इन्द्रियों का विस्तार भी उत्सेधांगुल से ही लिया जाये तो तीन कोस की अवगाहना वाले मनुष्यों को तथा छः कोस की अवगाहना वाले हाथियों को विषय का ज्ञान नहीं होगा। जीभ शरीर के अनुपात में होती है तभी वह अपने विषय को ग्रहण कर सकती है। यदि उसका प्रमाण उत्सेधांगुल से माना जाये तो जीभ शरीर की अपेक्षा अतिअल्प होगी और इतने अल्प प्रमाणवाली जीभ अपने विषय का ज्ञान करने में समर्थ नहीं हो सकती। अतः पूर्वोक्त चारों इन्द्रियों का विस्तार आत्मांगुल से ही लिया जाता है। परन्तु विषयग्रहण का परिमाप सभी इन्द्रियों का आत्मांगुल से ही समझना चाहिये।
- श्रोत्रेन्द्रिय अधिक से अधिक १२ योजन दूर से आये हुए मेघ आदि के शब्द को ग्रहण कर सकती है। इससे अधिक दूर का नहीं। इससे अधिक दूर से आगत शब्द कमजोर हो जाने से इन्द्रिय ग्राह्य नहीं बनता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- 'चक्षुरिन्द्रिय १ लाख योजन से अधिक दूर रहे हुए विषय को ग्रहण करती है' यह कथन निस्तेज पदार्थों की अपेक्षा से है। तेजस्वी चन्द्र, सूर्य आदि पदार्थ तो प्रमाणांगुल से निष्पन्न २१ लाख योजन की दूरी से भी ग्राह्य होते हैं। जैसे पुष्करवरद्वीप के निवासी मनुष्य (मानुषोत्तर पर्वत के निकटवर्ती) कर्क संक्रान्ति के दिन २१३४५३७ योजन दूर से उदय-अस्त होते हुए सूर्य को देख सकते हैं।
- घ्राण-रसन व स्पर्शन ९ योजन दूर स्थित विषय को ही ग्रहण कर सकते हैं। इससे अधिक दूरस्थ को नहीं।
- चक्षुरिन्द्रिय जघन्य से आत्मांगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण दूर रहे हुए विषय को ही ग्रहण कर सकती है। इससे अधिक समीपस्थ को नहीं। कारण, चक्षु अप्राप्यकारी होने से असंयुक्त विषय को ही ग्रहण कर सकती है। अत्यन्त संयुक्त काजल आदि का ज्ञान नहीं कर सकती। अन्यथा इनका भी ज्ञान होने लगेगा।

प्रश्न—स्पर्शनेन्द्रिय की जाड़ाई उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है तो शरीर पर लगे हुए तलवार आदि के घाव की वेदना जो भीतर तक होती है, वह किस प्रकार घटित होगी?

उत्तर—यह प्रश्न वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण ही उठा है। अन्यथा नहीं उठता। वस्तुतः स्पर्शनेन्द्रिय का विषय शीत, उष्ण आदि स्पर्श है। न कि वेदना का अनुभव। तलवार के घात से भीतर शरीर में जो वेदना होती है, वह शीतादि स्पर्शजन्य नहीं है, जो कि त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य हो। वह दुःखानुभव रूप है, जिसे आत्मा अपनी समग्र चेतना से अनुभव करता है। किसी भी शारीरिक वेदना को जीव अपनी समग्र चेतना से ही अनुभव करता है। यही कारण है कि शरीर के किसी एक अंग में पीड़ा होने पर सम्पूर्ण शरीर में पीड़ा का अनुभव होता है।

प्रश्न—शीतल पेय-पदार्थ का पान करते समय भीतर जो शीतलता का अनुभव होता है, वह कैसे घटेगा?

उत्तर—स्पर्शनेन्द्रिय की जाड़ाई पूर्वोक्त है, किंतु शीतलता के अनुभव का कारण अन्य है। केवल बाह्य चमड़ी ही त्वगिन्द्रिय नहीं कहलाती किन्तु शरीर के भीतर की चमड़ी भी स्पर्शेन्द्रिय कहलाती है। स्पर्शेन्द्रिय शरीरव्यापी है। यही कारण है कि शीतल जलादि पीते समय भीतर में शीतलता का अनुभव होता है ॥११०५-११०९॥

१८९ द्वार : जीवों में लेश्या—

पुढवीआउवणस्सइबायरपत्तेसु लेस चत्तारि।
गब्भे तिरियनरेसुं छल्लेसा तिन्नि सेसाणं ॥१११०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

जीवों की लेश्या—**बादर पृथ्विकाय, बादर अप्काय, बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय में चार लेश्याये हैं। गर्भज तिर्यंच और मनुष्य में छः लेश्यायें होती हैं तथा शेष जीवों में तीन लेश्यायें हैं॥११९०॥**

—विवेचन—

१. बादर पर्याप्ता पृथ्वीकाय में कृष्ण, नील, कापोत और तेजो चार लेश्यायें हैं।

२. बादर पर्याप्ता अप्काय में कृष्ण, नील, कापोत और तेजो चार लेश्यायें हैं।

३. प्रत्येक पर्याप्ता वनस्पति में कृष्ण, नील, कापोत और तेजो चार लेश्यायें है—

४. बादर पर्याप्ता तेउकाय में—कृष्ण, नील और कापोत तीन लेश्यायें हैं।

५. बादर पर्याप्ता वायुकाय में —कृष्ण, नील और कापोत तीन लेश्यायें हैं।

६. पाँच सूक्ष्म स्थावर के पर्याप्ता, अपर्याप्ता में—कृष्ण, नील और कापोत तीन लेश्यायें है।

७. पाँच बादर स्थावर के अपर्याप्ता और साधारण वनस्पतिकाय में—कृष्ण, नील और कापोत तीन लेश्यायें हैं।

८. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में—कृष्ण, नील और कापोत तीन लेश्यायें हैं।

९. संमूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय, तिर्यंच और मनुष्य में—कृष्ण, नील और कापोत तीन लेश्यायें हैं।

१०. गर्भज तिर्यंच और मनुष्य में—छः लेश्यायें हैं।

प्रश्न—बादर पर्याप्ता पृथ्वी आदि में तेजो लेश्या कैसे संभव होगी?

उत्तर—ईशान देवलोक तक के देवता मर कर बादर पर्याप्ता पृथ्वी, पानी और वनस्पति में उत्पन्न होते हैं। देव और नारकी के लिये यह नियम है कि वे स्वभव सम्बन्धी लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्त काल शेष रहने पर दूसरे भव में जाते हैं, इस कारण बादर पर्याप्त पृथ्वी आदि में उत्पन्न होने वाले देव-देवभव सम्बन्धी तेजो लेश्या लेकर आते हैं। आगम में कहा है कि—जिन लेश्या द्रव्यों को लेकर जीव मरता है, उत्पन्न होते समय उसकी वही लेश्या होती है। तिर्यंच व मुनष्य आगामी भवसंबंधी लेश्या परिणाम आ जाने के अन्तर्मुहूर्त्त पश्चात् मरते हैं और देव नारक स्वभव सम्बन्धी लेश्या का अन्तर्मुहूर्त्त काल शेष रहने पर मरते हैं। अतः तिर्यंच व मनुष्य में मरने के बाद पूर्वभव सम्बन्धी लेश्या नहीं होती। जबकि देव-नरक के जीवों में मरने के बाद पूर्व भव सम्बन्धी लेश्यायें अन्तर्मुहूर्त्त तक रहती हैं।

लेश्या की स्थिति—

नाम	जघन्य	उत्कृष्ट
१. कृष्ण लेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	अन्तर्मुहूर्त्त
२. नील लेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	अन्तर्मुहूर्त्त
३. कापोत लेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	अन्तर्मुहूर्त्त
४. तेजो लेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	अन्तर्मुहूर्त्त
५. पद्म लेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	अन्तर्मुहूर्त्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. शुक्ल लेश्या अन्तर्मुहूर्त नौ वर्ष न्यून पूर्व क्रोड़-वर्ष

- पूर्व क्रोड वर्ष की आयु वाले आत्मा जो आठ वर्ष की उम्र में दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं उनकी अपेक्षा से शुक्ल लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष न्यून पूर्व क्रोड वर्ष की है। शुक्ल लेश्या की स्थिति पूर्वोक्त स्थिति से अधिक नहीं हो सकती। कारण संयम की स्थिति इतनी ही है। अन्य आत्माओं की अपेक्षा शुक्ल लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की ही है ॥१११० ॥

१९० द्वार : गति—

एगेंदियजीवा जंति नरतिरिच्छेसु जुयलवज्जेसुं ।
अमणतिरियावि एवं नरयंमिवि जंति मे पढमे ॥१११९ ॥
तह संमुच्छिमतिरिया भवणाहिववंतरेसु गच्छंति ।
जं तेसिं उववाओ पलियासंखेज्जआऊसुं ॥१११२ ॥
पंचिदियतिरियाणं उववाउक्कोसओ सहस्सारे ।
नरएसु समग्गेसुवि वियला अजुयलतिरिनरेसु ॥१११३ ॥
नरतिरिअसंखजीवी जोइसवज्जेसु जंति देवेसु ।
नियआउयसमहीणाउएसु ईसाण अंतेसु ॥१११४ ॥
उववाओ तावसाणं उक्कोसेणं तु जाव जोइसिया ।
जावंति बंभलोगो चरगपरिव्वायउववाओ ॥१११५ ॥
जिणवयउक्किट्ठतवकिरियाहिं अभव्वभव्वजीवाणं ।
गेविज्जेसुक्कोसा गई जहन्ना भवणवईसु ॥१११६ ॥
छउमत्थसंजयाणं उववाउक्कोसओ उ सव्वट्ठे ।
उववाओ सावयाणं उक्कोसेणऽच्चुओ जाव ॥१११७ ॥
उववाओ लंतगंमि चउदसपुव्विस्स होइ उ जहन्नो ।
उक्कोसो सव्वट्ठे सिद्धिगमो वा अकम्मस्स ॥१११८ ॥
अविराहियसामन्नस्स साहुणो सावयस्सऽवि जहन्नो ।
सोहम्मे उववाओ वयभंगे वणयराईसुं ॥१११९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेसाण तवसाईण जहन्नओ वंतरेसु उववाओ ।
भणिओ जिणेहिं सो पुण नियकिरियठियाण विन्नेओ ॥११२० ॥

—गाथार्थ—

एकेन्द्रिय आदि की गति—**एकेन्द्रिय जीव अयुगलिक मनुष्य-तिर्यंच में जाते हैं। असंज्ञी तिर्यंच अयुगलिक मनुष्य, तिर्यंच एवं प्रथम नरक में जाते हैं। संमूर्च्छिम तिर्यंच भवनपति और व्यन्तर में जाते हैं। वहाँ उनकी उत्पत्ति पल्योपम के असंख्यातवें भाग की आयु वालों में ही होती है ॥१११-१२ ॥**

उत्कृष्टतः पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच सहस्रार देवलोक तक जाते हैं तथा नीचे सातवीं नरक तक जाते हैं। विकलेन्द्रिय जीव अयुगलिक मनुष्य और तिर्यंच में उत्पन्न होते हैं ॥१११३ ॥

असंख्याता वर्ष की आयु वाले मनुष्य-तिर्यंच, ज्योतिष् देवों को छोड़कर, समान अथवा हीन आयु वाले ईशानदेवलोक में देव बनते हैं ॥१११४ ॥

उत्कृष्टतः तापस ज्योतिष् देव तक जाते हैं। चरक और परिव्राजक ब्रह्मदेवलोक तक उत्पन्न होते हैं ॥१११५ ॥

जिनेश्वर देव के द्वारा कथित व्रत, उत्कृष्ट तप-क्रिया के द्वारा भव्य और अभव्य जीव उत्कृष्टतः ग्रैवेयक तक तथा जघन्यतः भवनपति में जाते हैं ॥१११६ ॥

छद्मस्थ मुनिओं की गति उत्कृष्टतः सर्वार्थसिद्ध विमान है एवं श्रावकों की उत्कृष्ट गति अच्युत देवलोक की है ॥१११७ ॥

जघन्यतः चौदह पूर्वधरों की गति लांतक देवलोक तथा उत्कृष्ट गति सर्वार्थसिद्ध विमान की है। कर्मक्षय होने पर मोक्ष भी जाते हैं ॥१११८ ॥

अविराधक साधु एवं श्रावक जघन्यतः सौधर्मदेवलोक में उत्पन्न होते हैं। व्रतभंग होने पर व्यन्तर आदि में भी जाते हैं ॥१११९ ॥

शेष तापस आदि की जघन्य गति व्यन्तरदेव की है। पूर्वोक्त गतियाँ अपने-अपने आचार का पालन करने में उपयुक्त आत्माओं की अपेक्षा से जिनेश्वर देवों ने कही है ॥११२० ॥

—विवेचन—

१. पृथ्वी, अप्, वनस्पति मरकर संख्याता आयुष्य वाले मनुष्य और तिर्यंच में जाते हैं। तेउ-वायु मरकर मनुष्य में नहीं जाते। कहा है कि सातवीं नरक के नैरइये, तेउ, वायु तथा असंख्याता वर्ष की आयु वाले नर-तिर्यंच मरकर मनुष्य नहीं बनते।

२. असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच मरकर संख्याता आयुष्य वाले नर-तिर्यंच में तथा प्रथम नरक, भवनपति और व्यन्तर में जाते हैं। इससे आगे नहीं जा सकते, कारण ये जीव उत्कृष्ट से भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग की आयु वाले देव में तथा नरक में ही जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. संख्यातावर्ष की आयु वाले संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच मरकर चारों गति में उत्पन्न होते हैं। देव में इनका उपपात आठवें सहस्रार देवलोक तक ही होता है।

४. विकलेन्द्रिय, मरकर संख्याता वर्ष वाले मनुष्य और तिर्यंच में ही जाते हैं।

५. युगलिक खेचर व अन्तर्द्वीप में उत्पन्न होने वाले नर-तिर्यंच, इन का नियम है कि वे मरकर अपनी स्थिति से समान अथवा हीन स्थिति वाले देव में ही उत्पन्न होते हैं। अतः भवनपति और व्यन्तर में ही उत्पन्न होते हैं। कारण ऊपर के देवों की जघन्य स्थिति भी इनकी उत्कृष्ट स्थिति से अधिक होती है। युगलिक खेचर व अन्तर द्वीप में उत्पन्न नर-तिर्यंचों की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का असंख्यातवां भाग मात्र है, जबकि ज्योतिष्, सौधर्म व ईशान देवलोक की जघन्य स्थिति क्रमशः पल्योपम का आठवां भाग तथा एक पल्योपम है।

६. तीस अकर्मभूमि एवं सुषम-सुषमादि तीनों आरों के भरत-ऐरवत क्षेत्रवर्ती युगलिक नर-तिर्यंच मरकर ईशान देवलोक तक जाते हैं क्योंकि ऊपर के देवों की जघन्य स्थिति दो सागर की है जबकि इन युगलिकों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम से अधिक नहीं होती ॥१११३-१११४॥

७. तापस अर्थात् वनवासी, कन्द-मूल फलाहारी बालतपस्वी मरकर उत्कृष्ट रूप से ज्योतिष देवलोक तक जाते हैं। सामान्यतः चारों गति में जाते हैं।

८. चरक-परिव्राजक मरकर उत्कृष्ट से ब्रह्मलोक तक जाते हैं। भिक्षा से जीवन निर्वाह करने वाले त्रिदण्डी, चरक परिव्राजक कहलाते हैं। सामान्यतः चारों गति में जाते हैं।

परिव्राजक = कपिल मुनि के अनुयायी और चरक = मात्र लंगोटधारी ॥१११५॥

९. मिथ्यादृष्टि भव्य या अभव्य श्रमण, उत्कृष्ट से ग्रैवेयक तक (सम्यक्त्व व चारित्र के भाव से शून्य होने पर भी क्रिया के प्रभाव से ग्रैवेयक तक) जाते हैं। जघन्य से भवनपति में जाते हैं। यह देव गति की अपेक्षा से समझना। अन्यथा तो यथाध्यवसाय अन्य गतियों में भी जाते हैं ॥१११६॥

१०. अविराधक छद्मस्थ संयत, उत्कृष्ट से सर्वार्थसिद्ध तक तथा जघन्य से सौधर्म देवलोक तक जाते हैं।

११. अविराधक देशविरति श्रावक, उत्कृष्ट से बारहवें देवलोक तक, जघन्य से सौधर्म देवलोक तक जाते हैं।

- जिसने संयम और व्रतों का पालन अखंड रूप से किया हो, ऐसे साधु व श्रावक की जघन्य स्थिति क्रमशः २ से ९ पल्योपम व एक पल्योपम की है ॥१११७॥

१२. चौदह पूर्वी, उत्कृष्टतः सर्वार्थसिद्ध तक व जघन्यतः लान्तक देवलोक तक जाते हैं।

१३. क्षीणकर्मा चौदहपूर्वी व अन्य मनुष्य, सिद्धिगति में जाते हैं ॥१११८॥

१४. विराधक साधु व श्रावक, जघन्य से भवनपति तक जाते हैं ॥१११९॥

- तापस, चरक, परिव्राजक आदि जघन्यतः व्यन्तर में जाते हैं।
- **प्रज्ञापना** के अनुसार तापस आदि का जघन्यतः उपपात भवनपति में होता है। विराधक साधु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जघन्य से भवनपति में व उत्कृष्ट से सौधर्म देवलोक में जाते हैं तथा श्रावक जघन्य से भवनपति में व उत्कृष्ट से ज्योतिषी में जाते हैं। संख्याता वर्ष की आयुष्य वाले गर्भज पर्याप्ता मनुष्य चारों गति में जाते हैं। गर्भज अपर्याप्ता और संमूर्च्छिम मनुष्य मरकर अयुगलिक नर-तिर्यंच में जाते हैं।

पूर्वोक्त गति अपने-अपने शास्त्र में विहित आचार का पालन करने वाले जीवों की ही समझना। आचारहीन जीवों की तो अन्य गतियाँ भी हो सकती है ॥११२० ॥

१९१ द्वार : आगति—

नेरइयजुयलवज्जा एगिंदिसु इंति अवरगइजीवा।
विगलत्तेणं पुण ते हवंति अनिरय अमरजुयला ॥११२१ ॥
हुंति हु अमणतिरिच्छा नरतिरिया जुयलधम्मिए मोत्तुं।
गब्भचउप्पयभावं पावंति अजुयलचउगइया ॥११२२ ॥
नेरइया अमरावि य तेरिच्छा माणवा य जायंति।
मणुयत्तेणं वज्जित्तु जुयलधम्मियनरतिरिच्छा ॥११२३ ॥

—गाथार्थ—

एकेन्द्रियादि की आगति—**नरक के जीव और युगलिकों को छोड़कर शेष गति के जीव एकेन्द्रिय में जाते हैं। नरक के जीव, देव एवं युगलिकों को छोड़कर शेष जीव विकलेन्द्रिय में जाते हैं ॥११२१ ॥**

युगलिक मनुष्य-तिर्यंचों को छोड़कर शेष मनुष्य-तिर्यंच असंज्ञी तिर्यंच में जाते हैं। युगलिकों को छोड़कर चारों गति के जीव गर्भज चतुष्पद में उत्पन्न होते हैं ॥११२२ ॥

नारक, देव तथा अयुगलिक मनुष्य-तिर्यंच मरकर गर्भज मनुष्य में उत्पन्न होते हैं ॥११२३ ॥

—विवेचन—

१. विकलेन्द्रिय में पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, संख्याता वर्ष की आयु वाले तिर्यंच व मनुष्य उत्पन्न होते हैं।

२. असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच व मनुष्य में संख्याता वर्ष की आयु वाले मनुष्य व तिर्यंच उत्पन्न होते हैं।

३. गर्भज चतुष्पद में युगलिक नर-तिर्यंच को छोड़कर चारों ही गति के शेष जीव उत्पन्न होते हैं, देवता सहस्रार तक के ही लेना, कारण इससे ऊपर के देव केवल मनुष्य में ही उत्पन्न होते है।

४. गर्भज तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय की आगति भी पूर्ववत् समझना। **'जीवाभिगम'** आदि आगमों में पूर्वोक्त चारों गति के जीवों का उत्पाद जलचरादि में भी बताया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. एकेन्द्रिय में एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, संख्याता वर्ष की आयुष्य वाले पञ्चेन्द्रिय मनुष्य व तिर्यंच और ईशान देवलोक तक के देवता उत्पन्न होते हैं। (देवता तेउ, वाउ को छोड़कर मात्र बादर पर्याप्ता, पृथ्वी, अप् और वनस्पति में ही उत्पन्न होते हैं (तथा स्वभाव से)।

६. संख्याता वर्ष की आयु वाले गर्भज पर्याप्ता मनुष्य में नारक, देव अयुगलिक मनुष्य व तिर्यंच उत्पन्न होते हैं। सातवीं नरक के नारक तथा तेउकाय के जीवों को छोड़कर समझना चाहिये।

७. संख्याता आयुष्य वाले गर्भज पर्याप्ता तिर्यंच में देवता, नारकी और अयुगलिक नर तिर्यंच आते हैं (देवता ८वें देवलोक तक ही लेना) ॥११२१-२३॥

१९२-१९३ द्वार : विरहकाल-संख्या—

भिन्नमुहूत्तो विगलेंदियाण संमुच्छिमाण य तहेव।
बारस मुहुत्त गब्भे सव्वेसु जहन्नओ समओ ॥११२४॥
उव्वट्टणावि एवं संखा समएण सुरवरुत्तुल्ला।
नरतिरियसंख सव्वेसु जंति सुरनारया गब्भे ॥११२५॥
बारस मुहुत्त गब्भे मुहुत्त सम्मुच्छिमेसु चउवीसं।
उक्कोस विरहकालो दोसुवि य जहन्नओ समओ ॥११२६॥
एमेव य उव्वट्टणसंखा समएण सुरवरुत्तुल्ला।
मणुएसुं उववज्जेऽसंखाउय मोत्तु सेसाओ ॥११२७॥

—गाथार्थ—

उत्पत्ति-मरण का विरहकाल एवं संख्या—**विकलेन्द्रिय तथा संमूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय की उत्पत्ति का उत्कृष्ट विरहकाल अन्तर्मुहूर्त्त का है। गर्भज पञ्चेन्द्रिय की उत्पत्ति का उत्कृष्ट विरहकाल बारह मुहूर्त्त का है। पूर्वोक्त सभी का जघन्य विरहकाल एक समय का है॥११२४॥**

मरण का विरहकाल उपपात के विरहकाल के तुल्य समझना। इनकी संख्या देवतुल्य समझना। संख्याता वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच सभी गतियों में जाते हैं। देव और नारक गर्भज में उत्पन्न होते हैं॥११२५॥

गर्भज मनुष्य एवं संमूर्च्छिम मनुष्य का उत्कृष्ट विरहकाल क्रमशः बारह मुहूर्त्त तथा चौबीस मुहूर्त्त का है। दोनों का जघन्य विरहकाल एक समय का है। पूर्वोक्त जीवों की एक समय में उत्पत्ति-मरण की संख्या देवों के तुल्य समझना। असंख्यवर्ष की आयु वालों को छोड़कर शेष सभी जीव मनुष्य में उत्पन्न होते हैं॥११२६-२७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

जीव	उत्कृष्ट	जघन्य
१. विकलेन्द्रिय, असंज्ञी-तिर्यंच-पञ्चेन्द्रिय का	अन्तर्मुहूर्त्त	एक समय
२. गर्भज-तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय व गर्भज मनुष्य का	१२ मुहूर्त्त	एक समय
३. संमूर्च्छिम मनुष्य का	२४ मुहूर्त्त	एक समय

● पूर्वोक्त जीवों का मृत्यु-विरह, जन्म-विरह की तरह जानना ॥११२४॥

विकलेन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यंच, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यंच, एक समय में १-२-३ यावत् संख्याता-असंख्याता जन्मते हैं और मरते हैं। यहाँ असंख्याता, गर्भज व संमूर्च्छिम दोनों को मिलाकर समझना चाहिये ॥११२५-२७॥

१९४ द्वार : स्थिति—

भवणवइवाणमंतरजोइसियविमाणवासिणो देवा।
दस अट्ठ पंच छव्वीस संखजुत्ता कमेण इमे ॥११२८॥
असुरा नागा विज्जू सुवन्न अग्गी य वाउ थणिया य।
उदही दीव दिसाविय दस भेया भवणवासीणं ॥११२९॥
पिसाय भूया जक्खा य रक्खसा किन्नरा य किंपुरिसा।
महोरगा य गंधव्वा अट्ठविहा वाणमंतरिया ॥११३०॥
अणपन्निय पणपन्निय इसिवाइय भूयवाइए चेव।
कंदिय तह महकंदिय कोहंडे चेव पयगे य ॥११३१॥
इय पढमजोयणसए रयणाए अट्ठ वंतरा अवरे।
तेसु इह सोलसिंदा रुयगअहो दाहिणुत्तरओ ॥११३२॥
चंदा सूरा य गहा नक्खत्ता तारया य पंच इमे।
एगे चलजोइसिया घंटायारा थिरा अवरे ॥११३३॥
सोहंमीसाण सणंकुमार माहिंद बंभलोयभिहा।
लंतय सुक्क सहस्सार आणयप्पाणया कप्पा ॥११३४॥
तह आरण अच्चुया विहु इण्हिं गेविज्जवरविमाणाइं।
पढमं सुदरिसणं तह बिईयं सुप्पबुद्धंति ॥११३५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तइयं मणोरमं तह विसालनामं च सव्वओभद्दं ।
सोमणसं सोमाणस महपीइकरं च आइच्चं ॥११३६ ॥
विजयं च वेजयंतं जयंतमपराजियं च सव्वट्ठं ।
एयमणुत्तरपणगं एएसिं चउव्विहसुराणं ॥११३७ ॥
चमरबलि सारमहियं सेसाण सुराण आउयं वोच्छं ।
दाहिणदिवड्ढपलियं दो देसूणुत्तरिल्लाणं ॥११३८ ॥
अद्धुट्ठ अद्धपंचमपलिओवम असुरजुयलदेवीणं ।
सेसवणदेवयाण य देसूणद्धपलियमुक्कोसं ॥११३९ ॥
दसभवणवणयराणं वाससहस्सा ठिई जहण्णेणं ।
पलिओवममुक्कोसं वंतरियाणं वियाणिज्जा ॥११४० ॥
पलियं सवरिसलक्खं ससीण पलियं खीणससहस्सं ।
गहणक्खत्ततारा ण पलियमद्धं च चउब्भागो ।११४१ ॥
तद्देवीणवि तट्ठिइअद्धं अहियं तमंतदेविदुगे ।
पाओ जहन्नमट्ठसु तारयतारीणमट्ठंसो ॥११४२ ॥
दो साहि सत्त साहिय दस चउदस सत्तरेव अयराइं ।
सोहम्मा जा सुक्को तदुवरि एक्केक्कमारोवे ॥११४३ ॥
तेत्तीसऽयरुक्कोसा विजयाइसु ठिइ जहन्न इगतीसं ।
अजहन्नमणुक्कोसा सव्वट्ठे अयर तेत्तीसं ॥११४४ ॥
पलियं अहियं सोहंमीसाणेसुं तओऽहकप्पठिई ।
उवरिल्लंमि जहन्ना कमेण जावेक्कतीसऽयरा ॥११४५ ॥
सपरिग्गहेयराणं सोहंमीसाण पलियसाहीयं ।
उक्कोस सत्त वन्ना नव पणपन्ना य देवीणं ॥११४६ ॥

—गाथार्थ—

भवनपति-व्यंतर-ज्योतिषी एवं वैमानिक देवों की स्थिति—**भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी एवं वैमानिक देवों के क्रमशः दस, आठ, पाँच और छब्बीस भेद हैं ॥११२८ ॥**

भवनपति के दस भेद—**असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुवर्णकुमार, अग्निकुमार, वायुकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार तथा दिशिकुमार ॥११२९ ॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गन्धर्व—ये आठ वाणव्यन्तर हैं ॥११३० ॥

अप्रज्ञप्तिक, पंचप्रज्ञप्तिक, ऋषिवादित, भूतवादित, क्रंदित, महाक्रन्दित, कूष्मांड और पतंग—ये आठ व्यन्तर रत्नप्रभा के प्रथम सौ योजन में रहते हैं। इनके सोलह इन्द्र रुचक पर्वत के नीचे उत्तर-दक्षिण दिशा में रहते हैं ॥११३१-३२ ॥

चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र एवं तारा—ये ज्योतिषी देव के पाँच भेद हैं। ये चल और स्थिर दो प्रकार के हैं। स्थिर ज्योतिषी घंटाकार होते हैं ॥११३३ ॥

सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लांतक, शुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण्य और अच्युत—ये बारह देवलोक हैं। सुदर्शन, सुप्रतिबुद्ध, मनोरम, विशाल, सर्वतोभद्र, सुमन, सौमनस, प्रीतिकर, आदित्य—ये नवग्रैवेयक हैं। विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध—ये पाँच अनुत्तर विमान हैं। ये चार प्रकार के देव हैं ॥११३४-३७ ॥

चमरेन्द्र और बलीन्द्र की आयु क्रमशः एक सागर और साधिक एक सागर की है। दक्षिण और उत्तरदिशा के देवों का आयुष्य क्रमशः डेढ़ पल्योपम एवं देशोन दो पल्योपम का है ॥११३८ ॥

असुर-युगल की देविओं की उत्कृष्ट आयु क्रमशः साढ़े तीन और साढ़े चार पल्योपम की है। शेष नौ निकाय की देवियों तथा व्यन्तर देवियों की आयु क्रमशः देशोन एक पल्योपम और आधा पल्योपम है ॥११३९ ॥

भवनपति और व्यन्तर देव-देवियों का जघन्य आयु दस हजार वर्ष का तथा व्यन्तरों का उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम का है ॥११४० ॥

चन्द्र की आयु एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है। सूर्य की आयु हजार वर्षाधिक एक पल्योपम की, ग्रह की आयु एक पल्योपम की, नक्षत्र की आयु आधा पल्योपम की तथा तारा की आयु पल्योपम का चौथा भाग है। इन की देवियों की उत्कृष्ट आयु देवों की आयु से आधी है। पर नक्षत्र और तारा की देवियों की आयु कुछ अधिक आधी है। तारा देव और देवी को छोड़ कर शेष आठ की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग है। तारा देव और देवी की जघन्य आयु पल्योपम का आठवां भाग है ॥११४१-४२ ॥

दो सागर, साधिक दो सागर, सांत सागर, साधिक सात सागर, दस सागर, चौदह सागर, सत्रह सागर क्रमशः सौधर्म से महाशुक्र देवलोक तक के देवों की उत्कृष्ट आयु समझना। इनसे ऊपर के देवलोकों में प्रति देवलोक एक-एक सागर की वृद्धि करने पर विजय आदि चार अनुत्तर विमान में तेंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु होती है। विजयादि चार की जघन्य आयु इकतीस सागर की है। सर्वार्थसिद्ध की अजघन्य-अनुत्कृष्ट आयु तेंतीस सागरोपम की है ॥११४३-४४ ॥

सौधर्म और ईशान देवलोक के देवों की जघन्य स्थिति क्रमशः एक पल्योपम तथा साधिक एक पल्योपम की है। तत्पश्चात् पूर्व देवलोक की उत्कृष्ट स्थिति उत्तर देवलोक की जघन्य स्थिति समझना। इस प्रकार जघन्य स्थिति इकतीस सागर की होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सौधर्म और ईशान देवलोक की देवियों की जघन्य स्थिति क्रमशः एक पल्योपम तथा साधिक एक पल्योपम की है। सौधर्म देवलोक में परिगृहीता देवियों की उत्कृष्ट स्थिति सात पल्योपम की तथा अपरिगृहीता देवियों की उत्कृष्ट स्थिति पचास पल्योपम की है। ईशान देवलोक में परिगृहीता एवं अपरिगृहीता की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः नौ पल्योपम एवं पचपन पल्योपम की है॥१९४-४६॥

—विवेचन—

देव = पूर्वभव सम्बन्धी विशिष्ट पुण्यबल से महान् सुख को पाने वाले प्राणी विशेष। उनके चार प्रकार हैं—

(i) भवनपति **(ii)** व्यतंर **(iii)** ज्योतिष और **(iv)** वैमानिक।

(i) भवनपति — विशेष रूप से जो भवनों में निवास करते हैं, वे भवनपति कहलाते हैं। (यद्यपि नागकुमार आदि देव, भवनों में निवास करते हैं तथा असुरकुमार 'आवास' में रहते हैं, तथापि बाहुल्य की अपेक्षा से सभी 'भवनपति' कहलाते हैं।)

भवन — जो विमान बाहर से वृत्त, भीतर से समचतुरस्र तथा नीचे से कर्णिका युक्त होते हैं, वे भवन कहलाते हैं। वे अनेकविध मणिरत्नों के प्रकाश से समस्त दिशाओं को आलोकित करते हैं।

आवास — जो विमान देह प्रमाण बड़े मण्डप की तरह होते हैं, वे आवास कहलाते हैं।

(ii) वाणव्यन्तर-व्यन्तर — विविध अन्तरालों में अर्थात् पर्वत, गुफा, वन आदि के अन्तराल मध्य में निवास है जिनका वे 'वनान्तर' कहलाते हैं। अथवा चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि पुण्यपुरुषों की दास की तरह सेवा करने से जिनमें मनुष्यों की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है ऐसे देव 'विगतान्तरा' भी कहलाते हैं। प्राकृत 'वाणमंतर' ऐसा पाठ है अथवा 'वानमंतरा' ऐसा संस्कारित पद है। इसका अर्थ है कि—वनों के अन्तर, 'वनान्तर' हैं और उनमें उत्पन्न होने वाले अथवा रहने वाले देव विशेष 'वानमन्तर' कहलाते हैं। यहाँ 'वन + अन्तर' के मध्य 'म' पृषोदरादि मान कर हुआ है। यह 'वानमन्तर' शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त है। प्रवृत्ति निमित्त तो सर्वत्र 'जातिभेद' है।

(iii) ज्योतिष — विश्व को आलोकित करने वाले विमानों के वासी देव ज्योतिष् कहलाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(iv) वैमानिक — जिसमें पुण्यवान जीव विविध प्रकार से सुखोपभोग करते हैं, वे विमान कहलाते हैं और उनमें रहने वाले देव वैमानिक देव कहलाते हैं।

भवनपति आदि देवों के क्रमशः दस, आठ, पाँच एवं छब्बीस भेद हैं।

	भवनपति के भेद	दक्षिणेन्द्र	स्थिति	उत्तरेन्द्र	स्थिति
(i)	असुरकुमार	चमरेन्द्र	१ सागरोपम	बलीन्द्र	१ सागरोपम साधिक
(ii)	नागकुमार	धरणेन्द्र	डे	भूतानंद	दे
(iii)	सुपर्णकुमार	वेणुदेव	ढ	हरिसह	शोन
(iv)	विद्युत्कुमार	हरि		वेणुदाली	दो
(v)	अग्निकुमार	अग्निशिख	प	अग्निमाणव	प
(vi)	वायुकुमार	वेलंब	ल्यो	प्रभंजन	ल्यो
(vii)	स्तनितकुमार	सुघोष	प	महाघोष	प
(viii)	उदधिकुमार	जलकानत	म	जलप्रभ	म
(ix)	द्वीपकुमार	पूर्ण	आ	वशिष्टक	आ
(x)	दिक्कुमार	अमित	यु	मितवाहन	यु

- ये देव मेरु पर्वत के उत्तर और दक्षिण में रहते हैं। दोनों दिशा के इन्द्र अलग-अलग होने से कुल मिलाकर भवनपति निकाय के = २० इन्द्र हैं। उत्तरवर्ती इन्द्र स्वभाव से शुभ हैं, पर दक्षिण दिशावर्ती उग्र स्वभाव वाले हैं।

देवों की स्थिति—

(i)	उत्तर दिशा में चमरेन्द्र की देवी की	साढ़े तीन पल्योपम की है।	दक्षिणदिशा में बलीन्द्र की देवी की	साढ़े चार पल्योपम की है
(ii)	नागकुमार आदि नव निकाय के अधिपतियों की देवी की	देशोन एक पल्योपम की है।	नागकुमार आदि नव निकाय के अधिपतियों की देवी की	अर्धपल्योपम की है।

प्रश्न—ये देव कुमार क्यों कहलाते हैं?

उत्तर—ये देव बालक की तरह सतत क्रीड़ा मग्न रहने से कुमार कहलाते हैं। जैसे बालक सजने-संवरने का शौकीन होता है वैसे ये भी अनेक प्रकार के रूप बदलते रहते हैं। अनेक प्रकार की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाषा बोलते हैं। तरह-तरह के आभूषण, प्रहरण, वाहन आदि की विकुर्वणा करते हैं। अत्यन्त क्रीड़ासक्त रहते हैं।

जघन्य स्थिति—पूर्वोक्त सभी की जघन्य स्थिति १०००० वर्ष की है।

व्यन्तर, वाण-व्यन्तर—

व्यन्तर — रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर १००० योजन विस्तृत रत्नकांड में से ऊपर और नीचे १००-१०० योजन छोड़कर ८०० योजन के मध्य रुचक पर्वत के उत्तर और दक्षिण में व्यन्तर देवों के नगर हैं। दोनों दिशा के इन्द्र अलग-अलग होने से १६ इन्द्र हैं।

वाणव्यन्तर — रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपरवर्ती १०० योजन में से ऊपर-नीचे १०-१० योजन छोड़कर बीच के ८० योजन प्रमाण रत्नकांड के उत्तर, दक्षिण भाग में, वाणव्यन्तर देवों के नगर हैं। इनके भी इन्द्र अलग-अलग होने से = १६ हैं।

व्यन्तर देवों के भेद—

	व्यन्तर	दक्षिणेन्द्र	उ० स्थिति	उत्तरेन्द्र	उ० स्थिति	ज० स्थिति
(i)	भूत	महाकाल	ए	किंपुरुष	ए	इन सबकी
(ii)	पिशाच	काल	क	किन्नर	क	जघन्य
(iii)	यक्ष	सुरूप	प	सत्पुरुष	प	स्थिति
(iv)	राक्षस	प्रतिरूपक	ल्यो	महापुरुष	ल्यो	दस
(v)	किन्नर	पूर्णभद्र	प	अतिकाय	प	हजार
(vi)	किंपुरुष	मणिभद्र	म	महाकाय	म	वर्ष की
(vii)	महोरग	भीम	आ	गीतरति	आ	है।
(viii)	गन्धर्व	महाभीम	यु	गीतयश	यु	
	वाणव्यन्तर	**दक्षिणेन्द्र**	**उत्कृष्ट स्थिति**	**उत्तरेन्द्र**	**उत्कृष्ट स्थिति**	**जघन्य स्थिति**
(i)	अप्रज्ञप्तिका	संनिहित	ए	सामान	ए	इन
(ii)	पंचप्रज्ञप्तिका	धाता	क	विधाता	क	सबकी
(iii)	ऋषिवादी	ऋषि	प	ऋषिपाल	प	जघन्य
(iv)	भूतवादी	ईश्वर	ल्यो	महेश्वर	ल्यो	स्थिति
(v)	क्रन्दित	सुवत्स	प	विशाल	प	दस
(vi)	महाक्रंदित	हास्य	म	हास्यरति	म	हजार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(vii)	कूष्माण्ड	श्वेत	आ	महाश्वेत	आ	वर्ष
(viii)	पतंग	पतंग	यु	पतंगपति	यु	की है।

उत्तरदिशा में	**उ० स्थिति**	**दक्षिणदिशा में**	**उ० स्थिति**	**ज०स्थिति**
व्यन्तरी	अर्ध	व्यन्तरी	सभी की	सभी की
वाणव्यन्तरी	पल्यो-	वाणव्यन्तरी	पल्योपम	दस हजार
देवी की स्थिति	पम	देवी की स्थिति	की है।	वर्ष की है।

'श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः' इस कथन को आधार मानकर कुछ आचार्य वाण-व्यन्तर देवी की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की मानते हैं वह आगम से असंमत है। **प्रज्ञापना** में कहा है कि—हे भगवन्! वाणव्यन्तर देवी की आयु कितनी हैं? हे गौतम! वाणव्यन्तर देवी की जघन्य आयु दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु आधापल्योपम है। वास्तव में श्री आदि देवियाँ भवनपतिनिकाय की हैं। जैसे कि **संग्रहणी की टीका** में **हरिभद्रसूरि** जी म. ने कहा है कि 'तासां भवनपतिनिकायान्तर्गतत्वात्।' श्री आदि देवियाँ भवनपतिनिकाय की है।

ज्योतिषी—इनके दो भेद हैं—**(i)** चर—मनुष्य क्षेत्रवर्ती, मेरु पर्वत के चारों ओर प्रदक्षिणा के रूप में भ्रमण करने वाले चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा = ५

(ii) स्थिर—मानुषोत्तर पर्वत के बाहर स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त घण्टे की तरह आकाश में स्थिर रहने वाले चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा = ५

चर ज्योतिषी ५ + ५ स्थिर = १० भेद

ज्योतिष् देव	स्थिति उ०	**ज्योतिष् देवी**	**स्थिति उ०**	**जघन्य**
चन्द्र व उसके विमानवासी देव	१ लाख वर्ष अधिक १ पल्योपम की	चन्द्र की देवी तथा विमानवासी देवियाँ	अर्धपल्योपम और पचास हजार वर्ष	पल्योपम का चौथा भाग
सूर्य तथा उसके विमानवासी देव	१ पल्योपम और १ हजार वर्ष अधिक	सूर्य की देवी तथा विमानवासी देवियाँ	अर्धपल्योपम और ५०० वर्ष	पल्योपम का चौथा भाग
ग्रह तथा उसके विमानवासी देव	१ पल्योपम की	ग्रहदेवी तथा विमानवासी देवियाँ	अर्ध पल्योपम की	पल्योपम का चौथा भाग
नक्षत्र तथा उसके विमानवासी देव	अर्ध पल्योपम की	नक्षत्रदेवी तथा विमानवासी देवियाँ	पल्योपम का चौथा भाग कुछ अधिक	पल्योपम का चौथा भाग
तारा तथा विमान-वासी देव	पल्योपम का चौथा भाग	तारा देवी तथा विमानवासी देवियाँ	कुछ अधिक पल्योपम का आठवां भाग	पल्योपम का आठवां भाग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि सूर्य-चन्द्र असंख्याता हैं, तथापि सजातीय होने से ज्योतिष् देवों के दो ही इन्द्र होते हैं—चन्द्र और सूर्य।

वैमानिक—इसके दो भेद हैं—

(i) कल्पोपपन्न — कल्प अर्थात् आचार, जहाँ इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि की व्यवस्था हो। वे बारह हैं।

- पहले देवलोक से १२वें देवलोक तक के देव कल्पोपपन्न कहलाते हैं।

(ii) कल्पातीत — जिनमें पूर्वोक्त व्यवहार (सेव्य-सेवक भाव) नहीं होता किन्तु सभी देव समान होते हैं वे कल्पातीत है।

- नवग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर वासी देव कल्पातीत कहलाते हैं। 'ग्रीवायाँ भवानि = ग्रैवेयकानि'
- अनुत्तर—जिनसे श्रेष्ठ अन्य कोई विमान नहीं है, वे अनुत्तर कहलाते हैं।

(न विद्यन्ते उत्तराणि प्रधानानि विमानानि येभ्यस्तानि =अनुत्तराणि)

देवलोक १२ + ग्रैवेयक ९ + अनुत्तर ५ = २६ वैमानिक हैं।

	१२ देवलोक	**उत्कृष्ट स्थिति**	**जघन्य स्थिति**
(i)	सौधर्म	२ सागरोपम	१ पल्योपम
(ii)	ईशान	२ सागरोपम अधिक	साधिक पल्योपम
(iii)	सनत्कुमार	७ सागरोपम	२ सागरोपम
(iv)	महेन्द्र	७ सागरोपम	२ सागरोपम
(v)	ब्रह्मलोक	१० सागरोपम	७ सागरोपम
(vi)	लान्तक	१४ सागरोपम	१० सागरोपम
(vii)	महाशुक्र	१७ सागरोपम	१४ सागरोपम
(viii)	सहस्रार	१८ सागरोपम	१७ सागरोपम
(ix)	आनत	१९ सागरोपम	१८ सागरोपम
(x)	प्राणत	२० सागरोपम	१९ सागरोपम
(xi)	आरण्य	२१ सागरोपम	२० सागरोपम
(xii)	अच्युत	२२ सागरोपम	२१ सागरोपम
	९ ग्रैवेयक	**देवस्थिति उत्कृष्ट**	**देवस्थिति जघन्य**
(i)	सुदर्शन	२३ सागरोपम	२२ सागरोपम
(ii)	सुप्रबुद्ध	२४ सागरोपम	२३ सागरोपम
(iii)	मनोरम	२५ सागरोपम	२४ सागरोपम
(iv)	विशाल	२६ सागरोपम	२५ सागरोपम
(v)	सर्वतोभद्र	२७ सागरोपम	२६ सागरोपम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(vi)	सुमन	२८ सागरोपम	२७ सागरोपम
(vii)	सोमनस्	२९ सागरोपम	२८ सागरोपम
(viii)	प्रीतिकर	३० सागरोपम	२९ सागरोपम
(ix)	आदित्य	३१ सागरोपम	३० सागरोपम
	५ अनुत्तर	**देवस्थिति उत्कृष्ट**	**देवस्थिति जघन्य**
(i)	विजय	३३	३१
(ii)	वैजयंत	साग	साग
(iii)	जयन्त	रो	रो
(iv)	अपराजित	प	पम
(v)	सर्वार्थसिद्ध	म	है

वैमानिक देवी की जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति—

- वैमानिक देवियों की उत्पत्ति प्रथम व द्वितीय देवलोक में ही होती है। देवियाँ दो प्रकार की हैं—**(i)** परिगृहीता व **(ii)** अपरिगृहीता।
  (i) परिगृहीता देवियाँ कुलपत्नी की तरह होती हैं।
  (ii) अपरिगृहीता देवियाँ वेश्या की तरह होती हैं।
- सौधर्म देवलोक में दोनों की जघन्य स्थिति १ पल्योपम की है।
- ईशान देवलोक में दोनों की जघन्य स्थिति साधिक १ पल्योपम की है।
- सौधर्म देवलोक में दोनों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः ७ पल्योपम व ५० पल्योपम की है।
- ईशान देवलोक में दोनों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः ९ पल्योपम व ५५ पल्योपम की है।

अतर—जो तरा न जा सके अथवा जो बहुत समय बाद पूर्ण हो। इस परिभाषा के अनुसार सागरोपम भी 'अतर' कहलाता है।

वैमानिक के १० इन्द्र हैं। आठ देवलोक के ८ इन्द्र और ९-१०वें का एक और ११-१२वें का एक, इस प्रकार कुल मिलाकर ८ + २ = १० इन्द्र हैं।

चारों निकाय के कुल मिलाकर, भवनपति के २० + ३२ व्यन्तरेन्द्र + २ ज्योतिष + १० वैमानिक के = ६४ इन्द्र हैं ॥११२८-४६॥

१९५ द्वार : भवन—

सत्तेव य कोडीओ हवंति बावत्तरी सयसहस्सा।
एसो भवणसमासो भवणवईणं वियाणिज्जा ॥११४७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चउसट्ठी असुराणं नागकुमाराण होइ चुलसीई।
बावत्तरि कणगाणं वाउकुमाराण छन्नउई ॥११४८॥
दीवदिसाउदहीणं विज्जुकुमारिंदथणियअग्गीणं।
छण्हंपि जुयलयाणं बावत्तरिमो सयसहस्सा ॥११४९॥
इह संति वणयराणं रम्मा भोमनयरा असंखिज्जा।
तत्तो संखिज्जगुणा जोइसियाणं विमाणाओ ॥११५०॥
बत्तीसऽट्ठावीसा बारस अट्ठ चउरो सयसहस्सा।
आरेण बंभलोया विमाणसंखा भवे एसा ॥११५१॥
पंचास चत्त छच्चेव सहस्सा लंत सुक्क सहस्सारे।
सय चउरो आणयपाणएसु तिन्नारणच्चुयए ॥११५२॥
एक्कारसुत्तरं हेट्ठिमेसु सत्तुत्तरं च मज्झिमए।
सयमेगं उवरिमए पंचेव अणुत्तरविमाणा ॥११५३॥
चुलसीई सयसहस्सा सत्ताणउई भवे सहस्साइं।
तेवीसं च विमाणा विमाणसंखा भवे एसा ॥११५४॥

—गाथार्थ—

देवों के भवन—**भवनपति देवों के भवन की कुल संख्या सात करोड़ बहत्तर लाख है ॥११४७॥**

असुरकुमार देवों की भवन संख्या चौसठ लाख, नागकुमार की चौरासी लाख, सुवर्णकुमार की बहोत्तर लाख, वायुकुमार की छन्नु लाख, द्वीपकुमार, दिक्कुमार उदधिकुमार, विद्युत्कुमार स्तनित कुमार एवं अग्निकुमार—इनमें से प्रत्येक की भवन संख्या छिहोत्तर लाख है ॥११४८-४९॥

यहाँ व्यन्तरों के अत्यन्त रमणीय असंख्याता नगर है। उससे संख्यात गुण अधिक ज्योतिषी के नगर हैं ॥११५०॥

सौधर्म देवलोक से ब्रह्मदेवलोक पर्यन्त विमानों की संख्या क्रमशः बत्तीस लाख, अट्ठावीस लाख, बारह लाख, आठ लाख एवं चार लाख है ॥११५१॥

लांतक, महाशुक्र तथा सहस्रार में क्रमशः पचास हजार, चालीस हजार तथा छः हजार विमान हैं। आनत-प्राणत और आरण-अच्युत युगल में क्रमशः चार सौ और तीन सौ विमान हैं ॥११५२॥

निम्न ग्रैवेयक त्रिक में एक सौ ग्यारह, मध्यम ग्रैवेयक त्रिक में एक सौ सात एवं ऊपरवर्ती ग्रैवेयक त्रिक में एक सौ विमान हैं। अनुत्तर पाँच विमान हैं ॥११५३॥

कुल मिलाकर चौरासी लाख सत्ताणु हजार तेवीस विमान वैमानिक देवों के हैं।॥११५४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

भवनपति के भवन-रत्नप्रभा नरक की १,८०,००० योजन की मोटाई में से ऊपर नीचे १०००-१००० योजन छोड़कर शेष बचे हुए १,७८,००० योजन प्रमाण मध्य भाग में भवनपति देवों के भवन हैं।

अन्यमतानुसार—ऊपर से ९०००० योजन छोड़कर देवों के भवन हैं।

अन्यमतानुसार—ऊपर नीचे १००० योजन छोड़कर सर्वत्र भवन हैं।

	देव	दक्षिणोत्तर	भवनों की संख्या
(i)	असुरकुमार	६४,००,०००	भवन संख्या
(ii)	नागकुमार	८४,००,०००	भवन संख्या
(iii)	सुवर्णकुमार	७२,००,०००	भवन संख्या
(iv)	वायुकुमार	९६,००,०००	भवन संख्या
(v)	द्वीपकुमार	७६,००,०००	भवन संख्या
(vi)	दिक् कुमार	७६,००,०००	भवन संख्या
(vii)	उदधि कुमार	७६,००,०००	भवन संख्या
(viii)	विद्युत कुमार	७६,००,०००	भवन संख्या
(ix)	स्तनित कुमार	७६,००,०००	भवन संख्या
(x)	अग्नि कुमार	७६,००,०००	भवन संख्या
	कुल भवन	७,७२,००,०००	॥११४७-११४९॥

व्यन्तर नगर—रत्नप्रभा नरक के ऊपर-नीचे के १००० योजन में से १००-१०० योजन छोड़कर शेष ८०० योजन में व्यन्तर नगर हैं। वे बड़े रम्य हैं। वहाँ व्यन्तर देव, देवियों के साथ गीत, नृत्यादि का आनन्द लेते हुए सदा मग्न रहते हैं।

संख्या—असंख्याता हैं। मनुष्य क्षेत्र के बाहर द्वीप-समुद्र में जो व्यन्तर नगर हैं उनका स्वरूप 'जीवाभिगम' में स्पष्ट किया है।

ज्योतिष् के विमान—समभूतला पृथ्वी से ७९० योजन ऊपर ११० योजन के विस्तार में ज्योतिष् देवों के विमान हैं।

संख्या—व्यन्तर नगरों की अपेक्षा से संख्यातगुण अधिक होते हैं॥११५०॥

	१२ देवलोक की	विमान संख्या		ग्रैवेयक	विमान संख्या
(i)	सौधर्म	३२,००,०००	(i)	सुदर्शन	१११
(ii)	ईशान	२८,००,०००	(ii)	सुप्रतिबुद्ध	
(iii)	सनत्कुमार	१२,००,०००	(iii)	मनोरम	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(iv)	माहेन्द्र	८०,००००	(iv)	विशाल	
(v)	ब्रह्मलोक	४,००,०००	(v)	सर्वतोभद्र	१०७
(vi)	लांतक	५०,०००	(vi)	सुमन	
(vii)	महाशुक्र	४०,०००	(vii)	सौमनस्	१००
(viii)	सहस्रार	६,०००	(viii)	प्रीतिकर	
(ix)	आनत	चार सौ	(ix)	आदित्य	
(x)	प्राणत	चार सौ	(x)	अनुत्तर	५
(xi)	आरण	तीन सौ			
(xii)	अच्युत	तीन सौ			

कुल विमानों की संख्या ८४,९७,०२३ है ॥११५१-११५४ ॥

१९६ द्वार : देहमान—

भवणवणजोइसोहम्मीसाणे सत्त हुंति रयणीओ ।
एक्केक्कहाणि सेसे दु दुगे य दुगे चउक्के य ॥११५५ ॥
गेविज्जेसुं दोन्नि य एगा रयणी अणुत्तरेसु भवे ।
भवधारणिज्ज एसा उक्कोसा होइ नायव्वा ॥११५६ ॥
सव्वेसुक्कोसा जोयणाण वेउव्विया सयसहस्सं ।
गेविज्जणुत्तरेसुं उत्तरवेउव्विया नत्थि ॥११५७ ॥
अंगुलअसंखभागो जहन्न भवधारणिज्ज पारंभे ।
संखेज्जा अवगाहण उत्तरवेउव्विया सावि ॥११५८ ॥

—गाथार्थ—

देवों की अवगाहना—**भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी एवं सौधर्म-ईशान देवलोक के देवों की अवगाहना सात हाथ की है। ऊपर के तीन युगल एवं देवलोक चतुष्क में एक-एक हाथ न्यून अवगाहना होती है। नौ ग्रैवेयक में दो हाथ एवं पाँच अनुत्तर विमान में एक हाथ की अवगाहना है। पूर्वोक्त अवगाहना भवधारणीय शरीर की अपेक्षा से समझना चाहिये ॥११५५-५६ ॥**

चारों निकाय के देवों की उत्तरवैक्रिय अवगाहना एक लाख योजन की है। ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान में उत्तर वैक्रिय शरीर नहीं होता ॥११५७ ॥

देवों के भवधारणीय शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग की है तथा उत्तर वैक्रिय की जघन्य अवगाहना अंगुल के संख्यातवें भाग की है ॥११५८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

देवों का शरीर प्रमाण दो प्रकार का है—(i) भवधारणीय (ii) उत्तरवैक्रिय ।

भवधारणीय—जन्म से उपलब्ध शरीर प्रमाण।

उत्तरवैक्रिय—वैक्रिय शक्ति से बनाया गया शरीरप्रमाण।

(i) भवधारणीय—

(१)	भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी,	७ हाथ
	१-२ देवलोक	७ हाथ
(२)	तीसरा-चौथा देवलोक	६ हाथ
(३)	पाँचवां-छठा देवलोक	५ हाथ
(४)	सातवां-आठवां देवलोक	४ हाथ
(५)	९- १०-११-१२वां देवलोक	३ हाथ
(६)	नौ ग्रैवेयक	२ हाथ
(७)	अनुत्तर विमान	१ हाथ

उपरोक्त देवों की भवधारणीय जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। जघन्य अवगाहना का यह माप शरीर-रचना के प्रारम्भकालीन है ॥११५५-११५६ ॥

(ii) उत्तरवैक्रिय—

उपरोक्त देवों की (नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर को छोड़कर) उत्तरवैक्रिय उत्कृष्ट अवगाहना एक लाख योजन प्रमाण है।

- नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर को छोड़कर उपरोक्त देवों की उत्तरवैक्रिय जघन्य अवगाहना अंगुल का संख्यातवां भाग है।
- उत्तरवैक्रिय पर्याप्त अवस्था में ही होता है इसलिये उस समय छोटे से छोटा शरीर भी बनाना चाहे तो अंगुल के संख्यातवें भाग जितना ही बनाया जा सकता है, क्योंकि जीव प्रदेशों का संकोच इतना ही हो सकता है।
- नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तरवासी देवों के उत्तरवैक्रिय शरीर नहीं होता, क्योंकि उत्तरवैक्रिय शरीर गमनागमन तथा परिचारणा (विषय-सेवन) के निमित्त ही बनाया जाता है और इन देवों के ये प्रयोजन नहीं होते ॥११५७-५८ ॥

१९७ द्वार : लेश्या—

किण्हा नीला काऊ तेऊलेसा य भवणवंतरिया।
जोइससोहंमीसाण तेऊलेसा मुणेयव्वा ॥११५९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कप्पे सणंकुमारे माहिंदे चेव बंभलोए य।
एएसु पम्हलेसा तेण परं सुक्कलेसाओ ।११६० ॥

—गाथार्थ—

देवों की लेश्या—**भवनपति और व्यन्तर देवों में कृष्ण, नील, कापोत और तेज—चार लेश्यायें हैं। ज्योतिषी, सौधर्म एवं ईशान देवों में तेजो लेश्या है। सनत्कुमार, माहेन्द्र एवं ब्रह्मदेवलोक में पद्मलेश्या तथा ऊपरवर्ती देवलोक में शुक्ल लेश्या है ॥११५९-६०।।**

—विवेचन—

१. भवनपति, व्यन्तर	कृष्ण, नील और कापोत
२. परमाधामी	कृष्ण और नील लेश्या
३. ज्योतिषी, सौधर्म और ईशान	तेजो लेश्या
४. सनत्, महेन्द्र, ब्रह्म	पद्म लेश्या
५. छठे देवलोक से अनुत्तर विमानपर्यन्त	शुक्ल लेश्या

- भाव-लेश्या की अपेक्षा से छः ही लेश्या देवों में घटती हैं।
- लेश्याएँ पूर्व देवों की अपेक्षा उत्तर देवों में विशुद्ध, विशुद्धतर होती जाती हैं। जैसे—छट्ठे देवलोक से अनुत्तर विमान पर्यन्त देवों में एक शुक्ल लेश्या ही होती है, किन्तु वह छट्ठे देवलोक की अपेक्षा सातवें देवलोक में विशुद्ध होती है। इससे आठवें में अधिक विशुद्धतर होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर समझना है।
- यहाँ देवों की जो प्रति-नियत लेश्यायें बतायी गई हैं, वे भावलेश्या के हेतुभूत कृष्ण, नील, पीत आदि द्रव्य रूप हैं, न कि भाव लेश्या रूप। क्योंकि भाव-लेश्या अनवस्थित होती है। ये लेश्यायें बाह्य वर्ण रूप भी नहीं है। कारण, देवों के वर्ण अलग-अलग बताये गये हैं। यदि ये लेश्यायें बाह्य-वर्ण रूप होती तो देवों का वर्ण **प्रज्ञापना** आदि में लेश्या से अलग बताने की आवश्यकता नहीं रहती।

  यह चर्चा १७८वें (नरक में लेश्या) द्वार में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। भावलेश्यायें सभी देवनिकाय में यथासंभव छः ही होती हैं। पू. **हरिभद्रसूरि** जी ने **तत्त्वार्थ-टीका** में कहा है कि—देवों की सभी निकाय में भाव की अपेक्षा छः ही लेश्यायें हैं ॥११५९-६० ॥

१९८ द्वार : अवधिज्ञान—

सक्कीसाणा पढमं दोच्चं च सणंकुमार माहिंदा।
तच्चं च बंभलंतग सुक्कसहस्सारय चउत्थिं ॥११६१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आणयपाणयकप्पे देवा पासंति पंचमीं पुढवीं।
तं चेव आरणच्चुय ओहिणाणेण पासंति ॥११६२॥
छट्ठिं हिट्ठिममज्झिमगेविज्जा सत्तमिं च उवरिल्ला।
संभिन्नलोगनालिं पासंति अणुत्तरा देवा ॥११६३॥
एएसिमसंखेज्जा तिरियं दीवा य सागरा चेव।
बहुययरं उवरिमया-उड्ढं च सकप्पथूभाइं ॥११६४॥
संखेज्जजोयणाइं खलु देवाणं अद्धसागरे ऊणे।
तेण परमसंखेज्जा जहन्नयं पन्नवीसं तु ॥११६५॥
भवणवइवणयराणं उड्ढं बहुओ अहो य सेसाणं।
जोइसिनेरइयाणं तिरियं ओरालिओ चित्तो ॥११६६॥

—गाथार्थ—

देवों का अवधिज्ञान—**सौधर्म तथा ईशान देवलोक के देवता प्रथम नरक तक, सनत्कुमार और महेन्द्र देवलोक के देव द्वितीय नरक तक, ब्रह्मलोक एवं लांतक देवलोक के देव तृतीय नरक तक, शुक्र और सहस्रार के देव चतुर्थ नरक तक तथा आनत-प्राणत-आरण और अच्युत के देव पंचम नरक तक अवधिज्ञान से देखते हैं।**

अधस्तन एवं मध्यम ग्रैवेयक-त्रिकवर्ती देव छट्ठी नरक तक, ऊपरवर्ती ग्रैवेयक-त्रिकवासी देव सातवीं नरक तक तथा अनुत्तरवासी देव संपूर्ण लोकनाड़ी को अपने अवधिज्ञान से देखते हैं ॥११६१-११६३॥

पूर्वोक्त देव तिर्यक् दिशा में अपने अवधिज्ञान से असंख्यात द्वीप-समुद्र पर्यन्त देखते हैं। ऊपरवर्ती देवों का अवधिज्ञान उत्तरोत्तर बहु-बहुतर होता है। ऊर्ध्व अपने-अपने देवलोक के स्तूप पर्यन्त देखते हैं ॥११६४॥

अर्ध सागर से कुछ न्यून आयु वाले देवों का अवधिज्ञान संख्याता योजन परिमाण है। उससे अधिक आयु वाले देवों का अवधिज्ञान असंख्याता योजन परिमाण है। जघन्य अवधिज्ञान पच्चीस योजन परिमाण है। भवनपति एवं व्यंतर देवों का अवधिज्ञान ऊर्ध्व दिशा की ओर अधिक होता है। वैमानिक देवों का अवधिज्ञान अधोदिशा की ओर अधिक होता है। ज्योतिषी और नारकों का अवधिज्ञान तिर्यक् दिशा की ओर अधिक होता है तथा औदारिक शरीरवालों का अवधिज्ञान विविध प्रकार का होता है ॥११६५-६६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

नाम	ऊर्ध्व लोक सम्बन्धी अवधि-ज्ञान	अधोलोक सम्बन्धी अवधि-ज्ञान	तिर्यक् लोक सम्बन्धी अवधि-ज्ञान
१. सौधर्मेन्द्र, ईशानेन्द्र तथा उत्कृष्टायुषी सामानिक देव	स्वविमान की ध्वजा	रत्नप्रभा के तल तक	असंख्याता द्वीप समुद्र
२. सनत्कुमारेन्द्र, महेन्द्र तथा उत्कृष्टायुषी सामानिक देव	स्वविमान की ध्वजा	शर्कराप्रभा के तल तक	असंख्याता द्वीप समुद्र
३. ब्रह्मेन्द्र, लान्तकेन्द्र तथा उत्कृष्टायुषी सामानिक देव	स्वविमान की ध्वजा	वालुकाप्रभा के तल तक	असंख्याता द्वीप समुद्र
४. शुक्रेन्द्र, सहस्रारेन्द्र तथा उत्कृष्टायुषी सामानिक देव	स्वविमान की ध्वजा	पंकप्रभा के तल तक	असंख्याता द्वीप समुद्र
५. आनत, प्राणत तथा उत्कृष्टायुषी सामानिक देव	स्वविमान की ध्वजा	धूम्रप्रभा के तल तक	असंख्याता द्वीप समुद्र
६. आरण, अच्युत तथा उत्कृष्टायुषी सामानिक देव	स्वविमान की ध्वजा	धूम्रप्रभा के तल तक पूर्व की अपेक्षा कुछ विशुद्ध	असंख्याता द्वीप समुद्र
७. ग्रैवेयक प्रथम त्रिक व द्वितीय त्रिक	स्वविमान की ध्वजा स्वविमान की ध्वजा	तमःप्रभा के तल तक पूर्व की अपेक्षा कुछ विशुद्ध	असंख्याता द्वीप समुद्र
८. तृतीय त्रिक	स्वविमान की ध्वजा	तमस्तमप्रभा के तल तक	असंख्याता द्वीप समुद्र
९. पाँच अनुत्तर	स्वविमान की ध्वजा	लोकनालिका के अंत तक	स्वयंभूरमण समुद्र तक

- **तत्त्वार्थभाष्य** में ऐसा कहा है। पर कुछ आचार्यों का मानना है कि—अनुत्तरविमानवासी देव ऊर्ध्वलोक में अपने विमान की ध्वजा नहीं देख सकते अतः वे नीचे संपूर्ण लोक नाड़ी को भी नहीं देखते, पर कुछ न्यून देखते हैं।
- पूर्ववर्ती देवताओं की अपेक्षा उत्तरवर्ती देवताओं का अवधिज्ञान विमल....विमलतर होता है।
- पूर्व की अपेक्षा उत्तरवर्ती देवों का अवधिज्ञान विशुद्धता व पर्याय की दृष्टि से अधिक होता है। अतः पूर्ववर्ती देवों की अपेक्षा से उनमें अधिक देखने की शक्ति होती है।
- पूर्वोक्त सभी देव जघन्य से अङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र को देखते हैं। **आवश्यकचूर्णि** में कहा है कि—सौधर्म देवलोक से लेकर अनुत्तर विमान तक के देव अङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र को ही देखते व जानते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न—अङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र-विषयक अवधिज्ञान सर्व-जघन्य होता है और यह अवधिज्ञान नर और तिर्यंच को ही होता है, जैसा कि कहा है—"उक्कोसो मणुएसु मणुस्सतेरिच्छएसु य जहन्नओ" अर्थात् उत्कृष्ट अवधिज्ञान मनुष्य में व जघन्य अवधिज्ञान मनुष्य तिर्यंच में होता हैं तो वैमानिक देवों में सर्वजघन्य अवधिज्ञान कैसे घटेगा ?

उत्तर—सौधर्म आदि देवलोक के देवों को उपपात-काल में परभव सम्बन्धी भी अवधि-ज्ञान होता है। कोई जीव देव में उत्पन्न होते समय परभव सम्बन्धी जघन्य अवधिज्ञान लेकर जन्म ले सकता है। इस अपेक्षा से वैमानिक देव में भी जघन्य अवधि-ज्ञान घट सकता है। उत्पत्ति के बाद तो देवभव सम्बन्धी ही अवधिज्ञान होता है—**जिनभद्रगणि** ने कहा है—

"वेमाणियाणमंगुलभागमसंखं जहन्नओ होइ।

उववाओ परभविओ, तब्भवजो होइ तो पच्छा॥"

वैमानिक देवों में उत्पत्ति के समय जघन्यतः अङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण अवधिज्ञान होता है। देवभव सम्बन्धी जघन्य अवधिज्ञान बाद में होता है। अङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण अवधिज्ञान पारभविक होने से सूत्र में उसकी विवक्षा नहीं की।

भवनपति-व्यंतर, ज्योतिषियों का अवधिज्ञान—

- किंचित् न्यून अर्धसागरोपम की आयु वाले देवताओं का अवधिक्षेत्र संख्याता योजन का है।
- अर्धसागरोपम की आयु वाले देवताओं का अवधिक्षेत्र असंख्याता योजन का है। आयु वृद्धि के साथ असंख्याता का परिमाप भी बढ़ जाता है।
- जिनकी आयु दस हजार वर्ष की है ऐसे भवनपति-व्यन्तरों का अवधिक्षेत्र २५ योजन का है।
- ज्योतिषी देव असंख्यात वर्ष की स्थिति वाले होने से उनका जघन्य-उत्कृष्ट अवधिक्षेत्र संख्याता योजन का है पर जघन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट संख्याता का परिमाप कुछ अधिक समझना चाहिये।

किस जीव का अवधि क्षेत्र किस दिशा में अधिक है—

- भवनपति और व्यन्तरों की ऊपर देखने की क्षमता अधिक होती है।
- वैमानिक देवों की नीचे देखने की क्षमता अधिक होती है।
- ज्योतिषी व नारकों की तिरछा देखने की क्षमता अधिक होती है।
- तिर्यंच व मनुष्यों का अवधिज्ञान औदारिक अवधिज्ञान कहलाता है, वह विचित्र प्रकार का है। जैसे कोई नीचे अधिक देख सकते हैं तो कोई ऊपर, कोई तिरछा अधिक देख सकते हैं॥११६१-६६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१९९ द्वार : उत्पत्ति-विरह—

भवणवणजोइसोहंमीसाण चउवीसई मुहुत्ता उ।
उक्कोस विरहकालो सव्वेसु जहन्नओ समओ ॥११६७ ॥
नव दिण वीस मुहुत्ता बारस दस चेव दिण मुहुत्ता उ।
बावीसा अद्धं चिय पणयाल असीइ दिवससयं ॥११६८ ॥
संखिज्ज मास आणयपाणय तह आरणच्चुए वासा।
संखेज्जा विन्नेया गेविज्जेसुं अओ वोच्छं ॥११६९ ॥
हिट्ठिमे वाससयाइं मज्झिम सहसाइं उवरिमे लक्खा।
संखिज्जा विन्नेया जहसंखेणं तु तीसुंपि ॥११७० ॥
पलिया असंखभागो उक्कोसो होइ विरहकालो उ।
विजयाइसु निद्दिट्ठो सव्वेसु जहन्नओ समओ ॥११७१ ॥

—गाथार्थ—

उत्पत्ति का विरहकाल—**भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, सौधर्म एवं ईशान देवलोक के देवों का उत्कृष्ट उपपात-विरहकाल चौबीस मुहूर्त्त है एवं जघन्य विरहकाल सभी देवों का एक समय का है ॥११६७ ॥**

सनत्कुमार देवलोक के देवों का उत्कृष्ट उपपात विरहकाल नौ अहोरात्रि एवं बीस मुहूर्त्त परिमाण है। माहेन्द्र देवों का विरहकाल बारह दिन दश मुहूर्त्त का है। ब्रह्मदेवलोक में साढ़ा बावीस दिन का, लांतक में पैंतालीस दिन का, महाशुक्र में अस्सी दिन का, सहस्त्रार में सौ अहोरात्रि का, आनत-प्राणत में संख्याता मास का तथा आरण-अच्युत में संख्याता वर्ष का विरहकाल है। ग्रैवेयक का संख्याता काल का विरहकाल इस प्रकार है। अधस्तन ग्रैवेयक त्रिक में सैकड़ों वर्ष का, मध्यम ग्रैवेयक त्रिक में हजारों वर्ष का एवं ऊपरवर्ती ग्रैवेयक त्रिक में लाखों वर्ष का उत्कृष्ट उपपात विरहकाल है। विजयादि चार अनुत्तर विमान में उत्कृष्ट विरहकाल पल्योपम का असंख्यातवां भाग परिमाण है। जघन्यतः सनत्कुमार से अनुत्तर पर्यंत उपपात का विरहकाल एक समय का है ॥११६८-७१ ॥

—विवेचन—

यद्यपि देवता प्रायः करके सतत उत्पन्न होते रहते हैं तथापि यदा-कदा अन्तर पड़ता है।

सामान्य रूप से चारों प्रकार के देवों का उत्पात विरह काल—

उत्कृष्ट = १२ मुहूर्त्त, जघन्य = १ समय। इसके बाद कोई न कोई देव अवश्य उत्पन्न होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। कहा है कि—"गर्भज तिर्यंच, मनुष्य, देव व नारकों का विरह काल १२ मुहूर्त्त का है।"

विशेष रूप से देवों का उत्पात-विरह काल—

विशेषतः/नाम	उत्कृष्ट	जघन्य
भवनपति	२४ मुहूर्त्त	एक समय
व्यन्तर	२४ मुहूर्त्त	एक समय
ज्योतिषी	२४ मुहूर्त्त	एक समय
सौधर्म	२४ मुहूर्त्त	एक समय
ईशान	२४ मुहूर्त्त	एक समय
सनत्कुमार	९ दिन/२०मुहूर्त्त	एक समय
माहेन्द्र	१२ दिन/१०मुहूर्त्त	एक समय
ब्रह्म	$२२\frac{१}{२}$ दिन	एक समय
लान्तक	४५ दिन	एक समय
महाशुक्र	८० दिन	एक समय
सहस्रार	१०० दिन	एक समय
आनत	संख्याता मास	एक समय
प्राणत	संख्याता मास किन्तु आनत देवलोक से अधिक	एक समय
आरण	संख्याता वर्ष	एक समय
अच्युत	संख्याता वर्ष किन्तु आरण देवलोक से अधिक	एक समय
ग्रैवेयक प्रथम त्रिक	संख्याता सौ वर्ष	एक समय
ग्रैवेयक द्वितीय त्रिक	संख्याता हजार वर्ष	एक समय
ग्रैवेयक तृतीय त्रिक	संख्याता लाख वर्ष	एक समय
चार अनुत्तर	अद्धा पल्योपम का असंख्यातवां भाग	एक समय
सर्वार्थसिद्ध	अद्धा पल्योपम का संख्यातवां भाग	एक समय

- यहाँ संख्याता सौ वर्ष का अर्थ है हजार के अन्दर, संख्याता हजार का अर्थ है लाख के अंदर और संख्याता लाख का अर्थ है करोड़ के अंदर, अन्यथा करोड़ वर्ष ही कह देते। यह व्याख्या **हरिभद्रसूरिकृत संग्रहणी की टीका** के अनुसार है। अन्य आचार्य तो सामान्य व्याख्या ही करते हैं ॥११६७-७१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०० द्वार : उद्वर्तना-विरह—

उववायविरहकालो एसो जह वण्णिओ य देवेसु।
उव्वट्टणावि एवं सव्वेसिं होइ विन्नेया ॥११७२॥

—गाथार्थ—

देवों का मरण-विरहकाल—**उपपात विरह काल की तरह ही देवों का मरण विरहकाल भी समझना चाहिये ॥११७२॥**

—विवेचन—

उपपात के विरहकाल की तरह ही मृत्यु का विरह काल भी सामान्य और विशेष दो प्रकार का है। उसका काल परिमाण उपपात-विरह काल की तरह ही होता है ॥११७२॥

२०१ द्वार : जन्म-मरण-संख्या—

एक्को व दो व तिन्नि व संखमसंखा य एगसमएणं।
उववज्जंतेवइया उव्वट्टंतावि एमेव ॥११७३॥

—गाथार्थ—

देवों के उपपात एवं उद्वर्तन की संख्या—**देवों के जघन्य उपपात की संख्या एक-दो या तीन है। उत्कृष्ट उपपात संख्या संख्याता व असंख्याता है। उद्वर्तन की संख्या उपपातवत् ही समझना चाहिये ॥११७३॥**

—विवेचन—

(i)	भवनपति निकाय में	जघन्य से एक समय में १-२-३ जन्मते और मरते हैं। उत्कृष्ट से संख्याता और असंख्याता जन्मते और मरते हैं।
(ii)	व्यन्तर निकाय में	
(iii)	ज्योतिष् निकाय में	
(iv)	प्रथम देवलोक से ८वें तक।	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(v)	नवमें देवलोक से सर्वार्थसिद्ध तक के देवता।	एक समय में संख्याता जन्मते और मरते हैं क्योंकि इनमें गर्भज-पर्याप्ता मनुष्य ही पैदा होते हैं और ये मरकर गर्भज पर्याप्ता मनुष्य में ही जाते हैं तथा गर्भज पर्याप्ता मनुष्य संख्याता ही हैं ॥११७३ ॥

२०२ द्वार : गति—

पुढवीआउवणस्सइ गब्भे पज्जत्तसंखजीवीसुं ।
सग्गच्चुयाण वासो सेसा पडिसेहिया ठाणा ॥११७४ ॥
बायरपज्जत्तेसुं सुराण भूदगवणेसु उप्पत्ती ।
ईसाणंताणं चिय तत्थवि न उवट्टगाणंपि ॥११७५ ॥
आणयपभिईहिंतो जाऽणुत्तरवासिणो चवेऊणं ।
मणुएसुं चिय जायइ नियमा संखिज्जजीविसुं ॥११७६ ॥

—गाथार्थ—

देवों की गति—**स्वर्ग से च्यवकर देवता, पृथ्वी, जल, वनस्पति, गर्भज पर्याप्ता संख्याता वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच में जाते हैं। शेष गतियों में जाने का निषेध है ॥११७४ ॥**

बादर पर्याप्ता पृथ्वीकाय, अप्काय एवं प्रत्येक वनस्पतिकाय में, ईशान देवलोक तक के देवता ही जाते हैं। इससे ऊपरवर्ती देवता नहीं जाते। आनत देवलोक से अनुत्तर पर्यंत के देव च्यवकर संख्याता वर्ष की आयु वाले मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं ॥११७५-७६ ॥

—विवेचन—

१. भवनपति, व्यंतर, ज्योतिषी और सौधर्म ईशान के देवता मरकर—संख्याता आयु वाले लब्धि पर्याप्ता गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्य, बादर पर्याप्ता पृथ्वी, पानी और प्रत्येक वनस्पति में जाते हैं। इनका अन्यत्र गमन निषिद्ध है।

२. सनत से सहस्रार पर्यन्त के देवता—संख्यातायुषी लब्धि पर्याप्ता गर्भज पंचेन्द्रिय नर-तिर्यंच में जाते हैं।

३. आनत से सर्वार्थसिद्ध पर्यंत के देवता—संख्यातायुषी लब्धि पर्याप्ता गर्भज पंचेन्द्रिय मनुष्य में ही जाते हैं ॥११७४-७६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०३ द्वार : आगति—

परिणामविसुद्धीए देवाउयकम्मबंधजोगाए।
पचिंदिया उ गच्छे नरतिरिया सेसपडिसेहो ॥११७७॥
आईसाणा कप्पा उववाओ होइ देवदेवीणं।
तत्तो परं तु नियमा देवीणं नत्थि उववाओ ॥११७८॥

—गाथार्थ—

देवों की आगति—**परिणाम की विशुद्धि के द्वारा देवायु का बंध करने वाले मनुष्य एवं तिर्यंच ही देवगति में उत्पन्न होते हैं। शेष जीवों का देवगति में आगमन निषिद्ध है। देव और देवी की उत्पत्ति ईशान देवलोक पर्यन्त ही होती है। उससे ऊपर के देवलोक में देवियों की उत्पत्ति नहीं होती ॥११७७-७८॥**

—विवेचन—

परिणाम = मानसिक व्यापार अर्थात् भाव, विशुद्धि = शुद्धता अर्थात् परिणामों की शुद्धता परिणाम विशुद्धि है।

वह दो प्रकार का है। विशुद्ध और अविशुद्ध। विशुद्ध परिणाम देवगति का कारण है। इससे सिद्ध हुआ कि शुभ, अशुभ गति का कारण मानसिक परिणाम है।

परिणाम की उत्कृष्ट विशुद्धि मुक्ति का कारण है। अतः उसकी निवृत्ति के लिये कहा है कि—देव आयु के बन्धन योग्य विशुद्धि वाले पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च व मनुष्य ही देव में जाते हैं, अन्य नहीं। ऐसा समझना चाहिये।

१. १० भवनपति, १६ व्यन्तर, १५ परमाधामी, १० जृम्भक में—१०१ प्रकार के लब्धि-पर्याप्ता मनुष्य, युगलिक चतुष्पद, गर्भज-संमूर्च्छिम लब्धि पर्याप्ता १० तिर्यञ्च (जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प, ५ गर्भज और ५ संमूर्च्छिम = १० तिर्यंच) उत्पन्न होते हैं।

२. १० ज्योतिषी और सौधर्म में—अन्तर्द्वीप सिवाय के गर्भज लब्धि-पर्याप्ता मनुष्य और ५ गर्भज तिर्यंच आकर उत्पन्न होते हैं।

३. ईशान में—हिमवन्त और हिरण्यवन्त को छोड़कर २० अकर्मभूमि के लब्धिपर्याप्ता मनुष्य और १५ कर्मभूमिज मनुष्य व ५ संज्ञी तिर्यंच उत्पन्न होते हैं।

४. निम्न किल्विषी में—संख्यातायुषी गर्भज पर्याप्ता मनुष्य और तिर्यंच, देवकुरु-उत्तरकुरु के युगलिक नर-तिर्यंच उत्पन्न होते हैं।

५. सनत से सहस्रार में—संख्यातायुषी गर्भज पंचेन्द्रिय नर-तिर्यंच उत्पन्न होते हैं।

६. आनत से सर्वार्थसिद्ध में—संख्यातायुषी मात्र मनुष्य उत्पन्न होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देव और देवियों के उत्पत्ति स्थान

- **देवता**—सर्वार्थसिद्ध तक उत्पन्न होते हैं।
- **देवियाँ**—ईशान देवलोक तक उत्पन्न होती हैं।
- ईशान से ऊपर के देवों को जब काम की जागृति होती है, तब ईशान की अपरिगृहीता देवियाँ वहाँ जाती हैं। देवियों का गमनागमन सहस्रार तक ही होता है। इससे ऊपर के देवताओं में किसी भी प्रकार का प्रविचार (कामक्रीड़ा) नहीं है।
- बारहवें देवलोक से ऊपर देवों का भी गमनागमन नहीं होता, कारण नीचे के देवताओं की शक्ति ऊपर जाने की नहीं होती और कारण के अभाव में ऊपर के देवता नीचे नहीं आते। ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानवासी देव परमात्मा के कल्याणकों का उत्सव आदि करने के लिये भी नहीं आते। अपने स्थान पर रहकर ही भक्ति करते हैं। वे अपने संशय का निराकरण या प्रश्न का समाधान अवधि-ज्ञान के द्वारा समाधान के रूप में व्यवस्थित, परमात्मा के मनोवर्गणा के पुद्गलों की रचना को देखकर कर लेते हैं। इस प्रकार उनके गमनागमन का कोई कारण नहीं है ॥११७७-७८॥

२०४ द्वार : सिद्धिगति-अन्तर—

एक्कसमओ जहन्नो उक्कोसेणं तु जाव छम्मासा।
विरहो सिद्धिगईए उव्वट्टणवज्जिया नियमा ॥११७९॥

—गाथार्थ—

सिद्धिगति का विरह—**सिद्धिगमन का जघन्य विरहकाल एक समय का है तथा उत्कृष्ट विरहकाल छः महीने का है। सिद्धिगमन के पश्चात् उद्वर्तना नहीं होती ॥११७९॥**

—विवेचन—

- जघन्य से.....१ समय, एक आत्मा के सिद्ध होने के पश्चात् जघन्य से १ समय के पश्चात् ही दूसरा आत्मा सिद्ध होता है।
- उत्कृष्ट से.....छः महीने बाद दूसरा सिद्ध होता है।
- सिद्धिगमन के पश्चात् कोई भी जीव पुनः संसार में नहीं आता क्योंकि जन्म-मरण के कारणभूत उनके संपूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। कहा है कि—"बीज जल जाने पर जैसे अङ्कुर पैदा नहीं हो सकता वैसे, कर्मरूपी बीज के जल जाने पर आत्मा का जन्म-मरण नहीं होता ॥११७९॥"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२०५ द्वार : आहार-उच्छ्वास—

सरिरेणोयाहारो तयाय फासेण रोमआहारो ।
पक्खेवाहारो पुण कावलिओ होइ नायव्वो ॥११८० ॥
ओयाहारा जीवा सव्वे अपजत्तगा मुणेयव्वा ।
पज्जत्तगा य लोमे पक्खे हुंति भइयव्वा ॥११८१ ॥
रोमाहारा एगिंदिया य नेरइयसुरगणा चेव ।
सेसाणं आहारो रोमे पक्खेवओ चेव ॥११८२ ॥
ओयाहारा मणभक्खिणो य सव्वेऽवि सुरगणा होंति ।
सेसा हवंति जीवा लोमाहारा मुणेयव्वा ॥११८३ ॥
अपज्जत्ताण सुराणऽणाभोगनिवत्तिओ य आहारो ।
पज्जत्ताणं मणभक्खणेण आभोगनिम्माओ ॥११८४ ॥
जस्स जइ सागराइं ठिइ तस्स य तेत्तिएहिं पक्खेहिं ।
ऊसासो देवाणं वाससहस्सेहिं आहारो ॥११८५ ॥
दसवाससहस्साइं जहन्नमाऊ धरंति जे देवा ।
तेसि चउत्थाहारो सत्तहिं थोवेहिं ऊसासो ॥११८६ ॥
दसवाससहस्साइं समयाई जाव सागरं ऊणं ।
दिवसमुहुत्तपुहुत्ता आहारूसास सेसाणं ॥११८७ ॥

—गाथार्थ—

जीवों का आहार और श्वास ग्रहण—**शरीर द्वारा ओजाहार, स्पर्श द्वारा लोम आहार एवं कवल के द्वारा प्रक्षेप आहार होता है ॥११८० ॥**

सभी अपर्याप्त जीव ओज-आहारी हैं। सभी पर्याप्ता जीव लोम-आहारी हैं तथा कवल आहार वालों की भजना है ॥११८१ ॥

एकेन्द्रिय, नारक तथा देवता लोमाहारी हैं। शेष सभी जीव लोमाहारी और प्रक्षेपाहारी हैं ॥११८२ ॥

सभी देव ओजाहारी एवं मनोभक्षी हैं। शेष सभी जीव लोमाहारी होते हैं ॥११८३ ॥

अपर्याप्त देवों का आहार अनाभोग निर्मित होता है तथा पर्याप्त देवों का आहार मनोभक्षणरूप होने से आभोग निर्मित है ॥११८४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस देव की जितने सागरोपम की आयु है, वह देव उतने पक्ष के पश्चात् श्वासोच्छ्वास ग्रहण करता है तथा उतने हजार वर्ष के पश्चात् ही आहार ग्रहण करता है ॥११८५॥

दस हजार वर्ष की जघन्य आयु वाले देव एक अहोरात्रि के पश्चात् आहार ग्रहण करते हैं एवं सात स्तोक के पश्चात् श्वासोच्छ्वास लेते हैं ॥११८६॥

एक समय अधिक दश हजार वर्ष से लेकर किंचित् न्यून एक सागरोपम की आयु वाले देवों का आहार एवं श्वासोच्छ्वास क्रमशः दिवस पृथक्त्व तथा मुहूर्त्त पृथक्त्व से होता है ॥११८७॥

—विवेचन—

आहार के तीन प्रकार—

(i) ओजाहार—जीव पूर्व शरीर का त्याग कर जब उत्पत्ति स्थान में आता है तो वहाँ तैजस् और कार्मण शरीर के द्वारा सर्वप्रथम औदारिकादि शरीर के निर्माण योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। यह ओज आहार है तथा जब तक शरीर पूरा नहीं बन जाता, तब तक औदारिकमिश्र शरीर के द्वारा शरीर-निर्माण योग्य पुद्गल जीव ग्रहण करता रहता है, यह भी 'ओज आहार' कहलाता है।

ओजाहार—तैजस् शरीर द्वारा गृहीत आहार अथवा अपने उत्पत्ति योग्य 'शुक्र मिश्रित शोणित' के पुद्गलों का ग्रहण करना ओजाहार है। 'ओजस्' शब्द में 'स्' का लोप हो जाने के कारण 'ओजाहार' शब्द बनता है।

(ii) लोम आहार—स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा शरीर के उपष्टंभक पुद्गलों का ग्रहण करना। जैसे, सर्दी और वर्षा के समय शीत जलादि के पुद्गलों को रोम-छिद्रों द्वारा ग्रहण करना लोम आहार है।

शिशिर और वर्षा ऋतु में शीत और जलादि के पुद्गल रोम-छिद्रों के द्वारा प्रवेश करते रहते हैं। यही कारण है कि उस काल में मूत्र अधिक आता है।

(iii) कवलाहार—जो मुँह में ग्रास के रूप में डाला जाता है, इसे प्रक्षेपाहार भी कहते हैं।

किस अवस्था में कैसा आहार ?

१. ओज आहार—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सभी अपर्याप्त जीवों में। **२. लोम-आहार**—सभी पर्याप्ता जीवों में। **३. कवलाहार**—देवता, नारकी और एकेन्द्रिय के सिवाय सभी जीवों में।	कवलाहार जीवों के सदा नहीं होता। जब मुँह में कवल डालते हैं, तभी कवलाहार होता है। जबकि 'लोमाहार' सदा होता है, कारण रोम-छिद्रों के द्वारा वायु के पुद्गल सदा भीतर प्रवेश पाते रहते हैं। गर्मी से सन्तप्त व्यक्ति को, शीतल वायु से या पानी छाँटने से जो तृप्ति होती है, यह लोम-आहार का सूचक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ अपर्याप्ता, शरीर-पर्याप्ति की अपेक्षा से समझना। आहारपर्याप्ति की अपेक्षा से अपर्याप्ता जीव अनाहारक ही होते हैं।

अन्यमतानुसार—अपने योग्य पर्याप्तिओं से अपर्याप्ता जीव को ओजाहार होता है।

यहाँ पर्याप्ता जीव शरीर-पर्याप्ति की अपेक्षा से अथवा अपने योग्य पर्याप्ति की पूर्णता कर लेने से जो पर्याप्ता बन चुके हैं वे लेना चाहिये।

एकेन्द्रिय को कवलाहार मुँह का अभाव होने से नहीं होता।

देवता और नारकी वैक्रिय-शरीरी होने से स्वभावत: ही कवलाहारी नहीं होते।

देवता अपर्याप्ता अवस्था में ओज-आहारी और पर्याप्ता अवस्था में मनोभक्षी होते हैं। मनोभक्षी = विचारमात्र से संप्राप्त तथा सभी इन्द्रियों को आह्लादजनक मनोज्ञ-पुद्गलों को आत्मसात् करते हैं। जैसे शीत योनिज को शीत-पुद्गल और उष्ण योनिज को उष्ण-पुद्गल मिलने से आत्मतृप्ति होती है, वैसे देवों को भी मनोज्ञ-पुद्गल आत्मसात् करने पर आत्मतृप्ति और अभिलाषा की निवृत्ति होती है। अत: वे मनोभक्षी कहलाते हैं।

नारकी अपर्याप्ता अवस्था में ओज-आहारी और पर्याप्तवास्था में लोमाहारी होते हैं, किन्तु देवों की तरह मनोभक्षी नहीं होते। मनोभक्षण का अर्थ = तथाविध शक्ति के द्वारा अपने शरीर को पुष्ट करने वाले पुद्गलों को मन से ग्रहण कर आत्मतृप्ति एवं आत्म-संतोष को प्राप्त करना। नरक के जीवों में अशुभ-कर्म के उदय से ऐसी शक्ति नहीं होती।

देवों का मनोभक्षण रूप आहार दो तरह का होता है—

(i) आभोग निवर्तित—जो इच्छापूर्वक खाया जाये। यह आहार पर्याप्ता अवस्था में ही होता है, क्योंकि 'मैं अमुक पदार्थ खाऊँ,' ऐसी इच्छा पर्याप्तावस्था में ही हो सकती है।

(ii) अनाभोग निवर्तित—जो खाने की विशिष्ट इच्छा के बिना ही खाया जाये, जैसे वर्षा ऋतु में शीतपुद्गलों का अनायास शरीर में प्रवेश होना। यह आहार अपर्याप्ता देवों में होता है, कारण उस समय मनपर्याप्ति न होने से आहार की विशिष्ट इच्छा नहीं हो सकती ॥११८०-११८४॥

आहार-श्वासोच्छ्वास कालमान—जिस देव की आयु जितने सागरोपम की होती है, वह उतने पक्ष के बाद श्वासोच्छ्वास लेता है, तथा उतने हजार वर्षों के बाद उसे आहार की अभिलाषा होती है। उदाहरण के तौर पर एक सागर की आयुष्य वाला देव एक पक्ष के बाद श्वासोच्छ्वास लेता है और एक हजार वर्ष के बाद आहार ग्रहण करता है। जैसे-जैसे आयुष्य बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे आहार और श्वासोच्छ्वास का अन्तर बढ़ता जाता है। देव जितनी अधिक आयु वाले होते हैं, वे उतने अधिक सुखी होते हैं। जबकि उच्छ्वास और आहार क्रिया क्रमश: दु:ख, अतिदु:ख रूप है। अत: अधिक आयु वाले देवों के उच्छ्वास और आहार का विरह काल अधिक, अधिकतर होता है। आहार और उच्छ्वास सिवाय के समय में देवता बाधा रहित और स्मितवदन रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवों के आयु-आहार और श्वासोच्छ्वास का काल-परिमाण—

देवों के नाम	आयुष्य	आहार	श्वासोच्छ्वास
भवनपति	१०००० वर्ष	अहोरात्रि के बाद	७ स्तोक के बाद, स्तोक
व्यन्तर	१०००० वर्ष	अहोरात्रि के बाद	अर्थात् आधिव्याधि रहित मनुष्य के ७
भवनपति से ईशान पर्यन्त	१०००० वर्ष से अधिक व कुछ न्यून एक सागरोपम १ सागरोपम	२ से ९ दिन के बाद	श्वासोच्छ्वास २ से ९ मुहूर्त में
असुर कुमार,	आयुवाले	१००० वर्ष के बाद	
सौधर्म, ईशान	२ सागरोपम		१ पक्ष में
सौधर्म-ईशान	७ सागरोपम	२००० वर्ष के बाद	
सनत्-महेन्द्र	१० सागरोपम	७००० वर्ष के बाद	२ पक्ष में
ब्रह्म	१४ सागरोपम	१० हजार वर्ष के बाद	७ पक्ष में
लान्तक	१७ सागरोपम	१४ हजार वर्ष के बाद	१० पक्ष में
महाशुक्र	१८ सागरोपम	१७ हजार वर्ष के बाद	१४ पक्ष में
सहस्रार	१९ सागरोपम	१८ हजार वर्ष के बाद	१७ पक्ष में
आनत	२० सागरोपम	१९ हजार वर्ष के बाद	१८ पक्ष में
प्राणत	२१ सागरोपम	२० हजार वर्ष के बाद	१९ पक्ष में
आरण	२२ सागरोपम	२१ हजार वर्ष के बाद	२० पक्ष में
अच्युत		२२ हजार वर्ष के बाद	२१ पक्ष में
ग्रैवेयक	२३ सागरोपम		२२ पक्ष में
सुदर्शन	२४ सागरोपम	२३ हजार वर्ष के बाद	
सुप्रतिबद्ध	२५ सागरोपम	२४ हजार वर्ष के बाद	२३ पक्ष में
मनोरम	२६ सागरोपम	२५ हजार वर्ष के बाद	२४ पक्ष में
सर्वतोभद्र	२७ सागरोपम	२६ हजार वर्ष के बाद	२५ पक्ष में
सुविशाल	२८ सागरोपम	२७ हजार वर्ष के बाद	२६ पक्ष में
सुमन		२८ हजार वर्ष के बाद	२७ पक्ष में
			२८ पक्ष में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सौमनस्	२९ सागरोपम	२९ हजार वर्ष के बाद	२९ पक्ष में
प्रीतिकर	३० सागरोपम	३० हजार वर्ष के बाद	३० पक्ष में
आदित्य	३१ सागरोपम	३१ हजार वर्ष के बाद	३१ पक्ष में
५ अनुत्तर	३३ सागरोपम	३३ हजार वर्ष के बाद	३३ पक्ष में
एकेन्द्रिय	द्वार	निरन्तर होता है	अनि
विकलेन्द्रिय	१८६	अन्तर्मुहूर्त में	य
पंचेन्द्रिय-	में देखें	२ अहोरात्र	मि
तिर्यंच-मनुष्य		३ अहोरात्र	त
नारक	द्वार १८५	अन्तर्मुहूर्त में	निरन्तर
	में देखें		॥११८५-८७॥

२०६ द्वार : ३६३ पाखंडी—

असीइसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीई।
अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसं ॥११८८॥
जीवाइनवपयाणं अहो ठविज्जंति सयपरयसद्दा।
तेसिंपि अहो निच्चानिच्चा सद्दा ठविज्जन्ति ॥११८९॥
कालस्सहाव नियई ईसर अप्पत्ति पंचवि पयाइं।
निच्चानिच्चाणमहो अणुक्कमेणं ठविज्जंति ॥११९०॥
जीवो इह अत्थि सओ निच्चो कालाउ इय पढमभंगो।
बीओ य अत्थि जीवो सओ अनिच्चो य कालाओ ॥११९१॥
एवं परओऽवि हु दोन्नि भंगया पुव्वदुगजुया चउरो।
लद्धा कालेणेवं सहावपमुहावि पाविंति ॥११९२॥
पंचहिवि चउक्केहिं पत्ता जीवेण वीसई भंगा।
एवमजीवाईहिवि य किरियावाई असिइसयं ॥११९३॥
इह जीवाइपयाइं पुन्नं पावं विणा ठविज्जन्ति।
तेसिमहोभायम्मि ठविज्जए सपरसद्दुगं ॥११९४॥
तस्सवि अहो लिहिज्जइ काल जहिच्छा य पयदुगसमेयं।
नियइ-स्सहाव ईसर अप्पत्ति इमं पयचउक्कं ॥११९५॥
पढमे भंगे जीवो नत्थि सओ कालओ तयणु बीए।
परओऽवि नत्थि जीवो कालाइय भंगगा दोन्नि ॥११९६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं जइच्छाईहिवि पएहिं भंगद्दुगं दुगं पत्तं ।
मिलियावि ते दुवालस संपत्ता जीवतत्तेणं ॥११९७ ॥
एवमजीवाईहिवि पत्ता जाया तओ य चुलसीई ।
भेया अकिरियवाईण हुंति इमे सव्वसंखाए ॥११९८ ॥
संत-मसंतं संतासंत-मवत्तव्व सयअवत्तव्वं ।
असयअवत्तव्वं सयसयवत्तव्वं च सत्त पया ॥११९९ ॥
जीवाइनवपयाणं अहोकमेणं इमाइं ठविऊणं ।
जह कीरइ अहिलावो तह साहिज्जइ निसामेह ॥१२०० ॥
संतो जीवो को जाणइ ? अहवा किं व तेण नाएणं ? ।
सेसपएहिवि भंगा इय जाया सत्त जीवस्स ॥१२०१ ॥
एवमजीवाईणऽवि पत्तेयं सत्त मिलिय तेसट्ठी ।
तह अन्नेऽवि हु भंगा चत्तारि इमे उ इह हुंति ॥१२०२ ॥
संती भावुप्पत्ती को जाणइ किंच तीए नायाए ? ।
एवमसंती भावुप्पत्ती सदसत्तिया चेव ॥१२०३ ॥
तह अव्वत्तव्वावि हु भावुप्पत्ती इमेहिं मिलिएहिं ।
भंगाण सत्तसट्ठी जाया अन्नाणियाण इमा ॥१२०४ ॥
सुर निवइ जइ न्नाई थविरा वम माइ पिइसु एएसिं ।
मण वयण काय दाणेहिं चउव्विहो कीरए विणओ ॥१२०५ ॥
अट्ठवि चउक्कगुणिया बत्तीस हवंति वेणइयभेया ।
सव्वेहिं पिंडिएहिं तिन्नि सया हुंति तेसट्ठा ॥१२०६ ॥

—गाथार्थ—

तीन सौ त्रेसठ पाखंडी—**क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७ एवं विनयवादी के ३२ भेद हैं ॥११८८ ॥**

क्रियावादी के भेद—**जीवादि नव पदों के नीचे स्वतः एवं परतः ये दो शब्द लिखना। उन दोनों के नीचे नित्य और अनित्य ये दो पद लिखना। फिर नित्य-अनित्य पदों के नीचे काल; स्वभाव, नियति, ईश्वर और आत्मा इन पाँच पदों की स्थापना क्रमशः करना चाहिये ॥११८९-९० ॥**

'जीव स्वतः नित्य काल से है' यह प्रथम भंग है। दूसरा भंग है 'जीव स्वतः अनित्य काल से है।' इस प्रकार परतः के साथ भी दो भंग समझना चाहिये। इस प्रकार काल के साथ चार भंग हुए। काल की तरह स्वभाव आदि चार के साथ भी चार-चार भेद होने से जीव पद के कुल बीस भेद हुए। इस प्रकार अजीवादि आठ पदों के भी बीस भेद होने से क्रियावादी के कुल १८० भेद हुए ॥११९१-९३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अक्रियावादी के भेद—**पुण्य पाप इन दो पदों के सिवाय जीवादि सात पदों की स्थापना करना चाहिये। इन पदों के नीचे स्वतः और परतः ये दो पद लिखकर इन दो के नीचे पुनः काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा छः पदों की स्थापना करनी चाहिये ॥११९४-९५ ॥**

'जीव स्वतः काल की अपेक्षा नहीं है' यह प्रथम भंग है। 'जीव परतः काल की अपेक्षा नहीं है' यह द्वितीय भंग है। इस प्रकार यदृच्छा आदि पदों के भी दो-दो भांगे होने से छः पदों के कुल बारह भांगे हुए। जीव पद के बारह भांगों की तरह अजीवादि पदों के भी बारह-बारह भांगे होने से सात पदों के कुल चौरासी भांगे अक्रियावादी के होते हैं ॥११९६-९८ ॥

अज्ञानवादी के भेद—**सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सत् अवक्तव्य, असत् अवक्तव्य, सदसत् अवक्तव्य—इन सात पदों के नीचे क्रमशः जीवादि नौ पदों की क्रमशः स्थापना करके भांगों का जिस प्रकार अभिलाप किया जाता है वह बताया जा रहा है, उसे सुनो ॥११९९-१२०० ॥**

'जीव है' यह कौन जानता है? इसको जानने से क्या लाभ है? इस प्रकार 'असत्' आदि के साथ मिलकर जीव पद के सात भांगे हुए। अजीवादि शेष पदों के भी पूर्ववत् सात-सात भांगे होते हैं। सभी को एकत्रित करने पर नौ पदों के त्रेसठ भांगे हुए। अन्य चार भांगे इस प्रकार हैं। आगे कहे जायेंगे ॥१२०१-०२ ॥

'भावोत्पत्ति है' यह कौन जानता है? इसको जानने से क्या लाभ है? इस प्रकार 'भावोत्पत्ति नहीं है' 'भावोत्पत्ति सदसत् है' तथा 'भावोत्पत्ति अवक्तव्य है' इन चार भांगों को पूर्वोक्त त्रेसठ भांगों के साथ मिलाने से अज्ञानियों के कुल सड़सठ भांगे हुए ॥१२०३-०४ ॥

विनयवादी के भेद—**देव, राजा, यति, ज्ञातिजन, वृद्ध, दयापात्र, माता एवं पिता इन आठों का मन, वचन, काया एवं दान देकर विनय करना चाहिये। पूर्वोक्त आठ का मन आदि चार से गुणा करने पर विनयवादी के बत्तीस भेद होते हैं। क्रियावादी, अक्रियावादी आदि चारों के भेद मिलाने से कुल तीन सौ त्रेसठ भेद पूर्ण होते हैं ॥१२०५-०६ ॥**

—विवेचन—

१. क्रियावादी..... १८० भेद	पुण्य, पाप के बंध रूप क्रिया तथा आत्मा के अस्तित्व को मानने वाले।
२. अक्रियावादी..... ८४ भेद	आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानने वाले।
३. अज्ञानवादी.... ६७ भेद	अज्ञान को श्रेयस्कर मानने वाले।
४. विनयवादी..... ३२ भेद।	विनय को श्रेष्ठ मानने वाले ॥११८८ ॥

१. क्रियावादी—

संसार की विचित्रता देखने से सिद्ध होता है कि पुण्य-पाप रूप क्रियायें हैं। कोई भी क्रिया कर्ता के बिना नहीं हो सकती। अतः क्रिया का कोई कर्ता अवश्य है। जो है वह आत्मा है क्योंकि आत्मा के सिवाय ये क्रियायें अन्यत्र संभवित नहीं हो सकतीं। ऐसा मानने वाले क्रियावादी हैं। इसके ५ भेद हैं—**(i)** कालवादी **(ii)** स्वभाववादी **(iii)** नियतिवादी **(iv)** ईश्वरवादी और **(v)** आत्मवादी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) कालवादी—ये जगत को कालकृत मानते हैं। इनका मानना है कि वृक्षों पर फल लगना, स्त्रियों का गर्भवती होना, नक्षत्रों का उदय होना, पानी बरसना, ऋतुओं का बदलना, बाल-कुमार युवा होना, शरीर पर झुर्रियाँ पड़ना, बाल सफेद होना इत्यादि अवस्थाओं का भेद काल के बिना नहीं घट सकता। गेहूँ, चना आदि धान्य की फसलें भी काल के बिना पैदा नहीं होतीं। काल के बिना भोजन आदि भी नहीं पकता। यदि जगत को कालकृत न माना जाये तो ईंधन आदि सामग्री के मिलते ही मूंग आदि धान्य पक जाना चाहिये, परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि संपूर्ण जगत काल द्वारा निर्मित होता है।

(ii) स्वभाववादी—संपूर्ण जगत सहज स्वभाव से निर्मित है। इसके निर्माण में अन्य किसी तत्त्व का कुछ भी योगदान नहीं होता। देखा जाता है कि घड़ा मिट्टी से ही बनता है, सूत से नहीं। जबकि कपड़ा सूत से ही बनता है मिट्टी से नहीं। इसका कारण वस्तु का सहज स्वभाव ही है। मूंग इत्यादि धान्य के पकने में उसका स्वभाव ही कारण है अन्यथा 'कोरडु' भी पकना चाहिये। इस प्रकार स्वभाव के साथ वस्तु का अन्वयव्यतिरेक होने से सिद्ध होता है कि जगत स्वभावकृत है।

(iii) नियतिवादी—नियति एक ऐसा तत्त्व है, जिसके कारण सभी काम नियमित होते हैं। जैसे, जो काम जिस समय, जिससे होना होता है वह काम उस समय उसी से होता है। इस व्यवस्था का कारण नियति है। अन्यथा कार्य-कारणभाव की नियत व्यवस्था भंग हो जायेगी। कोई भी काम किसी भी कारण से व कभी भी होने लगेगा, पर ऐसा नहीं होता। कार्य-कारण की नियत व्यवस्था है। इससे सिद्ध होता है कि इसका नियामक कोई तत्त्व है और वह नियति है। उसका निराकरण कोई नहीं कर सकता। कहा है—

"सभी पदार्थ नियतरूप से होते हैं अतः वे नियतिजन्य हैं। उनका अन्वय-व्यतिरेक नियति के साथ ही घटता है। जो काम, जिस समय, जिससे होना होता है, वह काम, उससे, उसी समय होता है। इस प्रकार प्रत्यक्षसिद्ध नियति को अस्वीकार करने में कौन समर्थ है।"

(iv) ईश्वरवादी—इनके मतानुसार जगत का कर्ता ईश्वर है। जिसमें सहज सिद्ध ज्ञान, वैराग्य, धर्म और ऐश्वर्य है वह ईश्वर है। वह प्राणीमात्र के स्वर्ग-अपवर्ग का प्रेरक है। कहा है—

"जिसमें ज्ञान, वैराग्य, धर्म और ऐश्वर्य सहज सिद्ध है वह ईश्वर है। जगत के सभी प्राणी अज्ञान व अपने सुख-दुःख के भोग में पराधीन है। ईश्वर की प्रेरणा से ही वे स्वर्ग या नरक में जाते हैं।"

(v) आत्मवादी—संपूर्ण विश्व को आत्मा का परिणाम मानने वाले आत्मवादी हैं। इनके मतानुसार आत्मा के सिवाय जगत में अन्य कुछ भी नहीं है। संपूर्ण जगत ब्रह्म का ही परिणाम है। कहा है—

"अलग-अलग देहों में व्यवस्थित आत्मा वास्तव में तो एक ही है। जैसे चन्द्र एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न जलपात्रों में प्रतिबिंबरूप से अलग-अलग दिखाई देता है, वैसे अलग-अलग देह में आत्मा भी अलग-अलग दिखाई देता है। जो हुआ है और होगा वह सभी पुरुष-आत्मा ही है।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. क्रियावादी के १८० भेद–

(i) जीव **(ii)** अजीव **(iii)** पुण्य **(iv)** पाप **(v)** आस्रव **(vi)** संवर **(vii)** निर्जरा **(viii)** बंध और **(ix)** मोक्ष। ये नवतत्त्व हैं। ये नव तत्त्व स्वत: और परत: दोनों तरह से जाने जाते हैं। वस्तु का ज्ञान जैसे स्वरूप से होता है, वैसे पररूप से भी होता है। जैसे आत्मा का ज्ञान चेतनालक्षण से होता है वैसे स्तंभ, कुंभ आदि अजीव से विपरीत लक्षण वाली होने से भी होता है। जैसे दीर्घ को देखकर ह्रस्व का ज्ञान होता है। अत: जीवादि पदार्थों का अस्तित्त्व भी स्वत: और परत: दोनों तरह से जाना जाता है तथा ये पदार्थ अपेक्षा भेद से नित्य और अनित्य दोनों हैं। इस प्रकार एक जीवतत्त्व ४ तरह से जाना जाता है और इन्हें काल, स्वभाव, नियति, ईश्वर और आत्मवादी सभी मानते हैं अत: एक-एक तत्त्व के काल आदि के मतानुसार ४-४ भेद होने से कुल ४ × ५ = २० × ९ = १८० भेद होते हैं।

बोलने का तरीका–

१. अस्ति जीव: नित्य स्वत: कालत:	११. अस्ति जीव: अनित्य: स्वत: नियते:
२. अस्ति जीव: नित्य: परत: कालत:	१२. अस्ति जीव: अनित्य: परत: नियते:
३. अस्ति जीव: अनित्य: स्वत: कालत:	१३. अस्ति जीव: नित्य: स्वत: ईश्वरात्
४. अस्ति जीव: अनित्य: परत: कालत:	१४. अस्ति जीव: नित्य: परत: ईश्वरात्
५. अस्ति जीव: नित्य: स्वत: स्वभावत:	१५. अस्ति जीव: अनित्य: स्वत: ईश्वरात्
६. अस्ति जीव: नित्य: परत: स्वभावत:	१६. अस्ति जीव: अनित्य: परत: ईश्वरात्
७. अस्ति जीव: अनित्य: स्वत: स्वभावत:	१७. अस्ति जीव: नित्य: स्वत: आत्मन:
८. अस्ति जीव: अनित्य: परत: स्वभावत:	१८. अस्ति जीव: नित्य: परत: आत्मन:
९. अस्ति जीव: नित्य: स्वत: नियते:	१९. अस्ति जीव: अनित्य: स्वत: आत्मन:
१०. अस्ति जीव: नित्य: परत: नियते:	२०. अस्ति जीव: नित्य: परत: आत्मन:

अजीवादि ८ के भी इसी तरह भांगे बनते हैं।

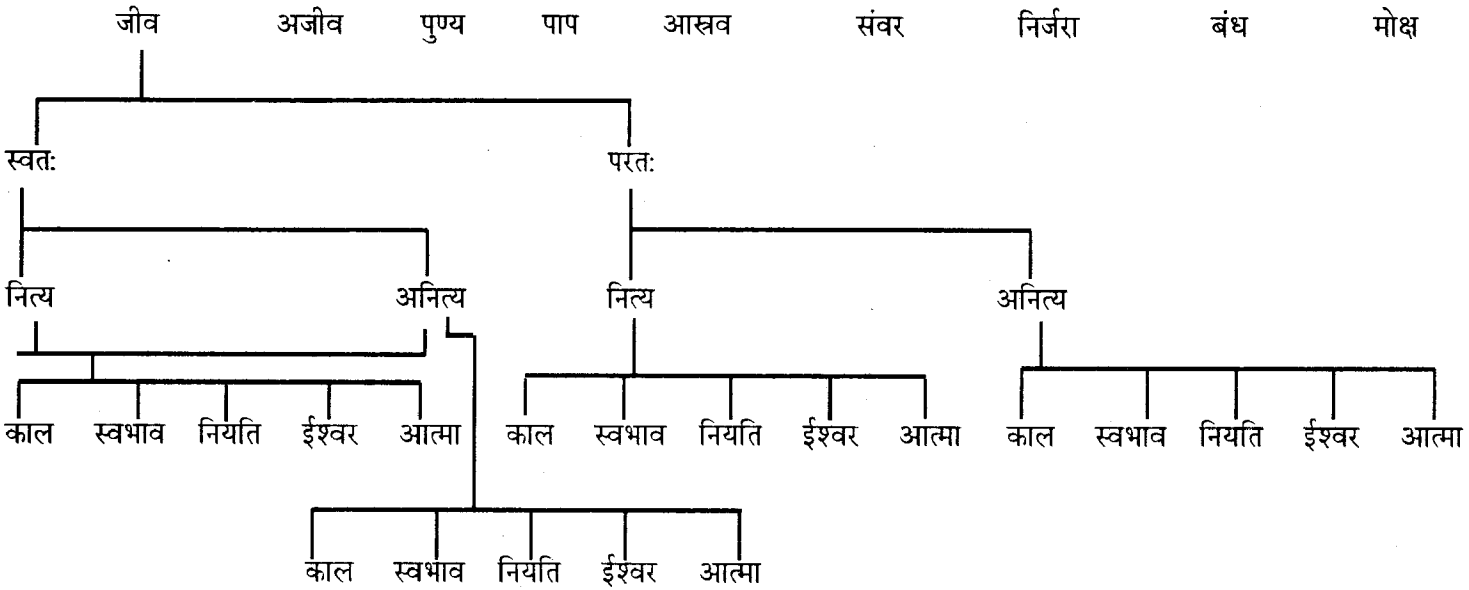
इस प्रकार एक जीव पदार्थ के साथ १२० भेद हुए। अजीवादि शेष पदार्थों के साथ भी इसी प्रकार २०-२० भेद होने से क्रियावादी के कुल मिलाकर १८० भेद होते हैं। जीवादि ९ × २० स्वत:-परत:, नित्य-अनित्य, काल-स्वभाव-नियति-ईश्वर और आत्मा के भेद = १८० क्रियावादी के भेद होते हैं ॥११८९-११९३॥ चार्ट देखें पृष्ठ २२७ पर।

२. अक्रियावादी के ८४ भेद–

पुण्यबंध, पापबंधरूप क्रियाओं को नहीं मानने वाले अक्रियावादी हैं। उनका मानना है कि जगत के सभी पदार्थ क्षणिक हैं और क्षणिक पदार्थों में क्रिया घट नहीं सकती क्योंकि वे तो उत्पन्न होते ही दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं। उन्हीं पदार्थों में क्रिया हो सकती है जो उत्पत्ति के पश्चात् कुछ क्षण ठहरते हैं। ये आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। कहा है कि—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रियावादी के १८० भेद



इस प्रकार एक जीव पदार्थ के साथ २० भेद हुए। अजीवादि शेष पदार्थों के साथ भी इस प्रकार २०-२० भेद होने से क्रियावादी के कुल मिलाहकर १८० भेद होते हैं। जीवादि ९ × २० स्वत:-परत:, नित्य-अनित्य, काल-स्वभाव-नियति-ईश्वर और आत्मा के भेद = १८० क्रियावादी के भेद होते हैं।

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

"सभी संस्कार क्षणिक हैं और जो क्षणिक हैं उनमें क्रिया नहीं हो सकती। क्षणिक पदार्थों का उत्पन्न होना ही क्रिया है और कारण भी वही है। अक्रियावादी के ८४ भेद हैं। ये जीव, अजीव, आस्रव, संवर, बंध, निर्जरा व मोक्ष सात ही तत्त्व मानते हैं। इन सात तत्त्वों के स्वत: और परत: दो ही विकल्प होते हैं। नित्य और अनित्य ये दो विकल्प नहीं होते। कारण नित्य अनित्य धर्मरूप है और धर्म, धर्मी के बिना नहीं रह सकता अत: उन्हें मानने पर आत्मारूप धर्मी अगत्या मानना होगा। वह अक्रियावादी को इष्ट नहीं है। अक्रियावादी में पूर्वोक्त ५ वादियों के अतिरिक्त एक यदृच्छावादी और है। इस प्रकार ६ हैं।"

(iv) यदृच्छावादी—यदृच्छावादी वे कहलाते हैं जो पदार्थों के कार्य-कारण भाव की व्यवस्था को अनियमित मानते हैं। उनका मानना है कि बिच्छू बिच्छू से भी पैदा होता है और गोबर से भी होता है। आग, आग से पैदा होती है वैसे अरणि की लकड़ी से भी पैदा होती है। धूम, धूम से होता है वैसे आग और आर्द्र लकड़ी के संयोग से भी उत्पन्न होता है। केला, पौध से भी होता है और बीज से भी। वट आदि बीज से होते हैं वैसे शाखा से भी उत्पन्न होते हैं। इससे सिद्ध है कि वस्तुओं का कार्यकारण भाव प्रतिनियत नहीं है। किसी से कुछ भी हो सकता है। बुद्धिमान व्यक्ति जैसी वस्तु है उसे वैसी ही मानते हैं। विपरीत मानकर व्यर्थ का क्लेश नहीं करते।

कालादि ६ वादियों के मतानुसार जीवादि सात तत्त्वों के स्वत: व परत: इन दो विकल्पों के ७ × ६ × २ = ८४ अक्रियावादी के भेद हैं। चार्ट पृष्ठ २२९ पर देखें।

बोलने का तरीका—

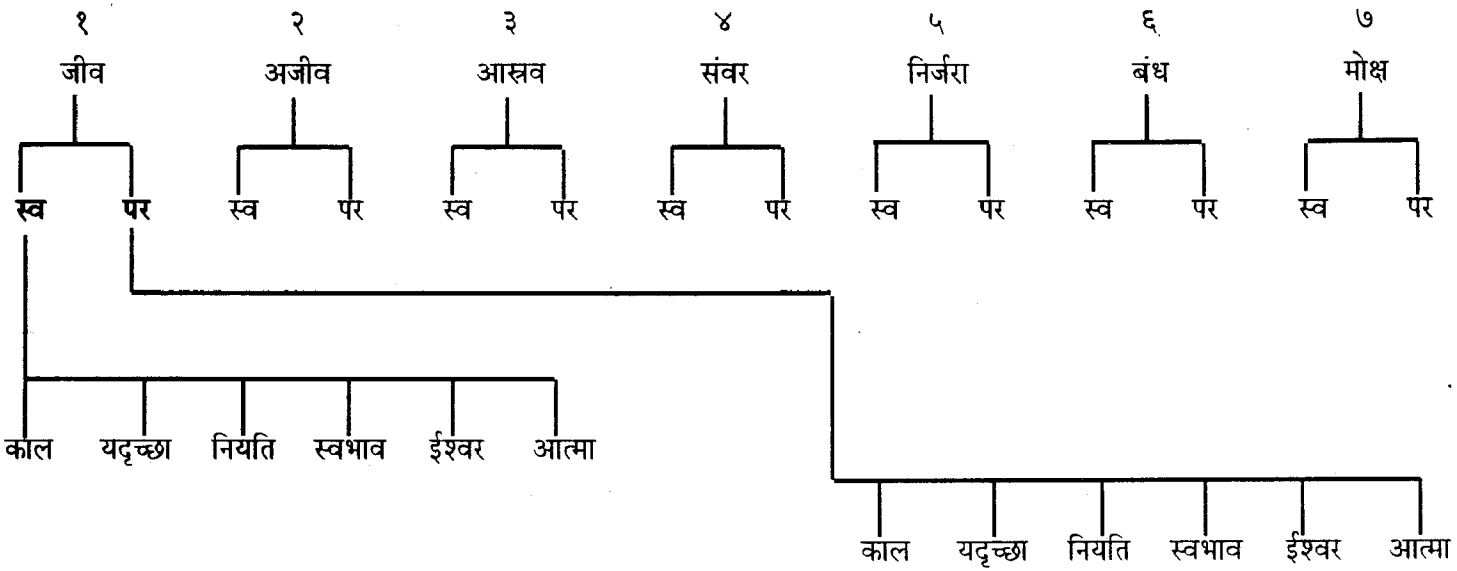
१. अस्ति जीव: स्वत: कालत:	७. अस्ति जीव: स्वत: नियते
२. अस्ति जीव: परत: कालत:	८. अस्ति जीव: परत: नियते:
३. अस्ति जीव: स्वत: यदृच्छात:	९. अस्ति जीव: स्वत: ईश्वरात्
४. अस्ति जीव: परत: यदृच्छात:	१०. अस्ति जीव: परत: ईश्वरात्
५. अस्ति जीव: स्वत: स्वभावत:	११. अस्ति जीव: स्वत: आत्मन:
६. अस्ति जीव: परत: स्वभावत:	१२. अस्ति जीव: परत: आत्मन:

जैसे जीव पद के १२ भेद होते हैं वैसे अजीवादि ६ के भी १२-१२ भेद होते हैं। अत: जीवादि ७ के १२-१२ भेद होने से अक्रियावादी के कुल मिलाकर १२ × ७ = ८४ भेद हुए ॥११९४-११९८॥

३. अज्ञानवादी के ६७ भेद—कुत्सित ज्ञान द्वारा व्यवहार करने वाले अज्ञानी हैं। ये अज्ञानपूर्वक किये गये कर्मबंध को विफल मानते हैं। इनका मानना है कि ज्ञान होना अच्छा नहीं है। ज्ञान होगा तो परस्पर विवाद होगा जिससे राग-द्वेष पैदा होंगे और भवभ्रमण बढ़ेगा। जैसे किसी ने वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करते हुए अन्यथा बात कह दी। यह सुनकर दूसरा ज्ञानी अहंकार पूर्वक अपने ज्ञान की महत्ता बताने के लिये उससे विवाद करेगा। जिससे परस्पर तीव्र तीव्रतर राग-द्वेष व अहंकार बढ़ेगा। इससे भयंकर कर्मों का बंध होगा व भवभ्रमण बढ़ेगा। इससे अज्ञान ही श्रेष्ठ है। अज्ञान की स्थिति में न राग-द्वेष अहंकार पैदा होता है और न कर्मबंध ही होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अक्रियावादी के ८४ भेद



जैसे जीव के १२ भेद होते हैं वैसे अजीवादि ६ के भी १२-१२ भेद होते है।

अत: जीवादि ७ के १२-१२ भेद होने से अक्रियावादी के कुल मिलाकर १२ × ७ = ८४ भेद हुए।

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

ज्ञानपूर्वक बाँधा गया कर्म निकाचित-अवश्यमेव भोगने योग्य होता है, क्योंकि वह तीव्र अध्यवसाय द्वारा बाँधा जाता है। पर जो कर्म मानसिक सजगता के बिना केवल वचन व काया के व्यापार से बाँधा जाता है वह निकाचित नहीं होता कि उसे अवश्य भोगना ही पड़े। ऐसा कर्म, चूने से लिप्त अत्यन्त शुष्क दीवार पर लगी हुई धूल जैसे हलके से वायु के झोंके से साफ हो जाती है वैसे अज्ञानता से बाँधा हुआ कर्म भी शुभ अध्यवसाय के झोंके से साफ हो जाता है। अज्ञानी को मानसिक अभिनिवेश नहीं होता, मानसिक अभिनिवेश ज्ञानी को ही होता है। अत: मोक्षमार्ग में प्रवृत्त मुमुक्षु के द्वारा अज्ञान को ही स्वीकार करना चाहिये। ज्ञान का स्वीकार तभी हो सकता है जबकि ज्ञान का कोई निश्चित स्वरूप हो। ज्ञान के स्वरूप के विषय में सभी दार्शनिकों का मन्तव्य भिन्न-भिन्न है। अत: ज्ञान के विषय में निर्णय नहीं किया जा सकता कि कौन सा ज्ञान सम्यग् है और कौन सा मिथ्या है। अत: अज्ञान ही श्रेष्ठ है।

इनके मतानुसार जीवादि नौ तत्त्वों के प्रति सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सदवक्तव्य, असदवक्तव्य, सदसदवक्तव्य ये सात विकल्प होते हैं।

१. **सत्त्व**—प्रत्येक वस्तु स्वरूप से विद्यमान है। जैसे—किनारे, ग्रीवा, कपाल, कुक्षि, बुध्न आदि स्वपर्यायों से विवक्षित घट सत् है।

२. **असत्त्व**—प्रत्येक वस्तु परपर्याय से अविद्यमान है। जैसे त्वचा का रक्षण आदि करने रूप पट के पर्यायों से विवक्षित घट असत् है।

३. **सदसत्**—स्व-पर रूप से विवक्षित प्रत्येक वस्तु विद्यमान व अविद्यमान दोनों हैं। जैसे स्वपर पर्याय से विवक्षित घट सदसत् है। वस्तु का बोध करने के लिये प्रमाता किसी एक की विवक्षा करता है।

४. **अवक्तव्य**—स्व-पर पर्याय से एक साथ विवक्षित वस्तु अवक्तव्य है जैसे स्व-पर पर्याय की अपेक्षा एक साथ विवक्षित घट का वाचक शब्द न होने से 'घट' अवक्तव्य कहलाता है।

५. **सदवक्तव्य**—एक देश की अपेक्षा स्वपर्याय द्वारा सत्त्व रूप में विशेषित तथा दूसरे देश की अपेक्षा स्वपर उभय पर्याय द्वारा सत्त्व व असत्त्वरूप में विशेषित घट, वाचक शब्द के अभाव में सदवक्तव्य कहलाता है। एक देश की अपेक्षा वह घट है तथा दूसरे देश की अपेक्षा वह अवक्तव्य है।

६. **असदवक्तव्य**—एक देश की अपेक्षा परपर्याय द्वारा असत्त्व रूप से विशेषित तथा दूसरे देश की अपेक्षा स्वपर उभय पर्याय द्वारा एक साथ सत्त्व व असत्त्वरूप में विशेषित घट वाचक शब्द के अभाव में 'असदवक्तव्य' कहलाता है। एक देश की अपेक्षा वह 'अघट' है तथा दूसरे देश की अपेक्षा वह अवक्तव्य है।

७. **सदसदवक्तव्य**—एक देश की अपेक्षा स्वपर्याय द्वारा सत्त्व रूप में विशेषित, दूसरे देश में पर पर्याय द्वारा असत्त्व रूप में विशेषित तथा तीसरे देश में स्व-पर उभय पर्याय द्वारा एक साथ विशेषित 'घट' वाचक शब्द के अभाव में 'सदसदवक्तव्य' है अर्थात् एक देश में घट है, दूसरे देश में घट नहीं है तथा तीसरे देश में वह अवक्तव्य है। इस प्रकार घट के सात भेद हुए। इस तरह पटादि का भी समझना चाहिये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अज्ञानवादिओं के ६७ भेद

१	२	३	४	५	६	७	८	९
जीव	अजीव	पुण्य	पाप	आश्रव	संवर	निर्जरा	बंध	मोक्ष

सत्त्व	असत्त्व	सत्त्वासत्त्व	अवक्तव्य	सत्त्व अवक्तव्य	असत् अवक्तव्य	सत्त्वासत्त्व-अवक्तव्य
१	२	३	४	५	६	७

जैसे जीव के सत्त्वादि सात भेद हैं वैसे अजीवादि आठ पदों के भी सात-सात भेद होते हैं। इस प्रकार अज्ञानवादी के कुल मिलाकर ९ × ७ = ६३ भेद हैं।

१. भावोत्पति है — यह कौन जानता है और ऐसा जानने का प्रयोजन भी क्या है ?

२. भावोत्पति नहीं होती है — कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन है ?

३. भावोत्पति सत्-असत् है — कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन है ?

४. भावोत्पति अवक्तव्य है — कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन है ?

पूर्वोक्त ४ भेदों को ६३ भेदों में मिलाने पर कुल ६३ + ४ = ६७ भेद अज्ञानवादियों के होते हैं।

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

अज्ञानवादियों के मतानुसार जीवादि नौ तत्त्वों के विषय में पूर्वोक्त सात विकल्प होने से ९ × ७ = ६३ भेद हुए।

१. सन् जीवो इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन ?

२. असन् जीवो इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन।

३. सदसन् जीवो इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन।

४. अवक्तव्यो जीवो इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन।

५. सदवक्तव्यो जीवो इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन।

६. असदवक्तव्यो जीवो इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन।

७. सदसदवक्तव्यो जीवो इति को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन।

- कोई भी ऐसा विशिष्ट ज्ञानी नहीं है जो अतीन्द्रिय आत्मा का ज्ञान कर सके तथा आत्मा को जानने का कोई फल भी नहीं है। यदि कोई नित्य, सर्वगत, अमूर्त्त व ज्ञानादिगुणयुक्त अथवा इनसे विपरीत गुणयुक्त आत्मा को जाने भी तो उससे किस पुरुषार्थ की सिद्धि होगी? अतः आत्मा-जीव के विषय में अज्ञान ही श्रेष्ठ है। यह प्रथम विकल्प का अर्थ है। इस प्रकार शेष विकल्पों का भी समझना चाहिये।

ये सात जीव तत्त्व के विकल्प हुए। इसी प्रकार अजीवादि आठ के साथ भी समझना। कुल नौ तत्त्वों के त्रेसठ विकल्प हुए। चार विकल्प 'उत्पत्ति' के साथ होते हैं। यथा—

१. सती भावोत्पत्तिः को वेत्ति, किं वा तया ज्ञातया।

२. असती भावोत्पत्तिः को वेत्ति, किं वा तया ज्ञातया।

३. सदसती भावोत्पत्तिः को वेत्ति, किं वा तया ज्ञातया।

४. अवक्तव्या भावोत्पत्तिः को वेत्ति, किं वा तया ज्ञातया।

१. **भावोत्पत्ति है**—यह कौन जानता है और ऐसा जानने का प्रयोजन भी क्या है?

२. **भावोत्पत्ति नहीं होती है**—कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन है?

३. **भावोत्पत्ति सत्-असत् है**—कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन है?

४. **भावोत्पत्ति अवक्तव्य है**—कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन है?

'उत्पत्ति' के साथ शेष तीन विकल्प-सदवक्तव्य, असदवक्तव्य तथा सदसदवक्तव्य नहीं घट सकते, क्योंकि ये तीनों विकल्प अवयव सापेक्ष हैं और उत्पत्तिकाल में पदार्थ निरवयव होता है। अवयव उत्पत्ति के बाद बनते हैं। अतः पदार्थ के उत्पत्तिकाल में पिछले तीन विकल्प नहीं घट सकते।

पूर्वोक्त ४ भेदों को ६३ भेदों में मिलाने पर कुल ६३ + ४ = ६७ भेद अज्ञानवादियों के होते हैं ॥११९९-१२०४॥ चार्ट पृष्ठ २३१ पर देखें।

४. विनयवादी—ये विनय को ही श्रेष्ठ मानते हैं। विनय का अर्थ है गर्व रहित विनम्रवृत्ति। इनका कहना है कि सुर = देव, राजा, मुनि, स्वजन, वृद्ध, दयनीय जीव भिखारी आदि, माता और पिता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन आठों का मन, वचन, काया तथा देश कालोचित दान द्वारा विनय करने से स्वर्ग व मोक्ष मिलता है। इस प्रकार सुरादि आठ के साथ मन-वचन, काया और दान इन चारों के विकल्प करने से ८ × ४ = ३२ भेद विनयवादी के हैं।

बोलने का तरीका—

१. सुराणां विनयं मनसा कर्त्तव्यं।

२. सुराणां विनयं वचसा कर्त्तव्यं।

३. सुराणां विनयं कायेन कर्त्तव्यं।

४. सुराणां विनयं दानेन कर्त्तव्यं।

इस प्रकार राजा आदि ७ के साथ भी विनय के ४-४ समझना चाहिये।

- कुल विकल्प १८० + ८४ + ६७ + ३२ = ३६३ पाखंडी के भेद होते हैं। इनके खंडन का प्रकार 'सूत्रकृतांग' आदि ग्रन्थों से जानना चाहिये ॥१२०५-१२०६॥

२०७ द्वार : प्रमाद—

पमाओ य मुणिंदेहिं, भणिओ अट्ठभेयओ।
अन्नाणं संसओ चेव मिच्छानाणं तहेव य ॥१२०७॥
रागो दोसो मइब्भंसो धम्मंमि य अणायरो।
जोगाणं दुप्पणिहाणं अट्ठहा वज्जियव्वओ ॥१२०८॥

—गाथार्थ—

आठ प्रकार के प्रमाद—**तीर्थंकर परमात्मा ने प्रमाद के आठ भेद बताये हैं। १. अज्ञान, २. संशय, ३. मिथ्या ज्ञान, ४. राग, ५. द्वेष, ६. मतिभ्रंश, ७. धर्म में अनादर तथा ८. योगों की दुष्टप्रवृत्ति—यह आठ प्रकार का प्रमाद त्याज्य है ॥१२०७-०८॥**

—विवेचन—

प्रमाद = जो आत्मा को मोक्षमार्ग के प्रति शिथिल बनाता है वह प्रमाद है। इसके ८ भेद हैं:—

१. **अज्ञान**	=	मूढ़ता।
२. **संशय**	=	संदेह, यह है अथवा यह है।
३. **मिथ्याज्ञान**	=	विपरीत श्रद्धा
४. **राग**	=	आसक्ति, लगाव।
५. **द्वेष**	=	अप्रीति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. **स्मृतिभ्रंश** = विस्मृति।
७. **अनादर** = अर्हंत परमात्मा के द्वारा प्रतिपादित धर्म के प्रति उद्यम न करना।
८. **दुष्प्रणिधान** = मन-वचन-काया की दुष्ट प्रवृत्ति।

आठों प्रकार का प्रमाद कर्मबंध का हेतु होने से त्याज्य है ॥१२०७-०८॥

२०८ द्वार : चक्रवर्ती—

भरहो सगरो मघवं सणंकुमारो य रायसद्दूलो।
संती कुंथू य अरो हवइ सुभूमो य कोरव्वो ॥१२०९॥
नवमो य महापउमो हरिसेणो चेव रायसद्दूलो।
जयनामो य नरवई बारसमो बंभदत्तो य ॥१२१०॥

—विवेचन—

भरताधिप १२ चक्रवती हैं—

(i)	भरत	**(ii)**	सगर	**(iii)**	मघवा	**(iv)**	सनत्कुमार
(v)	शान्तिनाथ	**(vi)**	कुन्थुनाथ	**(vii)**	अरनाथ	**(viii)**	सुभूम
(ix)	महापद्म	**(x)**	हरिषेण	**(xi)**	जय	**(xii)**	ब्रह्मदत्त

॥१२०९-१०॥

२०९ द्वार : बलदेव—

अयले विजये भद्दे सुप्पभे य सुदंसणे।
आणंदे नंदणे पउमे रामे यावि अपच्छिमे ॥१२११॥

—विवेचन—

(i)	अचल	**(iv)**	सुप्रभ	**(vii)**	नन्दन
(ii)	विजय	**(v)**	सुदर्शन	**(viii)**	रामचन्द्र
(iii)	भद्र	**(vi)**	आनन्द	**(ix)**	राम (कृष्णभ्राता-बलदेव) ॥१२११॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१० द्वार : वासुदेव—

तिविट्ठू य दुविट्ठू य सयंभू पुरिसुत्तमे पुरिससीहे।
तह पुरिसपुंडरीए दत्ते नारायणे कण्हे ॥१२१२ ॥

—विवेचन—

(i) त्रिपृष्ठ (ii) द्विपृष्ठ (iii) स्वयंभू (iv) पुरुषोत्तम (v) पुरुषसिंह (vi) पुरुष पुंडरीक (vii) दत्त (viii) नारायण (लक्ष्मण) (ix) कृष्ण ॥१२१२ ॥

२११ द्वार : प्रतिवासुदेव—

आसग्गीवे तारय मेरय मधुकेढवे निसुंभे य।
बलि पहराए तह रावणे य नवमे जरासंधे ॥१२१३ ॥

—विवेचन—

(i) अश्वग्रीव (ii) तारक (iii) मेरक
(iv) मधुकैटभ (इनका नाम मधु ही है, किन्तु कैटभ नामक भ्राता के सम्बन्ध से इन्हें 'मधुकैटभ' कहा जाता है।)
(v) निशुंभ (vi) बलि (vii) प्रभाराज (प्रह्लाद)
(viii) रावण (ix) जरासंध

- प्रतिवासुदेव क्रमशः वासुदेवों के शत्रु हैं, सभी प्रतिवासुदेव 'चक्रायुध' हैं। युद्ध में वासुदेव को मारने के लिए प्रतिवासुदेव चक्र छोड़ते हैं। किन्तु 'चक्र' वासुदेव का संहार करने के बजाय उन्हें प्रणाम करके उनके हाथ में आ जाता है। वासुदेव उसी चक्र का प्रतिवासुदेव को मारने के लिये उपयोग करते हैं। इस प्रकार प्रतिवासुदेव अपने ही चक्र द्वारा मरते हैं ॥१२१३ ॥

२१२ द्वार : १४ रत्न—

सेणावइ गाहावइ पुरोहिय गय तुरय वड्ढइ इत्थी।
चक्कं छत्तं चम्मं मणि कागिणि खग्ग दंडो य ॥१२१४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चक्कं खग्गं च धणू मणी य माला तहा गया संखो।
एए सत्त उ रयणा सव्वेसिं वासुदेवाणं ॥१२१५॥
चक्कं छत्तं दंडं तिन्निवि एयाइं वाममित्ताइं।
चम्मं दुहत्थदीहं बत्तीसं अंगुलाइ असी ॥१२१६॥
चउरंगुलो मणी पुण तस्सद्धं चेव होइ विच्छिन्नो।
चउरंगुलप्पमाणा सुवन्नवरकागिणी नेया ॥१२१७॥

—गाथार्थ—

चौदह रत्न—**१. सेनापति २. गृहपति ३. पुरोहित ४. हाथी ५. घोड़ा ६. सुथार ७. स्त्रीरत्न ८. चक्र ९. छत्र १०. चर्म ११. मणि १२ काकिणी १३. खड्ग एवं १४. दंड—ये चौदह रत्न हैं ॥१२१४॥**

वासुदेव के रत्न—**१. चक्र २. खड्ग ३. धनुष ४. मणिरत्न ५. माला ६. गदा तथा ७. शंख—ये सात रत्न सभी वासुदेवों के होते हैं ॥१२१५॥**

एकेन्द्रिय रत्नों का परिमाण—**चक्र, छत्र एवं दंड इनका परिमाण तीन वाम का है। चर्मरत्न दो हाथ लंबा होता है। खड्गरत्न बत्तीस अङ्गुल का होता है। मणिरत्न चार अङ्गुल लंबा एवं दो अङ्गुल चौड़ा होता है। चार अङ्गुल परिमाण जाति सुवर्णमय काकिणी रत्न है ॥१२१६-१७॥**

—विवेचन—

रत्न = अपनी जाति की सर्वोत्तम वस्तु 'रत्न' कहलाती है। ये १४ हैं। सेनापति आदि अपनी जाति में शक्ति से उत्कृष्ट होने के कारण रत्न कहलाते हैं।

१. सेनापति	८. चक्र
२. गृहपति	९. छत्र
३. पुरोहित	१०. चर्म
४. गज	११. मणि
५. तुरग	१२. काकिनी
६. वर्धकि	१३. खड्ग
७. स्त्री	१४. दण्ड

१. सेनापति — सेना का नायक, गंगा-सिंधु नदी के पारवर्ती देशों को विजय करने में समर्थ।

२. गृहपति — चक्रवर्ती की गृहव्यवस्था का निर्वाह करने में कुशल। गृहपति का काम शाली आदि धान्य, आम्र आदि फल तथा शाक आदि का उत्पादन करना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. पुरोहित — शान्ति कर्म करने वाला।

४.-५. गज-तुरग — अति वेगवान और महापराक्रमी होते हैं। (गज = हाथी, तुरग = घोड़ा)

६. वर्धकि — गृह आदि का निर्माण करने वाला। जो तमिस्त्रागुफा व खण्ड प्रपातगुफा में उन्मग्नजला व निमग्नजला नदी पर चक्रवर्ती की सेना को पार जाने के लिये पुल बनाता है।

७. स्त्रीरत्न — अद्‌भुत रूपवती और अतिशय रति-सुख देने वाली।

८. चक्र — समस्त आयुधों में श्रेष्ठ व दुर्दमनीय शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाला।

९. छत्ररत्न — चक्रवर्ती के छत्र की यह विशेषता है कि समय आने पर चक्रवर्ती के हाथ का स्पर्श पाकर १२ योजन तक फैल जाता है। जब चक्रवर्ती दिग्विजय करते हुए वैताढ्य पर्वत पर जाता है तब उत्तर भाग में रहने वाले म्लेच्छ लोक मेघकुमार का आह्वान करते हैं। उनके अनुरोध से मेघकुमार चक्रवर्ती के सैन्य पर भयंकर वर्षा करता है। उस समय छत्ररत्न फैलकर सेना की रक्षा करता है। इस छत्र में ९९ हजार स्वर्णमय शलाकायें होती हैं। इसका दण्ड निश्छिद्र, सुवर्णमय है। बस्तिप्रदेश (नीचे के भाग) में पञ्जर से सुशोभित, राजलक्ष्मी का चिह्न रूप है। जिसका पृष्ठदेश अर्जुन-सुवर्ण के आस्तरण वाला है। जो छत्र फैलने के बाद ऐसा लगता है मानो पूनम का चाँद चमक रहा हो। जो धूप-वायु-वृष्टि आदि दोषों का नाशक है।

१०. चर्मरत्न — छत्र के नीचे बिछाया जाता है। यह भी छत्र की तरह चक्रवर्ती के हाथ का स्पर्श पाकर १२ योजन तक फैलता है। इसमें सवेरे बोया हुआ अनाज अपराह्न तक पककर तैयार हो जाता है।

११. मणिरत्न — मणिरत्न वैडूर्य का बना होता है। यह त्रिकोण व छह अंशों वाला है। इसे छत्र और चर्मरत्न के बीच छत्र की तुंबी में रखते हैं। यह १२ योजन फैली हुई चक्रवर्ती की सेना को प्रकाश देने का काम करता है। तमिस्त्रागुफा व खण्डप्रपात गुफा में प्रवेश करते समय इसे हस्तिरत्न के सिर के दक्षिणभाग में बाँध देते हैं। जिससे तीनों दिशा प्रकाशित हो जाती हैं। जिसके हाथ व शिर में यह मणि बाँध दी जाये उसको देव-मनुष्य-तिर्यचकृत उपद्रव व रोग कभी नहीं होते। इसे मस्तक या किसी अङ्ग में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाँधकर यदि कोई व्यक्ति युद्ध करने जाये तो उसे कभी शस्त्र नहीं लगता, वह सभी भय से मुक्त हो जाता है। यह मणि जिसके मणिबंध पर बँधा होता है उसका यौवन, केश व नख सदा अवस्थित रहते हैं।

१२. काकिणीरत्न — सुवर्णरत्न, चौकोर तथा विष-नाशक है। जहाँ सूर्य, चन्द्र व दीपक का प्रकाश उपयोगी नहीं बनता ऐसी तमिस्रागुफा में चक्रवर्ती की सेना को प्रवेश करने में यह रत्न अति उपयोगी है। इसकी किरणें १२ योजन तक प्रकाश फैलाती हैं। चक्रवर्ती की सेना में यह रात को दिन की तरह प्रकाशित करता है। काकिणी रत्न के द्वारा चक्रवर्ती तमिस्रा गुफा की पूर्व-पश्चिम की दीवारों पर क्रमशः २५ व २४ कुल ४९ मण्डल (प्रकाशपुंज) बनाता है। ये मण्डल ५०० धनुष प्रमाण गोल-विस्तृत, एक योजन तक प्रकाश करने वाले, परस्पर एक-एक योजन दूर चक्र की नेमि के आकार वाले, चन्द्र मण्डल सदृश वृत्ताकार, सुवर्णमयी रेखारूप गोमूत्रिका की रचना की तरह व्यवस्थित होते हैं। जैसे—



ये मण्डल तभी तक यथावस्थित रहते हैं जब तक चक्रवर्ती अपने पद पर रहता है। गुफा का द्वार भी तभी तक खुला रहता है। बाद में दोनों क्रमशः नष्ट व बन्द हो जाते हैं।

१३. खड्गरत्न — युद्ध में जिसकी शक्ति अजेय होती है।

१४. दण्डरत्न — रत्नमय पाँच लताओं वाला, वज्र के सत्त्व से निर्मित शत्रु की सेना का नाशक, चक्रवर्ती की सेना के लिये विषम व उन्नत भू-भाग को समतल बनाने वाला। शान्ति कर्ता व चक्रवर्ती के हितकारी इच्छित मनोरथों को पूरा करने वाला। दिव्यशक्तिसंपन्न, अजेय व विशेष प्रयत्न से भूमि में १००० योजन नीचे तक प्रवेश करने में समर्थ है।

- प्रत्येक रत्न १००० देवों से अधिष्ठित रहता है। प्रथम सात रत्न पंचेन्द्रिय हैं। चक्रादि सात रत्न एकेन्द्रिय व पृथ्विकाय रूप हैं। ये सात रत्न जंबूद्वीप में जघन्य से २८ होते हैं क्योंकि जघन्य से एक साथ ४ चक्रवर्ती हो सकते हैं। परन्तु उत्कृष्ट से ये रत्न २१० होते हैं, क्योंकि एक साथ जंबूद्वीप में ३० चक्रवर्ती हो सकते हैं। २८ विदेह में और एक-एक भरत व ऐरवत क्षेत्र में। सात को तीस से गुणा करने पर ३० × ७ = २१० रत्न हुए ॥१२१४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- **वासुदेव के रत्न**—वासुदेव के ७ रत्न होते हैं।

(i) चक्र **(ii)** खड्ग **(iii)** धनुष **(iv)** मणि **(v)** माला, जो कभी नहीं कुम्हलाती व देव प्रदत्त होती है **(vi)** गदा, प्रहरण विशेष, जिसका नाम कौमोदकी है **(vii)** शंख, पाँचजन्य नामक जिसकी ध्वनि १२ योजन तक फैलती है ॥१२१५॥

- **रत्नों का प्रमाण—**
- १ चक्र, छत्र व दण्ड, ये तीनों रत्न व्यामप्रमाण है।
- व्याम = दोनों हाथ फैलाकर खड़े हुए पुरुष के दोनों हाथों की अङ्गुलियों का अन्तराल 'व्याम' कहलाता है।

४. चर्म रत्न दो हाथ विस्तृत होता है। ५. खड्गरत्न ३२ अङ्गुल विस्तृत है। ६. मणिरत्न ४ अङ्गुल लम्बा और २ अङ्गुल चौड़ा है। ७. सुवर्णकाकिणी ४ अङ्गुल प्रमाण है। सातों ही एकेन्द्रिय रत्नों का माप चक्रवर्ती के आत्मांगुल से मापा जाता है। पर शेष सात पंचेन्द्रिय रत्नों का माप तत् तत् कालीन पुरुषोचित प्रमाण से परिच्छेद्य होता है ॥१२१६-१७॥

२१३ द्वार : नवनिधि ९—

नेसप्पे पंडुयए पिंगलए सव्वरयण महपउमे।
काले य महाकाले माणवग महानिही संखे ॥१२१८॥
नेसप्पंभि निवेसा गामगरनगरपट्टणाणं च।
दोणमुहमडंबाणं खंधाराणं गिहाणं च ॥१२१९॥
गणियस्स य गीयाणं माणुम्माणस्स जं पमाणं च।
धन्नस्स य बीयाणं उप्पत्ती पंडुए भणिया ॥१२२०॥
सव्वा आहरणविही पुरिसाणं जा य जा य महिलाणं।
आसाण य हत्थीण य पिंगलगनिहिम्मि सा भणिया ॥१२२१॥
रयणाइं सव्वरयणे चउदस पवराइं चक्कवट्टीणं।
उप्पज्जंति एगिंदियाइं पचिंदियाइं च ॥१२२२॥
वत्थाण य उप्पत्ती निप्फत्ती चेव सव्वभत्तीणं।
रंगाण य धाऊण य सव्वा एसा महापउमे ॥१२२३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काले कालन्नाणं भव्व पुराणं च तिसुवि वंसेसु।
सिप्पसयं कम्माणि य तिन्नि पयाए हियकराइं ॥१२२४॥
लोहस्स य उप्पत्ती होइ महाकाल आगराणं च।
रूप्पस्स सुवण्णस्स य मणिमोत्तियसिलप्पवालाणं ॥१२२५॥
जोहाण य उप्पत्ती आवरणाणं च पहरणाणं च।
सव्वा य जुद्धनीई माणवगे दंडनीई य ॥१२२६॥
नट्टविही नाडयविही कव्वस्स चउव्विहस्स निप्फत्ती।
संखे महानिहिम्मि उ तुडियंगाणं च सव्वेसिं ॥१२२७॥
चक्कट्ठपइट्ठाणा अट्ठुस्सेहा य नव य विक्खंभे।
बारस दीहा मंजूससंठिया जण्हवीए मुहे ॥१२२८॥
वेरुलियमणिकवाडा कणयमया विविहरयणपडिपुन्ना।
ससिसूरचक्कलक्खण अणुसमवयणोववत्तीया ॥१२२९॥
पलिओवमट्ठिईया निहिसरिनामा य तत्थ खलु देवा।
जेसिं ते आवासा अक्केज्जा आहिवच्चाय ॥१२३०॥
एए ते नव निहिणो पभूयधणरयणसंचयसमिद्धा।
जे वसमुवगच्छंति सव्वेसिं चक्कवट्टीणं ॥१२३१॥

—गाथार्थ—

नवनिधि—१. नैसर्प २. पांडुक ३. पिंगलक ४. सर्वरत्न ५. महापद्म ६. काल ७. महाकाल ८. माणवक एवं ९. शंख—ये नौ महानिधि हैं ॥१२१८॥

१. नैसर्पनिधि—नैसर्पनिधि में गाँव, खान, नगर, पत्तन, द्रोणमुख, मडंब, स्कंधावार एवं घर आदि के स्थापन की विधि बताई गई है ॥१२१९॥

२. पांडुकनिधि—गणित, संगीत एवं मान-उन्मान का प्रमाण तथा धान्य सम्बन्धी बीजों की उत्पत्ति का वर्णन पांडुकनिधि में कहा गया है ॥१२२०॥

३. पिंगलनिधि—पुरुष, स्त्री, घोड़े, हाथी आदि की यथोचित आभरण-अलंकरण की संपूर्ण विधि, इस निधि में बताई गई है ॥१२२१॥

४. सर्वरत्ननिधि—सभी रत्नों में चक्रवर्ती के चौदह रत्न सर्वश्रेष्ठ होते हैं। ये रत्न इस निधि से उत्पन्न होते हैं ॥१२२२॥

५. महापद्मनिधि—सभी प्रकार के वस्त्रों के निर्माण की विधि, रचना विशेष, रंग, धातु आदि के निर्माण की विधि इस निधि में वर्णित है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. कालनिधि—इस निधि में काल सम्बन्धी ज्ञान, तीनों वंशों में होने वाले भूत-भावी-वर्तमान सम्बन्धी महापुरुषों का वर्णन तथा प्रजा के लिये हितकारी शिल्प एवं त्रिविध कर्म का वर्णन किया गया है ॥१२२४॥

७. महाकालनिधि—महाकालनिधि में लोहा, चाँदी, सोना, मणि, मोती, स्फटिक आदि शिलायें तथा मूंगा आदि की उत्पत्ति तथा इनकी खानों का वर्णन है ॥१२२५॥

८. माणवकनिधि—योद्धा, कवच तथा शस्त्रों की उत्पत्ति, सभी प्रकार की युद्धनीति एवं दंडनीति माणवकनिधि में वर्णित है ॥१२२६॥

९. शंखमहानिधि—सभी प्रकार की नृत्यविधि, नाटकविधि, चतुर्विध काव्यों की रचनाविधि तथा सभी प्रकार के वादित्रों की उत्पत्ति की विधि इस निधि में वर्णित है ॥१२२७॥

प्रत्येक निधि आठ चक्रों पर प्रतिष्ठित, आठ योजन ऊँची, नौ योजन चौड़ी, बारह योजन लंबी पेटी में स्थित है तथा गंगा के मुख प्रदेश में विराजमान है ॥१२२८॥

इन निधिओं के दरवाजे वैडूर्यमणि के हैं। उन पर विविध रत्नों से जड़ित स्वर्णमय चन्द्र, सूर्य एवं चक्र के चिह्न हैं। इन दरवाजों में प्रतिसमय पुद्गलों का चय-उपचय होता रहता है।।१२२९॥

ये निधियाँ निधितुल्य नाम वाले, एक पल्योपम की आयु वाले देवों का आश्रय स्थान हैं। इन निधियों पर देवों का आधिपत्य अक्रेतव्य है अर्थात् स्वाभाविक है ॥१२३०॥

ये निधियाँ प्रभूत धन-रत्नों के संग्रह से समृद्ध हैं और सभी चक्रवर्तियों के वश मे रहती हैं ॥१२३१॥

—विवेचन—

१. नैसर्प	२. पाण्डुक	३. पिंगलक
४. सर्वरत्न	५. महापद्म	६. काल
७. महाकाल	८. माणवक	९. शंख

पूर्वोक्त नव-निधानों में संपूर्ण विश्व की व्याख्या करने वाली कल्प पुस्तकें हैं। इसीलिये ये निधान = अपूर्व खजाना कहलाते हैं। किस निधि में किस की व्याख्या बताई है, उसका वर्णन निम्नलिखित है ॥१२१८॥

१. नैसर्प — इस निधि में ग्राम, आकर, नगर, पत्तन, द्रोणमुख, मडम्ब, स्कन्धावार, गृह व आपणों की रचना से सम्बन्धित व्याख्या है।

- ग्राम = जिसके चारों ओर वाड़ लगी हो। आकर = खान, जहाँ नमक आदि उत्पन्न होते हों। नगर = राजधानी। पत्तन = जहाँ जल-स्थल दोनों मार्गों से निर्गम-प्रवेश अर्थात् गमनागमन होता हो। द्रोणमुख = जहाँ केवल जल मार्ग से ही निर्गम व प्रवेश हो। मडम्ब = जिसके चारों ओर ढाई कोस तक कोई गाँव न हो। स्कंधावार = सेना की छावनी। गृह = घर, भवन। आपण = दुकान ॥१२१९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. पाण्डुक — इस निधि में, गणित, गीत, मान-उन्मान तथा देश कालोचित शाली आदि धान्यों की उत्पत्ति सम्बन्धी प्रक्रियाओं की व्याख्या है।

- गणित = जिसके द्वारा अशर्फियाँ, सुपारी आदि फलों की गणना की जाती है। गीत = स्वर, ताल, लय, विविध प्रकार की राग-रागिनियों से सम्बन्धित व्याख्या। मान = जिससे धान्य मापा जाता है ऐसे माप। उन्मान = जिससे शक्कर, गुड़ आदि तोला जाता है वह तराजू, बाट, तोला, माषा आदि ॥१२२०॥

३. पिंगलक — पुरुष, स्त्री, हाथी व घोड़ों के पहिनने योग्य आभूषण बनाने की विधि जिसमें बताई गई है ॥१२२१॥

४. सर्वरत्न — चक्रवर्ती के योग्य चौदह रत्नों की उत्पत्ति का स्वरूप जिसमें वर्णित है। चौदह रत्न इस निधि से उत्पन्न होते हैं, ऐसा भी किसी का मानना है। उत्पन्न होने का अर्थ है इस निधि के प्रभाव से चौदह रत्न तेजस्वी बनते हैं ॥१२२२॥

५. महापद्म — वस्त्रों के विविध रंग, अनेक प्रकार की डिजाइनें, लोहा, ताँबा आदि धातुओं की उत्पत्ति की विधि इस निधि में बताई गई है। कहीं पर 'धोव्वाण य' ऐसा भी पाठ है, जिसका अर्थ है कि सभी तरह के वस्त्रों को धोने की विधि महापद्म निधि में बताई है ॥१२२३॥

६. काल — कालनिधि में ज्योतिष् सम्बन्धी ज्ञान है। तीर्थंकर, बलदेव व वासुदेव के वंश में जो हो चुका, जो हो रहा है तथा जो होगा इन सब का ज्ञान कालनिधि से होता है। कहीं पर 'तिसुवि वासेसु' ऐसा भी पाठ है, उसका अर्थ है। अतीत के तीन वर्ष तथा आगामी तीन वर्ष तक का ज्ञान इस निधि से होता है। कहीं पर 'भव्वपुराणं च तिसुवि कालेसु' ऐसा भी पाठ है। जिसका अर्थ है—इस निधि से त्रैकालिक शुभाशुभ का ज्ञान होता है। कुंभार, लुहार, चित्रकार, बुनकर व नाई आदि पांच शिल्प अपने सौ-सौ प्रभेदों सहित तथा कृषिकर्म, वाणिज्य आदि प्रजा हितकारी कलाओं का भी इसमें सप्रभेद वर्णन है ॥१२२४॥

७. महाकाल — लोहे के अनेक भेदों की उत्पत्ति इस निधि में वर्णित है। साथ ही इसमें चाँदी, सोना, चन्द्रकान्तादि मणियाँ, मोती स्फटिकादि रत्न तथा मूंगे आदि की खानों का भी वर्णन है ॥१२२५॥

८. माणवक — इस निधि में योद्धाओं से सम्बन्धित कवच, खड्ग आदि शस्त्र, व्यूहरचना, साम, दाम, दण्ड, भेद रूप नीति आदि का वर्णन है ॥१२२६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. शंख — नाना प्रकार के नृत्य, नाटक, धर्म-अर्थ-काम व मोक्ष से सम्बन्धित काव्य अथवा संस्कृत-प्राकृत, अपभ्रंश व विविध भाषा में रचित गद्य-पद्य-गेय व चम्पूरूप चतुर्विध काव्यों की रचना विधि इस निधि में वर्णित है। अनेक प्रकार के वादित्रों को बनाने की विधि भी इसमें बताई गई है। अन्यमते—पूर्वोक्त सभी पदार्थ नौ निधियों में से साक्षात् उत्पन्न होते हैं ॥१२२७॥

निधियों का स्वरूप—

प्रत्येक निधि ८-८ चक्र पर प्रतिष्ठित है। इन निधियों की लंबाई, चौड़ाई व ऊँचाई क्रमशः १२, ९ व ८ योजन है। इनका निवास स्थान गंगा नदी का मुख है। पाताल से भरत विजय करने के पश्चात् जब चक्रवर्ती अपने नगर की ओर लौटता है तब ये निधियाँ पाताल से निकलकर चक्रवर्ती का स्वतः अनुगमन करती हैं। ये निधियाँ सुवर्णमय हैं। इनके कपाट वैडूर्यमणि से निर्मित व समतल हैं। ये विविधरत्नों से परिपूर्ण चन्द्र, सूर्य व चक्र के आकारों से चिह्नित हैं। कहीं 'अणुवम' ऐसा पाठ है। उसका अर्थ है कि—निधियों का स्वरूप अनुपमेय है। कहीं पर 'अणुसमयचयणोववत्तीय' ऐसा भी पाठ है। जिसका अर्थ है कि—प्रतिसमय इन निधियों में से पुद्गलों का पूरण-गलन होता रहता है। **स्थानांग** में निधियों का वर्णन करते हुए 'अणुसमजुगबाहुवयणा य' ऐसा पाठ है। इसका अर्थ है कि 'समतल' यज्ञ के खंभे की तरह गोल तथा लंबी-लंबी द्वार शाखायें जिनके मुख पर हैं। उन निधियों के निधि सदृश नाम वाले, एक पल्योपम की आयु वाले अधिष्ठाता देव हैं। ये निधियाँ उनका सहज आश्रय स्थान हैं।

प्रभूत धन-रत्न के समूह से समृद्ध ये निधियाँ चक्रवर्ती बनने के पश्चात् सभी चक्रवर्तियों के वश में आ जाती हैं ॥१२२८-३१॥

२१४ द्वार : जीव-संख्या—

नमिउं नेमिं एगाइजीवसंखं भणामि समयाओ।
चेयणजुत्ता एगे भवत्थसिद्धा दुहा जीवा ॥१२३२॥
तस थावरा य दुविहा तिविहा थीपुंनपुंसगविभेया।
नारयतिरियनरामरगइभेयाओ चउब्भेया ॥१२३३॥
अहव तिवेयअवेयगसरूवओ वा हवंति चत्तारि।
एगबितिचउपणिंदिय रूवा पंचप्पयारा ते ॥१२३४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एए च्चिय छ अणिंदियजुत्ता अहवा छ भूजलग्गिनिला।
वणतससहिया छप्पिय ते सत्त अकायसंवलिया ॥१२३५॥
अंडय रसय जराउय संसेयय पोयया समुच्छिमया।
उब्भिय तहोववाइय भेएणं अट्ठहा जीवा ॥१२३६॥
पुढवाइ पंच बितिचउपणिंदि जुत्ता य नवविहा हुंति।
नारयनपुंस तिरिनरतिवेय सुरथीपुमेवं वा ॥१२३७॥
पुढवाइ अट्ठ असन्नि सन्नि दस ते ससिद्ध इगदसउ।
पुढवाइया तसंता अपज्जपज्जत्त बारसहा ॥१२३८॥
बारसवि अतणुजुत्ता तेरस सुहुमियरेगिंदिबेइंदी।
तिय चउ असन्नि सन्नी अपज्ज-पज्जत्त चउदसहा ॥१२३९॥
चउदसवि अमलकलिया पनरस तह अंडगाइ जे अट्ठ।
ते अपज्जत्तगपज्जत्तभेयओ सोलस हवंति ॥१२४०॥
सोलसवि अकायजुया सतरस नपुमाइ नव अपज्जत्ता।
पज्जत्ता अट्ठारस अकम्म जुअ ते इगुणवीसं ॥१२४१॥
पुढवाइ दस अपज्जा पज्जत्ता हुंति वीस संखाए।
असरीरजुएहिं तेहिं वीसई होइ एगहिया ॥१२४२॥
सुहुमियरभूजलानलवाउवणाणंत दस सपत्तेआ।
बिति-चउ-असन्नि-सन्नी अपज्ज-पज्जत्त बत्तीसं ॥१२४३॥
तह नरयभवणवणजोइकप्पगेवेज्जऽणुत्तरुप्पन्ना।
सत्तदसऽडपणबारस नवपणछप्पन्नवेउव्वा ॥१२४४॥
हुंति अडवन्नसंखा ते नरतेरिच्छसंगया सव्वे।
अपजत्तपजत्तेहिं सोलसुत्तरसयं तेहिं ॥१२४५॥
सन्निदुगहीण बत्तीससंगयं तं सयं छयत्तालं।
तं भव्वाभव्वगदूरभव्वा आसन्नभव्वं च ॥१२४६॥
संसारनिवासीणं जीवाण सय इमं छयत्तालं।
अप्पं व पालियव्वं सिवसुहकंखीहिं जीवेहिं ॥१२४७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिरिअम्मएवमुणिवइ विणेयसिरिनेमिचंदसूरीहिं ।
सपरहियत्थं रइयं कुलयमिणं जीवसंखाए ॥१२४८ ॥

—गाथार्थ—

जीव संख्या कुलक—नेमिनाथ परमात्मा को नमस्कार करके एकविध, द्विविध आदि जीवों की संख्या सिद्धान्त के अनुसार कहूँगा। जीव का एक प्रकार चेतना लक्षण है। संसारी और सिद्ध के भेद से जीव, द्विविध हैं ॥१२३२ ॥

त्रस और स्थावर के भेद से संसारी जीवों के दो भेद हैं। स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक के भेद से त्रिविध जीव हैं। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति के भेद से जीव चतुर्विध हैं ॥१२३३ ॥

अथवा तीन वेद वाले और अवेदी इस प्रकार से भी चतुर्विध है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पञ्चेन्द्रिय के भेद से जीव पंचविध हैं ॥१२३४ ॥

पूर्वोक्त पंचविध जीवभेद के साथ एक भेद अनीन्द्रिय का जोड़ने से षड्विध जीव होते हैं। अथवा जीव के छः भेद इस प्रकार भी होते हैं—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति एवं त्रस। इनके साथ 'अकाय' जोड़ने से सात प्रकार के जीव होते हैं ॥१२३५ ॥

अंडज, रसज, जरायुज, संस्वेदज, पोतज, संमूर्च्छिम, उद्भिज तथा औपपातिक इस प्रकार अष्टविध जीव भेद हैं ॥१२३६ ॥

पृथ्विकाय आदि पाँच जीव भेदों के साथ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय—इन चार जीव-भेदों को जोड़ने से नवविध जीव होते हैं ॥१२३७ ॥

पाँच स्थावर और तीन विकलेन्द्रिय—इन आठ जीव भेदों के साथ पंचेन्द्रिय के संज्ञी और असंज्ञी दो जीव भेद जोड़ने से दश प्रकार के जीव होते हैं। पूर्वोक्त दश भेद सिद्ध सहित ग्यारह होते हैं। पृथ्वी आदि छः काय के पर्याप्ता और अपर्याप्ता मिलकर कुल बारह प्रकार के जीव होते हैं ॥१२३८ ॥

पूर्वोक्त बारह जीव भेद के साथ 'अशरीरी' जोड़ने से तेरह जीव के भेद होते हैं। सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि तीन तथा संज्ञी-असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय इन सातों के पर्याप्ता और अपर्याप्ता मिलकर कुल चौदह जीव भेद हुए ॥१२३९ ॥

पूर्वोक्त चौदह जीव भेदों के साथ सिद्ध को मिलाने से पन्द्रह जीव भेद होते हैं। अंडज आदि आठ जीव भेदों के पर्याप्ता और अपर्याप्ता दो-दो जीवभेद करने से कुल सोलह जीवभेद होते हैं ॥१२४० ॥

पूर्वोक्त सोलह भेद में 'अशरीरी' जोड़ने से सत्रह जीव भेद होते हैं। पूर्वोक्त नपुंसकादि नौ भेद के पर्याप्ता और अपर्याप्ता मिलकर अट्ठारह जीवभेद और इनमें सिद्ध का एक भेद जोड़ने से कुल उन्नीस जीव भेद होते हैं ॥१२४१ ॥

पृथ्विकाय आदि दस जीवों के पर्याप्ता और अपर्याप्ता बीस जीव भेद हुए। इनके साथ सिद्ध का एक भेद जोड़ने से इक्कीस जीवभेद होते हैं ॥१२४२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूक्ष्म और बादर पृथ्विकाय, अप्काय, तेउ, वायु, अनंत वनस्पति—ये दस भेद तथा प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय असंज्ञी-संज्ञी पञ्चेन्द्रिय—इन सभी के पर्याप्ता और अपर्याप्ता मिलाने से कुल जीव भेद बत्तीस होते हैं ॥१२४३॥

वैक्रिय शरीरी जीवों के छप्पन्न भेद हैं। यथा सात नरक, दस भवनपति, आठ व्यन्तर, पाँच ज्योतिषी, बारह देवलोक, नौ ग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर विमान में उत्पन्न होने वाले जीव। इनमें मनुष्य और तिर्यंच ये दो जीवभेद मिलाने से कुल अट्ठावन जीवभेद होते हैं। अट्ठावन के पर्याप्ता और अपर्याप्ता दो-दो भेद होने से कुल एक सौ सोलह जीवभेद होते हैं ॥१२४४-४५॥

जीवों के बत्तीस भेदों में संज्ञीद्विक न्यून करके शेष तीस भेदों को एक सौ सोलह जीवभेदों के साथ जोड़ने से जीवों के एक सौ छयालीस भेद भी होते हैं। पूर्वोक्त एक सौ छयालीस जीवभेदों का समावेश भव्य, अभव्य, दुर्भव्य और आसन्नभव्य इन चार भेदों में होता है। इन जीवभेदों को समझकर शिवसुख के इच्छुक आत्माओं को इनका आत्मवत् पालन करना चाहिये। ॥१२४६-४७॥

श्री आम्रदेव मुनिपति के शिष्य श्री नेमिचन्द्रसूरि ने स्वपर के हित के लिये 'जीवसंख्या नामक' कुलक की रचना की है ॥१२४८॥

—विवेचन—

नेमिनाथ भगवान को नमस्कार करके एकविध, द्विविध आदि जीवों की संख्या सिद्धांतानुसार कहूँगा।

एकविध — चेतना लक्षण की अपेक्षा से सिद्ध व संसारी दोनों जीव चेतनावान होते हैं। क्योंकि जीव को सतत बोध रहता है, अन्यथा जीव को अजीव बनने का प्रसंग उपस्थित होगा।

द्विविध — सिद्ध और संसारी अथवा त्रस और स्थावर। त्रस = द्वीन्द्रिय आदि। स्थावर = पृथ्वी आदि।

त्रिविध — स्त्रीलिंग, पुल्लिग और नपुंसक लिंग की अपेक्षा से। स्त्री के सात लक्षण हैं—योनि, मृदुता, अस्थैर्य, मुग्धता, बलहीनता, उरोज तथा पुरुष की अभिलाषा।

पुरुष के सात लक्षण हैं—पुरुषचिह्न, कठोरता, दृढ़ता, पौरुष, दाढ़ी-मूंछ, धृष्टता व स्त्री की अभिलाषा।

नपुंसक के लक्षण—जिसमें स्त्री व पुरुष दोनों के लक्षण मिलते हों तथा जिनका मोह अतिप्रबल हो।

चतुर्विध — नारक, तिर्यंच, देव और मनुष्य की अपेक्षा से अथवा स्त्रीलिंग, पुल्लिग, नपुंसक लिंग और अलिंग (अवेदी = जिसने वेद का उपशम या क्षय किया हो ऐसे भवस्थ या सिद्ध जीव) की अपेक्षा ४ प्रकार के जीव हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंचविध — एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय।

षड्विध — एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और अनिन्द्रिय (सिद्ध) अथवा पृथ्वी, अप्, तेउ, वाउ, वनस्पति और त्रस।

सप्तविध — पृथ्वी, अप्, तेउ, वाउ, वनस्पति, त्रस और अकाय (सिद्ध)।

अष्टविध—

(i) अंडज — अंडे में पैदा होने वाले जीव। जैसे पक्षी, मत्स्य, सर्प, छिपकली आदि।

(ii) रसज — रस में पैदा होने वाले जीव। जैसे छाछ, दही आदि में पैदा होने वाले कृमि।

(iii) जरायुज — जरायु सहित पैदा होने वाले जीव, जैसे गाय, भैंस, मनुष्य आदि।

(iv) संस्वेदज — पसीने में पैदा होने वाले जीव। जैसे जूं, खटमल, लीख आदि।

(v) पोतज — चर्म की थैली के आवरण सहित जन्म लेने वाले जीव, जैसे हाथी, जौंक चमगादड़ आदि।

(vi) संमूर्च्छिम — तथाविध वर्ण, गंध, रस आदि के संयोग से पैदा होने वाले जीव। जैसे मक्खी, मच्छर, चींटी आदि।

(vii) उद्भेदज — भूमि के भीतर से उत्पन्न होने वाले जीव। जैसे पतंगे, खद्योत आदि।

(viii) उपपातज — देव-शय्या में सहज रूप से पैदा होने वाले देवादि एवं कुंभी में उत्पन्न होने वाले नारक।

नवविध—

(i)	पृथ्वीकाय	**(iv)**	वायुकाय	**(vii)**	त्रीन्द्रिय
(ii)	अप्काय	**(v)**	वनस्पतिकाय	**(viii)**	चतुरिन्द्रिय
(iii)	तेउकाय	**(vi)**	द्वीन्द्रिय	**(ix)**	पंचेन्द्रिय

दशविध — पूर्वोक्त अष्टविध जीव के भेदों में असंज्ञी, संज्ञी ये दो भेद मिलाने से = दशविध जीव के भेद होते हैं।

एकादशविध — पूर्वोक्त दशविध जीव के भेदों में सिद्ध का एक भेद मिलाने से = एकादशविध जीव के भेद होते हैं।

द्वादशविध—

(i)	पृथ्वी	**(iv)**	वाउ
(ii)	अप्	**(v)**	वनस्पति और
(iii)	तेउ	**(vi)**	त्रस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन छः के पर्याप्ता और अपर्याप्ता कुल मिलाकर = १२ जीव भेद।

त्रयोदशविध—

पूर्वोक्त बारह और सिद्ध का एक भेद = १३ भेद।

चतुर्दशविध—

(i)	सूक्ष्म एकेन्द्रिय	**(iv)**	त्रीन्द्रिय	**(vii)**	असंज्ञी पंचेन्द्रिय
(ii)	बादर एकेन्द्रिय	**(v)**	चतुरिन्द्रिय		
(iii)	द्वीन्द्रिय	**(vi)**	संज्ञी पंचेन्द्रिय		

इन सातों के पर्याप्ता-अपर्याप्ता मिलकर = १४ जीव भेद होते हैं।

१५ प्रकार — पूर्वोक्त १४ में एक भेद सिद्ध का जोड़ने से = १५ जीव भेद होते हैं।

१६ प्रकार — अंडज आदि आठ जीवों के पर्याप्ता और अपर्याप्ता ८ + ८ = १६ जीव भेद।

१७ प्रकार — पूर्वोक्त सोलह जीव भेदों में एक भेद सिद्ध का जोड़ने से = १७ जीव भेद।

१८ प्रकार — निम्न नौ प्रकार के जीवों के पर्याप्ता-अपर्याप्ता।

(i)	मानव स्त्री	**(iv)**	तिर्यंच स्त्री	**(vii)**	नारक नपुंसक
(ii)	मानव पुरुष	**(v)**	तिर्यंच पुरुष	**(viii)**	देव स्त्री
(iii)	मानव नपुंसक	**(vi)**	तिर्यंच नपुंसक	**(ix)**	देव पुरुष

१९ प्रकार — सिद्ध सहित पूर्वोक्त अठारह = १९ जीव भेद।

२० प्रकार — निम्न दशविध जीवों के पर्याप्ता-अपर्याप्ता।

(i)	पृथ्वी	**(iv)**	वायु	**(vii)**	त्रीन्द्रिय	**(x)**	असंज्ञी पंचेन्द्रिय
(ii)	अप्	**(v)**	वनस्पति	**(viii)**	चतुरिन्द्रिय		
(iii)	तेउ	**(vi)**	द्वीन्द्रिय	**(ix)**	संज्ञी पंचेन्द्रिय		

२१ प्रकार — सिद्ध सहित पूर्वोक्त बीस = २१ जीव भेद।

३२ प्रकार — **(i)** सूक्ष्म पृथ्वीकाय **(ii)** बादर पृथ्वीकाय **(iii)** सूक्ष्म अप्काय **(iv)** बादर अप्काय **(v)** सूक्ष्म तेउकाय **(vi)** बादर तेउकाय **(vii)** सूक्ष्म वायुकाय **(viii)** बादर वायुकाय **(ix)** सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय **(x)** बादर साधारण वनस्पतिकाय **(xi)** बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय **(xii)** द्वीन्द्रिय **(xiii)** त्रीन्द्रिय **(xiv)** चतुरिन्द्रिय **(xv)** संज्ञी पंचेन्द्रिय **(xvi)** असंज्ञी पंचेन्द्रिय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन १६ जीव भेदों के पर्याप्ता, अपर्याप्ता दो-दो भेद होने से कुल मिलाकर जीव के १६ × २ = ३२ भेद हुए।

५६ प्रकार—

(i)	नारक	=	७ (रत्नप्रभा आदि ७ नारकी में पैदा होने वाले जीव)
(ii)	भवनपति	=	१० (असुर आदि १० निकाय के देव)
(iii)	व्यन्तर	=	८ (यक्ष .....राक्षस आदि)
(iv)	ज्योतिष्	=	५ (सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा)
(v)	कल्प	=	१२ (सौधर्म, ईशान आदि १२ देवलोक के देव)
(vi)	ग्रैवेयक	=	९ (सुदर्शन .....सुप्रतिबद्ध आदि ग्रैवेयक के देव)
(vii)	अनुत्तर	=	५ (विजय .....वैजयन्त आदि के देव)

— ५६ जीव (वैक्रिय शरीरी है)

५८ प्रकार — पूर्वोक्त ५६ भेद में मनुष्य और तिर्यंच ये २ मिलाने से ५८ भेद होते हैं।

११६ प्रकार — पूर्वोक्त ५८ के पर्याप्ता और अपर्याप्ता = ११६ भेद हैं।

१४६ प्रकार—

(i)	सूक्ष्म पृथ्वीकाय	**(ix)**	सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय
(ii)	बादर पृथ्वीकाय	**(x)**	बादर साधारण वनस्पतिकाय
(iii)	सूक्ष्म अप्काय	**(xi)**	बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय
(iv)	बादर अप्काय	**(xii)**	द्वीन्द्रिय
(v)	सूक्ष्म तेउकाय	**(xiii)**	त्रीन्द्रिय
(vi)	बादर तेउकाय	**(xiv)**	चतुरिन्द्रिय
(vii)	सूक्ष्म वायुकाय	**(xv)**	असंज्ञी पंचेन्द्रिय
(viii)	बादर वायुकाय		

पूर्वोक्त जीव पर्याप्ता-अपर्याप्ता के भेद से २-२ प्रकार के हैं अतः कुल जीव भेद १५ × २ = ३० हैं। इनमें उपर्युक्त ११६ जीव भेद मिलाने से ११६ + ३० = १४६ जीव भेद होते हैं।

- ११६ के अन्तर्गत देव, मनुष्य, नरक और तिर्यंच ये चारों ही आ जाते हैं, इसलिये संज्ञी पंचेन्द्रिय के भेद यहाँ अलग से ग्रहण नहीं किये।

१४६ जीव भेदों में भव्य, अभव्य, दूरभव्य और आसन्नभव्य ४ प्रकार के जीव होते हैं।

(i) भव्य — मोक्ष जाने की योग्यता वाले। ये निश्चित मोक्ष जायेंगे ही, ऐसा नियम नहीं है। भव्यत्व अनादिकालीन है। यह कभी नष्ट नहीं होता। इनमें कुछ जीव ऐसे होते हैं जो भव्य होते हुए भी मोक्ष नहीं जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ii) अभव्य — तीन काल में भी मोक्ष नहीं जा सकते (अभव्यत्व भी अनादिकालीन होता है।)

(iii) दूर भव्य — जो मोक्ष तो जाते हैं, किन्तु लम्बे समय के बाद (गोशालक की तरह)

(iv) आसन्न भव्य — जो उसी भव में अथवा दो, तीन भव के बाद निश्चित मोक्ष में जाते हैं।

पूर्वोक्त चारों का भव्य और अभव्य इन दो भेदों में समावेश हो सकता है, फिर भी दूर-भव्य और आसन्न-भव्य इन दो में भव्यत्व का अन्तर बताने के लिये चार भेद बताये गये हैं।

वृद्धमतानुसार—मोक्षतत्त्व को मानने वाला मोक्ष को पाने की तीव्र अभिलाषा वाला, "मैं भव्य हूँ या अभव्य हूँ?" यदि भव्य हूँ तो मेरा सौभाग्य है, अन्यथा दुर्भाग्य है ऐसा चिन्तन करने वाला भव्य जीव है। जिसके हृदय में पूर्वोक्त चिन्तन कभी भी स्फुरित नहीं होता वह अभव्य है। **आचारांगसूत्र** की **टीका** में कहा है कि—अभव्य जीव को 'मैं भव्य हूँ या अभव्य हूँ?' ऐसा संदेह कदापि नहीं होता। मोक्षसुख के अभिलाषी जीवों के द्वारा पूर्वोक्त १५६ प्रकार के जीवों की आत्मतुल्य मानते हुए रक्षा करनी चाहिये।

श्री **आम्रदेवसूरि** के शिष्य श्री **नेमिचन्दसूरि** ने स्वपर के हित के लिये, अपने स्मरण के लिये तथा दूसरों के ज्ञान के लिये जीवसंख्या का प्रतिपादन किया है ॥१२३१-४८॥

२१५ द्वार : अष्ट-कर्म—

पढमं नाणावरणं बीयं पुण दंसणस्स आवरणं।
तइयं च वेयणीयं तहा चउत्थं च मोहणीयं ॥१२४९॥
पंचममाउं गोयं छट्ठं सत्तमगमंतरायमिह।
बहुतमपयडित्तेणं भणामि अट्ठमपए नामं ॥१२५०॥

—गाथार्थ—

आठ कर्म—**१. ज्ञानावरण २. दर्शनावरण ३. वेदनीय ४. मोहनीय ५. आयु ६. गोत्र ७. अन्तराय तथा अधिकतम उत्तर प्रकृति वाला होने से आठवें स्थान में नामकर्म का वर्णन करता हूं ॥१२४९-५०॥**

—विवेचन—

(i) ज्ञानावरणीय—ज्ञान = वस्तुगत विशेष धर्म को जानने वाला आत्मा का विशिष्ट गुण। आवरण = आत्मा के ज्ञान-गुण को आच्छादित करने वाला कर्म। जीव मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाद के वश कार्मण-वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर कर्म रूप में परिणत करता है। इसमें से जो कर्म आत्मा के मति आदि ज्ञान को आवृत करता है, वह ज्ञानावरणीय-कर्म कहलाता है।

(ii) दर्शनावरणीय—वस्तुगत सामान्य धर्म को जानने वाला आत्मा का विशिष्ट गुण दर्शन है। उस दर्शन गुण को आवृत्त करने वाला कर्म-पुद्गल दर्शनावरणीय कहलाता है।

(iii) वेदनीय—जिसके फलस्वरूप जीव सुख या दुःख का भोग करता है, वह कर्म वेदनीय कहलाता है। यद्यपि सभी कर्मों का अंतिम भोग सुख-दुःख रूप होता है तथापि रूढ़िवश वेदनीय शब्द साता, असाता रूप कर्म का ही बोधक है। जैसे कमल और शैवाल दोनों कीचड़ में से पैदा होने पर भी पंकज शब्द रूढ़िवश केवल कमल का ही बोधक होता है, शैवाल का नहीं होता, वैसे वेदनीय कर्म के विषय में भी समझना चाहिये।

(iv) मोहनीय—आत्मा को विवेक-विकल बनाने वाला कर्म।

(v) आयु—जो कर्म जीव को निश्चित काल तक विभिन्न गतियों में रोककर रखता है अथवा जो कर्म एक भव से दूसरे भव में जाते समय उदय आता है।

(vi) गोत्र—जिस कर्म के उदय से जीव कुलीन या अकुलीन, ऊँच या नीच कहलाता है।

(vii) अन्तराय—जिस कर्म के उदय से जीव, दानादि देने की इच्छा होते हुए भी नहीं दे सकता अथवा जो कर्म आत्मा के वीर्य, दान, लाभ, भोग और उपभोग रूप शक्तियों का घात करता है।

(viii) नाम—जिस कर्म के उदय से जीव विविध भावों (पर्यायों) का अनुभव करता है।

प्रश्न—सर्वत्र आयु के पश्चात् नामकर्म आता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में इसे सब से अन्त में क्यों रखा?

उत्तर—अन्य कर्मों की उत्तरप्रकृत्तियाँ अल्प हैं 'नामकर्म' की सब से अधिक हैं। इसी कारण उसे सबसे अन्त में रखा है ॥१२४९-५०॥

२१६ द्वार : उत्तर-प्रकृति—

पंचविहनाणवरणं नव भेया दंसणस्स दो वेए।
अट्ठावीसं मोहे चत्तारि य आउए हुंति ॥१२५१॥
गोयम्मि दोन्नि पंचंतराइए तिगहियं सयं नामे।
उत्तरपयडीणेवं अट्ठावन्नं सयं होइ ॥१२५२॥
मइ सुय ओही मण केवलाणि जीवस्स आवरिज्जंति।
जस्सप्पभावओ तं नाणावरणं भवे कम्मं ॥१२५३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नयणे यरो हि केवल दंसण आवरणयं भवे चउहा ।
निद्दा पयलाहि छहा निद्दाइदुरुत्त थीणद्धी ॥१२५४॥
एवमिह दंसणावरणमेयमावरइ दरिसणं जीवे ।
सायमसायं च दुहा वेयणियं सुहदुहनिमित्तं ॥१२५५॥
कोहो माणो माया लोभोऽणंताणुबंधिणो चउरो ।
एवमपच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य संजलणा ॥१२५६॥
सोलम इमे कसाया एसो नवनोकसायसंदोहो ।
इत्थी-पुरिस-नपुंसकरूवं वेयत्तयं तंमि ॥१२५७॥
हास-रई-अरई-भय-सोग-दुगुंछत्ति हास-छक्कमिमं ।
दरिसणतिगं तु मिच्छत्त-मीस-सम्मत्त-जोएणं ॥१२५८॥
इय मोह अट्ठवीसा नारयतिरिनरसुराउय चउक्कं ।
गोयं नीयं उच्चं च अंतरायं तु पंचविहं ॥१२५९॥
दाउं न लहइ लाहो न होइ पावइ न भोगपरिभोगं ।
निरुओऽवि असत्तो होइ अंतरायप्पभावेणं ॥१२६०॥
नामे बायालीसा भेयाणं अहव होइ सत्तट्ठी ।
अहवावि हु तेणउई तिग अहियसयं हवइ अहवा ॥१२६१॥
पढमा बायालीसा गइ जाइ शरीर अंगुवंगे य ।
बंधण संघायण संघयण संठाण नामं च ॥१२६२॥
तह वन्न गंध रस फास नाम अगुरुलहुयं च बोद्धव्वं ।
उवघाय पराघायाऽणुपुव्वि ऊसास नामं च ॥१२६३॥
आयावुज्जोय विहायगई तस थावराभिहाणं च ।
बायर सुहुमं पज्जत्ता-पज्जत्तं च नायव्वं ॥१२६४॥
पत्तेयं साहारण थिरमथिर सुभासुभं च नायव्वं ।
सूभग दूभग नामं सूसर तह दूसरं चेव ॥१२६५॥
आएज्ज मणाएज्जं जसकित्तीनाम अजसकित्ती य ।
निम्माणं तित्थयरं भेयाणवि हुंति मे भेया ॥१२६६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गइ होइ चउप्पयारा जाईवि य पंचहा मुणेयव्वा ।
पंच य हुंति सरीरा अंगोवंगाइं तिन्नेव ॥१२६७ ॥
छस्संघयणा जाणसु संठाणावि य हवंति छच्चेव ।
वन्नाईण चउक्कं अगुरुलहु वघाय परघायं ॥१२६८ ॥
अणुपुव्वी चउभेया उस्सासं आयवं च उज्जोयं ।
सुह असुहा विहगगई तसाइवीसं च निम्माणं ॥१२६९ ॥
तित्थयरेणं सहिया सत्तट्ठी एव हुंति पयडीओ ।
संमामीसेहिं विणा तेवन्ना सेस कम्माणं ॥१२७० ॥
एवं वीसुत्तरसयं बंधे पयडीण होइ नायव्वं ।
बंधण-संघायावि य सरीरगहणेण इह गहिया ॥१२७१ ॥
बंधणभेया पंच उ संघायावि य हवंति पंचेव ।
पण वन्ना दो गंधा पंच रसा अट्ठ फासा य ॥१२७२ ॥
दस सोलस छव्वीसा एया मेलिवि सत्तसट्ठीए ।
तेणउई होइ तओ बंधणभेया उ पन्नरस ॥१२७३ ॥
वेउव्वाहारोरालियाण सगतेयकम्मजुत्ताणं ।
नव बंधणाणि इयरदुसहियाणं तिन्नि तेसिंपि ॥१२७४ ॥
सव्वेहिवि छूढेहिं तिगअहियसयं तु होइ नामस्स ।
इय उत्तरपयडीणं कम्मट्ठग अट्ठवन्नसयं ॥१२७५ ॥

—गाथार्थ—

एक सौ अट्ठावन उत्तर प्रकृति—**ज्ञानावरण के पाँच भेद, दर्शनावरण के नौ भेद, वेदनीय के दो भेद, मोहनीय के अट्ठावीस भेद, आयु के चार भेद, गोत्र के दो भेद, अन्तराय के पाँच भेद तथा नामकर्म के एक सौ तीन भेद हैं। इस प्रकार आठ कर्म के कुल मिलाकर एक सौ अट्ठावन उत्तरभेद होते हैं ॥१२५१-५२ ॥**

जिसके प्रभाव से जीव का मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव एवं केवलज्ञान आवृत हो जाता है वह कर्म 'ज्ञानावरण' है ॥१२५३ ॥

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन एवं केवलदर्शन का आवारक कर्म भी चार प्रकार का है। निद्रा, प्रचला-प्रचला, प्रचला, निद्रानिद्रा, और स्त्यानर्द्धि ये पाँच जीव के दर्शन गुण के आवारक होने से दर्शनावरण है। इस प्रकार दर्शनावरण के नौ भेद हुए। सुख-दुःख के निमित्त रूप वेदनीय भी साता-असाता के भेद से द्विविध है ॥१२५४-५५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषायें अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलनरूप होने से कुल सोलह प्रकार की हैं। नोकषाय के नौ भेद इस प्रकार हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद। हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा ये हास्यादि षट्क हैं। मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व ये तीन दर्शन मोह हैं। इन सब को मिलाने से मोहनीय के अट्ठावीस भेद होते हैं ॥१२५६-५८ ॥

नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु—चार प्रकार का आयुष्यकर्म है। नीच और ऊँच दो प्रकार का गोत्र कर्म है। अन्तरायकर्म के पाँच भेद हैं—१. दान नहीं दे सकते २. लाभ नहीं मिलता, ३.-४. भोग-उपभोग नहीं कर सकते, ५. निरोगी होने पर भी अशक्त होना, यह अन्तराय कर्म का प्रभाव है ॥१२५९-६० ॥

नाम-कर्म के बयालीस, सडसठ, तिराणवे अथवा एक सौ तीन भेद हैं ॥१२६१ ॥

बयालीस भेद इस प्रकार हैं—१. गति २. जाति ३. शरीर ४. अंगोपांग ५. बंधन ६. संघातन ७. संघयण ८. संस्थान ९. वर्ण १०. गंध ११. रस १२. स्पर्श १३. अगुरुलघु १४. उपघात १५. पराघात १६. आनुपूर्वी १७. श्वासोच्छ्वास १८. आतप १९. उद्योत २०. विहायोगति २१. त्रस २२. स्थावर २३. बादर २४. सूक्ष्म २५. पर्याप्ता २६. अपर्याप्ता २७. प्रत्येक २८. साधारण २९. स्थिर ३०. अस्थिर ३१. शुभ ३२. अशुभ ३३. सुभग ३४. दुर्भग ३५. सुस्वर ३६. दुःस्वर ३७. आदेय ३८. अनादेय ३९. यशकीर्ति ४०. अयशकीर्ति ४१. निर्माण और ४२. तीर्थंकर नामकर्म ॥१२६२-६६ ॥

चार गति, पाँच जाति, पाँच शरीर, तीन अंगोपांग, छः संघयण, छः संस्थान, वर्णादि चार, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, चार आनुपूर्वी, श्वासोच्छ्वास, आतप, उद्योत, शुभ-अशुभ, विहायोगति, त्रस आदि बीस प्रकृतियाँ, निर्माण और तीर्थंकर नामकर्म सहित सड़सठ प्रकृति होती है। समकित मोहनीय और मिश्रमोहनीय को छोड़कर शेष कर्मों की त्रेपन प्रकृतियाँ पूर्वोक्त सड़सठ प्रकृतियों में जोड़ने पर बंध में कुल एक सौ बीस प्रकृति होती हैं। बंधन और संघातन शरीर के अन्तर्गत आ जाते हैं ॥१२६७-१२७१ ॥

पाँच बंधन, पाँच संघातन कुल दस हैं। वर्ण के पाँच, गंध के दो, रस के पाँच तथा स्पर्श के आठ कुल बीस हैं। नामकर्म की पूर्वोक्त सडसठ प्रकृतियों में वर्णादि चार पहले से गृहीत हैं अतः बंधन-संघातन के दस और वर्णादि के सोलह कुल छब्बीस भेद मिलाने से नामकर्म की तिराणवें प्रकृतियाँ होती हैं। बंधन के पन्द्रह भेद हैं। वैक्रिय, आहारक और औदारिक को स्वयं के साथ तथा तैजस् और कार्मण के साथ जोड़ने से नौ भेद होते हैं। वैक्रिय आदि तीन को तैजस्-कार्मण के साथ जोड़ने से पुनः तीन बंधन होते हैं तथा तैजस् और कार्मण को स्वयं के साथ तथा परस्पर जोड़ने से पुनः तीन बंधन होते हैं। नौ, तीन और तीन कुल पन्द्रह बंधन हुए। सभी भेदों को एकत्रित करने पर नामकर्म के एक सौ तीन भेद हुए। इस प्रकार आठ कर्म की एक सौ अट्ठावन उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं ॥१२७२-७५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

उत्तर-प्रकृति १५८ हैं—

(i)	ज्ञानावरणीय	=	५	(v)	आयु	=	४
(ii)	दर्शनावरणीय	=	९	(vi)	गोत्र	=	२
(iii)	वेदनीय	=	२	(vii)	अन्तराय	=	५
(vi)	मोहनीय	=	२८	(viii)	नामकर्म	=	१०३

आठ कर्म की कुल = १५८ उत्तरप्रकृतियाँ हैं ॥१२५१-५२ ॥

१. ज्ञानावरणीय—

जो कर्म जीव के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान व केवलज्ञान को आवृत्त करता है.....ढंकता है वह ज्ञानावरण कर्म है। उसके ५ प्रकार हैं—

(i) मतिज्ञानावरण—मतिज्ञान = मनन करना मति है। यहाँ 'मन्' धातु ज्ञानार्थक है। अतः जिसके द्वारा ज्ञान किया जाये वह मति है। अथवा इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—श्रुतनिश्रित व अश्रुतनिश्रित।

श्रुतनिश्रित—श्रुताभ्यास से परिनिष्ठित बुद्धि द्वारा व्यवहार काल में सही ज्ञान होना।

अश्रुतनिश्रित—श्रुताभ्यास के बिना ही विशिष्ट क्षयोपशम द्वारा ज्ञान होना।

श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के ४ भेद हैं—(१) अवग्रह (२) ईहा (३) अपाय और (४) धारणा। व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह के भेद से अवग्रह दो प्रकार का है—

(अ) व्यंजनावग्रह : 'व्यंजन' के दो अर्थ हैं।

जिसके द्वारा शब्द, रूपादि पदार्थ प्रकट किये जाते हों, वह 'व्यंजन' है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार कदंब पुष्पादि के आकारवाली कान, नाक, जीभ, त्वचा आदि उपकरणेन्द्रियों का अपने विषय—शब्द, गंध, रस और स्पर्शरूप में परिणत द्रव्यों के साथ जो स्पर्शरूप सम्बन्ध होता है, वह 'व्यंजन' है। दूसरा, इन्द्रियों के द्वारा भी शब्द आदि पदार्थ प्रकट होते हैं अतः वे भी 'व्यंजन' कहलाती हैं। अतः अर्थ हुआ कि इन्द्रियरूप 'व्यंजन' के द्वारा विषय सम्बन्ध रूप व्यंजन का अवबोध होना 'व्यंजनावग्रह' है। यहाँ 'व्यंजन' शब्द का दो बार प्रयोग होता है, पर एक 'व्यंजन' शब्द का लोप हो जाने से 'व्यंजनावग्रह' ऐसा एक 'व्यंजन' शब्द वाला ही प्रयोग होता है।

अतः इन्द्रियाँ और शब्दादि के रूप में परिणत पुद्गल द्रव्यों के सम्बन्ध का बोध रूप तथा "यह कुछ है" ऐसे अव्यक्त ज्ञानरूप अर्थावग्रह से पूर्व होने वाला अव्यक्ततर ज्ञान व्यंजनावग्रह है। इसके चार प्रकार हैं—

(i) श्रोत्रेन्द्रिय व्यंजनावग्रह **(ii)** घ्राणेन्द्रिय व्यंजनावग्रह **(iii)** रसनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह **(iv)** स्पर्शेन्द्रिय व्यंजनावग्रह।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन और नेत्र का व्यंजनावग्रह नहीं होता। कारण जहाँ विषय और इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है, वहीं व्यंजनावग्रह होता है, अन्यत्र नहीं। मन और नेत्र अप्राप्यकारी होने से अपने विषय से सम्बद्ध हुए बिना ही उसे ग्रहण कर लेते हैं, अत: उनका व्यंजनावग्रह नहीं होता।

(ब) अर्थावग्रह—शब्द, रूपादि विषय का सामान्य ज्ञान, जैसे 'यह कुछ है' अर्थावग्रह कहलाता है। इसके छ: भेद हैं—**(i)** श्रोत्रेन्द्रिय अर्थावग्रह **(ii)** चक्षुरिन्द्रिय अर्थावग्रह **(iii)** घ्राणेन्द्रिय अर्थावग्रह **(iv)** रसनेन्द्रिय अर्थावग्रह **(v)** स्पर्शेन्द्रिय अर्थावग्रह **(vi)** मन: अर्थावग्रह।

(२) ईहा—अवग्रह के द्वारा गृहीत वस्तु के विषय में 'यह क्या है? लकड़े का ठूंठ है या पुरुष है?' इस प्रकार का उहापोह करते हुए प्रस्तुत वस्तु के धर्मों का अन्वेषण करना ईहा है।

यह जंगल है, सूर्य अस्त हो गया है, इसलिये जो दिखाई दे रहा है, वह आदमी नहीं हो सकता तथा इस पर पक्षी बैठे हुए हैं अत: सामने दिखाई देने वाली वस्तु कामदेव के शत्रु शंकर भगवान की नामराशि वाली है अर्थात् स्थाणु (ठूंठ) है। इस प्रकार वस्तुगत अन्वय धर्मों का स्वीकार एवं व्यतिरेक धर्मों का परिहार करने वाला ज्ञान विशेष ईहा है। ईहा मन और पाँच इन्द्रियों से उत्पन्न होती है अत: इसके भी छ: भेद हैं।

(३) अपाय—ईहा द्वारा ज्ञात पदार्थ के विषय में 'यह वही है' ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान अपाय है। पूर्ववत् इसके भी छ: भेद हैं।

(४) धारणा—अपाय द्वारा निश्चित पदार्थ का कालान्तर में विस्मरण न हो, इस प्रकार दृढ़-ज्ञान करना धारणा है। यह तीन रूप में होती है। **(i)** अविच्युति **(ii)** वासना और **(iii)** स्मृति।

(i) अविच्युति — किसी एक वस्तु के प्रति उचित काल तक सतत उपयोग रखना।

(ii) वासना — अविच्युति के द्वारा आत्मा में संगृहीत वस्तु विशेष विषयक संस्कार, जो कालान्तर में उस वस्तु की स्मृति कराने में सक्षम है, वासना है।

(iii) स्मृति — जिस पदार्थ का प्रथम अनुभव हो चुका है उस पदार्थ का कालान्तर में निमित्त पाकर 'वही है' ऐसा स्मरण होना।

धारणा के भी पूर्ववत् ६ भेद हैं।

इस प्रकार व्यंजनावग्रह के = ४ भेद हुए।

अर्थावग्रह के = ६ भेद
ईहा के = ६ भेद
अपाय के = ६ भेद
धारणा के = ६ भेद

इस प्रकार श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के कुल मिलाकर २८ भेद हैं।

२. अश्रुतनिश्रित—इसके चार भेद हैं—

(i) औत्पातिकी मति **(ii)** वैनयिकी मति।
(iii) कार्मिकी मति **(iv)** पारिणामिकी मति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) औत्पातिकी मति — प्रसंग आने पर उभयलोक हितकारी कार्य-सिद्ध करने में समर्थ सहसा उत्पन्न मति।

(ii) वैनयिकी मति — गुरुओं का विनय करने से प्राप्त, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का विवेक करने में निपुण उभय लोक हितकारी मति, वैनयिकी है।

(iii) कार्मिकी मति — अभ्यास करते....करते प्राप्त होने वाली बुद्धि।

(iv) पारिणामिकी मति — उम्र जन्य अनुभवों से विकसित बुद्धि।

पूर्वोक्त श्रुतनिश्रित मतिज्ञान के २८ भेद में ४ भेद अश्रुतनिश्रित मतिज्ञान के मिलाने पर मतिज्ञान के कुल भेद २८ + ४ = ३२ होते हैं।

जातिस्मरणज्ञान—जिस ज्ञान के द्वारा भूतकालीन भवों का स्मरण होता है। इसके द्वारा १-२-३ यावत् संख्याता भव का स्मरण होता है। यह मतिज्ञान का ही एक प्रकार है। **आचारांग** में कहा है—"जातिस्मरणं त्वाभिनिबोधिकं"। जातिस्मरण भी आभिनिबोधिक विशेष अर्थात् मतिज्ञान रूप ही है।

पूर्वोक्त भेद सहित 'मतिज्ञान' का आवरणीय कर्म, मतिज्ञानावरण कहलाता है।

(२) **श्रुतज्ञानावरण**—पढ़ने या सुनने से जो अर्थज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है अर्थात् वाच्य-वाचक भाव के ज्ञानपूर्वक शब्द से संबद्ध अर्थबोध का हेतुभूत क्षयोपशमविशेष श्रुतज्ञान है। इस प्रकार के आकार-प्रकार वाली वस्तु 'घट' शब्द से वाच्य है और वह जल धारण आदि क्रिया करने में समर्थ है। इस प्रकार शब्दार्थ की प्रधानतापूर्वक इन्द्रिय और मन द्वारा होने वाला ज्ञानविशेष श्रुतज्ञान है। श्रुतरूप जो ज्ञान श्रुतज्ञान है। इसके भेद नन्दीसूत्र आदि से जानना चाहिये।

श्रुतज्ञान के १४ भेद

१.	अक्षर श्रुत	८.	अनादि श्रुत
२.	अनक्षर श्रुत	९.	सपर्यवसित श्रुत
३.	संज्ञी श्रुत	१०.	अपर्यवसित श्रुत
४.	असंज्ञी श्रुत	११.	गमिक श्रुत
५.	सम्यक् श्रुत	१२.	अगमिक श्रुत
६.	मिथ्या श्रुत	१३.	अंगप्रविष्ट श्रुत
७.	सादि श्रुत	१४.	अनंगप्रविष्ट श्रुत

श्रुतज्ञान के २० भेद

१.	पर्याय श्रुत	६.	पद समास श्रुत
२.	पर्याय समास श्रुत	७.	संघात श्रुत
३.	अक्षर श्रुत	८.	संघात समास श्रुत
४.	अक्षर समास श्रुत	९.	प्रतिपत्ति श्रुत
५.	पद श्रुत	१०.	प्रतिपत्ति समास श्रुत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११.	अनुयोग श्रुत	१६.	प्राभृत समास श्रुत
१२.	अनुयोग समास श्रुत	१७.	वस्तु श्रुत
१३.	प्राभृतप्राभृत श्रुत	१८.	वस्तु समास श्रुत
१४.	प्राभृतप्राभृत समास श्रुत	१९.	पूर्व श्रुत
१५.	प्राभृत श्रुत	२०.	पूर्व समास श्रुत

सप्रभेद श्रुतज्ञान का आवरणीय कर्म श्रुतज्ञानावरण है।

(३.) **अवधिज्ञानावरण**—अव = अधः, नीचे, धि = ज्ञान अर्थात् नीचे रहे हुए पदार्थों को अधिक विस्तार से जानने वाला ज्ञान अथवा मन और इन्द्रिय की सहायता के बिना मर्यादा में स्थित रूपी द्रव्यों का ज्ञान, अवधिज्ञान कहलाता है। मुख्यतः इसके छः भेद हैं—

(i) अनुगामी	**(iii)** वर्धमान	**(v)** प्रतिपाती
(ii) अननुगामी	**(iv)** हीयमान	**(vi)** अप्रतिपाती

असंख्येय क्षेत्र और काल विषयक होने से उनकी तरतमता की अपेक्षा से अवधिज्ञान के असंख्य भेद हैं तथा द्रव्य और भाव की तरतमता की अपेक्षा से अनंत भेद हैं। इन सभी भेद-प्रभेदों का आवारक कर्म अवधिज्ञानावरण कहलाता है।

(४.) **मनःपर्यायज्ञानावरण**—संज्ञी जीव काययोग के द्वारा मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर मनोयोग के द्वारा 'मन' रूप में परिणत कर चिन्तन के लिये जिनका आलंबन लेता है वह मन है और 'मन' का चिन्तन के अनुरूप जो परिणमन है उसका बोध कराने वाला ज्ञान मनःपर्याय ज्ञान है अर्थात् ढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय के मनोगत भावों को मनोद्रव्य की रचना के माध्यम से जानने वाला ज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान है। यह ऋजुमति और विपुलमति के भेद से दो प्रकार का है। सप्रभेद इस ज्ञान का आवरणीय कर्म मनःपर्याय ज्ञानावरण कहलाता है।

(५.) **केवलज्ञानावरण** : केवल = इसके कई अर्थ हैं—**(i)** मत्यादि ज्ञान से निरपेक्ष केवल एक, **(ii)** आवरण, मलरहित शुद्ध, **(iii)** एक ही साथ सम्पूर्ण आवरण का क्षय होने से, उत्पन्न होते ही अपने सम्पूर्ण रूप में प्रकट होने वाला, **(iv)** जिसके जैसा अन्य कोई ज्ञान नहीं है, **(v)** ज्ञेय की अपेक्षा से जो अनन्त है, ऐसा ज्ञान, केवलज्ञान है। इस ज्ञान का आवारककर्म केवलज्ञानावरण कहलाता है।

देशघाती और सर्वघाती के भेद से कर्म दो प्रकार के हैं—

(i) देशघाती — मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय ज्ञानावरण देशघाती हैं, क्योंकि ये अपने-अपने आवरणीय ज्ञान को सम्पूर्ण रूप से नहीं रोक सकते।

(ii) सर्वघाती — केवलज्ञानावरण सर्वघाती है। इसके उदय में सम्पूर्ण केवलज्ञान ढंका रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मतिज्ञानावरणीय आदि पांच उत्तर प्रकृतियाँ है, तथापि सामान्य विवक्षा से ज्ञानावरण मूलप्रकृति है। जैसे अंगुलियाँ अलग-अलग होने पर भी मुष्टि में सभी का समावेश हो जाता है। घी, गुड़, आटा आदि अलग-अलग होने पर भी मोदक में सभी का समावेश हो जाता है, वैसे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय में मतिज्ञानावरणीय आदि सभी भेदों का समावेश हो जाता है ॥१२५३॥

२. **दर्शनावरणीय**—दर्शनावरणीय कर्म बंध, उदय और सत्ता की अपेक्षा से तीन प्रकार का होता है—

(i) बंध, उदय और सत्ता में दर्शनावरणीय कर्म, चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल के भेद से कदाचित् चार प्रकार का होता है।

(ii) पूर्वोक्त चार एवं निद्रा, प्रचला सहित छः प्रकार का होता है।

(iii) पूर्वोक्त छः निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि के भेद से नौ प्रकार का है।

(i) चक्षुदर्शनावरण — आँख के द्वारा वस्तुगत सामान्य धर्म का जो बोध होता है वह चक्षु दर्शन कहलाता है। उस बोध को रोकने वाला कर्म चक्षुदर्शनावरण है।

(ii) अचक्षुदर्शनावरण — आँख को छोड़कर शेष इन्द्रियाँ और मन के द्वारा जो पदार्थ के सामान्य धर्म का प्रतिभास होता है, उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं। उसका आवारक कर्म अचक्षुदर्शनावरण है।

(iii) अवधिदर्शनावरण — इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही आत्मा के द्वारा जो रूपी द्रव्य के सामान्य धर्म का बोध होता है, उसे अवधि-दंर्शन कहते हैं। इसका आवरण अवधिदर्शनावरण है।

(iv) केवलदर्शनावरण — संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का जो सामान्य अवबोध होता है, उसे केवलदर्शन कहते हैं, उसका आवरण केवलदर्शनावरण कहा जाता है।

(v) निद्रा — 'द्रा' धातु कुत्सितगति अर्थ में है। नियतं = निश्चित रूप से, द्राति = कुत्सित भाव को प्राप्त होता है अर्थात् जिसके द्वारा चैतन्य निश्चित रूप से अस्पष्ट भाव को प्राप्त होता है वह निद्रा है। सोया हुआ व्यक्ति सुखपूर्वक जग जाए वह निद्रा है। जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आती है, उपचार से वह कर्म भी निद्रा कहलाता है।

(vi) निद्रानिद्रा — सोया हुआ व्यक्ति बड़ी कठिनाई से जगे, उसे निद्रानिद्रा कहते हैं, जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आती है, उस कर्म का नाम निद्रानिद्रा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(vii) प्रचला — जिस कर्म के उदय से व्यक्ति को खड़े-खड़े या बैठे-बैठे भी नींद आती है उसे प्रचला कहते हैं।

(viii) प्रचलाप्रचला — जिस कर्म के उदय से व्यक्ति को चलते-फिरते नींद आती है, वह प्रचलाप्रचला है।

(ix) स्त्यानगृद्धि — स्त्यान = घनीभूत। गृद्धि = आकांक्षा। जागृत अवस्था में सोचे हुए काम को नींद की हालत में कर डालना, स्त्यानगृद्धि निद्रा है। जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आती है, उस कर्म का भी नाम स्त्यानगृद्धि है। अथवा इसका नाम स्त्यानर्द्धि भी है। स्त्यान = घनीभूत। ऋद्धि = आत्मशक्ति। अर्थात् जिस निद्रा के उदय में प्रथमसंघयणी व्यक्ति वासुदेव का आधा बल पा लेता है, वह स्त्यानर्द्धि निद्रा है। आगम में आता है कि एक बार कोई हाथी किसी मुनि के पीछे पड़ गया, इससे मुनि हाथी पर क्रुद्ध हो गये। वे स्त्यानर्द्धि निद्रा वाले थे। रात में नींद में उठे और अपने सोचे हुए के अनुसार हाथी के दोनों दंत-शूंड पकड़कर उसे पछाड़ डाला। मृत-हाथी को उपाश्रय के बाहर डालकर पुनः भीतर आकर सो गये।

दर्शनावरणीय की नौ प्रकृति में से चक्षुदर्शनावरण आदि चार दर्शन लब्धि की समूल-नाशक हैं, किन्तु निद्रापंचक प्रकट हुई दर्शन-लब्धि का उपघात ही करता है।

३. वेदनीय—इसके दो भेद हैं—

(i) साता-वेदनीय — जिस कर्म के उदय से आत्मा को स्वास्थ्य लाभ तथा विषय सम्बन्धी सुख का अनुभव होता है।

(ii) असाता-वेदनीय — जिस कर्म के उदय से आत्मा को रोगादि के कारण से, अनुकूल विषयों की अप्राप्ति से और प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति से दुःख का अनुभव होता है, वह असाता-वेदनीय कर्म है ॥१२५४-५५॥

४. मोहनीय-कर्म—मुख्यतः इसके दो भेद हैं—(१) दर्शन मोहनीय, और (२) चारित्र मोहनीय।

(१) दर्शन मोहनीय—आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात करने वाला कर्म। यहाँ दर्शन का अर्थ है, जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही समझना। इसमें विकलता पैदा करने वाला कर्म दर्शनमोह है। इसके तीन भेद हैं—

(i) मिथ्यात्व मोहनीय — जिस कर्म के उदय से जिन-प्रणीत तत्त्वों पर अश्रद्धा अथवा विपरीत श्रद्धा हो।

(ii) मिश्र मोहनीय — जिसके उदय से जिन-प्रणीत तत्त्वों पर श्रद्धा या अश्रद्धा कुछ भी न हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(iii) सम्यक्त्व मोहनीय — जिसके उदय से जिन-प्रणीत तत्त्व पर सम्यक् श्रद्धा हो।

(२) चारित्र मोहनीय कर्म—सावद्य से निवृत्त होकर निरवद्य में प्रवृत्ति कराने वाला आत्मा का विरतिरूप-परिणाम चारित्र है, उसे विकल करने वाला कर्म चारित्र-मोहनीय कहलाता है। यह कषाय और नोकषाय के भेद से दो प्रकार का है।

(अ) कषाय—जहाँ परस्पर जीवात्मा एक-दूसरे की हिंसा करते हैं वह कष = संसार है और जिनके द्वारा जीव ऐसे संसार में आता है वे कषाय कहलाते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय मूलतः चार प्रकार के हैं—

(i) **क्रोध** — आत्मा का अक्षमारूप परिणाम।

(ii) **मान** — जाति, कुल आदि की ऊँचता से उत्पन्न गर्व।

(iii) **माया** — कपट, स्वभाव का टेढ़ापन, वंचना करने का भाव।

(iv) **लोभ** — धन, कुटुम्ब, शरीर आदि पदार्थों की ममता लोभ है। ये चारों कषाय अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन के भेद से प्रत्येक चार-चार प्रकार के हैं।

(i) अनन्तानुबन्धी—जिन कषायों की परम्परा अनन्त भवों तक चलती है, वह अनन्तानुबंधी कषाय है। ये कषाय नरक गति के बंध का कारण एवं सम्यक् दर्शन के घातक हैं।

(ii) अप्रत्याख्यानी—देशविरति रूप प्रत्याख्यान का घातक एवं तिर्यंचगति योग्य कर्मों के बंध का कारण जो कषाय है वह अप्रत्याख्यानी कहलाता है।

(iii) प्रत्याख्यानी—सर्व-विरतिरूप चारित्र का घातक एवं मनुष्यगति योग्य कर्मों के बंध का कारण जो कषाय है वह प्रत्याख्यानी कहलाता है।

(iv) संज्वलन—परीषह, उपसर्ग आने पर संयमी आत्मा को जो अल्प-मात्रा में कषाय पैदा होता है, वह संज्वलन है। यह कषाय देवगति योग्य कर्मों का कारण एवं यथाख्यात-चारित्र का अवरोधक है।

प्रश्न—अनन्तानुबंधी कषाय की स्थिति में शेष तीन कषाय अवश्य रहते हैं। अनन्तानुबंधी के साथ उनकी परम्परा भी अनन्त भव तक चलती है, तो उन्हें अनन्तानुबंधी क्यों नहीं कहा जाता?

उत्तर—यद्यपि अनन्तानुबन्धी कषाय कभी भी प्रत्याख्यानी आदि के अभाव में नहीं होता। अनन्तानुबन्धी के साथ शेष तीन कषाय निश्चित रूप से रहते हैं, तथापि वे अनन्तानुबंधी नहीं कहलाते, क्योंकि अनन्तानुबंधी कषाय का अस्तित्व मिथ्यात्व के उदय के बिना नहीं हो सकता। जबकि शेष तीन कषायों के लिये ऐसा कुछ भी नियम नहीं है। इसलिये इन्हें अनन्तानुबंधी नहीं कहा जा सकता। ये अनन्त भवभ्रमण के कारण नहीं बनते।

(ब) नोकषाय—नो शब्द का अर्थ है साहचर्य अर्थात् कषायों के उदय के साथ जिनका उदय होता है अथवा जो कषायों को उभारते हैं, वे नोकषाय हैं। कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषायसहवर्तित्वात्, कषायप्रेरणादपि।

हास्यादिनवकस्योक्ता नोकषायकषायता॥

ये नव कषाय पूर्वोक्त सोलह कषाय के सहचारी हैं। पूर्वोक्त कषाय का क्षय होने के बाद नोकषाय भी नहीं रहते। कषायों का क्षय होते ही क्षपक इनका क्षय करने लग जाता है। अथवा नोकषाय का उदय होने पर कषायों का उदय अवश्य होता ही है।

इनके नौ भेद हैं—

(i) **हास्य** — जिस कर्म के उदय से सकारण या अकारण हँसी आती हो।

(ii) **रति** — जिस कर्म के उदय से पदार्थों में अनुराग हो।

(iii) **अरति** — जिस कर्म के उदय से पदार्थों से अप्रीति या उद्वेग हो।

(iv) **भय** — जिस कर्म के उदय से जीव भयभीत हो।

(v) **शोक** — जिस कर्म के उदय से जीव इष्ट का वियोग होने पर रुदन, विलाप आदि करे।

(vi) **जुगुप्सा** — जिस कर्म के उदय से मांस आदि बीभत्स पदार्थों को देखकर घृणा पैदा हो।

(vii) **स्त्रीवेद** — जिस कर्म के उदय से पुरुष के साथ भोग करने की इच्छा हो। जैसे, पित्त के प्रकोप में मिठाई खाने की इच्छा होती है। इसका स्वभाव बकरी की लींडी की आग की तरह होता है।

(viii) **पुरुषवेद** — जिस कर्म के उदय से स्त्री के साथ भोग करने की इच्छा हो। जैसे, कफ के प्रकोप में खट्टा खाने की इच्छा होती है। इसका स्वभाव घास की अग्नि की तरह है।

(ix) **नपुंसकवेद** — जिस कर्म के उदय से पुरुष और स्त्री दोनों के साथ भोग करने की इच्छा हो। जैसे, पित्त और कफ दोनों का प्रकोप एक साथ होने पर कांजी खाने की इच्छा होती है। इसका स्वभाव नगर के दाह जैसा है।

इस प्रकार कुल मिलाकर मोहनीय कर्म के अट्ठावीस भेद हुए॥१२५६-५८॥

५. **आयुकर्म**—इसके चार भेद हैं—

(i) **नरकायु** — नरक जीवों के द्वारा भोगा जाता हुआ आयु।

(ii) **तिर्यंचायु** — तिर्यंच जीवों के द्वारा भोगा जाता हुआ आयु।

(iii) **मनुष्यायु** — मनुष्य द्वारा भोगा जाता हुआ आयु।

(iv) **देवायु** — देवों द्वारा भोगा जाता हुआ आयु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. **गोत्र कर्म**—इसके दो भेद हैं—

(i) **नीचगोत्र** — जिस कर्म के उदय से जीव ज्ञानादि सम्पन्न होने पर भी कुल-जाति आदि से हीन होने के कारण निन्दनीय गिना जाता है।

(ii) **ऊँच गोत्र** — जिस कर्म के उदय से उत्तम जाति, कुल, तप, रूप, ऐश्वर्य आदि मिलता है तथा सत्कार-सम्मान मिलता है।

७. **अन्तराय कर्म**—इसके ५ भेद हैं—

(i) **दानान्तराय** — दान देने योग्य वस्तु हो, गुणवान पात्र सम्मुख हो, दान का फल जानता हो तो भी जिस कर्म के उदय से जीव को दान देने का उत्साह नहीं होता।

(ii) **लाभान्तराय** — दाता उदार हो, देने योग्य पदार्थ मौजूद हो, लेने वाला कुशल याचक सम्मुख हो, तो भी जिस कर्म के उदय से जीव को लाभ न हो।

(iii) **भोगान्तराय**
(iv) **उपभोगान्तराय** — भोगोपभोग के साधन विद्यमान हो, व्यक्ति को वैराग्य भी न हो, तो भी जिस कर्म के उदय से जीव उन वस्तुओं का उपयोग न कर सके।

भोग—जो वस्तु एक ही बार उपयोग में आती है जैसे आहार, फल, फूल आदि।

उपभोग—जो पदार्थ बार-बार भोगे जाते हैं जैसे मकान, वस्त्र, आभूषण आदि।

(v) **वीर्यान्तराय** — बलवान, रोग-रहित एवं युवा होने पर भी जिस कर्म के उदय से जीव कुछ भी काम नहीं कर सकता ॥१२५९-१२६०॥

८. **नामकर्म**—इसके बयालीस, सड़सठ, तिरानवे व एक सौ तीन भेद हैं ॥१२६१॥

(१.) **गतिनामकर्म**—जिस नाम कर्म के उदय से जीव देव, नारक आदि अवस्थाओं को प्राप्त करता है। यह नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव के भेद से चार प्रकार का है।

(२.) **जातिनामकर्म**—जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि कहलाता है। इसके पाँच भेद हैं—(i) एकेन्द्रिय (ii) द्वीन्द्रिय (iii) त्रीन्द्रिय (iv) चतुरिन्द्रिय (v) पंचेन्द्रिय। कान, नाक आदि बाह्य इन्द्रियाँ, अंगोपांग नामकर्म एवं इन्द्रिय पर्याप्ति के सामर्थ्य का फल है, किन्तु शब्दादि विषयों को ग्रहण करने की शक्ति रूप भाव इन्द्रिय, इन्द्रियावरणीय कर्म के क्षयोपशम का परिणाम है। कहा है—"क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि" इति वचनात्। पर जाति नामकर्म का परिणाम इन दोनों से भिन्न है। वह समानजातीय जीवों की एकता का बोधक है, जैसे मात्र स्पर्शेन्द्रिय वाले सभी जीवों में 'ये एकेन्द्रिय हैं' ऐसा बोध कराना, जाति नामकर्म का फल है। कहा है कि—"अव्यभिचारिणा सादृश्येनैकीकृतोऽर्थोऽसौ जातिरिति"—व्याभिचार-रहित सादृश्य के द्वारा विवक्षित पदार्थों में एकरूपता की प्रतीति होना जाति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। स्पर्शेन्द्रिय से जन्य ज्ञान के आवरण के क्षयोपशम से उत्पन्न स्पर्शमात्र के ज्ञानवाले जीव एकेन्द्रिय हैं। इस प्रकार यावत् स्पर्शन-रसन घ्राण-चक्षु और श्रोत्र जन्य जो ज्ञान उसके आवरण के क्षयोपशम से स्पर्श रस गंध रूप व शब्द के ज्ञान वाले जीव पंचेन्द्रिय है—समझना चाहिये।

(३.) **शरीरनामकर्म**—प्रतिक्षण जिसमें पुद्गलों का चय-उपचय होता रहता है, वह शरीर कहलाता है और जिस कर्म से शरीर मिलता है, वह शरीरनामकर्म है। इसके पाँच प्रकार हैं—

(i) औदारिक शरीर — जिस कर्म के उदय से जीव औदारिक वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके शरीर रूप में परिणत करता है।

(ii) वैक्रिय शरीर — जिस कर्म के उदय से जीव वैक्रिय वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके शरीर रूप में परिणत करता है।

(iii) आहारक शरीर — जिस कर्म के उदय से जीव आहारक वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके शरीर रूप में परिणत करता है।

(iv) तैजस् शरीर — जिस कर्म के उदय से जीव तैजस् वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके तैजस्-शरीर रूप में परिणत करता है।

(v) कार्मण शरीर — जिस कर्म के उदय से जीव कार्मण वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर कार्मण शरीर रूप में परिणत करता है।

यद्यपि कार्मण शरीर-नामकर्म और कार्मण शरीर ये दोनों कार्मण वर्गणा के पुद्गलों से ही निष्पन्न होते हैं तथापि कार्मण-शरीर-नामकर्म कारण है और कार्मण शरीर उसका कार्य है। इस कारण दोनों अलग हैं, अर्थात् कार्मण शरीर नामकर्म का उदय होने पर ही जीव कार्मण-वर्गणा से कार्मण शरीर को निर्मित करने योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर शरीर रूप में परिणत करता है तथा कार्मण शरीर नामकर्म आठों ही कर्मों का उत्पत्तिस्थान, आधार एवं संसारी जीवों को भवान्तर में भ्रमण कराने का कारण है।

(४.) **अंगोपांग नामकर्म** : अंग = दो भुजा + दो जंघा + १ पीठ + सिर + छाती + पेट।

उपांग = अंग के साथ जुड़े हुए छोटे अवयव उपांग हैं जैसे अंगुली आदि।

अंगोपांग = अंगुलियों की रेखाएँ, पर्व आदि अंगोपांग हैं।

जिस नामकर्म के उदय से अंग, उपांग और अंगोपांग मिलते हैं, वह अंगोपांग नामकर्म कहलाता है। अंगोपांग आदि तीन शरीरों के ही होते हैं क्योंकि तैजस और कार्मण शरीर का आत्म प्रदेशों से अतिरिक्त स्वतन्त्र कोई आकार नहीं होता इसलिये इनके अंगोपांग नहीं होते।

बंधन नामकर्म—जिस प्रकार लाख, गोंद आदि पदार्थ, दो चीजों को आपस में जोड़ देते हैं वैसे ही बंधन नामकर्म शरीर नामकर्म के बल से पूर्वगृहीत औदारिकादि शरीर के पुद्गलों के साथ वर्तमान में ग्रहण किये जा रहे शरीर-पुद्गलों को परस्पर जोड़ देता है। यदि बंधन नामकर्म नहीं होता तो शरीराकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणत पुद्गलों में उसी प्रकार की अस्थिरता हो जाती, जैसे कि हवा के झोंके से उड़ने वाले आटे में होती है। शारीरिक पुद्गलों के भेद से यह ५ प्रकार का है।

(i) औदारिक बंधन **(ii)** वैक्रियबंधन **(iii)** आहारक बंधन **(iv)** तैजस् बंधन **(v)** कार्मण बंधन। अथवा बंधन नामकर्म के १५ भेद भी हैं—

(i) औदारिक-औदारिक बंधन—पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलों को वर्तमान में गृह्यमाण औदारिक पुद्गलों के साथ जोड़ने वाला।

(ii) औदारिक-तैजस् बंधन—पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलों को गृह्यमाण तैजस्-पुद्गलों के साथ जोड़ने वाला।

(iii) औदारिक-कार्मण बंधन—पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलों को गृह्यमाण कार्मण पुद्गलों के साथ जोड़ने वाला।

(iv) औदारिक-तैजस्-कार्मण बंधन—पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलों के साथ गृह्यमाण तैजस् कार्मण पुद्गलों को जोड़ने वाला।

इसी प्रकार वैक्रिय पुद्गल और आहारक पुद्गल के साथ जोड़ने वाले बंधन नामकर्म के चार-चार भेद होते हैं। तीनों शरीर के मिलकर कुल १२ भेद बंधन के होते हैं।

(i) तैजस्-तैजस् बंधन—पूर्वगृहीत तैजस् पुद्गलों के साथ गृह्यमाण तैजस्-पुद्गलों को जोड़ने वाला।

(ii) तैजस् कार्मण बंधन—पूर्वगृहीत तैजस्-पुद्गलों के साथ गृह्यमाण कार्मण-पुद्गलों को जोड़ने वाला।

(iii) कार्मण-कार्मण बंधन—पूर्वगृहीत कार्मण पुद्गलों के साथ गृह्यमाण कार्मण-पुद्गलों को जोड़ने वाला।

पूर्वोक्त १२ में ये तीन मिलाने पर १२ + ३ = १५ बन्धन होते हैं।

(६.) संघातन नामकर्म—जैसे दंताली से इधर-उधर बिखरी हुई घास इकट्ठी की जाती है, तभी उस घास का गट्ठर बंध सकता है। वैसे संघातन नाम कर्म भी इधर-उधर बिखरे हुए कर्मों को संगृहीत करता है। संघातन नाम कर्म के द्वारा संगृहीत पुद्गल ही बंधन नाम कर्म के द्वारा परस्पर जोड़े जाते हैं। कहा है—'नासंहतस्य बंधनम्' बिखरी हुई वस्तु को बाँधा नहीं जा सकता। इसके पाँच भेद हैं— **(i)** औदारिक संघातन **(ii)** वैक्रिय संघातन **(iii)** आहारक संघातन **(iv)** तैजस् संघातन और **(v)** कार्मण संघातन।

(७.) संहनन नामकर्म—हड्डियों का आपस में जुड़ना, मिलना, अर्थात् जिस नाम कर्म के उदय से हड्डियों की रचना विशेष होती है, उसे संहनन नामकर्म कहते हैं। इसका उदय औदारिक शरीर में ही होता है। कारण शेष शरीरों में हड्डियाँ नही होतीं। इसके ६ भेद हैं—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) वज्रऋषभनाराच—वज्र = कील, ऋषभ = वेष्टनपट्ट, नाराच = जिस प्रकार बन्दरी का बच्चा अपनी माँ को दोनों तरफ से पकड़ कर रखता है, उस प्रकार दोनों तरफ से परस्पर पकड़ी हुई हड्डियाँ, इसे मर्कटबंध भी कहते हैं अर्थात् वज्रऋषभनाराच संघयण उसे कहते हैं, जिसमें मरकट से बँधी हुई हड्डियों के ऊपर दूसरी एक हड्डी का वेष्टन और उन तीनों को भेदने वाली हड्डी की एक कील लगी हुई हो।

(ii) ऋषभनाराच—जिस संघयण में हड्डियों को भेदने वाला कीला न हो, शेष रचना पूर्ववत्। अन्यमतानुसार दूसरा संघयण वज्रनाराच है, जिस संघयण में मर्कट बंध हो, कीला लगा हुआ हो, किन्तु वेष्टनपट्ट न हो, वह वज्रनाराच संघयण है।

(iii) नाराच—जिस संघयण में हड्डियाँ मात्र एक ओर से मर्कट बंध से बँधी हुई हों।

(iv) अर्धनाराच—जिस संघयण में एक तरफ मर्कट बंध हो और दूसरी तरफ कीला लगा हुआ हो।

(v) कीलिका—जिस संघयण में मर्कट बंध और वेष्टन न हो, किन्तु कील से हड्डियाँ जुड़ी हों।

(vi) सेवार्त्त—जिस संघयण में मर्कट बंध, वेष्टन और कील कुछ भी न हो, यूं ही हड्डियाँ परस्पर जुड़ी हों। जिस संघयण में शरीर हमेशा सेवा की अपेक्षा रखता हो।

(८.) संस्थान नामकर्म—शरीर के बाह्य आकार प्रकार को संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से संस्थान की प्राप्ति होती है, वह संस्थान नामकर्म कहलाता है, इसके छः भेद हैं—

(i) समचतुरस्र संस्थान—पालथी लगाकर बैठने से जिस शरीर के चारों कोनों का अन्तर समान रहता हो अर्थात् आसन और कपाल का अन्तर, दोनों जानुओं का अन्तर, दायें कन्धे और वाम जानु का अन्तर बायें कन्धे और दाहिनी जानु का अन्तर समान हो, अथवा सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयव प्रमाणोपेत हों, उसे समचतुरस्र संस्थान कहते हैं।

(ii) न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान—न्यग्रोध का अर्थ है वटवृक्ष। परिमण्डल अर्थात् ऊपर का आकार। जिस शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण-प्रमाणोपेत हों, किन्तु नाभि से नीचे के अवयव अपेक्षाकृत हीन हों, वह न्यग्रोध परिमंडल संस्थान है।

(iii) सादि संस्थान—जिस शरीर में नाभि के नीचे के अवयव पूर्ण हो, और नाभि से ऊपर के अवयव हीन हों, वह सादि संस्थान है।

स + आदि = सादि, यहाँ आदि का अर्थ है नाभि के नीचे का देहभाग, सादि अर्थात् लक्षण-प्रमाण युक्त निम्न देह भाग वाला शरीराकार। यद्यपि सभी प्रकार के शरीर निम्न देह भाग वाले होते हैं तथापि इसे सादि कहा इससे सिद्ध होता है कि इस कथन का कोई विशेष प्रयोजन है। वह यह है कि यद्यपि सभी शरीर निम्न देह भाग युक्त होने से सादि, कहला सकते हैं तथापि यहाँ ग्रन्थकार को 'आदि' शब्द से विशिष्ट अर्थ अभीष्ट है। जैसे जिस शरीराकार (संस्थान) में शरीर का नाभि से नीचे का भाग लक्षण प्रमाण युक्त हो और ऊपरवर्ती भाग लक्षणहीन हो वह सादि संस्थान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्यमतानुसार सादि की जगह 'साची संस्थान' ऐसा नाम है। साची का अर्थ है शाल्मलीवृक्ष। जिस प्रकार शाल्मली वृक्ष के स्कंध और कांड अतिपुष्ट होते हैं, किन्तु उसका ऊपरी भाग इतना विशाल नहीं होता। उसी प्रकार जिस शरीर का अधो भाग तो परिपूर्ण हो, किन्तु ऊपर का भाग हीन हो, उसे 'साची संस्थान' नामकर्म कहते हैं।

(iv) वामन संस्थान—जिस शरीर के हाथ, पांव, सिर, गर्दन आदि अवयव प्रमाणोपेत व लक्षणयुक्त हों, किन्तु छाती, पीठ, पेट हीन हो, उसे वामन संस्थान कहते हैं।

(v) कुब्ज संस्थान—जिस शरीर में हाथ, पैर आदि अवयव प्रमाणहीन हो और छाती, पेट आदि पूर्ण हो, उसे कुब्ज संस्थान कहते हैं। अन्यमतानुसार वामन के लक्षण वाला कुब्ज और कुब्ज के लक्षण वाला वामन है।

(vi) हुंडकसंस्थान—जिस शरीर के सभी अवयव लक्षण एवं प्रमाण से शून्य हो।

(९.) वर्ण नामकर्म—शरीर के रंग को वर्ण कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर आदि पुद्गल में भिन्न-भिन्न रंगों की प्राप्ति हो। इसके पाँच भेद हैं—काजल की तरह काला, हल्दी की तरह पीला, रायण के पत्ते की तरह नीला, हिंगलु की तरह लाल तथा खड़िया की तरह श्वेत।

(१०.) गंध नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर में गंध की प्राप्ति हो। इसके दो भेद हैं—**(i)** सुगन्ध चन्दन की तरह और **(ii)** दुर्गन्ध लहसुन आदि की तरह।

(११.) रस नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर में भिन्न-भिन्न रसों की प्राप्ति होती है। इसके ५ भेद हैं—

(i) तिक्त रस—जिस नाम कर्म के उदय से जीव के शरीर का रस नीम जैसा कड़वा हो।

(ii) कटुरस—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस सोंठ या काली मिर्च जैसा चटपटा हो, वह कटुरस नामकर्म है। यहाँ 'कटु' का अर्थ नीम आदि के रस की तरह कड़वा नहीं पर सूंठ आदि की तरह तीखा रस है। जिन कर्मों का परिणाम अतिदारुण है उनके लिये शास्त्र में 'कटु परिणाम' शब्द का प्रयोग किया है। अतः स्पष्ट है कि शास्त्रों में तीखे के अर्थ में कटुशब्द का प्रयोग है। लोक में नीम कड़वा माना जाता है पर शास्त्र में तिक्त कहा गया है।

(iii) कषाय रस—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर का रस अपक्व कबीठ, बहेडा आदि के जैसा कषैला-तूरा हो, वह कषायरस नामकर्म है।

(iv) आम्ल रस—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर का रस आंवला या इमली जैसा खट्टा हो, वह आम्ल रस नामकर्म है।

(v) मधुर रस—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर का रस गन्ने जैसा मीठा हो, वह मधुर रस नामकर्म है।

(१२.) स्पर्श नामकर्म—स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण करने योग्य विषय। इसके आठ भेद हैं—

(i) कर्कशस्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर पत्थर या गाय की जीभ जैसा खुरदरा हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ii) मृदुस्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हंस के पंख, मक्खन आदि जैसा कोमल हो।

(iii) गुरुस्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर वज्र, लोहे जैसा भारी हो।

(iv) लघुस्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आक की रुई की तरह हलका हो।

(v) शीतस्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कमल-दंड या बर्फ की तरह ठंडा हो।

(vi) उष्णस्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर अग्नि की तरह उष्ण हो।

(vii) स्निग्धस्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर घी के समान चिकना हो।

(viii) रुक्षस्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर राख के समान रूखा हो।

(१३.) अगुरुलघु नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर इतना भारी नहीं होता कि उसे संभालना कठिन हो जाये अथवा इतना हलका भी नहीं होता कि हवा में उड़ जाये, किन्तु मध्यम परिणामी होता है, वह अगुरुलघु नामकर्म कहलाता है।

(१४.) उपघात नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवों से जैसे प्रतिजिह्वा, चोर दांत, होठ से बाहर निकले हुए दांत, छठी अंगुली, नाखून आदि से क्लेश पाता है, वह उपघात नामकर्म है।

(१५.) पराघात नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव कमजोर होते हुए भी अजेय समझा जाता है। उसके चेहरे पर तेज और वाणी में ऐसा ओज होता है कि लोग उसे देखकर क्षुब्ध हो जाते हैं।

(१६.) आनुपूर्व्वी नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव विग्रह-गति से अपने उत्पत्ति-स्थान पर पहुँचता है, उसे आनुपूर्व्वी नामकर्म कहते हैं। इस कर्म के लिये नाथ का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे इधर-उधर भटकते हुए बैल को नाथ डालकर जहाँ चाहे वहाँ ले जा सकते हैं, उसी प्रकार समश्रेणी से गति करते हुए जीव को आनुपूर्व्वी नामकर्म, उसे जहाँ उत्पन्न होना हो, वहाँ पहुँचा देता है। इसके चार भेद हैं—

१. नरकानुपूर्वी २. देवानुपूर्वी ३. तिर्यगानुपूर्वी ४. मनुष्यानुपूर्वी।

(१७.) उच्छ्वास नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छ्वास लब्धि से युक्त होता है, उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते हैं।

प्रश्न—कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति ही लब्धि कहलाती है, अर्थात् सभी लब्धियाँ क्षयोपशमजन्य ही होती हैं तो उच्छ्वास-लब्धि औदयिकी (उच्छ्वास नामकर्म के उदय से जन्य) कैसे हो सकती है?

उत्तर—यद्यपि सभी लब्धियाँ क्षायोपशमिकी होती हैं तथापि वैक्रिय, आहारक आदि कुछ लब्धियाँ औदयिकी भी होती हैं। इनकी उत्पत्ति में कारण भूत कर्म का उदय एवं वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम दोनों ही निमित्त बनते हैं। अतः इनके औदयिक और क्षायोपशमिक होने में कोई विरोध नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उच्छ्वास लब्धि के लिये भी ऐसा ही समझना चाहिये। उसमें भी उच्छ्वास नामकर्म का उदय और वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम दोनों कारण होने से वह औदयिकी और क्षायोपशमिकी दोनों ही है।

प्रश्न—यदि उच्छ्वास नामकर्म के उदय से ही उच्छ्वास लब्धि प्राप्त होती है तो श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—उच्छ्वास नामकर्म के उदय से उच्छ्वास-निःश्वास लेने और छोड़ने की शक्ति प्राप्त होती है। किन्तु उच्छ्वास पर्याप्ति श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण कर श्वासोच्छ्वास रूप में परिणमन करने की शक्ति देता है। अतः श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति की आवश्यकता है।

प्राण—श्वासोच्छ्वास लेने और छोड़ने के व्यापार को प्राण कहते हैं।

तीर चलाने की कला आने पर भी कोई व्यक्ति उसे प्रत्यंचा पर चढ़ाये बिना, निशाना नहीं लगा सकता, वैसे उच्छ्वास-निःश्वास योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उस रूप में परिणत करने की शक्ति के अभाव में उच्छ्वास-निःश्वास लेना और छोड़ना संभव नहीं हो सकता, अतः उच्छ्वास नामकर्म की सफलता के लिये उच्छ्वास पर्याप्ति का होना आवश्यक है। (जिस लब्धि के प्रयोग में पुद्गलों की आवश्यकता होती है, वे औदयिकी हैं, कारण पुद्गलों का ग्रहण कर्मोदय के बिना नहीं होता।)

(१८.) आतप नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वयं उष्ण न होकर भी उष्ण प्रकाश करता है, उसे आतपनाम कर्म कहते हैं। इसका उदय सूर्य विमानवासी बादर पृथ्वीकाय जीवों को होता है। यद्यपि अग्निकाय जीवों का शरीर भी उष्ण है, परन्तु वह आतप नामकर्म के उदय से नहीं किन्तु उष्णस्पर्श नामकर्म के उदय से होता है तथा उसमें प्रकाश उत्कटकोटि के रक्तवर्ण-नामकर्म के उदय से है।

(१९.) उद्योत नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर उष्णस्पर्श रहित, शीत प्रकाश फैलाता है। लब्धिधारी मुनि और देव के उत्तरवैक्रिय शरीर से, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और ताराओं के विमानवर्ती बादर पृथ्वीकाय जीवों के शरीर से, रत्न तथा औषधि आदि से जो शीतल प्रकाश निकलता है, वह उद्योत नामकर्म का परिणाम है।

(२०.) विहायोगति—आकाश में गमन करना। इसके दो भेद हैं—

(i) शुभविहायोगति—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल हाथी, बैल, हंस आदि की तरह शुभ हो।

(ii) अशुभविहायोगति—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल ऊँट, गधा, भैंस आदि की तरह अशुभ हो।

प्रश्न—आकाश सर्व व्यापक होने से उसके सिवाय गति संभव नहीं है तो 'विहायोगति' में (विहायसा गति) विहायस् = आकाश, ऐसा विशेषण क्यों दिया?

उत्तर—यदि यहाँ 'विहायोगति' न कहकर मात्र 'गति' ही कहते तो नामकर्म की सर्वप्रथम प्रकृति 'गति' के साथ पुनरुक्ति की शंका होती। इस शंका के निवारणार्थ यहाँ 'गति' के आगे 'विहायस्' ऐसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशेषण रखा। इसका तात्पर्य यह है कि—यहाँ गति से नरकादि पर्याय रूप गति न लेकर आकाश में गमनरूप गति लेना है अर्थात् यहाँ गति का अर्थ है 'चाल'।

(२१.) त्रस नाम—वेदना के अनुभव से जो जीव धूप से छाया में और छाया से धूप में गति करता है, उसे त्रस कहते हैं, और जिस नामकर्म के उदय से जीव त्रस बनता है, यह त्रसनाम है।

(२२.) स्थावर नाम—शीत-ताप से पीड़ित होने पर भी जो जीव अन्यत्र न जा सके किन्तु एक स्थान में ही स्थिर रहे वह 'स्थावर' है और जिस कर्म के उदय से जीव स्थावर बनता है, वह स्थावर नामकर्म है। इसका उदय एकेन्द्रिय जीवों में होता है। यद्यपि वायु और आग गतिमान है, तथापि उनकी गति त्रास, भय या पीड़ा के कारण न होने से वे त्रस नहीं कहलाते। स्वाभाविक गतिशील होने से उन्हें गतित्रस अवश्य कहा जाता है।

(२३.) बादर नाम—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्थूल परिणाम वाला होता है। आँख जिसे देख सके वह बादर, ऐसा बादर का अर्थ नहीं है, क्योंकि एक-एक बादर जीव का शरीर आँख से नहीं देखा जा सकता, किन्तु जीवों का समुदाय ही दृष्टिगोचर होता है।

(२४.) सूक्ष्म नाम—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सूक्ष्म परिणाम वाला होता है। सूक्ष्म का अर्थ है....जो किसी को रोक न सके और न किसी से रुके। सूक्ष्म शरीर अकेला तो दृष्टिगोचर हो ही नहीं सकता, किन्तु इसका समुदाय भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

(२५.) पर्याप्त नाम—जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही मरता है।

(२६.) अपर्याप्त नाम—जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तिओं को पूर्ण किये बिना ही मर जाता है।

(२७.) प्रत्येक नाम—जिस कर्म के उदय से एक शरीर का मालिक एक ही जीव होता है। इसका उदय, देव, नरक, मनुष्य, द्वीन्द्रिय....त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय....पृथ्वी आदि तथा कपित्थ आदि प्रत्येक वनस्पति में होता है।

शंका—'कपित्थ' आदि यदि प्रत्येक नामकर्म वाले हैं तो 'प्रज्ञापना' के अनुसार उसके मूल, स्कंध, त्वचा और शाखा में रहने वाले असंख्याता....असंख्याता जीवों के शरीर भी अलग-अलग होने चाहिये, किन्तु ऐसा तो नहीं लगता, मूल से लेकर फलपर्यन्त शरीर तो एकाकार ही दिखाई देता है, जैसे किसी व्यक्ति का सिर से पाँव तक अखण्ड शरीर होता है। इस प्रकार एक शरीर में अनेक जीव होने से 'कपित्थ' आदि प्रत्येकशरीरी कैसे घटेंगे?

उत्तर—प्रज्ञापना के अनुसार 'कपित्थ' आदि के मूल....स्कंध....त्वचा आदि में असंख्याता....असंख्याता जीव हैं तो उनके शरीर भी अलग-अलग हैं। मूल से लेकर फल तक पेड़ की जो अखण्ड एकरूपता दिखाई देती है वह मात्र पुद्गलों के तथाविध परिणाम के कारण है। जैसे 'तिलपट्टी' में तिल अलग-अलग होने पर भी तथाविध **परिणाम से** वह एकाकार बनती है वैसे ही प्रबल राग-द्वेष से संचित तथाविध प्रत्येक नामकर्म के उदय से जीवों का शरीर अलग-अलग होने पर भी मिश्रित परिणमन के कारण अखण्ड एकरूप दिखाई देता है। **प्रज्ञापना** में कहा है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जह सगलसरिसवाणं, सिलेसमिस्साण वट्टिया वट्टी।
पत्तेयसरीराणं तह होंति शरीरसंघाया॥
जह वा तिलपप्पडिआ, बहुएहिं तिलेहिं मीसिया संति।
पत्तेयसरीराणं, तह होंति सरीरसंघाया॥

जिस प्रकार सरसों को चिकने द्रव्य के साथ मिश्रित करने पर वर्ति-सलाई जैसी बन जाती है। जैसे बहुत सारे तिलों को चासनी आदि से मिश्रित करने पर तिलपट्टी बन जाती है किन्तु बट्टी में और तिलपट्टी में सरसों और तिल स्पष्ट रूप से अलग-अलग दिखाई देते हैं वैसे कपित्थ आदि वृक्ष के मूल, तना, छाल, डाल आदि में स्थित असंख्यात उन जीवों के शरीर भिन्न-भिन्न हैं। जैसे सरसों, तिल आदि चासनी आदि चिकने द्रव्य के कारण मिश्रित हो कर एकरूप दिखाई देते हैं वैसे प्रत्येकशरीर वाले जीव तथाविध प्रत्येक नामकर्म के उदय से परस्पर भिन्न-भिन्न शरीर वाले होने पर भी एकाकार दिखाई देते हैं।

(२८.) **साधारणनाम**—जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का एक शरीर होता है।

प्रश्न—अनंत जीवों का एक शरीर कैसे हो सकता है? कारण सर्वप्रथम जो जीव उत्पत्ति-स्थान में आता है, शरीर रचना का अधिकारी वही होता है। जब शरीर के सर्व प्रदेशों में उसके आत्मप्रदेश व्याप्त हो जाते हैं तब अन्य जीव उसमें कैसे रह सकते हैं?

और, थोड़ी देर के लिये मान लिया जाये कि—एक शरीर में अनेक जीव रहते हैं, किन्तु जिसने इस शरीर की रचना की, अधिकारी वही जीव होगा और पर्याप्त-अपर्याप्त की व्यवस्था, श्वासोच्छ्वास के ग्रहण-मोचन का आधार भी वही होगा। अन्य जीवों में ये व्यवस्थायें कैसे घटेंगी?

उत्तर—यह प्रश्न जिनवचन की अज्ञानता का सूचक है। इसका समाधान यह है कि तथाविध कर्मवश, अनंतजीव एक ही साथ उत्पत्तिस्थान में आकर पैदा होते हैं तथा एक ही साथ शरीरयोग्य पर्याप्ति की रचना प्रारंभ करते हैं और साथ ही पूर्ण करते हैं। श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलों का ग्रहण-मोचन साथ ही करते हैं अर्थात् एक जीव का ग्रहण-मोचन सभी जीव का साधारण है। अतः पूर्वोक्त विरोध की यहाँ यत्किंचित् भी संभावना नहीं है। **प्रज्ञापना** में कहा है—

समयं वक्कंताणं समयं तेसिं सरीर निप्फत्ती।
समयं आणुग्गहणं, समयं उस्सास-निस्सासा॥
एगस्सउ जं गहणं, बहूणं साहारणाण तं चेव।
जं बहुयाणं गहणं, समासओ तं पि एगस्स॥
साहारणमाहारो, साहारणमाणुपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं, साहारणलक्खणं एयं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक साथ उत्पन्न होने वाले साधारण शरीरी जीवों के शरीर की निष्पत्ति भी एक साथ ही होती है। श्वासोच्छ्वास के पुद्गलों को ग्रहण करना, श्वासोच्छ्वास को लेना व छोड़ना सभी एक साथ ही होता है। एक जीव की ग्रहण क्रिया सभी की है तथा बहुतों की ग्रहण क्रिया एक जीव की है। साधारण आहार एवं साधारण श्वासोच्छ्वास यही साधारण जीवों का लक्षण है।

(२९.) स्थिरनाम—जिस कर्म के उदय से दांत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर अर्थात् निश्चल होते हैं, उसे स्थिरनाम कर्म कहते हैं।

(३०.) अस्थिरनाम—जिस कर्म के उदय से अवयव चलायमान होते हैं, उसे अस्थिरकर्म कहते है।

(३१.) शुभनाम—जिस कर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं। हाथ, सिर, आदि अवयवों को छूने से किसी को अप्रीति नहीं होती, जैसे कि पाँव छूने से होती है। यही उन अवयवों का 'शुभत्व' होता है।

(३२.) अशुभनाम—जिस कर्म के उदय से नाभि के नीचे का भाग अशुभ होता है। जिसे छूने से दूसरों को अप्रीति उत्पन्न हो यही उसकी अशुभता है।

प्रश्न—स्त्री आदि प्रिय व्यक्ति, गुरु आदि श्रद्धेय व्यक्ति के पांव का स्पर्श भी प्रीतिकर होता है अतः उसे एकांत अशुभ कैसे कह सकते हैं?

उत्तर—नाभि से नीचे का भाग वास्तव में अशुभ है। यही कारण है कि पाँव लगने से अन्य व्यक्ति रुष्ट होते हैं। स्त्री के पाँव का स्पर्श तो मोह के कारण अच्छा लगता है व गुरु आदि के चरण श्रद्धा के कारण पूज्य है। अतः पूर्वोक्त मान्यता में कोई विरोध नहीं आता।

(३३.) सुभगनाम—जिस कर्म के उदय से, किसी प्रकार का उपकार न करने पर, या किसी तरह से सम्बन्ध न होने पर भी जीव सब को प्रिय लगता है।

(३४.) दुर्भगनाम—जिस कर्म के उदय से उपकार करने वाला भी अप्रिय लगता है।

(३५.) सुस्वरनाम—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर मधुर और प्रीतिकर होता है।

(३६.) दुस्वरनाम—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्कश और अप्रिय लगता है।

(३७.) आदेयनाम—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य होता है।

(३८.) अनादेयनाम—जिस के कर्म के उदय से जीव का वचन उपयुक्त होते हुए भी अनादरणीय होता है।

(३९.) यशःकीर्तिनाम—जिस कर्म के उदय से संसार में यश और कीर्ति फैलती है। तप, शौर्य, त्याग आदि के द्वारा उपार्जित यश का शब्दों द्वारा कीर्तन-प्रशंसा करना यशः कीर्ति है।

यशः—सामान्य ख्याति यश है। अथवा चारों दिशाओं में फैली हुई, पराक्रम द्वारा प्राप्त तथा लोकों द्वारा होने वाली प्रशंसा यश है।

कीर्ति—सद्गुणों की प्रशंसा अथवा दानादि के कारण एक दिशा में होने वाली प्रशंसा कीर्ति है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शंका—यश:कीर्ति नामकर्म का उदय होने पर भी कुछ व्यक्ति उसकी निंदा भी करते हैं। ऐसी स्थिति में यश:कीर्तिनाम कर्म का उदय व्यर्थ नहीं होगा?

उत्तर—यशनाम कर्म का उदय मध्यस्थ गुणी आत्मा की अपेक्षा से ही है। मध्यस्थ और गुणानुरागी 'दूसरों के सद्गुणों का मूल्याँकन कर सकते हैं।' ईर्ष्यालु आत्मा तो गुणी व्यक्तियों की भी निन्दा ही करते हैं। ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा यशनाम कर्म का उदय व्यर्थ है ऐसा नहीं माना जा सकता।

कहा है कि—शरीर में धातुओं की विषमता के कारण व्यक्ति को दूध कड़वा और नीम मधुर लगता है। फिर भी यह प्रमाणभूत नहीं होता। प्रत्युत द्रव्य के गुणों का विपरीत कथन करने के कारण व्यक्ति स्वयं अप्रमाणभूत हो जाता है। इसलिये 'यश:कीर्ति' नामकर्म का उदय सद्गुणी आत्मा की अपेक्षा से ही है।

(४०.) **अपयश:कीर्तिनाम**—जिस कर्म के उदय से जीव मध्यस्थ और गुणानुरागी आत्माओं के द्वारा भी अप्रशंसनीय बनता है।

(४१.) **निर्माणनाम**—जिस कर्म के उदय से अंग और उपांग शरीर में अपनी-अपनी जगह व्यवस्थित होते हैं वह निर्माण नामकर्म है। इसे सूत्रधार की उपमा दी है। जैसे कारीगर शिल्पियों द्वारा निर्मित हाथ, पाँव आदि अवयवों को मूर्ति में यथास्थान व्यवस्थित करता है वैसे अंगोपांग नामकर्म द्वारा निर्मित अवयवों को निर्माण-नामकर्म शरीर में यथास्थान व्यवस्थापित करता है। इस कर्म के अभाव में आज जिस जगह हाथ-पाँव आदि व्यवस्थित है उस स्थान का कोई नियम नहीं होता।

(४२.) **तीर्थंकरनाम**—जिस कर्म के उदय से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है उसे तीर्थंकर नामकर्म कहते हैं। इस कर्म का उदय उसी जीव को होता है, जिसे केवलज्ञान उत्पन्न हुआ हो। इस कर्म के प्रभाव से अष्ट प्रातिहार्य-संपदा, चौंतीस अतिशय एवं पैंतीस वाणी के गुण प्रकट होते हैं। जीव अपरिमित ऐश्वर्य का भोक्ता होता है। संसार के प्राणियों को वह अपनी अधिकार युक्त वाणी से मार्ग दिखलाता है जिस पर स्वयं चलकर कृतकृत्य बना है। इसलिये देवेन्द्र, नरेन्द्र भी उनकी अत्यन्त श्रद्धा से सेवा करते हैं ॥१२६२-१२६७॥

विशेष अपेक्षा से नामकर्म के ३ भेद होते हैं।

(i) बयालीस प्रकार का **(ii)** सड़सठ प्रकार का **(iii)** एक सौ तीन प्रकार का

(i) बयालीस प्रकार का

पिण्डप्रकृति चौदह—गति-जाति-शरीर-अंगोपांग-बंधन-संघातन-संघयण-संस्थान-वर्ण-गंध-रस-स्पर्श-आनुपूर्व्वी-विहायो गति।

प्रत्येक आठ—पराघात-उच्छ्वास-आतप-उद्योत-अगुरुलघु-निर्माण-तीर्थंकर और उपघात नाम कर्म।

त्रसदशक—त्रस-बादर-पर्याप्ता-प्रत्येक-स्थिर-शुभ-सुभग-सुस्वर-यशकीर्ति और आदेय नामकर्म।

स्थावरदशक—स्थावर-सूक्ष्म-अपर्याप्त-साधारण-अस्थिर-अशुभ-दुर्भग-दुस्वर-अनादेय और अयश। पूर्वोक्त बयालीस प्रकृतियाँ गति आदि के भेद की अविवक्षा से होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ii) सड़सठ प्रकार का = गति ४ + जाति ५ + शरीर ५ + अंगोपांग ३ + संघयण ६ + संस्थान ६ + आनुपूर्वी ४ + विहायोगति २ + प्रत्येक ८ + वर्णादि ४ + त्रस १० + स्थावर १० = ६७ प्रकृति। बंधन और संघातन का शरीर में अन्तर्भाव करने से ६७ प्रकृतियाँ होती हैं। ये बंध-उदय में उपयोगी बनती हैं ॥१२६७-१२७१ ॥

(iii) १०३ प्रकार का—पूर्वोक्त ६७ प्रकृतियों में वर्णादि ४ निकालकर वर्ण ५ + २ गंध + ५ रस + ८ स्पर्श + १५ बंधन + ५ संघातन मिलाने से = १०३ प्रकृतियाँ होती हैं। ये प्रकृतियाँ सत्ता में उपयोगी हैं ॥१२७२-७५ ॥

२१७ द्वार : बंधादि-स्वरूप—

सत्तट्ठछेगबंधा संतुदया अट्ठ सत्त चत्तारि।
सत्तट्ठछपंचदुगं उदीरणाठाणसंखेयं ॥१२७६ ॥
बंधेऽट्ठसत्तऽणाउग छविहममोहाउ इगविहं सायं।
संतोदएसु अट्ठ उ सत्त अमोहा चउ अघाई ॥१२७७ ॥
अट्ठ उदीरइ सत्त उ अणाउ छव्विहमवेयणीआऊ।
पण अवियणमोहाउग अकसाई नाम गोत्तदुगं ॥१२७८ ॥
बंधे वीसुत्तरसय सयबावीसं तु होइ उदयंमि।
उदीरणाए एवं अडयालसयं तु सन्तंमि ॥१२७९ ॥

—गाथार्थ—

बंध-उदय-उदीरणा और सत्ता का स्वरूप—**सात, आठ, छः और एक प्रकृति का बंधस्थानक, आठ, सात और चार प्रकृति का उदय और सत्ता स्थानक, सात, आठ, छः, पाँच और दो प्रकृति का उदीरणा स्थानक है। इस प्रकार बंधादि की संख्या समझना चाहिये ॥१२७६ ॥**

बंध में आयु सहित आठ का एवं आयु रहित सात का बंध है। मोह एवं आयु रहित छः का बंध है। मात्र सातारूप एक का बंध है। सत्ता में एवं उदय में आठ, आयु रहित सात, वेदनीय और आयु बिना छः, मोहनीय, वेदनीय और आयु बिना पाँच एवं अकषायी को मात्र नाम एवं गोत्र दो की ही उदीरणा होती है ॥१२७७-७८ ॥

बंध में एक सौ बीस, उदय और उदीरणा में एक सौ बावीस एवं सत्ता में एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ हैं ॥१२७९ ॥

—विवेचन—

बंध—यह लोक काजल से भरे हुए डिब्बे की तरह पुद्गल समूह से ठसाठस भरा हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिथ्यात्व आदि हेतुओं के द्वारा जीव उन पुद्गलों को अपनी ओर खींचता है और आग व अयोगोलक की तरह उन पुद्गलों को अपने साथ एकमेक करता है, यही बंध है।

बंधस्थान ४ प्रकार के हैं—

(i) सात प्रकृति का बंध स्थान (आयु कर्म के बिना)
(ii) आठ प्रकृति का बंधस्थान (आयुकर्म सहित)
(iii) छः प्रकृति का बंधस्थान (मोहनीय व आयुकर्म के बिना)
(iv) एक प्रकृति का बंधस्थान (केवल सातावेदनीय का बंध)

उदय—अपवर्तनादि करण विशेष के द्वारा अथवा स्वाभाविक रूप से उदयप्राप्त कर्मों को भोगना ही उदय है।

उदयस्थान ३ प्रकार के हैं—

(i) आठ कर्म का उदयस्थान (आठों कर्मों का उदय चल रहा हो तब)
(ii) सात कर्म का उदयस्थान (मोहनीय कर्म के सिवाय)
(iii) चार कर्म का उदयस्थान (मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय व अन्तराय के सिवाय)

उदीरणा—जिनका उदयकाल अभी नहीं आया है ऐसे कर्मदलिकों को कषाययुक्त या कषायरहित मन-वचन-काया के व्यापार द्वारा खींचकर उदयावलिका में लाना उदीरणा है।

उदीरणास्थान ५ प्रकार के हैं—

(i) सात कर्म का उदीरणास्थान (आयु के बिना)
(ii) आठ कर्म का उदीरणास्थान (जिस समय आठों कर्मों की उदीरणा हो)
(iii) छः कर्म का उदीरणास्थान (वेदनीय और आयु की उदीरणा के बिना)
(iv) पांच कर्म का उदीरणास्थान (वेदनीय, मोहनीय व आयु की उदीरणा के बिना)
(v) दो कर्म का उदीरणास्थान (कषाय रहित आत्मा जब केवल नाम कर्म व गोत्र कर्म की उदीरणा करता है)

सत्ता—बंध व संक्रमण के द्वारा निजस्वरूप को प्राप्त कर्मपुद्गलों का जब तक निर्जरा व संक्रम के द्वारा नाश न हो तब तक यथावस्थित रूप में रहना सत्ता है।

सत्ता स्थान ३ प्रकार के हैं—

(i) आठ कर्म का सत्तास्थान (जब सभी कर्म सत्ता में होते है)
(ii) सात कर्म का सत्तास्थान (जब मोहनीय कर्म की सत्ता नहीं होती)
(iii) चार कर्म का सत्तास्थान (ज्ञाना., दर्शना., मोह. व अन्तराय की सत्ता नाश होने पर)

गुणस्थान में बंध—

१. मिथ्यात्व — सात या आठ कर्म का बंध होता है। आयु का बंध होता है तब आठ कर्म का, अन्यथा सात कर्म का बंध होता है।

२. सास्वादन — पूर्ववत् सात या आठ का बंध होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. मिश्र — सात कर्म का बंध होता है। तथाविध स्वभाव के कारण इस गुणस्थान में आयुकर्म का बंध नहीं होता।

४. अविरति — सात या आठ (पूर्ववत् समझना)

५. देशविरति — सात या आठ (पूर्ववत् समझना)

६. सर्वविरति — सात या आठ (पूर्ववत् समझना)

७. अप्रमत्त — सात या आठ कर्म का बंध। (कारण पूर्ववत्)

८. अपूर्वकरण — सात कर्म का बंध। इस गुणस्थान में परिणाम अतिविशुद्ध होने से आयुकर्म का बंध नहीं होता।

९. अनिवृत्तिकरण — सात कर्म का बंध (कारण पूर्ववत्)

१०. सूक्ष्मसंपराय — छः कर्म का बंध। मोहनीय व आयु का बंध इस गुणस्थान में नहीं होता, कारण मोहनीय कर्म के बंध का कारण बादर कषाय है जो कि यहाँ नहीं हैं तथा आयुबंध का कारण शुद्धाशुद्ध परिणाम हैं वे भी यहाँ नहीं हैं, यहाँ तो जीव के परिणाम अतिविशुद्ध होते हैं।

११. उपशान्तमोह — इस गुणस्थान में एक सातावेदनीय का ही बंध होता है।

१२. क्षीणमोह — पूर्ववत् समझना।

१३. सयोगी — पूर्ववत् समझना।

१४. अयोगी — अबंधक है। बंध का कोई कारण नहीं होने से।

गुणस्थान में उदय व सत्ता—

मिथ्यात्व, सास्वादान, मिश्र, अविरति, देशविरति, सर्वविरति, अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण व सूक्ष्मसंपराय इन दसों ही गुणस्थान में आठों कर्म का उदय व सत्ता होती है।

उपशान्तमोह गुणस्थान में उदय सात का व सत्ता आठ की होती है। कारण इस गुणस्थान में मोहनीय उपशान्त हो जाने से उसका उदय नहीं होता पर सत्ता में तो रहता ही है।

क्षीणमोह गुणस्थान में उदय व सत्ता दोनों ही सात कर्म की ही है। कारण यहाँ मोहनीय का सर्वथा क्षय हो जाता है।

सयोगी गुणस्थान में उदय व सत्ता दोनों ही चार अघाती कर्म की होती है। कारण यहाँ चार घाती कर्म सर्वथा क्षय हो जाते हैं।

अयोगी में भी सयोगी की तरह ही चार अघाती कर्म का उदय व सत्ता होती है।

गुणस्थान में उदीरणा—

मिथ्यात्व, सास्वादन, अविरति, देशविरति व सर्वविरति गुणस्थान में निरन्तर आठों ही कर्म की उदीरणा होती रहती है। जब वर्तमान भव की आयु आवलिकामात्र शेष रहती है तब आयु के सिवाय सात कर्म की ही उदीरणा होती है, कारण उस समय उदयावलिका से बाहर कोई दलिक ही नहीं होता तो उदीरणा का प्रश्न ही नहीं उठता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीसरे मिश्र गुणस्थान में आठ कर्म की उदीरणा होती है, कारण इस गुणस्थान में कोई नहीं मरता। अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण आयु शेष रहने से पूर्व ही जीव या तो चौथे गुणस्थान में चला जाता है या प्रथम गुणस्थान में।

अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में वेदनीय व आयु को छोड़कर शेष ६ कर्मों की उदीरणा होती है, क्योंकि इन गुणस्थानों में वेदनीय और आयुकर्मों की उदीरणा योग्य अध्यवसायों का अभाव रहता है। यहाँ अध्यवसाय अतिविशुद्ध होते हैं।

सूक्ष्म संपराय गुणस्थान में वेदनीय व आयु के बिना छः की उदीरणा होती है तथा मोहनीय के बिना पांच की उदीरणा होती है। जब मोहकर्म आवलिकामात्र शेष रहता है तब उसकी उदीरणा समाप्त हो जाती है।

उपशान्तमोह गुणस्थान में पांच की उदीरणा होती है। वेदनीय और आयु तो तथाविध अध्यवसाय के अभाव में उदीर्ण नहीं होते और मोहनीय उदय के अभाव से उदीर्ण नहीं होता। क्योंकि उदीरणा का यह नियम है कि जिसका उदय समाप्त हो जाता है उसकी उदीरणा भी समाप्त हो जाती है।

क्षीणमोह गुणस्थान में पूर्ववत् पाँच कर्मों की ही उदीरणा होती है। परन्तु जब पाँचों कर्म आवलिकामात्र शेष रहते हैं तब इनकी उदीरणा भी समाप्त हो जाती है। तब मात्र नाम और गोत्र दो कर्मों की ही उदीरणा शेष रह जाती है।

सयोगी केवली गुणस्थान में नाम व गोत्र मात्र दो कर्मों की ही उदीरणा होती है। चार घातीकर्म तो यहाँ समूल ही नष्ट हो जाते हैं तथा वेदनीय व आयु की उदीरणा तथाविध अध्यवसाय के अभाव से ही नहीं होती।

अयोगी केवली गुणस्थान अनुदीरक है, कारण उदीरणा योगसापेक्ष है और यह गुणस्थान अयोगी है।

बंध-उदय-उदीरणा व सत्तागत प्रकृत्तियाँ—

- बंध की विचारणा करते समय एक सौ बीस प्रकृतियाँ ही ली गई हैं। कारण पांच बंधन + पांच संघातन = ये दश प्रकृतियाँ अपने-अपने शरीर नामकर्म के अंतर्गत ही मान ली जाती हैं। वर्णादि बीस में से सोलह उत्तरभेद न लेकर मूल चार भेद ही लिये जाते हैं तथा सम्यक्त्वमोह व मिश्रमोह की अलग से विवक्षा न करके केवल मिथ्यात्वमोह ही लिया जाता है, कारण पूर्वोक्त दोनों प्रकृतियाँ मिथ्यात्व का ही परिवर्तितरूप हैं। इस प्रकार एक सौ अड़तालीस में से दश + सोलह + दो = अट्ठावीस प्रकृतियाँ निकलने से बंध में कुल एक सौ बीस प्रकृतियाँ ही रहती हैं।
- उदय में सम्यक्त्वमोह व मिथ्यात्वमोह दो बढ़ जाने से एक सौ बीस + दो = एक सौ बावीस प्रकृतियाँ होती है।
- जिन प्रकृतियों का उदय होता है उनकी ही उदीरणा होती है। इस नियम के अनुसार उदीरणा भी एक सौ बावीस की ही है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- सत्ता में सभी प्रकृतियाँ रहने से सत्ता एक सौ अड़तालीस की है।
- गर्गर्षि व शिवर्षि के मतानुसार जो एक सौ अट्ठावन की सत्ता बताई गई है उसका कारण पांच बंधन के स्थान पर पन्द्रह बंधन मानना है। इस प्रकार एक सौ अड़तालीस में दश प्रकृति मिलाने से एक सौ अड़तालीस + दस = एक सौ अट्ठावन की सत्ता होती है ॥१२७६-७९॥

२१८ द्वार : कर्मस्थिति—

मोहे कोडाकोडीउ सत्तरी वीस नामगोयाणं।
तीसियराण चउण्हं तेत्तीसऽयराइं आउस्स ॥१२८०॥
एसा उक्कोसठिई इयरा वेयणिय बारस मुहुत्ता।
अट्ठट्ठ नामगोत्तेसु सेसएसु मुहुत्तंतो ॥१२८१॥
जस्स जई कोडिकोडीउ तस्स तेत्तिससयाइं वरिसाणं।
होइ अबाहाकालो आउम्मि पुणो भवतिभागो ॥१२८२॥

—गाथार्थ—

अबाधासहित कर्मस्थिति—**मोहनीय कर्म की सित्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम, नाम-गोत्र की बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम, आयु को छोड़कर शेष चार की तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम तथा आयु की तेतीस सागरोपम की स्थिति है॥१२८०॥**

पूर्वोक्त स्थिति उत्कृष्ट स्थिति है। जघन्य स्थिति इस प्रकार है। वेदनीय की बारह मुहूर्त्त, नाम-गोत्र की आठ-आठ मुहूर्त्त तथा शेष कर्मों की अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति है॥१२८१॥

जिस कर्म की जितने कोड़ाकोड़ी सागरोपम की स्थिति है, उस कर्म का अबाधाकाल उतने सौ वर्ष का होता है, पर आयु कर्म का अबाधाकाल उसकी स्थिति का तीसरा भाग है॥१२८२॥

—विवेचन—

कर्म की स्थिति दो प्रकार की होती है—**(i)** कर्म रूप अवस्थान और **(ii)** अनुभव योग्य स्थिति।

(i) कर्मरूप अवस्थान — बंधे हुए कर्म जितने समय तक कर्म रूप में रहते हैं, पर फल नहीं देते वह स्थिति।

(ii) अनुभव योग्य — बंधे हुए कर्म जितने समय तक फल देते हैं, वह स्थिति (अबाधाकाल-हीन कर्म की स्थिति)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मरूप अवस्थान—

कर्म	उत्कृष्ट	जघन्य
१. ज्ञानावरणीय	३० कोड़ा	अन्तर्मुहूर्त्त
२. दर्शनावरणीय	कोड़ी	अन्तर्मुहूर्त्त
३. वेदनीय	सागरो	१२ मुहूर्त्त सकषायी के, अकषायी की अपेक्षा २ समय। प्रथम समय बंध, द्वितीय समय में उदय और तृतीय समय में निर्जरा।
४. अन्तराय	३० कोड़ा कोड़ी सागर.	अन्तर्मुहूर्त
५. मोहनीय	७० कोड़ा कोड़ी सागर.	अन्तर्मुहूर्त
६. आयु	३३ सागर	अन्तर्मुहूर्त
७. नाम	२० कोड़ा कोड़ी सागर.	आठ मुहूर्त्त
८. गोत्र	२० कोड़ा कोड़ी सागर	अन्तमुहूर्त्त

- अकषायी आत्मा प्रथम समय में वेदनीय का बंध करता है तथा द्वितीय समय में भोगकर क्षय कर देता है। कषायरहित आत्मा अधिक बंध नहीं करता।

अनुभव योग्य स्थिति—

कर्म	उत्कृष्ट	जघन्य
१. ज्ञानावरणीय	३००० वर्ष न्यून	अन्तर्मुहूर्त्त न्यून अन्तर्मुहूर्त्त।* अन्तर्मुहूर्त्त के अनेक भेद हैं।
२. दर्शनावरणीय	३०	
३. वेदनीय	कोड़ा कोड़ी	अन्तर्मुहूर्त्त न्यून १२ मुहूर्त्त*
४. अन्तराय	सागर	अन्तर्मुहूर्त्त न्यून अन्तर्मुहूर्त्त
५. मोहनीय	७००० वर्ष न्यून ७० कोड़ा-कोड़ी सागर.	अन्तर्मुहूर्त्त न्यून
६. आयु	३३ सागर	अन्तर्मुहूर्त्त
७ नाम	२००० वर्ष न्यून	अन्तर्मुहूर्त्त
८. गोत्र	२० कोड़ा कोड़ी सागर.	न्यून आठ मुहूर्त्त

(i) दो समय की (१२-१३वें गुणस्थान में) प्रथम समय में बंध, दूसरे समय में उदय व तीसरे समय में निर्जरा।

(ii) १२ मुहूर्त्त की (सकषायी को)

अबाधा-काल—बँधा हुआ कर्म तुरन्त उदय में नहीं आता, किन्तु निश्चित समय बीतने के बाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही उदय में आता है। जितने समय तक कर्म उदय में नहीं आता, वह समय अबाधा-काल कहलाता है। अबाधा-काल का यह नियम है कि एक कोड़ाकोड़ी की स्थिति के पीछे सौ वर्ष का अबाधा-काल होता है, अर्थात् एक कोड़ाकोड़ी की स्थिति वाला कर्म बँधने के पश्चात् सौ-वर्ष के बाद ही उदय में आता है। जघन्य स्थिति में अन्तर्मुहूर्त्त का अबाधा-काल होता है। जघन्य स्थिति पर पल्योपम का असंख्यातवां भाग अधिक होते ही एक समय अधिक अन्तर्मुहूर्त्त का अबाधा-काल होता है। इस प्रकार जघन्य स्थिति पर जितने अधिक पल्योपम के असंख्यातवें भाग बढ़ेंगे, उतने समय, अबाधा-काल के अन्तर्मुहूर्त्त पर बढ़ जायेंगे। अर्थात् जघन्य स्थिति के ऊपर पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले कर्म का अबाधा-काल समयाधिक अन्तर्मुहूर्त्त होता है। इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते एक कोड़ा कोड़ी की स्थिति वाले कर्म का अबाधा-काल सौ वर्ष का हो जाता है।

*वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति दो प्रकार की है—

*अबाधाकाल का अन्तर्मुहूर्त्त उदयकाल के अन्तर्मुहूर्त्त से अतिलघु है।

कर्म	उत्कृष्ट	जघन्य
१. ज्ञानावरणीय	३०००	अ
२. दर्शनावरणीय	वर्ष का	न्त
३. वेदनीय	अबाधा	र्मु
४. अन्तराय	काल	हू
५. मोहनीय	७०००	र्त
६. आयु	पूर्व क्रोड़ वर्ष का	का
	तीसरा भाग	अ
७. नाम	२००० वर्ष का	बाधा
८. गोत्र	२००० वर्ष का	काल

निषेक = अबाधा-काल बीतने के बाद कर्म को भोगने के लिये की गई क्रमिक दलिकों की रचना।

कर्मों के सभी दलिक एक ही साथ नहीं भोगे जाते। अबाधा काल छोड़कर जिस-कर्म की जितनी स्थिति होती है, उतने समय में ही वह कर्म भोगा जाता है। अतः बंधे हुए कर्म के दलिकों की क्रमशः रचना होती है। प्रथम समय में सर्वाधिक दलिक, द्वितीय समय में अपेक्षाकृत अल्प, तृतीय समय में और अल्प, इस प्रकार स्थिति-बंध के अंतिम समय पर्यन्त उत्तरोत्तर हीन, हीनतर दलिकों की रचना होती है और रचना के अनुसार ही प्रतिसमय दलिक भोगे जाते हैं। दलिकों की यह रचना निषेक कहलाती है।

पूर्व क्रोड़ की आयुष्य वाला जीव अपनी आयु के तीसरे भाग में अनुत्तर विमान के योग्य ३३ सागर का उत्कृष्ट-आयु बाँधता है अतः उसकी अपेक्षा से पूर्वक्रोड़ के तीसरे भाग का अबाधाकाल घटता है। आयु तो जितने समय का बँधा है उतना पूरा भोगा जाता है ॥१२८०-८२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२१९ द्वार : पुण्यप्रकृति—

सायं उच्चागोयं नरतिरिदेवाउ नाम एयाओ ।
मणुयदुगं देवदुगं पंचिंदिय जाइ तणुपणगं ॥१२८३ ॥
अंगोवंगतिगंपि य संघयणं वज्जरिसहनारायं ।
पढमं चिय संठाणं वन्नाइचउक्क सुपसत्थं ॥१२८४ ॥
अगुरुलहु पराघायं उस्सासं आयवं च उज्जोयं ।
सुपसत्था विहगगई तसाइदसगं च निम्माणं ॥१२८५ ॥
तित्थयरेणं सहिया पुन्नप्पयडीओ हुंति बायाला ।
सिवसिरिकडक्खियाणं सयावि सत्ताणभेयाउ ॥१२८६ ॥

—गाथार्थ—

बयालीस पुण्य प्रकृति—**१. सातावेदनीय २. उच्चगोत्र ३-५. मनुष्य, तिर्यंच और देव की आयु तथा नामकर्म की निम्न प्रकृतियाँ—६-७. मनुष्यद्विक ८-९. देवद्विक १०. पंचेन्द्रिय जाति ११-१५. शरीर पंचक १६-१८. अंगोपांगत्रिक १९. वज्रऋषभनाराच संघयण २०. प्रथमसंस्थान २१-२४. प्रशस्त वर्णादि चतुष्क २५. अगुरुलघु २६. पराघात २७. श्वासोच्छ्वास २८ आतप २९. उद्योत ३०. शुभविहायोगति ३१-४०. त्रसदशक ४१. निर्माण और ४२. तीर्थंकर नामकर्म सहित बयालीस पुण्य-प्रकृतियाँ हैं। जिस व्यक्ति पर शिवलक्ष्मी का कटाक्ष-क्षेप हो जाता है, ये प्रकृतियाँ उस व्यक्ति की सत्ता में सदा होती हैं ॥१२८३-८६ ॥**

—विवेचन—

(i) वेदनीय कर्म = १ सातावेदनीय

(ii) गोत्र कर्म = १ उच्चगोत्र

(iii) आयु कर्म = ३ नरायु, तिर्यगायु और देवायु

(iv) नाम कर्म = ३७ मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, देवद्विक, पंचेन्द्रिय जाति, ५ शरीर, ३ अंगोपांग, प्रथम संघयण व प्रथम संस्थान, वर्णादि चार, (वर्ण में श्वेत, पीत और रक्त प्रशस्त है, गंध में सुरभि, रस में मधुर, अम्ल, कषाय। स्पर्श में मृदु, लघु, स्निग्ध और उष्ण) पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, शुभविहायोगति, त्रसदशक, यश, निर्माण और तीर्थंकर नाम कर्म = ४२ कुल पुण्य प्रकृति है।

इन ४२ प्रकृतियों का उदय मोक्षगामी जीव को सदैव रहता है ॥१२८३-८६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२२० द्वार : पाप-प्रकृति—

नाणंतरायदसगं दंसण नव मोहपयइ छव्वीसा।
अस्सायं निरयाउं नीयागोएण अडयाला ॥१२८७॥
नरयदुगं तिरियदुगं जाइचउक्कं च पंच संघयणा।
संठाणावि य पंच उ वन्नाइचउक्कमपसत्थं ॥१२८८॥
उवघाय कुविहयगई थावरदसगेण होंति चोत्तीसा।
सव्वाओ मीलियाओ बासीई पावपयडीओ ॥१२८९॥

—गाथार्थ—

बयासी पाप प्रकृति—**ज्ञानावरण और अंतराय की दश, नौ दर्शनावरण, मोहनीय की छब्बीस, अशातावेदनीय, नरकायु, नीचगोत्र, नरकद्विक, तिर्यंचद्विक, जाति चतुष्क, संघयण पंचक, संस्थान पंचक, अप्रशस्त वर्णादि चतुष्क, उपघात, अशुभविहायोगति, स्थावरदशक—इस प्रकार नामकर्म की चौतीस प्रकृतियों के साथ ज्ञानावरणीय अड़तालीस प्रकृतियों को मिलाने पर कुल बयासी प्रकृतियाँ होती हैं ॥१२८७-८९॥**

—विवेचन—

	कर्म	प्रकृति
(i)	ज्ञानावरणीय	= मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल-ज्ञानावरणीय।
(ii)	दर्शनावरणीय	= चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शनावरणीय, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, थीणद्धि।
(iii)	अन्तराय	= दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य अन्तराय।
(iv)	मोहनीय २६	= १६ कषाय, ९ नोकषाय और मिथ्यात्व मोहनीय (सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय का शुद्ध तथा अर्ध-शुद्ध रूप है अतः उनका बंध पृथक् नहीं होता।)
(v)	वेदनीय	= १ असाता वेदनीय
(vi)	गोत्र	= १ नीचगोत्र
(vii)	नामकर्म	= ३४ नरकद्विक, तिर्यग्द्विक, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, अप्रथमसंघयण, अप्रथम संस्थान, अप्रशस्तवर्णादि ४ (वर्ण—नील, कृष्ण, गन्ध—दुरभि, रस—तिक्त व कटु, स्पर्श—गुरु, कर्कश, रूक्ष, शीत) उपघात, अशुभविहायोगति और स्थावर दशक = ३४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(viii) आयुकर्म — नरकायु

वर्णचतुष्क—प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार का होने से पाप और पुण्य दोनों में गिना जाता है। यहाँ वर्णादि चार ही लेना है, जिससे बंध सम्बन्धी १२० प्रकृति की संख्या बराबर रहती है ॥१२८७-८९ ॥

२२१ द्वार : भाव-षट्क—

भावा छच्चोवसमिय खइय खओवसम उदय परिणामा।
दु नव ट्ठारि गवीसा तिग भेया सन्निवाओ य ॥१२९० ॥
सम्मचरणाणि पढमे दंसणनाणाइं दाणलाभा य।
उवभोगभोगवीरिय सम्मचरित्ताणि य बिइए ॥१२९१ ॥
चउनाणमणाणतिगं दंसणतिग पंच दाणलद्धीओ।
सम्मतं चारित्तं च संजमासंजमो तइए ॥१२९२ ॥
चउगइ चउक्कसाया लिंगतिगं लेसछक्कमन्नाणं।
मिच्छत्तमसिद्धत्तं असंजमो तह चउत्थम्मि ॥१२९३ ॥
पंचमगंमि य भावे जीवाभव्वत्तभव्वया चेव।
पंचण्हवि भावाणं भेया एमेव तेवन्ना ॥१२९४ ॥
ओदयिय-खओवसमिय-परिणामेहिं चउरो गइचउक्के।
खइयजुएहिं चउरो तदभावे उवसमजुएहिं ॥१२९५ ॥
एक्केक्को उवसमसेढीसिद्धकेवलिसु एवमविरुद्धा।
पन्नरस सन्निवाइयभेया वीसं असंभविणो ॥१२९६ ॥
दुगजोगो सिद्धाणं केवलि-संसारियाण तियजोगो।
चउजोगजुअं चउसुवि गईसु मणुयाण पण जोगो ॥१२९७ ॥
मोहस्सेवोवसमो खाओवसमो चउण्ह घाईणं।
उदयक्खयपरिणामा अट्ठण्हवि हुंति कम्माणं ॥१२९८ ॥
सम्माइचउसु तिग चउ भावा चउ पणुवसामगुवसंते।
चउ खीणऽपुव्वे तिन्नि सेस गुणठाणगेगजिए ॥१२९९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

भेद-प्रभेद सहित षड्भाव—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक, और सान्निपातिक ये छः भाव हैं। प्रथम पाँच भावों के क्रमशः दो, नौ, अट्ठारह, इक्कीस तथा तीन भेद हैं ॥१२९० ॥

प्रथम भाव के सम्यक्त्व और चारित्र दो भेद हैं। द्वितीय भाव के दर्शन, ज्ञान, दान, लाभ, उपभोग, भोग, वीर्य, सम्यक्त्व और चारित्र—ये नौ भेद हैं ॥१२९१ ॥

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, पाँच दानादि लब्धि, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम ये तृतीयभाव के भेद हैं ॥१२९२ ॥

चार गति, चार कषाय, तीन लिंग, छः लेश्या, अज्ञान, मिथ्यात्व, असिद्धत्व और असंयम—ये चतुर्थभाव के भेद हैं ॥१२९३ ॥

पंचम भाव के जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व—ये तीन भेद हैं। पाँचों भावों के कुल मिलाकर त्रेपन भेद होते हैं ॥१२९४ ॥

चार गति की अपेक्षा औदयिक, क्षायोपशमिक तथा पारिणामिक भाव के चार भंग हैं। औदयिक आदि तीन के क्षायिक के साथ अथवा उपशम के साथ भी चार भंग होते हैं। उपशमश्रेणि, सिद्धावस्था तथा केवली अवस्था में एक भंग होता है। इस प्रकार सान्निपातिक भाव के पन्द्रह भेद हैं। शेष बीस भेद असंभवित हैं ॥१२९५-९६ ॥

द्विसंयोगी भांगे सिद्ध, केवली तथा संसारी जीवों में संभवित होते हैं। त्रिसंयोगी और चतुर् संयोगी भांगे चारों गतियों में घटित होते हैं। मनुष्य में पंचसंयोगी भांगा घटित होता है। उपशमभाव मोहनीय कर्म का ही होता है। क्षयोपशमभाव चार घातीकर्म का होता है। औदयिक, क्षायिक एवं पारिणामिक भाव आठों कर्मों का होता है ॥१२९७-९८ ॥

सम्यक्त्व आदि चार में तीन अथवा चार भाव होते हैं। उपशामक और उपशांत में चार अथवा पाँच भाव होते हैं। क्षीणमोह और अपूर्वकरण में चार भाव हैं। शेष गुणठाणों में तीन भाव होते हैं। यह एक जीव की अपेक्षा से समझना चाहिये ॥१२९९ ॥

—विवेचन—

- जीवादि पदार्थ का निमित्तजन्य या स्वभावजन्य परिणाम विशेष भाव है अर्थात् वस्तु का परिणाम विशेष भाव है अथवा पदार्थ का उपशमादि पर्याय के द्वारा जो परिणमन होता है वह भाव है। इसके छः भेद हैं—

(i) औपशमिक **(ii)** क्षायिक **(iii)** क्षायोपशमिक **(iv)** औदयिक **(v)** पारिणामिक और **(vi)** सान्निपातिक

(i) औपशमिक—क्रोधादि के रसोदय एवं प्रदेशोदय के अभाव से जन्य जीव का परिणाम विशेष औपशमिक भाव है। राख द्वारा ढंकी हुई आग की तरह शांत अवस्था उपशम है। इसमें मोहनीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का रसोदय व प्रदेशोदय दोनों का अभाव होने से यह सर्वोपशम कहलाता है। सर्वोपशम मोहनीय कर्म का ही होता है। कषायोदय के अभाव में होने वाली जीव की परमशान्त अवस्था। इसके दो भेद हैं—

(अ) उपशम सम्यक्त्व—दर्शन सप्तक के उपशम से जन्य परिणाम विशेष।

(ब) उपशम चारित्र—चारित्र मोहनीय के उपशम से जन्य परिणाम विशेष।

(ii) क्षायिक—कर्मों के सर्वथा क्षय से जन्य परिणाम विशेष। इसके नौ भेद हैं—

१. केवल-ज्ञान	अपने-अपने आवरणीय कर्मों के
२. केवल दर्शन	क्षय से जन्य।
३. क्षायिक सम्यक्त्व	दर्शन-सप्तक के क्षय से जन्य।
४. क्षायिक-चारित्र	चारित्रमोहनीय के क्षय से जन्य।
५. दान-लब्धि	पाँच
६. भोग-लब्धि	प्रकार के
७. उपभोग-लब्धि	अन्तराय
८. लाभ-लब्धि	के क्षय
९. वीर्य-लब्धि	से जन्य

(iii) क्षायोपशमिक—घाती कर्म के उदीर्ण अंश के क्षय तथा अनुदीर्ण अंश के उपशम से जन्य मतिज्ञानादि लब्धिरूप आत्म-परिणाम विशेष। इसके अठारह भेद हैं।

१-४	मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यवज्ञान	अपने आवारक कर्म के क्षयोपशम से जन्य।
५-७	तीन अज्ञान	
८-१०	तीन दर्शन	
११	सम्यक्त्व (क्षायोपशमिक)	दर्शन-सप्तक के क्षयोपशम से जन्य।
१२	देशविरति	अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से जन्य।
१३	सर्वविरति	चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से जन्य।
१४-१८	दानादि पाँच लब्धि	अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से जन्य।

(iv) औदयिक—यथासमय उदयप्राप्त कर्मों के स्वरूप का अनुभव करना अथवा कर्मों के उदय से जन्य परिणाम-विशेष जैसे, नरकादि पर्याय क्रोधादि कषाय जन्य परिणाम। इसके इक्कीस भेद हैं—

१. अज्ञान	मतिज्ञानावरण और मिथ्यात्व मोह के उदय से जन्य।
२. असिद्धत्व	आठ कर्मों के उदय से जन्य।
३. असंयम	अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जन्य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४-९. लेश्या छः	जो लेश्या को योग का परिणाम मानते हैं उनके मतानुसार लेश्या योगजनक कर्म के उदय से जन्य है। जो लेश्याओं को कषाय का निस्यंद मानते हैं उनके मतानुसार लेश्या कषाय मोहनीय से जन्य है। पर, जो लेश्या को कर्म का निस्यंद मानते हैं उनके मतानुसार लेश्या, आठों ही कर्मों से जन्य है।
१०-१३. चार कषाय	कषाय, मोहनीय कर्म के उदय से जन्य।
१४-१६. तीन वेद	वेद मोहनीय कर्म के उदय से जन्य।
१७-२०. चार गति	गति, नामकर्म के उदय से जन्य।
२१. मिथ्यात्व	मिथ्यात्व, मोहनीय कर्म के उदय से जन्य।

प्रश्न—दानादि लब्धि क्षायिकी और क्षायोपशमिकी दोनों प्रकार की है अतः परस्पर विरोध नहीं होगा क्या?

उत्तर—वस्तुतः दानादि लब्धियाँ दो प्रकार की हैं—**(i)** अन्तराय कर्म के क्षय से जन्य जैसे, केवलज्ञानी की।

(ii) अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से जन्य जैसे छद्मस्थ की।

- अज्ञान (विपरीत ज्ञान) क्षायोपशमिक और औदयिक दोनों भावों से जन्य होता है। क्योंकि यथार्थ या अयथार्थ ज्ञान मात्र ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से ही होता है किन्तु विपरीत ज्ञान रूप अज्ञान का कारण ज्ञानावरणीय तथा मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय है। इस प्रकार एक ही अज्ञान के क्षायोपशमिक और औदयिक होने में कोई विरोध नही है।

प्रश्न—निद्रा पंचक, सातावेदनीय, हास्य, रति-अरति आदि और भी बहुत से भाव कर्म उदयजन्य है तो औदयिक भाव के भेद २१ ही कैसे बताये?

उत्तर—औदयिक भाव के उक्त भेद अन्य भेदों के उपलक्षण मात्र हैं अतः कर्म के उदय से जन्य संभावित अन्य भेद भी औदयिक भाव के अन्तर्गत आ जाते हैं।

(v) पारिणामिक—पूर्वावस्था का त्याग करके उत्तरावस्था को ग्रहण करना परिणाम है और वही पारिणामिक भाव है। इसके तीन भेद हैं—

(i) जीवत्व **(ii)** भव्यत्व और **(iii)** अभव्यत्व। ये तीनों अनादि पारिणामिक भाव है। ये उपलक्षण मात्र हैं। अतः

- पदार्थों का नव-पुराण भाव
- पर्वत, भवन, विमान, कूट, नरकावास आदि की चय-अपचय जन्य अवस्था विशेष।
- गन्धर्व-नगर आदि की रचना-विशेष।
- बन्दर की हँसी, उल्कापात, बादलों की गर्जना, तुषारपात, दिग्दाह, विद्युत्, इन्द्रधनुष आदि।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- सूर्य-मंडल, चन्द्र-मंडल, ग्रहण आदि बहुत से सादि पारिणामिक भाव हैं। तथा
- लोक स्थिति, अलोक स्थिति, धर्मास्तिकाय का स्वभाव, अधर्मास्तिकाय का स्वभाव आदि बहुत से अनादि पारिणामिक भाव है।
- इस प्रकार 'औपशमिक' आदि ५ भावों के कुल मिलाकर २ + ९ + १८ + २१ + ३ = ५३ भेद होते हैं।

(vi) सान्निपातिक—पूर्वोक्त ५ भावों का संयोग सान्निपातिक भाव है। इसके २६ भेद हैं—

१. औदयिक-औपशमिक	द्वि
२. औदयिक-क्षायिक	
३. औदयिक-क्षायोपशमिक	क
४. औदयिक-पारिणामिक	
५. औपशमिक-क्षायिक	सं
६. औपशमिक क्षायोपशमिक	
७. औपशमिक पारिणामिक	यो
८. क्षायिक क्षायोपशमिक	
९. क्षायिक पारिणामिक	गी
१०. क्षायोपशमिक पारिणामिक	

१. औदयिक औपशमिक क्षायिक	त्रि
२. औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक	
३. औदयिक औपशमिक पारिणामिक	क
४. औदयिक क्षायिक क्षायोपशमिक	
५. औदयिक क्षायिक पारिणामिक	सं
६. औदयिक क्षायोपशमिक पारिणामिक	
७. औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक	यो
८. औपशमिक क्षायिक पारिणामिक	
९. औपशमिक क्षायोपशमिक पारिणामिक	गी
१०. क्षायिक क्षायोपशमिक पारिणामिक	

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१.	औदयिक औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक	च
२.	औदयिक औपशमिक क्षायिक पारिणामिक	तु
३.	औदयिक औपशमिक क्षायोपशमिक पारिणामिक	र्सं
४.	औदयिक क्षायिक क्षायोपशमिक पारिणामिक	यो
५.	औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक पारिणामिक	गी

१. औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक — पंच संयोगी

पूर्वोक्त छब्बीस भांगों में से

द्विक संयोगी	नौवां भांगा
त्रिक संयोगी	पांचवां व ६वां भांगा
चतुर्संयोगी	तीसरा व ४था भांगा
पंच संयोगी	पहिला भांगा

ये छः भांगे ही व्यवहारोपयोगी हैं।शेष बीस भांगे मात्र संयोगिक कल्पनाजन्य हैं।

- द्विक संयोगी नौवां भांगा.....क्षायिक, पारिणामिक .....सिद्ध में होता है। क्षायिक भाव से सम्यक्त्व और पारिणामिक भाव से जीवत्व। (१ भेद)
- त्रिक संयोगी पांचवां भांगा.....औदयिक, क्षायिक और पारिणामिक .....केवली में होता है। क्षायिक भाव से = केवलज्ञान, औदयिक भाव से = मनुष्यत्व, पारिणामिक से = जीवत्व-भव्यत्व। (१ भेद)
- त्रिक संयोगी छठा भांगा...औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक....चार गति में होता है। (४ भेद)

  क्षायोपशमिक = इन्द्रियादि, औदयिक = नरक-तिर्यंच-मनुष्य या देवगति। पारिणामिक = जीवत्व आदि।
- चतुः संयोगी तीसरा भांगा....औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, व पारिणामिक...४ गति में होता है। (४ भेद)

  औपशमिक = सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक = इन्द्रियादि, औदयिक = पूर्ववत् चारों गति। पारिणामिक = जीवत्वादि
- चतुः संयोगी चौथा भांगा....औदयिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक....४ गति में होता है। (४ भेद)

  क्षायिक = सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक = इन्द्रियादि, औदयिक = पूर्ववत् चार गति, पारिणामिक = जीवत्वादि।
- पंच संयोगी पहला भांगा.....औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपमिक, औदयिक और पारिणामिक.... क्षायिक सम्यक्त्वी उपशम श्रेणी करने वाले मनुष्य में होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

औपशमिक = चारित्र, क्षायिक = सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक = इन्द्रियादि, औदयिक = मनुष्यत्वादि, पारिणामिक = जीवत्वादि। (१ भेद)

पूर्वोक्त छः भांगों के गति तथा जीव के भेद से कुल मिलाकर अवान्तर पन्द्रह भांगे होते हैं।

कर्म में भाव—

१. औपशमिक भाव — एक मोहनीय कर्म का। (उपशम से सर्वतः अर्थात् विपाकोदय व प्रदेशोदय दोनों का उपशम समझना अन्यथा देशतः उपशम तो सभी कर्मों का होता है।)

२. क्षायिक भाव — आठ कर्म का। मोहनीय का क्षय = दसवें गुणस्थान के अन्त में। चार अघाती का क्षय = चौदहवें गुणस्थान के अंत में।

३. क्षायोपशमिक भाव — चार घाती कर्मों का। केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण को छोड़कर। इनका क्षयोपशम नहीं होता। क्षय ही होता है।

४. औदयिक भाव — आठ कर्मों का।

५. पारिणामिक भाव — आठ कर्मों का।

पारिणामिक = कर्म परमाणुओं का जीव-प्रदेशों के साथ एकमेक होना अथवा विशिष्ट द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से तथाविध संक्रमादि के रूप में परिणत होना कर्मों का पारिणामिक भाव है।

उपसंहार—

• ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय में	क्षायिक, क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक = चार भाव
• मोहनीय में	पाँचों भाव
• नाम, गोत्र, वेदनीय और आयुष्य कर्म में	क्षायिक, औदयिक और पारिणामिक = तीन भाव

गुणस्थानक में भाव—

पहिले से तीसरे गुणस्थान में—औदयिक, पारिणामिक व क्षायोपशमिक तीन भाव होते हैं। औदयिक भाव से यथायोग्य गति आदि, पारिणामिक भाव से जीवत्वादि तथा क्षायोपशमिक भाव से इन्द्रियादि मिलती है।

चौथे से सातवें गुणस्थान में—पूर्वोक्त तीन अथवा क्षायिक या औपशमिक सहित चार भाव होते हैं। तीन भाव क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव की अपेक्षा से होते हैं क्योंकि उसका सम्यक्त्व भी क्षायोपशमिक ही है। परन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि या उपशम सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा चार भाव होते हैं क्योंकि उनका सम्यक्त्व क्रमशः क्षायिक भाव या औपशमिक भाव जन्य है।

आठवें गुणस्थान में—औदयिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक या औपशमिक चार भाव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होते हैं। औदयिक भाव से गति आदि, पारिणामिक भाव से जीवत्वादि, क्षायोपशमिक भाव से इन्द्रियादि तथा क्षायिक या औपशमिक भाव से सम्यक्त्व मिलता है।

नौवें-दसवें गुणस्थान में—पूर्ववत् चार भाव होते हैं।

ग्यारहवें गुणस्थान में—पूर्ववत् चार अथवा पांच भाव होते हैं। सम्यक्त्व व चारित्र दोनों ही जिसके औपशमिक हैं उस जीव की अपेक्षा औदयिक, पारिणामिक क्षायोपशमिक व औपशमिक सहित चार भाव होते हैं परन्तु क्षायिक सम्यक्त्वी उपशमश्रेणि करने वाले जीव की अपेक्षा पांच भाव होते हैं, क्योंकि उसका सम्यक्त्व क्षायिक व चारित्र औपशमिक होता है।

१२वें गुणस्थान में—औदयिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक व क्षायिक चार भाव होते हैं। प्रथम तीन भाव से क्रमशः गति, जीवत्वादि व इन्द्रियादि मिलती है तथा सम्यक्त्व व चारित्र क्षायिक भाव से मिलता है।

तेरहवें गुणस्थान में—औदयिक, पारिणामिक तथा क्षायिक तीन भाव होते हैं। जिनसे क्रमशः गति, जीवत्वादि तथा सम्यक्त्व, चारित्र आदि मिलते हैं।

गुणस्थानों में भावों की पूर्वोक्त घटना एक जीव की अपेक्षा से समझना। सर्व जीवों की अपेक्षा से तो संभवित सभी भाव घटित होते हैं ॥१२९०-९९॥

२२२ द्वार : जीव-भेद—

इह सुहुमबायरेगिंदियबितिचउ असन्नि सन्नि पंचिंदी।
पज्जत्तापज्जत्ता कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥१३००॥

—गाथार्थ—

जीव के चौदह प्रकार—**१. सूक्ष्म एकेन्द्रिय २. बादर एकेन्द्रिय ३. द्वीन्द्रिय ४. त्रीन्द्रिय ५. चतुरिन्द्रिय ६. संज्ञी पञ्चेन्द्रिय ७. असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय। इन जीवों के क्रमशः पर्याप्ता और अपर्याप्ता मिलाकर कुल चौदह जीव भेद होते हैं॥१३००॥**

—विवेचन—

जीव के १४ भेद हैं। ये जीवस्थान भी कहलाते हैं। जीवस्थान अर्थात् जहाँ कर्म-परवश जीव आयुपर्यन्त ठहरते हैं।

जीव के चौदह भेद—

१. सूक्ष्म एकेन्द्रिय
२. बादर एकेन्द्रिय
३. द्वीन्द्रिय कुलभेद
७. असंज्ञी पंचेन्द्रिय
४. त्रीन्द्रिय
५. चतुरिन्द्रिय
६. संज्ञी पंचेन्द्रिय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये सातों ही जीवभेद पर्याप्ता व अपर्याप्ता दो प्रकार के होने से जीव के सात + सात = चौदह भेद होते हैं।

अपर्याप्ता—अपर्याप्ता के दो भेद हैं—**(i)** लब्धि अपर्याप्ता व **(ii)** करण अपर्याप्ता

(i) लब्धि अपर्याप्ता — जो जीव अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं, वे लब्धि अपर्याप्ता हैं।

आगममतः — लब्धिपर्याप्ता भी आहार, शरीर और इन्द्रियपर्याप्ति को पूर्ण करके ही मरते हैं, क्योंकि परभव के आयुष्य का बंध इन तीन पर्याप्ति से पर्याप्ता ही कर सकता है।

(ii) करण अपर्याप्ता — जो जीव अपने योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करके ही मरेंगे पर अभी पूर्ण नहीं की है वे करण अपर्याप्ता हैं ॥१३००॥

२२३ द्वार : अजीव-भेद—

धम्माऽधम्माऽऽगासा तियतियभेया तहेव अद्धा य।
खंधा देस पएसा परमाणु अजीव चउदसहा ॥१३०१॥

—गाथार्थ—

अजीव के चौदह भेद—**धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के तीन-तीन भेद हैं। काल का एक भेद तथा पुद्गलास्तिकाय के स्कंध, देश, प्रदेश और परमाणु चार भेद हैं। पूर्वोक्त सभी भेदों को मिलाने से अजीव के चौदह भेद होते हैं ॥१३०१॥**

—विवेचन—

अजीव के दो भेद हैं—**(i)** रूपी और **(ii)** अरूपी।

(i) रूपी—जिसमें रूप हो वह रूपी है ऐसा कथन गन्ध, रस, स्पर्श आदि का उपलक्षण है क्योंकि गंधादि के अभाव में केवल रूप का होना असंभव है। अथवा रूप का अर्थ है वर्ण, गंध, रंस, स्पर्शयुक्त मूर्ति = आकार, रूप है। ऐसा रूप जिसमें है वह रूपी है। ऐसे पुद्गल हैं। इसके ४ भेद हैं।

(अ) स्कंध—स्कंदति अर्थात् सूखना, धीयन्ते अर्थात् पुष्ट होना अर्थात् चय-अपचय स्वभाव वाला अनन्तानंत परमाणुओं का समूह स्कंध है। स्कंध चक्षुग्राह्य व चक्षु अग्राह्य दो प्रकार के होते हैं।

चक्षुग्राह्य—जो चर्मचक्षु से दिखायी दे वह चक्षुग्राह्य है, जैसे कुंभ, स्तंभ, शरीर आदि।

चक्षुअग्राह्य—जो चर्म चक्षु से दिखाई न दे वह चक्षुअग्राह्य है, जैसे अचित्तमहास्कंध। यहाँ बहुवचन का प्रयोग पुद्गल स्कंधों की अनंतता प्रमाणित करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ब) देश—स्कंध के बुद्धि कल्पित द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी यावत् अनन्त प्रदेशी विभाग हैं। यहाँ भी बहुवचन का प्रयोग अनंतप्रदेशी स्कंधों में अनन्त देशों का सद्भाव बताने के लिये है।

(स) प्रदेश—स्कंध के बुद्धिकल्पित निर्विभाज्य भाग।

(द) परमाणु—स्कंध से पृथक् पड़े हुए निर्विभाज्य भाग।

प्रश्न—प्रदेश और परमाणु दोनों ही निर्विभाज्य भागरूप हैं तो दोनों में क्या भेद है?

उत्तर—स्कंध से जुड़े हुए निर्विभाज्य भाग प्रदेश हैं, पर परमाणु, स्कंध से अलग पड़े हुए निर्विभाज्य भाग रूप हैं।

(ii) अरूपी—वर्ण, गंध, रस व स्पर्श रहित वस्तु अरूपी है। इसके दश भेद हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय। इन तीनों में से प्रत्येक के स्कंध, देश, प्रदेश के भेद से तीन-तीन भेद होने से कुल ३ × ३ = ९ भेद हुए। धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय दोनों ही असंख्यप्रदेशी द्रव्य हैं पर आकाशास्तिकाय अनन्त प्रदेशवाला है। कालद्रव्य, वर्तमान एक समय रूप होने से इसके कोई भेद नहीं होते। इस प्रकार रूपी के ४ और अरूपी के ९ + काल + १ मिलकर अजीव के चौदह भेद होते हैं ॥१३०१॥

२२४ द्वार : गुणस्थान—

मिच्छे सासण मिस्से अविरय देसे पमत्त अपमत्ते।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमुवसम खीण सजोगि अजोगि गुणा ॥१३०२॥

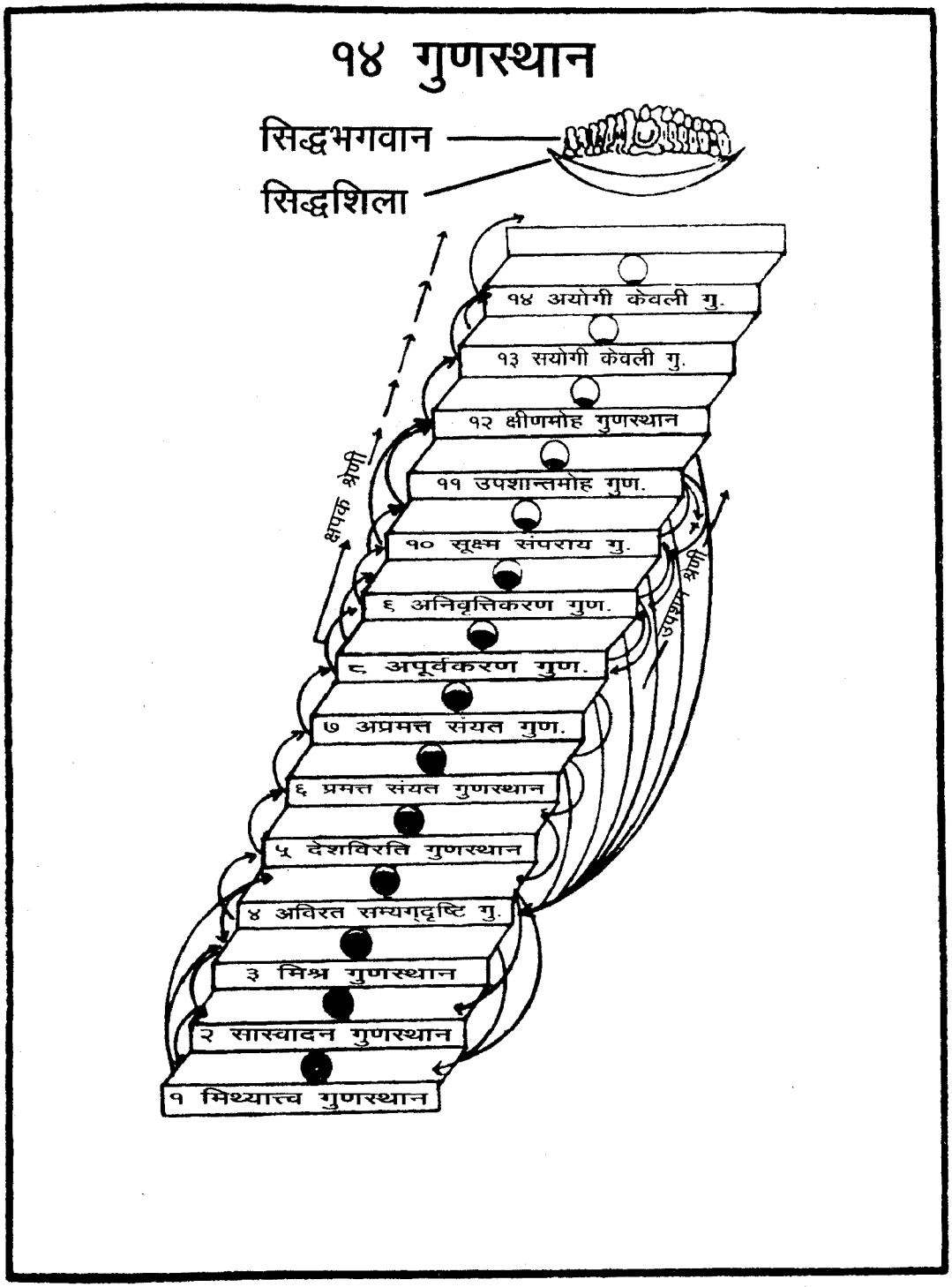
—गाथार्थ—

गुणस्थानक चौदह—**१. मिथ्यात्व २. सास्वादन ३. मिश्र ४. अविरति ५. देशविरति ६. प्रमत्त ७. अप्रमत्त ८. निवृत्ति ९. अनिवृत्तिबादर संपराय १०. सूक्ष्मसंपराय ११. उपशान्तमोह १२. क्षीणमोह १३. सयोगी तथा १४. अयोगी—ये चौदह गुणस्थान हैं ॥१३०२॥**

—विवेचन—

१. मिथ्यादृष्टि
२. सास्वादन सम्यग्दृष्टि
३. सम्यग्-मिथ्यादृष्टि
४. अविरत सम्यग्दृष्टि
५. देशविरति
६. प्रमत्त संयत
७. अप्रमत्त संयत
८. अपूर्व-करण
९. अनिवृत्तिकरण
१०. सूक्ष्म-संपराय
११. उपशान्त कषाय (वीतराग-छद्मस्थ)
१२. क्षीण कषाय (वीतराग-छद्मस्थ)
१३. सयोगि केवली
१४. अयोगि केवली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्र सूचक होते हैं अथवा पद का एकदेश संपूर्ण पद का बोधक होता है। इसके अनुसार गाथावर्ती 'गुणा' शब्द 'गुणस्थान' का निर्देशक है।

गुणस्थान—आत्मा के ज्ञानादि-गुणों की शुद्धि-अशुद्धि की तरतमता के स्थान गुणस्थान हैं। गुणों के तारतम्य की अपेक्षा से संसार का प्रत्येक जीव एक दूसरे से भिन्न है अत: वास्तविक रूप से अनन्त गुणस्थान हैं, किन्तु इतने अधिक भेद स्थूल-दृष्टि से ज्ञात नहीं हो सकते। अत: गुणों के मुख्य भेद को ध्यान में रखते हुए ज्ञानी पुरुषों ने गुणस्थान के चौदह भेद किये हैं।

१. मिथ्यात्वगुणस्थान—मिथ्या = विपरीत और दृष्टि = जिन प्रणीत तत्त्वों पर अश्रद्धा। जैसे धतूरा चबाने वाले व्यक्ति को सफेद वस्तु भी पीली दिखायी देती है, वैसे ही जिसे परमात्मा द्वारा प्ररूपित तत्त्वों पर अश्रद्धा या विपरीत श्रद्धा होती है, वह मिथ्या-दृष्टि है। मिथ्या-दृष्टि में रहा हुआ ज्ञानादि गुणों की शुद्धि-अशुद्धि का तारतम्य मिथ्या-दृष्टि गुणस्थान है।

प्रश्न—मिथ्यादृष्टि में ज्ञानादि-गुणों का संभव कैसे हो सकता है?

उत्तर—यद्यपि मिथ्यादृष्टि में तत्त्व श्रद्धा रूप गुण सर्वथा नहीं होता, तथापि व्यावहारिक ज्ञान उसे भी सम्यक्त्वी की तरह ही होता है। जैसे, वह मनुष्य को मनुष्य, पशु को पशु ही कहता है विपरीत नहीं कहता है। यहाँ तक कि निगोद के जीवों में स्पर्श-जन्य अव्यक्त ही सही किन्तु सत्य ज्ञान होता है। घनघोर बादलों से सम्पूर्ण आकाश ढक जाने पर भी सूर्य का प्रकाश नष्ट नहीं होता अन्यथा रात दिन का कोई भेद ही नहीं रहेगा। वैसे मिथ्यादृष्टि में प्रबल मिथ्यात्व का उदय होने पर भी सत्य-ज्ञान के कुछ अंश उसमें भी उद्घाटित रहते हैं। अत: मिथ्यादृष्टि में भी गुणस्थान होता है।

प्रश्न—यदि व्यावहारिक एवं स्पर्शजन्य अव्यक्त ज्ञान की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि में गुणस्थान हो सकता है, तो ज्ञानरूप गुण की अपेक्षा से उसमें सम्यक्त्व क्यों नहीं हो सकता।

उत्तर—जिन प्रणीत सर्व शास्त्रों को मानने पर भी यदि कोई एक अक्षर या पद को नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है तो जिस व्यक्ति में मात्र व्यावहारिक ज्ञान है, किन्तु तत्त्व के प्रति यत्किंचित् भी श्रद्धा नहीं है, उसमें सम्यक्त्व कैसे हो सकता है?

प्रश्न—जिन प्रणीत कुछ तत्त्वों पर श्रद्धा और कुछ तत्त्वों पर अश्रद्धा रखने वाले आत्मा को सम्यग् मिथ्या दृष्टि (मिश्र-दृष्टि) ही कहना चाहिये, उसे एकांत मिथ्यादृष्टि कैसे कहा?

उत्तर—जिस आत्मा को जिन प्रणीत सम्पूर्ण तत्त्वों पर पूर्ण श्रद्धा होती है, वह सम्यग्दृष्टि है। तथा जिसे जिन प्रणीत तत्त्वों पर श्रद्धा या अश्रद्धा कुछ भी नहीं होती, वह मिश्रदृष्टि है। **शतकबृहच्चूर्णि** में कहा है कि—जैसे, नालिकेरद्वीपवासी मानवों के सम्मुख ओदन आदि अनेकविध भोजन सामग्री रखने पर भी उसके प्रति उनकी न रुचि होती है न अरुचि, क्योंकि उन्होंने ऐसी भोजन सामग्री न कभी देखी है न सुनी है। इस प्रकार मिश्रदृष्टि जीव को जीवादिपदार्थ पर श्रद्धा अश्रद्धा कुछ भी नहीं होती। किन्तु जिस आत्मा को एक भी वस्तु या वस्तु की एक भी पर्याय के प्रति अश्रद्धा होती है, वह एकान्तत: मिथ्यादृष्टि है।

२. सास्वादन गुणस्थान—इसे 'सासादन गुणस्थान' भी कहते हैं। इसका विग्रह है स+आय+सादन। इसका अर्थ है स = सहित, आय = औपशमिक सम्यक्त्व का लाभ, सादन =

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाश करने वाला। यहाँ 'य' का लोप हो जाता है। अर्थात् जहाँ अनन्तानुबंधी के उदय से मोक्षसुख को देने वाले कल्याणरूपी वृक्ष के बीजभूत औपशमिक सम्यक्त्व का जघन्य से एक समय में व उत्कृष्ट से छः आवलिका में नाश होता है वह 'सासादन सम्यग्दृष्टि' गुणस्थान कहलाता है। अथवा यह 'सासातन सम्यग्दृष्टि' भी कहलाता है। स = सहित, आसातना = सम्यक्त्व की नाशक अनन्तानुबंधी कषाय। अर्थात् जहाँ सम्यक्त्व की नाशक अनन्तानुबंधी कषाय का उदय होता है वह गुणस्थान। अथवा इसे 'सास्वादन गुणस्थान' भी कहते हैं—स + सहित। आस्वादन = स्वाद अर्थात् जिस गुणस्थान में सम्यक्त्व तो नहीं होता, किन्तु सम्यक्त्व का स्वाद अवश्य रहता है। वह 'सास्वादन गुणस्थान' है। जैसे खीर खाने के बाद वमन हो जाने पर भी खाने वाले को खीर का कुछ स्वाद अवश्य रहता है, वैसे ही अनन्तानुबंधी के उदय से मिथ्यात्वाभिमुख बने आत्मा को सम्यक्त्व चले जाने पर भी उसका तनिक आस्वाद अवश्य रहता है। इस प्रकार सम्यक्त्व के आस्वादन सहित आत्मा में ज्ञानादिगुणों की जो स्थिति है, वह सास्वादन गुणस्थान है। इस गुणस्थान की प्राप्ति का आधार उपशम सम्यक्त्व है और उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये मिथ्यात्व-गुणस्थान में यथाप्रवृत्ति आदि करण करने पड़ते हैं। उनका सविस्तार स्वरूप इस प्रकार है—

आत्मा अनादिकाल से संसार सागर में मिथ्यात्वादि के कारण अनेकविध शारीरिक व मानसिक दुःखों को भोगता हुआ परिभ्रमण करता रहता है। जैसे—पर्वत से टूट कर पत्थर नदी के प्रवाह में प्रवाहित होता हुआ इधर-उधर टकरा-टकरा कर गोल बन जाता है, वैसे तथाविध भव्यत्व के परिपाकवश जीव कदाचित् दुःख-गर्भित वैराग्य को प्राप्त करता है। वैराग्य के अध्यवसायों को प्राप्त करना यथाप्रवृत्तिकरण है। इससे आयुष्य को छोड़कर शेष सातों ही कर्मों की स्थिति टूट कर पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम की हो जाती है। यह करण अभव्य आत्मा भी कई बार करता है तथा आत्मा में पड़ी हुई राग-द्वेष की अति दुर्भेद्य ग्रन्थि तक पहुँच जाता है, किन्तु उसे भेदने का साहस वह नहीं कर पाता। वहीं से पुनः लौट आता है, पुनः कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को बाँधता है। इनमें से कोई सत्वशाली, आसन्नमोक्षगामी आत्मा अपूर्व वीर्योल्लासपूर्वक तीक्ष्ण कुठार की धारातुल्य अपूर्वकरण (अपूर्व अध्यवसाय) द्वारा राग-द्वेष की उस दुर्भेद्य ग्रन्थि को तोड़ डालता है। तत्पश्चात् उदय प्राप्त मोहनीय कर्म को भोगकर अनिवृत्तिकरण में प्रविष्ट होता है। अनिवृत्तिकरण के बीच आत्मा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अन्तरकरण करता है। अन्तरकरण की स्थिति में मिथ्यात्व का एक भी दलिक उदय में नहीं आता है।

करणों का क्रम इस प्रकार है—

ग्रन्थि के समीप पहुँचने तक यथाप्रवृत्तिकरण होता है। ग्रंथि को तोड़ना अपूर्वकरण है और सम्यक्त्व प्राप्ति की तैयारी अनिवृत्तिकरण है। अनिवृत्तिकरणवर्ती आत्मा अपूर्व-अध्यवसाय के द्वारा कर्मों का स्थितिघात, रसघात आदि करते हुए क्षय करता जाता है। यह क्रम अनिवृत्तिकरण का संख्यातवां एक भाग शेष रहने तक चलता है। असत् कल्पना से उसे इस प्रकार समझा जा सकता है।

यद्यपि अन्तर्मुहूर्त में असंख्याता समय होते हैं, तथापि समझने के लिये उसे १०० समय प्रमाण मान लिया जाये तो १ से २५ समय तक का काल यथाप्रवृत्तिकरण का, २६ से ५० समय तक का काल अपूर्वकरण का तथा ५१ से ७५ समय जितना काल अनिवृत्तिकरण का होगा। अनिवृत्तिकरण का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५१ से ७० समय जितना काल बीत जाने पर जीव अन्तरकरण करता है अनिवृत्तिकरण के काल में कर्म का उदय १ समय का एवं बंध अन्त: कोड़ाकोड़ी का होता है। भोग्य-कर्मों को छोड़कर उनसे आगे व्यवस्थित कर्मों को यदि उदयावलिका से रिक्त न किया जाये तो वन में लगे दावानल की तरह कर्मों का कभी अन्त नहीं होगा। जैसे दावानल को बुझाने के लिये जलते हुए वृक्ष के समीपवर्ती दो-तीन वृक्षों को छोड़कर आगे के वृक्षों को काटना पड़ता है, वैसे अनिवृत्तिकरण के संख्यातवें भाग को छोड़कर शेष ७६ से १०० समय की कर्म स्थिति को जीव अपने विशुद्ध अध्यवसायों के द्वारा साफ करता है तथा मिथ्यात्व के दलिकों को दो भागों में बाँटता है। यही अन्तरकरण है।

- एक अन्तरकरण से पूर्व भोग्य-भाग जिसे लघुस्थिति या प्रथम स्थिति कहते हैं।
- दूसरा अन्तरकरण से पश्चात् भोग्य-भाग जिसे बड़ी स्थिति या द्वितीय स्थिति कहते हैं। इनकी स्थापना इस प्रकार है $\frac{0}{0}$ प्रथम स्थिति अर्थात् नीचे की स्थिति में मिथ्यात्व के दलिकों का वेदन होने से यहाँ जीव मिथ्यादृष्टि ही होता है।

  समझने के लिये—७१ से ७५ समय की प्रथम स्थिति है।
- मध्य में ७६ से १०० समय का अन्तरकरण है और
- १०१ समय से १००० समय तक की बड़ी स्थिति है।

लघु स्थिति के प्रथम समय में वर्तमान जीव, वहाँ रहे हुए मिथ्यात्व के दलिकों को उदय, उदीरणा द्वारा भोगकर क्षीण करता है। तत्पश्चात् अन्तरकरण-काल में भोगने लायक दलिक के दो भाग करके, क्रमश: प्रथम और द्वितीय स्थिति में डालता है। इससे अन्तरकरण काल, कर्म दलिकों से सर्वथा शून्य हो जाता है। अन्तरकरण के दलिकों के प्रक्षेप का क्रम—बध्यमान कर्म दलिक दूसरी स्थिति में तथा उदीयमान कर्म दलिक प्रथम स्थिति में प्रक्षिप्त किये जाते हैं, किन्तु जिस कर्म का बंध और उदय दोनों चल रहा है, उसके दलिक दोनों स्थितियों में डाले जाते हैं। मिथ्यात्व मोह का बंध और उदय दोनों चलता है। अत: उसका अन्तरकरण सम्बन्धी दलिक दोनों स्थितियों में डाला जाता है। साथ ही बड़ी स्थिति में रहा हुआ दलिक उपशान्त हो जाता है। (उपशांत अर्थात् कुछ समय के लिये फल देने में अक्षम)। इस प्रकार प्रथम स्थितिगत कर्मों का भोग, अन्तरकरण के दलिकों का प्रथम-द्वितीय स्थिति में प्रक्षेप एवं द्वितीय स्थितिगत कर्म का उपशम—इन तीनों का क्रम प्रथम स्थिति के अंतिम समय तक चलता है। इस स्थिति में वर्तमान जीव अन्तरकरण काल में भोग्य-दलिकों को साफ करने का काम भी करता है। अत: यह अन्तरकरण क्रियाकाल भी कहलाता है।

जब जीव प्रथमस्थिति के अंतिम समय में प्रवेश करता है, तब प्रथमस्थिति क्षय हो जाती है और अन्तरकरणगत दलिक अन्यत्र निक्षिप्त हो जाते हैं तथा द्वितीय स्थितिगत दलिक सर्वथा उपशान्त हो जाते हैं। प्रथम स्थिति के अंतिम समय को पूर्ण कर, जब आत्मा अन्तरकरण के प्रथम समय में प्रवेश करता है, तब जैसे बंजर भूमि को पाकर आग स्वत: बुझ जाती है, वैसे अन्तरकरण रूपी बंजरभूमि को प्राप्त कर मिथ्यात्वरूपी आग स्वत: शान्त हो जाती है और अन्तरकरण के प्रथम समय में जीव को उपशम-सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। (अन्तरकरण की प्रथमस्थिति में वर्तमान जीव मिथ्यात्व का वेदक होने से निश्चित रूप से मिथ्यात्वी है। जब तक अन्तरकरण है, तब तक उपशम सम्यक्त्व है।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तरकरण में वर्तमान जीव, उपशम सम्यक्त्व के बल से द्वितीय स्थितिगत मिथ्यात्व के दलिकों का शुद्धिकरण प्रारम्भ करता है। शुद्धिकरण के इस अभियान में कुछ दलिक सर्वथा शुद्ध हो जाते हैं, कुछ अर्धशुद्ध होते हैं, तो कुछ अशुद्ध ही रह जाते हैं। इस प्रकार अन्तरकरण का एक समय और उत्कृष्ट से छः आवलिका शेष रहने पर किसी जीव को तथाविध निमित्तवश अनन्तानुबंधी कषाय का उदय हो जाता है और इसमें मोक्ष का बीज-भूत उपशम-सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है। परन्तु जैसे खीर का भोजन करने के पश्चात् वमन हो जाने पर भी खीर का कुछ स्वाद अवश्य रहता है, वैसे अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से उपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जाने पर भी उसका कुछ स्वाद आत्मा में अवश्य रहता है। यही सास्वादन है अथवा सम्यक्त्व का नाशक अनन्तानुबंधी कषाय के उदय सहित जो गुणस्थान है वह सासादन गुणस्थान कहलाता है।

कर्मग्रन्थ के मतानुसार—यह गुणस्थान उपशम श्रेणी से गिरते हुए आत्मा को ही होता है।

सिद्धान्त के मतानुसार—श्रेणि से गिरने वाला जीव 'प्रमत्तसंयत' या 'अप्रमत्तसंयत' गुणस्थान में आकर ठहरता है। आयु की पूर्णता से गिरने वाला देव में उत्पन्न हो चौथे अविरत सम्यक् दृष्टि गुणस्थान में जाता है। यह गुणस्थान उपशम सम्यक्त्व से गिरने वाले आत्मा को ही मिलता है तथा इस गुणस्थान से निकलकर सभी जीव निश्चित रूप से प्रथम-गुणस्थान में जाते हैं।

३. **मिश्र गुणस्थान**—जिस आत्मा में जिन प्रणीत तत्त्वों के प्रति श्रद्धा या अश्रद्धा दोनों ही नहीं है वह 'मिश्रदृष्टि' कहलाता है। ऐसे आत्मा का गुणस्थान मिश्रदृष्टि गुणस्थान है। अन्तरकरण काल में वर्तमान जीव ने विशुद्ध अध्यवसाय के द्वारा द्वितीय स्थितिगत दलिक के जो तीन पुंज किये थे यथा, शुद्ध, अर्धशुद्ध और अशुद्ध।.....इनकी स्थापना इस प्रकार है—O◑● उसमें से मिश्र-पुंज का उदय होने पर यह गुणस्थान प्राप्त होता है। अतः इस गुणस्थानवर्ती जीव को जिनेश्वर भगवन्त द्वारा प्रणीत तत्त्वों पर अर्ध विशुद्ध श्रद्धा होती है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त का है। इस गुणस्थान का समय पूर्ण हो जाने पर जीव प्रथम या चतुर्थ गुणस्थान में जाता है।

४. **अविरत सम्यग् दृष्टि**—विरत का अर्थ है—सावद्य योगों का त्यागी। जिसने सावद्ययोगों का त्याग नहीं किया पर जो सम्यक्त्वी है ऐसे आत्मा का गुणस्थान 'अविरत सम्यक् दृष्टि' गुणस्थान कहलाता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव को औपशमिक, क्षायिक एवं क्षायोपशमिक तीनों में से कोई एक सम्यक्त्व होता है, किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जीव मोक्ष-महल में जाने के लिए सोपान तुल्य विरति (व्रत-प्रत्याख्यान) धर्म को जानते हुए भी ग्रहण नहीं कर सकता।

५. **देशविरति**—अल्पविरति वाले जीवों का गुणस्थान, देशविरति गुणस्थान कहलाता है। इस गुणस्थानवर्ती जीव में चौथे गुणस्थान की तरह तीनों सम्यक्त्व होते हैं तथा एक व्रत दो व्रत यावत् बारहव्रत विषयक अनुमति को छोड़कर पाप व्यापारों की स्थूल रूप से विरति होती है। परन्तु प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से इस गुणस्थानवर्ती जीव को सर्वविरति नहीं होती, क्योंकि प्रत्याख्यानावरण कषाय सर्वविरति का बाधक है। यह गुणस्थान सम्यक् आचरण का प्रथम सोपान हैं। इस गुणस्थानवर्ती आत्मा वासनामय जीवन से आंशिक निवृत्ति लेता है तथा यथाशक्ति, अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि अणुव्रतों को ग्रहण करता है।

६. **प्रमत्तसंयत**—प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षय उपशम या क्षयोपशम से जिस गुणस्थान में आत्मा, सावद्ययोगों का सर्वथा त्यागी होने के साथ संज्वलन कषायवश संयम पालन में प्रमादी भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, वह **'प्रमत्तसंयत गुणस्थान'** कहलाता है। देशविरति-गुणस्थान की अपेक्षा यह गुणस्थान अधिक शुद्ध होता है। आगे के गुणस्थान के विषय में भी यही समझना अर्थात् पूर्व की अपेक्षा उत्तर गुणस्थान अधिक शुद्ध होते हैं।

७. अप्रमत्तसंयत—सर्व-सावद्य योग एवं निद्रा-विकथादि प्रमाद के त्याग से आत्मा की जो अवस्था होती है वह 'अप्रमत्तसंयत' गुणस्थान है। जो देह में रहते हुए भी देहातीत अवस्था का बोध करते हैं वे साधक इस वर्ग में आते हैं। इन्हें भी शारीरिक उपाधियां विचलित करती रहती हैं अतः इस गुणस्थान में साधक अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है। इस गुणस्थान की उपमा घड़ी के पेण्डुलम या झूले से दी गई है। जब-जब कषाय आदि प्रमादों पर साधक विजय प्राप्त कर लेता है तब-तब वह अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती होता है और जब-जब कषाय आदि प्रमाद उस पर हावी हो जाते हैं तब-तब वह पुनः प्रमत्तसंयत गुणस्थान में चला जाता है। जैसे उछाले जाने पर गेंद एकबार ऊपर जाती है पर पुनः नीचे आ जाती है वही स्थिति सातवें-छठे गुणस्थानवर्ती साधकों की है।

८. अपूर्वकरण—अपूर्व अर्थात् पहिले कभी नहीं हुआ ऐसा अद्वितीय गुणों का स्थान अपूर्वकरण गुणस्थान है। जिस गुणस्थान में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रम और अपूर्व स्थितिबंध **ये** पाँच अपूर्व बातें होती हैं वह 'अपूर्वकरण गुणस्थान' कहलाता है।

स्थितिघातादि का स्वरूप—

स्थितिघात—कर्मों की स्थिति में कमी अर्थात् ज्ञानावरणादि कर्म की अन्तः कोड़ाकोड़ी **प्रमाण** दीर्घ स्थिति को छोटी करना स्थितिघात कहलाता है।

रसघात—कर्मों की तीव्रता में कमी। सत्ता में रहे हुए ज्ञानावरणादि अशुभ प्रकृति के **तीव्र रस** को अपवर्तनाकरण से अल्प करना रसघात है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—स्थितिघात द्वारा न्यूनीकृत कर्म की स्थिति में कुल जितना रस है उसके कल्पना द्वारा अनन्त भाग करके, उनमें से एक भाग शेष रखते हुए बाकी भागों को नष्ट करना, यह प्रथम रसघात है। तत्पश्चात् अवशिष्ट भाग के पुनः बुद्धि द्वारा अनन्त भाग करके एक भाग रखते हुए शेष सभी भागों का नाश करना, यह दूसरा रसघात है। इस प्रकार अपवर्त्तनाकरण द्वारा एक स्थितिघात में हजारों रसघात होते हैं।

पूर्व गुणस्थानों में विशुद्धि अल्प होने से वहां ये दोनों अल्प-मात्रा में होते हैं। अपूर्वकरण गुणस्थान में विशुद्धि अधिक होने से ये दोनों विपुल मात्रा में होते हैं, अतः पूर्व की अपेक्षा यहाँ स्थितिघात, रसघात अपूर्व कहलाता है।

गुणश्रेणि—कर्मदलिकों का अपने ढंग से आयोजन। स्थितिघात और रसघात के द्वारा स्थितिहीन एवं रसहीन बने उपरवर्ती स्थिति के कर्मदलिकों को शीघ्रतर क्षीण करने के लिये अपवर्तनाकरण के द्वारा खींचकर उदयावलिका में इस प्रकार व्यवस्थित करना कि पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर समय में असंख्यात गुण अधिक दलिक भोगे जायें। स्थापना इस प्रकार है—

० ० ० ० ० ० ० ० ०

० ० ० ० ० ० ०

० ० ० ० ०

० ० ०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वगुणस्थानों में अध्यवसायों की विशुद्धि इतनी न होने से अल्प दलिकों की अपवर्तना होती थी अतः वहाँ गुणश्रेणी, काल की अपेक्षा दीर्घ व दलिकरचना की अपेक्षा ह्रस्व होती थी पर इस गुणस्थान में अध्यवसायों की अपूर्व विशुद्धि होने से अपवर्तना के द्वारा अल्प समय में अधिकाधिक दलिकों की रचना होती है।

गुणसंक्रम—कर्म प्रकृतियों का योग्य संयोजन। शुभाशुभ प्रकृति के सत्तागत दलिकों को प्रति-समय बध्यमान शुभाशुभ प्रकृति के दलिकों में डालना। दलिकों का यह संक्रमण अध्यवसाय की अत्यधिक विशुद्धि के कारण प्रतिक्षण असंख्यात गुण वृद्धि से होता है।

स्थितिबंध—कर्मों की अल्पतम स्थिति का बंध। पहले अशुभ परिणाम से कर्मों की लंबी स्थिति का बंध होता था। **अब इस गुणस्थान में** तीव्र विशुद्धि होने से प्रति समय पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन, हीनतर व हीनतम स्थिति का बंध होता है।

गुणश्रेणि पूर्व गुणस्थानों में भी होती है, किन्तु अध्यवसाय इतने शुद्ध न होने से वहाँ समय अधिक लगता है और दलिक अल्प-मात्रा में क्षय होते हैं। इस गुणस्थान में अल्प-समय में अधिक दलिक क्षय होते हैं, कारण यहाँ अध्यवसायों की विशुद्धि अधिक है।

यह गुणस्थान क्षपक श्रेणि और उपशम श्रेणि की अपेक्षा से दो प्रकार का है—**(i)** क्षपक और **(ii)** उपशामक। यद्यपि इस गुणस्थान में किसी भी प्रकृति का क्षय या उपशम नहीं होता तथापि श्रेणी के प्रारम्भ में जो विशुद्धि आवश्यक है, वह इस गुणस्थान में होती है। जैसे राजकुमार को भी भावी संभावना की अपेक्षा से कभी-कभी राजा कह देते हैं, वैसे श्रेणि योग्य विशुद्धि की अपेक्षा से इस गुणस्थान को भी क्षपक या उपशामक कहते हैं। इस गुणस्थानवर्ती त्रैकालिक जीवों के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रतिसमय के अध्यवसाय परस्पर इतने भिन्न होते हैं कि उनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ते हुए असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होती है। एक समयवर्ती अनेक जीवों की अपेक्षा से अध्यवसाय परस्पर भिन्न होते हुए भी असंख्याता से अधिक केवलज्ञानी की दृष्टि में नहीं होते।

यदि इन्हें जघन्य विशुद्धि स्थान से प्रारम्भ करें तो उत्तरोत्तर अधिक विशुद्धि वाले स्थान उपलब्ध होते हैं। यदि इनका प्रारंभ उत्कृष्ट विशुद्धि वाले स्थान से करें तो उत्तरोत्तर जघन्य, जघन्यतर और जघन्यतम विशुद्धि वाले स्थान प्राप्त होते हैं।

(ii) प्रथम स्थान में वर्तमान जीवों की अपेक्षा द्वितीय समयवर्ती जीवों के अध्यवसाय स्थान कुछ अधिक होते हैं। इस प्रकार तृतीय, चतुर्थ, पंचम आदि समयवर्ती जीवों के अध्यवसाय स्थान उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। यदि अध्यवसाय स्थानों की स्थापना की जाये तो उसका आकार विषम चतुरस्र जैसा बनता है। यथा—

० ० ० ० ० ०

० ० ० ० ०

० ० ० ०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रश्न—एक समय में वर्तमान त्रैकालिक जीवों के जघन्य, उत्कृष्ट अध्यवसाय स्थान असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण ही कैसे होंगे? क्योंकि एक समय में वर्तमान त्रैकालिक जीव अनन्त है और उनके अध्यवसाय स्थान परस्पर भिन्न-भिन्न होते हैं अतः अनन्त ही होने चाहिये।

उत्तर—यद्यपि जीव अनंत हैं, उनके अध्यवसाय स्थान भी भिन्न-भिन्न हैं, तथापि सभी जीवों के अध्यवसाय स्थान भिन्न नहीं है। अनंत जीवों में भिन्न अध्यवसाय वाले जीवों की अपेक्षा समान अध्यवसाय वाले जीव अधिक हैं। अतः अनन्त जीव होते हुए भी उनके अध्यवसाय स्थान असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण ही होते हैं।

प्रश्न—इस गुणस्थानवर्ती जीवों में द्वितीय, तृतीय आदि समय में जो अध्यवसाय स्थानों की वृद्धि होती है, उसका क्या कारण है?

उत्तर—इस गुणस्थानवर्ती जीव जैसे-जैसे आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसके भाव विशुद्ध बनते जाते हैं। भावों की यह विशुद्धि ही उसके अध्यवसाय स्थानों की वृद्धि का मुख्य कारण है। इस गुणस्थान में वर्तमान जीवों के अध्यवसाय प्रत्येक समय में बदलते रहने के कारण इसका दूसरा नाम निवृत्तिकरण भी है।

इस गुणस्थानवर्ती जीव के प्रथमसमय के जघन्य अध्यवसाय स्थान से उत्कृष्ट अध्यवसायस्थान अनन्तगुण विशुद्ध हैं। उससे द्वितीय समय का जघन्य अध्यवसायस्थान अनन्तगुणविशुद्ध है। उससे द्वितीय समय का उत्कृष्ट अध्यवसाय स्थान अनन्तगुण विशुद्ध है। इस प्रकार उत्तरोत्तर अनंतगुण विशुद्ध होते-होते अन्तिम समयवर्ती उत्कृष्ट अध्यवसायस्थान सर्वोत्कृष्ट विशुद्धियुक्त होता है। एकसमयवर्ती अध्यवसायस्थान भी परस्पर षट्स्थानपतित होते हैं। यथा—

(i)	एक समयवर्ती कुछ जीवों की विशुद्धि	अनन्तभाग अधिक होती है।
(ii)	एक समयवर्ती कुछ जीवों की विशुद्धि	असंख्यातभाग अधिक होती है।
(iii)	एक समयवर्ती कुछ जीवों की विशुद्धि	संख्यातभाग अधिक होती है।
(iv)	एक समयवर्ती कुछ जीवों की विशुद्धि	संख्यातगुण अधिक होती है।
(v)	एक समयवर्ती कुछ जीवों की विशुद्धि	असंख्यातगुण अधिक होती है।
(vi)	एक समयवर्ती कुछ जीवों की विशुद्धि	अनंतगुण अधिक होती है।

९. अनिवृत्तिबादर—आठवें गुणस्थान की तरह यहाँ भी स्थितिघात, रसघात आदि पाँचों ही कार्य होते हैं। अन्तर मात्र यही है कि यहाँ एक समयगत त्रिकालवर्ती जीवों के अध्यवसाय-स्थान परस्पर समान होते हैं। (एक जीव जिस अध्यवसाय स्थान में वर्तमान है, उसके समकालीन सभी जीव उसी अध्यवसाय स्थान में वर्तमान रहते है)। प्रति समय बदलते नहीं हैं तथा संसार में परिभ्रमण कराने वाले बादर-कषायों (जिनके कारण जीव संसार में भटकता है वे संपराय है) का उदय होता है अतः इसका नाम 'अनिवृत्तिबादर संपराय' गुणस्थान है। इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त का है। प्रथम समय के अध्यवसाय स्थान से उत्तर समयवर्ती अध्यवसाय स्थान क्रमशः अनन्तगुण विशुद्ध होते हैं तथा अध्यवसाय स्थानों की संख्या अन्तर्मुहूर्त के समय प्रमाण है, क्योंकि एक समय में वर्तमान जीवों का एक ही अध्यवसाय स्थान होता है। क्षपक और उपशामक के भेद से यह गुणस्थान भी दो प्रकार का है। क्षपक श्रेणि वाला जीव इस गुणस्थान में आकर दर्शन-सप्तक और संज्वलन लोभ को छोड़कर मोहनीय की शेष बीस प्रकृति का क्षय करता है और उपशम श्रेणिवाला उन्हीं बीस प्रकृतियों का उपशम करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. सूक्ष्म संपराय—नवमें गुणस्थान की अपेक्षा जहाँ सूक्ष्म किट्टीकृत संज्वलन लोभ रूप कषाय का उदय होता है, वह 'सूक्ष्म संपराय गुणस्थान' कहलाता है। यहाँ संज्वलन लोभ का क्षय या उपशम होने से यह गुणस्थान भी क्षपक और उपशामक के भेद से दो प्रकार का है।

११. उपशान्तकषाय—इसका पूरा नाम 'उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान' है। आत्मा के ज्ञानादि गुणों को ढंकने वाले ज्ञानावरणीय आदि घाती कर्मों का उदय छद्म है। जिन्हें घाती कर्मों का उदय चल रहा है वे छद्मस्थ हैं। छद्मस्थ सरागी भी होते हैं अतः उनकी व्यावृत्ति के लिये वीतराग विशेषण दिया। वीतराग का अर्थ है माया-लोभ रूप राग व उपलक्षण से क्रोध-मानरूप द्वेष से रहित। 'वीतराग छद्मस्थ' तो क्षीण मोह गुणस्थान भी होता है अतः उससे इसे भिन्न करने के लिये उपशान्त (संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तनादि करणों के द्वारा जहाँ कषायों का विपाकोदय और प्रदेशोदय नहीं हो सकता) कषाय विशेषण दिया गया है। फिटकरी डालने से तथा कचरा नीचे जम जाने से जैसे जल निर्मल प्रतीत होता है उसी प्रकार जिसका मोहकर्म सर्वथा उपशान्त हो चुका है ऐसा जीव अत्यन्त निर्मल परिणाम वाला होता है। इस गुणस्थान का समय पूर्ण होते ही जीव नीचे गिरता हुआ सातवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। यदि उसका संसार परिभ्रमण शेष है तो वह मिथ्यात्व गुणस्थान तक भी पहुंच जाता है। इस गुणस्थान में वृत्तियां निर्मूल नहीं होती है मात्र शान्त हो जाती हैं। अतः राख में दबी हुई आग की तरह निमित्त पाकर पुनः प्रबल हो जाती हैं। अतः यहां से साधक का पतन अवश्यंभावी है।

१२. क्षीणकषाय—इसका पूरा नाम 'क्षीणकषाय वीतराग-छद्मस्थ' गुणस्थान है। जहाँ मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से आत्मा वीतराग जैसा बन चुका है, किन्तु ज्ञानावरणीय आदि घाती कर्मों से अभी भी आवृत है, वह 'क्षीण कषाय छद्मस्थ' गुणस्थान है। कषायों का क्षय अन्य गुणस्थानों में भी होने से उनका व्यवच्छेद करने के लिये इस गुणस्थान का 'वीतराग' यह विशेषण दिया गया। 'क्षीणकषाय' वीतरागी केवली भी होते हैं, अतः उनका व्यावर्तन करने के लिये 'छद्मस्थ' यह विशेषण दिया। छद्मस्थ सरागी भी होते हैं अतः उनकी व्यावृत्ति के लिये 'वीतराग' विशेषण दिया तथा उपशान्त कषायी भी 'वीतराग-छद्मस्थ' होते हैं अतः उनकी निवृत्ति के लिये 'क्षीण कषाय' विशेषण दिया।

मोहकर्म के संपूर्णतः क्षय हो जाने से जिसका चित्त स्फटिक के पात्र में रखे हुए स्वच्छ जल के तुल्य हो गया है, ऐसा वीतराग साधक क्षीणकषायी कहलाता है। यहां पुनः दूषित होने का भय नहीं रहता है। अथवा जिस प्रकार आग को जल से पूर्णतः बुझा देने के बाद उसके पुनः प्रज्वलित होने का कोई भय नहीं रहता ठीक उसी प्रकार इस गुणस्थान में पहुंचे जीव को किसी प्रकार के पतन का भय नहीं रहता। यह आत्मिक विकास की पूर्ण अवस्था है।

१३. सयोगी केवली—योग अर्थात् जोड़ने वाला व्यापार अर्थात् मन, वचन और काया की प्रवृत्ति। जो योग सहित है वे सयोगी, ऐसे केवली भगवन्त का गुणस्थान। केवली भगवन्त में योगों की घटना निम्न रूप से होती है—

(i) **काययोग** — गमनागमन, श्वासोच्छ्वास पलक झपकना आदि क्रिया के रूप में होती है।

(ii) **वचनयोग** — उपदेश आदि देना वचनयोग के कारण हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(iii) मनोयोग — मन:पर्यायज्ञानी व अनुत्तर विमानवासी देवों के द्वारा पूछे गये मानसिक प्रश्नों का समाधान करने के लिये मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करना। मन:पर्यायज्ञानी व अनुत्तर विमानवासी देवों के मानसिक प्रश्नों का समाधान देने के लिये तीर्थंकर परमात्मा मनोवर्गणा के दलिकों को ग्रहण करके, उन्हें विवक्षित अर्थ के आकार में व्यवस्थित करते हैं। भगवान के द्वारा प्रयुक्त मनोवर्गणा के पुद्गलों को मन:पर्यवज्ञान व अवधिज्ञान द्वारा जानकर मन:पर्यवज्ञानी व देवता अपने प्रश्नों का सही समाधान पा लेते हैं।

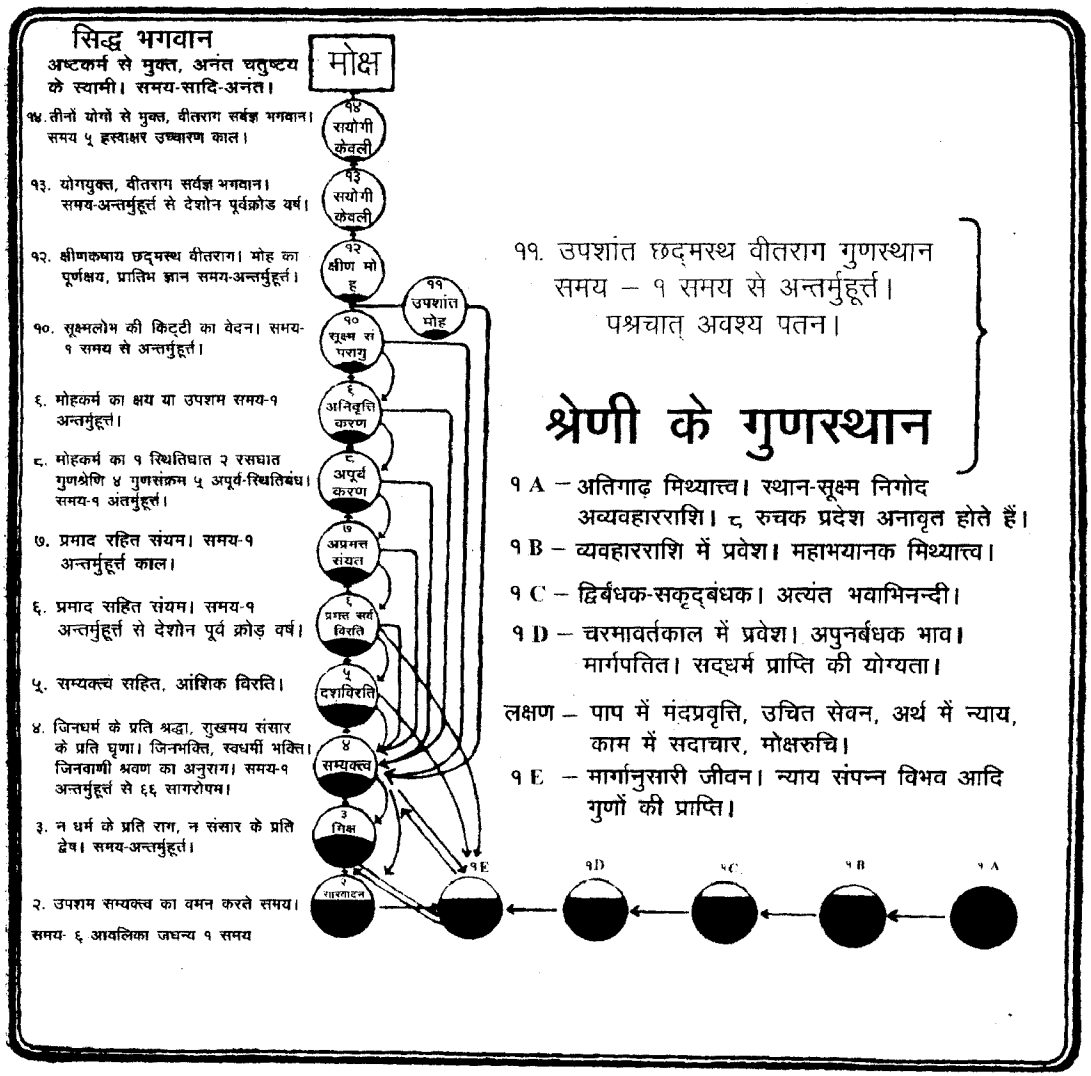
केवलज्ञानरूपी सूर्य उदित हो जाने से जिनका अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो गया है, ऐसे योग युक्त भगवान को सयोगी जिन कहा गया है। केवली को राग-द्वेष नहीं होता अत: उनके नवीन कर्मों का बंध भी नहीं होता। मात्र योग के कारण उन्हें ईर्यापथिक आस्रव और बंध होता है, जो तत्काल ही निर्जरित होता रहता है। जिस प्रकार स्वच्छ वस्त्र पर लगी हुई रेत तत्क्षण झड़ जाती है, उसी प्रकार योग के सद्भाव से आगत कर्म-परमाणु भी कषाय के अभाव में तत्काल झड़ जाते हैं। ये सयोगी जिन धर्मदेशना देते हुए जनकल्याण करते हैं। इस अवस्था की तुलना वेदान्त की जीवनमुक्ति या सदेहमुक्ति की अवस्था से की जा सकती है।

१४. अयोगी केवली—तीनों योगों से रहित केवली भगवन्त का गुणस्थान। प्रत्येक योग के सूक्ष्म और बादर दो-दो भेद हैं। केवलज्ञान होने के पश्चात् केवली भगवन्त, जघन्यत: अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत: देशोनपूर्व क्रोड़ वर्ष तक विचरण कर आयुष्य का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल शेष रहने पर शैलेशी करण करते हैं। शैलेशीकरण करने के लिए प्रथम योगनिरोध करना पड़ता है। इसकी विधि निम्न प्रकार है—

- सर्वप्रथम बादरकाययोग से बादर वचन योग का अवरोध होता है।
- तत्पश्चात् बादरवचनयोग से बादर मनोयोग का अवरोध होता है।
- सूक्ष्मकाययोग से बादरकाययोग का अवरोध होता है।
- सूक्ष्मकाययोग से सूक्ष्मवचन योग का अवरोध होता है।
- सूक्ष्मकाययोग से सूक्ष्ममनोयोग का अवरोध होता है।
- बादरकाययोग के रहते हुए सूक्ष्म योगों का निरोध नहीं हो सकता।

तत्पश्चात् सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति शुक्लध्यान के बल से आत्मा स्व प्रयत्नपूर्वक सूक्ष्म काययोग का निरोध करता है। इस प्रकार सभी योगों का निरोध करके समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती शुक्लध्यान के बल से आत्मा शैलेशीकरण में प्रवेश करता है। शैलेशीकरण—योग और लेश्या रूप कलंक से रहित यथाख्यात चारित्र लक्षण शील का ईश, स्वामी = शीलेश अर्थात् आत्मा है। अपने देह प्रमाण में से २/३ भाग रखकर १/३ भाग में फैले हुए आत्मप्रदेशों के द्वारा पेट, मुँह आदि के छिद्रों को भरकर आत्मा का पर्वत की तरह अत्यंत स्थिर हो जाना शैलेशी कहलाता है। शैलेश की स्थिति में वर्तमान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा के द्वारा नाम, गोत्र व वेदनीय कर्म की आयु से अधिक स्थिति की गुणश्रेणी द्वारा असंख्याता गुणी दलिक रचना करके निर्जरा करना तथा तीनों कर्मों की आयुतुल्य स्थिति की स्वाभाविक दलिक रचना द्वारा निर्जरा करना 'शैलेशीकरण' है। 'शैलेश' की स्थिति में की जाने वाली क्रिया 'शैलेशीकरण' है।

- शैलेशीकरण में प्रविष्ट केवली भगवंत अयोगी और भवस्थ केवली होते हैं।
- शैलेशीकरण के अंत में परमात्मा जितने आकाश प्रदेश में अवगाढ़ है, उतने ही आकाश प्रदेशों को समश्रेणी से अवगाहन करते हुए एक ही समय में लोकांत तक चले जाते हैं। आगे अलोक में धर्मास्तिकाय (गति सहायक) नहीं होने के कारण वहीं पर शाश्वत-काल तक स्थिर रहते हैं।

सिद्ध आत्मा के ऊर्ध्वगमन के कारण—

- कुड्मल से युक्त एरण्डफल जैसे सहज में ऊपर की ओर बढ़ता है, वैसे कर्मों का सम्बन्ध छूट जाने से सिद्धात्मा स्वभावत: ही ऊपर गमन करती है।
- मिट्टी का लेप साफ हो जाने पर जैसे तुम्बी तिरकर पानी के ऊपर आ जाती है, वैसे कर्म रूप लेप से मुक्त हो जाने पर आत्मा की ऊर्ध्व गति होती है।
- जैसे कुम्हार का चक्र, झूला और बाण पूर्व प्रयोग से भ्रमण करते रहते हैं, वैसे सिद्धात्मा भी पूर्वाभ्यास से ऊर्ध्व-गमन करते हैं।
- जीव स्वभावत: ऊर्ध्वगामी है और पुद्गल स्वभावत: अधोगामी है। यही कारण है कि मिट्टी, पत्थर आदि ऊपर की ओर फेंकने पर भी नीचे की ओर ही आते हैं, वैसे जीव अपने सहज स्वभाव से ऊपर जाता है ॥१३०२॥

२२५ द्वार : मार्गणा-स्थान—

गइ इंदिए य काये जोए वेए कसाय नाणे य।
संजम दंसण लेसा भव सम्मे सन्नि आहारे ॥१३०३॥

—गाथार्थ—

मार्गणा-स्थान चौदह—**१. गति २. इन्द्रिय ३. काया ४. योग ५. वेद ६. कषाय ७. ज्ञान ८. संयम ९. दर्शन १०. लेश्या ११. भव्य १२. सम्यक्त्व १३. संज्ञी तथा १४. आहारक—ये चौदह मार्गणा स्थान हैं॥१३०३॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

मार्गणा स्थान—जीवादि पदार्थों के स्वरूप को प्रकट करने वाले मानक मार्गणा स्थान कहलाते हैं।

	मूल मार्गणा-१४	उत्तर मार्गणा-६२
(i)	गति	४. नरक-मनुष्य-तिर्यंच और देवगति
(ii)	इन्द्रिय	५. स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय
(iii)	काय	६. पृथ्वि-अप्-तेउ-वायु-वनस्पति और त्रसकाय
(iv)	योग	३. मनोयोग-वचनयोग और काययोग
(v)	वेद	३. स्त्रीवेद-पुरुषवेद और नपुंसकवेद
(vi)	कषाय	४. क्रोध-मान-माया और लोभ
(vii)	ज्ञान	५. मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यव और केवलज्ञान
	(अज्ञान)	३. मतिअज्ञान-श्रुतअज्ञान और विभंगज्ञान
(viii)	संयम	५. सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र
	(असंयम)	२. देशसंयम, असंयम
(ix)	दर्शन	४. चक्षु-अचक्षु-अवधि-केवलदर्शन
(x)	लेश्या	६. कृष्ण-नील-कापोत-तेजो-पद्म और शुक्ललेश्या
(xi)	भव्य	२. भव्य और अभव्य
(xii)	सम्यक्त्व	६. क्षायोपशमिक-क्षायिक-औपशमिक-मिश्र-सासादन और मिथ्यात्व
(xiii)	संज्ञी	२. संज्ञी और असंज्ञी
(xiv)	आहारक	२. आहारक और अनाहारक ॥१३०३॥

२२६ द्वार : उपयोग—

मइ सुय ओही मण केवलाणि मइ सुयअन्नाण विब्भंगा।
अचक्खु चक्खु अवही केवलचउदंसणु वउगा ॥१३०४॥

—गाथार्थ—

बारह उपयोग—**मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल —ये पाँच ज्ञान, मति अज्ञान श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान —ये तीन अज्ञान, चक्षु, अचक्षु अवधि और केवल ये चार दर्शन —इस प्रकार बारह उपयोग हैं॥१३०४॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

ज्ञान, दर्शन रूप आत्म-प्रवृत्ति जिसके द्वारा जीव वस्तु का बोध करता है वह उपयोग है। इसके दो प्रकार हैं—(i) साकार और (ii) निराकार।

(i) साकारोपयोग—आकार = वस्तु का प्रतिनियत स्वरूप जिससे ग्रहण होता है। कहा है—'आगारो उ विसेसो' वस्तु का विशेष स्वरूप आकार है। जो आकार सहित है, वह साकार है। सामान्य विशेष रूप पदार्थ के विशेष अंश का ग्राहक उपयोग साकारोपयोग है।

(ii) निराकारोपयोग—वस्तु के सामान्य धर्म का ग्राहक उपयोग निराकारोपयोग है।

साकारोपयोग के आठ भेद हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनपर्यवज्ञान, केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान हैं तथा मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान व विभंगज्ञान ये तीन अज्ञान हैं। (वि = विपरीत, भंग = ज्ञान के प्रकार अर्थात् जिसमें विपरीत ज्ञान होता है)।

निराकारोपयोग के चार भेद हैं— चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन व केवलदर्शन।

- अज्ञान = न+ज्ञान-अज्ञान यहाँ नञ् का अर्थ है कुत्सित अर्थात् मिथ्यात्व से कलुषित मति-श्रुत-अवधिज्ञान ही अज्ञान है। कलुषित अवधिज्ञान-विभंगज्ञान कहलाता है। जिस ज्ञान के जानने के तरीके विपरीत हो वह विभंगज्ञान है ॥१३०४॥

२२७ द्वार : योग—

सच्चं मोसं मीसं असच्चमोसं मणो तह वई य।
उरल विउव्वा हारा मीस कम्मयग मिय जोगा ॥१३०५॥

—गाथार्थ—

पन्द्रह उपयोग—**१. सत्य २. असत्य ३. मिश्र और ४. असत्यामृषा - चार मन के योग हैं। इसी प्रकार चार वचनयोग हैं। १. औदारिक २. वैक्रिय ३. आहारक और इन तीनों के तीन मिश्र तथा कार्मण ये पन्द्रह योग हैं ॥१३०५॥**

—विवेचन—

- मन, वचन और काया के आलम्बन से उत्पन्न होने वाला आत्मा का प्रयत्न विशेष योग कहलाता है।
- कारण में कार्य का उपचार करके यहाँ मन, वचन और काया ही योग रूप से विवक्षित है।

मूल योग—३प्रकार का है— **(i)** मनोयोग **(ii)** वचन योग और **(iii)** काययोग। योग के उत्तर भेद १५ हैं।

(i) सत्य मनोयोग—वस्तु के यथावस्थित स्वरूप का चिंतन करना जैसे जीव है, वह स्वरूप से सत् व पररूप से असत् तथा देहमात्र व्यापी है। यह जीव स्वरूप का यथावस्थित चिंतन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ii) असत्य मनोयोग—वस्तु के स्वरूप का अयथार्थ चिंतन करना जैसे जीव नहीं है अथवा एकान्त सत् है या एकान्त असत् है ऐसा चिंतन करना।

(iii) मिश्र मनोयोग—वस्तु के स्वरूप का कुछ अंशों में यथार्थ और कुछ अंशों में अयथार्थ चिंतन करना जैसे अन्य वृक्ष होने पर भी अशोक वृक्ष की अधिकता वाले वन को 'यह अशोक वन है' ऐसा चिंतन करना।

पूर्वोक्त योग व्यवहार की अपेक्षा से ही मिश्र कहलाता है। परमार्थ से तो अयथार्थ होने से असत्य ही है।

(iv) व्यवहार मनोयोग—वस्तु स्वरूप का ऐसा चिंतन जो न सत्य है, न असत्य है, न मिश्र है। व्यवहार मात्र है। किसी वस्तु के विषय में शंका होने पर उसके यथार्थ स्वरूप के अवबोध के लिये सर्वज्ञ के मतानुसार विकल्प करना, जैसे—जीव है? वह सत् या असत् रूप है? आदि। ऐसा चिंतन सत्य है, क्योंकि सर्वज्ञ के मतानुसार होने से इसमें आराधक भाव है। परन्तु किसी वस्तु के विषय में शंका होने पर सर्वज्ञ के मत से विपरीत चिंतन करना जैसे जीव नहीं है? जीव एकांत नित्य है—ऐसा चिंतन असत्य है, कारण इसमें विराधक भाव है। ऐसा चिंतन जिसमें वस्तु स्वरूप का पर्यालोचन मात्र हो, वह व्यवहार मनोयोग कहलाता है जैसे, हे देवदत्त! घट लाओ। मुझे गाय दो। ऐसा चिंतन मात्र वस्तु के स्वरूप का पर्यालोचन होने से न सत्य है, न असत्य है पर असत्यामृषा है।

- पूर्वोक्त चिंतन व्यवहार नय की अपेक्षा से ही व्यवहार मनोयोग कहलाता है। यदि ऐसा चिंतन प्रतारणा के भावपूर्वक है तो निश्चय नय की अपेक्षा से असत्य मनोयोग है। यदि यह प्रतारणा के भावपूर्वक नहीं है तो निश्चय नय से सत्य मनोयोग है।
- मनोयोग की तरह वचनयोग भी चार प्रकार का है।

काययोग—(i) औदारिक = उदार = प्रधान, श्रेष्ठ। तीर्थंकर, गणधर आदि की अपेक्षा से। कारण उनके शरीर की अपेक्षा अनुत्तर देवों का शरीर भी अनन्त गुणरूपहीन होता है अथवा उदार = सर्व शरीर की अपेक्षा से जो प्रमाण में अधिक हो। कारण औदारिक शरीर एक लाख योजन की अवगाहना वाला होता है। यद्यपि उत्तर वैक्रिय की अवगाहना भी एक लाख योजन की है तथापि भवधारणीय अवगाहना की अपेक्षा से औदारिक शरीर ही सर्वाधिक अवगाहना वाला है।

(ii) वैक्रिय—अनेक में से एक, एक में से अनेक, अणु से महान और महान से अणु बनने वाला शरीर वैक्रिय है। अर्थात् जिसमें विविध अथवा विशिष्ट क्रिया प्रक्रिया होती है वह वैक्रिय शरीर है।

(iii) आहारक—तीर्थंकर परमात्मा की ऋद्धि के दर्शन के लिये अथवा तथाविध विशिष्ट कार्य से चौदह पूर्वधर जिस शरीर की रचना करते हैं, वह आहारक कहलाता है।

(iv) औदारिक मिश्र—औदारिक पुद्गलों का कार्मण शरीर के साथ मिलना औदारिक मिश्र कहलाता है। यह अपर्याप्त अवस्था में तथा केवली समुद्घात करते समय (२रे ६ठे और ७वें समय में) होता है। अपने उत्पत्ति स्थान में आने वाला जीव प्रथम समय में ही कार्मण शरीर से औदारिक पुद्गलों को ग्रहण करके औदारिक शरीर का निर्माण करता है। इस प्रकार औदारिक शरीर निष्पन्न होने तक कार्मण से मिश्र औदारिक होने से 'औदारिक मिश्र' कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(v) वैक्रिय मिश्र— औदारिक या कार्मण पुद्गलों का वैक्रिय पुद्गलों के साथ मिलना वैक्रिय मिश्र है। कार्मण के साथ वैक्रिय का मिश्रण देव और नरक की अपर्याप्तावस्था में होता है तथा औदारिक के साथ वैक्रिय का मिश्रण बादर पर्याप्ता वायुकाय, पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च व मनुष्य (वैक्रिय-लब्धिधारी) में होता है।

(vi) आहारक मिश्र—आहारक पुद्गलों का औदारिक पुद्गलों के साथ मिलना आहारक मिश्र है यह चौदह पूर्वधारी को आहारक शरीर बनाते समय और त्यागते समय होता है।

(vii) कार्मण—आत्म-प्रदेशों के साथ क्षीर-नीर की तरह एकमेक बने हुए शरीर रूप में परिणत कर्म-परमाणु ही कार्मण शरीर कहलाते हैं (कर्मणो विकार: कार्मणं इति)। कहा है कि—कर्मों का जो परिणमन है वही कार्मण है। जो अष्टविध विचित्र कर्मों के द्वारा निर्मित है और शेष सभी शरीरों का बीजभूत है वह कार्मण है। इसका नाश हो जाने पर शेष शरीरों का प्रादुर्भाव नहीं होता। एक गति से दूसरी गति की ओर जाने में कार्मण शरीर साधकतम है। कहा है—कार्मण शरीर से आवृत आत्मा ही मृत्यु स्थान से उत्पत्ति स्थान में जाता है।

प्रश्न—यदि जीव कार्मण शरीर से आवृत एक गति से दूसरी गति में जाता है तो गमनागमन करते हुए वह दिखायी क्यों नहीं देता?

उत्तर—कर्म पुद्गल अत्यंत सूक्ष्म परिणामी है अत: वे इन्द्रियगोचर नहीं होते। अन्य दार्शनिकों ने भी कहा है—

अन्तरा भवदेहोऽपि सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते।

निष्क्रामन् वा प्रविशन् वा नाभावोऽनीक्षणादपि॥

यद्यपि कार्मण शरीर अत्यंत सूक्ष्म होने से प्रवेश व निष्क्रमण के समय दिखाई नहीं देता तथापि उसका अभाव नहीं है।

प्रश्न—भुक्त आहार को पचाने वाला तथा तेजो लेश्या के प्रक्षेप में निमित्तभूत तैजस् शरीर का अलग से योग क्यों नहीं कहा?

उत्तर—तैजस् शरीर सदा कार्मण के साथ ही रहता है। कार्मण के ग्रहण से उसका भी ग्रहण हो जाता है अत: उसे अलग से नहीं कहा॥१३०५॥

२२८ द्वार : गति—

मिच्छे सासाणे वा अविरयभावंमि अहिगए अहवा।
जंति जिया परलोयं सेसेक्कारसगुणे मोत्तुं॥१३०६॥

—गाथार्थ—

गुणस्थानक में परलोकगमन—**१. मिथ्यात्व २. सास्वादन तथा ३. अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानक को प्राप्त कर जीव परलोक में जाता है। अथवा शेष ग्यारह गुणस्थानकों को छोड़कर शेष तीन गुणस्थानकों में जीव परलोक में जाता है॥१३०६॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

१. **मिथ्यात्व गुणस्थान में** — परलोक गमन होता है। यह गुणस्थान सर्वत्र है।

२. **सासादन गुणस्थान में** — परलोक गमन होता है। कहा है—**अणुबंधोदयमाउगबंधं कालं च सासणो कुणइ**—सास्वादानी अनंतानुबंधी कषाय के बंध-उदय व आयु के बंधपूर्वक काल करता है।

३. **मिश्र गुणस्थान में** — परलोक गमन नहीं होता है (**न सम्ममिच्छो कुणइ कालं**) मिश्रगुणस्थानवर्ती जीव भवांतर में नहीं जाता।

४. **अविरत गुणस्थान सम्यक्दृष्टि में** — देवगति में जाते हैं।

५ से १४ गुण स्थानों में परलोकगमन नहीं होता है।

इन गुणस्थानकों का सद्भाव विरति के सद्भाव में ही होता है। परलोक जाते समय विरति नहीं होती अतः इन गुणस्थानकों में परलोक-गमन नहीं होता है ॥१३०६॥

२२९. द्वार : काल-मान—

मिच्छत्तमभव्वाणं अणाइयमणंतयं च विन्नेयं।
भव्वाणं तु अणाई सपज्जवसियं च सम्मत्ते ॥१३०७॥
छावलियं सासाणं समहियतेत्तीससायर चउत्थं।
देसूणपुव्वकोडी पंचमगं तेरसं च पुढो ॥१३०८॥
लहुपंचक्खर चरिमं तइयं छट्ठाइ बारसं जाव।
इह अट्ठ गुणट्ठाणा अंतमुहुत्ता पमाणेणं ॥१३०९॥

—गाथार्थ—

गुणस्थानकों का कालमान—**मिथ्यात्व गुणस्थानक का कालमान अभव्य की अपेक्षा अनादि अनन्त हैं। भव्य की अपेक्षा अनादि सांत तथा सम्यक्त्व से पतित की अपेक्षा सादिसांत हैं।**

सास्वादन का कालमान छ आवलिका, अविरतसम्यग्दृष्टि का साधिक तेत्तीस सागरोपम, पाँचवें तथा तेरहवें का पृथक्-पृथक् कालमान देशोन पूर्वक्रोड़ वर्ष, चौदहवें का ह्रस्व पाँच अक्षर उच्चारण कालपरिमाण, तीसरे और छट्ठे से बारहवें गुणस्थान पर्यन्त आठ गुणस्थानक का कालमान अन्तर्मुहूर्त्त का है ॥१३०७-९॥

—विवेचन—

१. **मिथ्यात्व गुणस्थान**—काल की अपेक्षा से मिथ्यात्व-गुणस्थान के चार भांगे हैं।

(**i**) अनादि अनंत (**ii**) अनादि सांत (**iii**) सादि अनंत (**iv**) सादि-सान्त

(**i**) यह भांगा अभव्य की अपेक्षा से समझना। अभव्य जीव अनादि काल से मिथ्यात्वी है और सम्यक्त्व पाने की योग्यता का अभाव होने से अनादि काल पर्यन्त मिथ्यात्वी ही रहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ii) यह भंग भव्यात्मा की अपेक्षा से समझना। अनादि मिथ्यात्वी भव्य जीव प्रथम बार सम्यक्त्व प्राप्त करता है, तब अनादि मिथ्यात्व का अन्त होने से मिथ्यात्व गुणस्थान अनादि सान्त कहलाता है।

(iii) यह भंग असंभवित है, कारण सम्यक्त्व से पतित जीव को ही मिथ्यात्व-गुणस्थान सादि होता है और ऐसा जीव पुनः निश्चित रूप से सम्यक्त्वी बनता है और मिथ्यात्व का अंत करता है। अतः यह भंग घटित नहीं होता।

(iv) यह भंग सम्यक्त्व से पतित जीव की अपेक्षा से समझना। अनादि मिथ्यात्वी जीव सम्यक्त्व प्राप्तकर निमित्तवश पुनः मिथ्यात्व में चला जाता है। यह मिथ्यात्व की सादि हुई तथा वह जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त और अरिहंत की आशातना आदि पापों की बहुलता के कारण उत्कृष्टतः अर्धपुद्गलपरावर्त काल पर्यन्त रहकर पुनः निश्चित रूप से सम्यक्त्वी बनता है। इस प्रकार पुनः मिथ्यात्व का अंत होने से पतित जीवों की अपेक्षा यह भंग सिद्ध होता है ॥१३०७॥

२. सासादन गुणस्थान—जघन्य १ समय, उत्कृष्ट ६ आवलिका। तत्पश्चात् आत्मा अवश्य मिथ्यात्वी होता है। आवलिका असंख्यात समय का समूह समझना।

३. मिश्र गुणस्थान—जघन्य, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त।

४. अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त, उत्कृष्ट-साधिक ३३ सागरोपम। कोई मनुष्य सम्यक्त्व सहित विरति का पालन करते हुए अनुत्तरविमान का आयुष्य बाँधकर देवभव में जाता है। वहाँ ३३ सागरोपम का देव-सम्बन्धी आयुष्य भोगकर पुनः मनुष्य भव में आता है। देवभव से लेकर मनुष्य भव में जब तक विरति ग्रहण नहीं करता तब तक उस जीव को 'अविरत सम्यग्दृष्टि' गुणस्थान होता है। इस प्रकार इस गुणस्थान का कालमान साधिक ३३ सागरोपम का घटित होता है।

५वें और १३वें देशविरति व सयोगी गुणस्थान—इन दोनों गुणस्थानों का कालमान भिन्न-भिन्न जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट कुछ न्यून पूर्वक्रोड़ वर्ष है। जीव साधिक नौ महीना गर्भस्थ रहता है और उत्पन्न होने के पश्चात् आठ वर्ष तक विरति योग्य नहीं होता। तत्पश्चात् देशविरति को स्वीकार करता है या सर्वविरति को स्वीकार कर केवलज्ञान प्राप्त करता है। इस अपेक्षा से इन दोनों गुणस्थानों का कालमान कुछ न्यून (देशोन) पूर्वक्रोड़वर्ष का है।

६ से १२ गुणस्थानों का उत्कृष्ट कालमान अन्तर्मुहूर्त्त का है।

८ से ११ गुणस्थान का जघन्य कालमान एक समय का तथा १२वें का अन्तर्मुहूर्त्त का है।

पूर्व गुणस्थान का काल पूर्ण होने के बाद आत्मा दूसरे गुणस्थान में चला जाता है या उसी गुणस्थान में काल कर जाता है यदि वे मरणधर्मा हैं तो।

१४. अयोगी केवली गुणस्थान का कालमान ङ्, ञ्, ण्, न्, म्, के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय प्रमाण का है। तत्पश्चात् मोक्षगमन होता है।

नोट— अन्य सभी स्थानों पर अयोगी केवली गुणस्थान का कालमान अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच अक्षरों का उच्चारण काल जितना माना गया है ॥१३०८-०९॥

२३० द्वार : विकुर्वणाकाल—

अंतमुहुत्तं नरएसु हुंति चत्तारि तिरियमणुएसुं।
देवेसु अद्धमासो उक्कोस विउव्वणाकालो ॥१३१०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों का वैक्रिय कालमान—**नारकों का उत्कृष्ट वैक्रिय कालमान अन्तर्मुहूर्त्त का, तिर्यञ्च और मनुष्यों का चार अन्तर्मुहूर्त्त का तथा देवों का अर्धमास अर्थात् पन्द्रह दिन का है ॥१३१०॥**

—विवेचन—

विकुर्वणाकाल = किस जीव का वैक्रिय शरीर कितने समय तक रहता है, वह कालमर्यादा विकुर्वणाकाल कहलाती है।

(१) तिर्यञ्च और मनुष्य का विकुर्वणाकाल = ४ अन्तर्मुहूर्त्त है
(२) देवता का विकुर्वणाकाल = १५ दिन का है।
(३) नारकों का विकुर्वणाकाल = १ अन्तर्मुहूर्त्त का है।

यह उत्कृष्ट काल समझना।

तत्पश्चात् सभी जीव पुनः अपने भवधारणीय शरीर में आ जाते हैं ॥१३१०॥

२३१ द्वार : समुद्घात—

वेयण कसाय मरणे वेउव्विय तेयए य आहारे।
केवलियसमुग्घाए सत्त इमे हुंति मणुयाणं ॥१३११॥
एगिंदीणं केवलिआहारगवज्जिया इमे पंच।
पंचावि अवेउव्वा विगलासन्नीण चत्तारि ॥१३१२॥
केवलियसमुग्घाओ पढमे समयंमि विरयए दंडं।
बीए पुणो कवाडं मंथाणं कुणइ तइयंमि ॥१३१३॥
लोयं भरइ चउत्थे पंचमए अंतराइं संहरइ।
छट्ठे पुण मंथाणं हरइ कवाडंपि सत्तमए ॥१३१४॥
अट्ठमए दंडंपि हु उरलंगो पढमचरमसमएसुं।
सत्तमछट्ठबिइज्जेसु होइ ओरालमिस्सेसो ॥१३१५॥
कम्मणसरीरजोई चउत्थए पंचमे तइज्जे य।
जं होइ अणाहारो सो तंमि तिगेऽवि समयाणं ॥१३१६॥

—गाथार्थ—

समुद्घात सात—**१. वेदना २. कषाय ३. मरण ४. वैक्रिय ५. तैजस् ६. आहारक और ७. केवली समुद्घात ये सात समुद्घात मनुष्यों में होते हैं ॥१३११॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवली और आहारक को छोड़कर एकेन्द्रिय जीवों में शेष पाँच समुद्घात होते हैं। वैक्रिय को छोड़कर पाँच में से शेष चार समुद्घात विकलेन्द्रिय और असंज्ञी में होते हैं॥१३१२॥

केवली समुद्घात में प्रथम समय में दंड, द्वितीय समय में कपाट, तृतीय समय में मन्थान की रचना होती है। चतुर्थ समय में लोक को भरते हैं। पाँचवें समय में अन्तर-प्रदेशों का संहरण होता है। छट्ठे समय में मंथान का संहरण करते हैं। सातवें समय में कपाट का और आठवें समय में दंड का संहरण होता है।

केवली समुद्घात के प्रथम और अन्तिम समय में आत्मा औदारिक शरीरी होता है। द्वितीय समय में औदारिक मिश्र शरीरी, चौथे, पाँचवे और तीसरे समय में कार्मणशरीरी होता है। आत्मा अणाहारी भी इन्हीं तीन समय में होता है॥१३१३-१६॥

—विवेचन—

समुद्घात = 'समुद्घात' शब्द 'सम्-उत्-घात' इन तीन शब्दों का जोड़ है। सम् = एकरूपता, उत् = प्रबलता, घात = निर्जरा। एकरूपता के कारण प्रबलता से निर्जरा करना समुद्घात है।

प्रश्न—एकरूपता किसकी किसके साथ होती है?

उत्तर—वेदना, कषाय आदि के साथ आत्मा की एकरूपता होती है। अर्थात् जब आत्मा वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात आदि करता है तब वेदना और कषाय की अनुभूति के सिवाय अन्य सारी अनुभूतियाँ समाप्त हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो आत्मा उस समय वेदनामय व कषायमय हो जाती है।

प्रश्न—प्रबलतापूर्वक घात-निर्जरा कैसे होती है?

उत्तर—वेदना आदि समुद्घात में परिणत हुआ जीव, कालान्तर में भोगने योग्य वेदनीय आदि कर्मों के विपुल प्रदेशों को उदीरणा द्वारा खींचकर, उदय में लाकर भोगकर क्षय करता है अर्थात् आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक बने कर्म पुद्गलों को अलग करना समुद्घात है।

स्वाभाविक रूप में कर्मों का उदय में आना और भोगना, यह कर्मयोग की सहज प्रक्रिया है, किन्तु प्रयासपूर्वक अनुदित कर्मों का उदीरणा द्वारा उदय में लाकर भोगना समुद्घात है। वेदना, कषाय आदि का उदय कभी-कभी इतना प्रबल होता है कि उन्हें सहजरूप में भोगना जीव के लिये अशक्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में आत्मा अपनी शक्ति से वेदनादि के पुद्गलों को उदीरणा द्वारा खींचकर अतिशीघ्र भोगकर क्षय कर देता है। कर्मों के निर्जरण की यह प्रक्रिया समुद्घात कहलाती है। जैसे किसी पक्षी के पंख पर बहुत धूल चढ़ जाती है, तब वह पक्षी अपने पंख फैलाकर जोर से फड़फड़ाकर धूल को झाड़ देता है। इसी प्रकार आत्मा बद्ध कर्म पुद्गल को झाड़ने (निर्जरित करने) के लिये समुद्घात नामक क्रिया करता है।

समुद्घात सात प्रकार के हैं—

(i)	वेदना समुद्घात	**(v)**	तैजस् समुद्घात
(ii)	कषाय समुद्घात	**(vi)**	आहारक समुद्घात
(iii)	मरण समुद्घात	**(vii)**	केवली समुद्घात
(iv)	वैक्रिय समुद्घात		

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) वेदनीय समुद्घात—वेदना द्वारा कर्म-दलिकों का हनन वेदनीय समुद्घात है। असह्य वेदना से व्याकुल जीव अपनी शक्ति द्वारा अनंतानंत कर्मस्कंधों से युक्त अपने आत्म-प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर उनसे मुख, पेट, कान, स्कंध आदि के छिद्रों को भरकर शरीर की लम्बाई और चौड़ाई में आत्म प्रदेशों को व्याप्त कर देता है। इससे जीव बहुत से अशाता वेदनीय कर्म के दलिकों को भोगकर क्षीण कर देता है। यह प्रक्रिया अन्तर्मुहूर्त्त तक चलती है। तत्पश्चात् जीवात्मा पुनः शरीरस्थ हो जाता है। इस क्रिया का नाम वेदना समुद्घात है।

(ii) कषाय समुद्घात—कषाय द्वारा कर्म-दलिकों का हनन कषाय समुद्घात है। तीव्र कषाय के उदय से व्याकुल जीव अपनी शक्ति द्वारा अनन्तानन्त कर्म-प्रदेशों से अनुविद्ध अपने आत्म-प्रदेशों को बाहर निकालकर उनसे मुख, पेट, कान, स्कंध आदि के छिद्रों को भरकर शरीर की लम्बाई और चौड़ाई में आत्मप्रदेशों को व्याप्त कर देता है। इससे जीव बहुत से कषाय मोहनीयकर्म के दलिकों को भोगकर क्षीण कर देता है। यह प्रक्रिया अन्तर्मुहूर्त्त तक चलती है, तत्पश्चात् जीवात्मा पुनः शरीरस्थ हो जाता है। यह क्रिया कषाय समुद्घात है।

(iii) मरण समुद्घात—मृत्यु के समय जीव के प्रयास द्वारा आयु-कर्म के दलिकों का हनन करना, मरण समुद्घात है। मृत्यु के अंतिम समय में व्याकुल बना आत्मा अन्तर्मुहूर्त्त पहले ही अपने आत्म-प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर उनसे मुख, पेट, कान, स्कंध आदि के छिद्रों को भरकर अपने उत्पत्ति-स्थान तक लम्बा (जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना और उत्कृष्ट से असंख्याता योजन लम्बा) और देह-प्रमाण स्थूल दंड की रचना करता है। अन्तर्मुहूर्त्त तक इसी स्थिति में रहकर आयुष्य-कर्म के बहुत से पुद्गलों को उदीरणा द्वारा उदय में लाकर घात करता है। यह प्रक्रिया मरण समुद्घात है।

(iv) वैक्रिय समुद्घात—वैक्रिय शरीर के प्रारम्भ काल में पूर्वबद्ध वैक्रिय के स्थूल पुद्गलों का घात करना वैक्रिय समुद्घात है। वैक्रिय लब्धि सम्पन्न आत्मा वैक्रिय शरीर बनाते समय सर्वप्रथम अपने आत्म प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर उन से स्वदेह प्रमाण स्थूल एवं संख्येय योजन प्रमाण दीर्घ दण्ड बनाता है। उस समय जीव पूर्वबद्ध वैक्रिय के पुद्गलों को उदीरणा द्वारा उदय में लाकर घात करता है और नये वैक्रिय-पुद्गलों को ग्रहण करते हुए उत्तर-देह की रचना करता है। यह वैक्रिय समुद्घात है।

(v) तैजस् समुद्घात—तेजो-लेश्या की लब्धि से सम्पन्न आत्मा जब किसी के प्रति क्रुद्ध बनता है, तो सात-आठ कदम पीछे हटकर अपने आत्म-प्रदेशों को बाहर निकालकर स्वदेह प्रमाण-स्थूल और जिस स्थान में तेजो-लेश्या (शीत-लेश्या) डालनी है, वहाँ तक लम्बा (संख्यात-योजन दीर्घ) दंड बनाता है। इससे उसके क्रोध का लक्ष्य बनी वस्तु या व्यक्ति भस्म हो जाती है। इस प्रकार तैजस् शरीर के बहुत से पुद्गलों का क्षय करता है। इसे तेजस् समुद्घात कहते हैं।

(vi) आहारक समुद्घात—आहारक शरीर के प्रारम्भ काल में जो होता है वह आहारक समुद्घात है। आहारक लब्धि-सम्पन्न-आत्मा आहारक शरीर बनाते समय सर्वप्रथम अपने आत्म प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर उनका स्वदेह-प्रमाण स्थूल एवं संख्येय योजन प्रमाण दीर्घ दंड बनाता है। उससे पूर्वबद्ध आहारक के पुद्गलों को उदीरणा द्वारा उदय में लाकर घात करता है, यह आहारक समुद्घात है। नये आहारक पुद्गलों को ग्रहण कर आहारक शरीर बनाता है। इस शरीर की रचना आहारक लब्धि-सम्पन्न चौदह पूर्वधर मुनि ही करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(vii) केवली समुद्घात—जिन केवलज्ञानी परमात्मा का आयु मात्र अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण रह गया है और नाम, गोत्र व वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक है उन्हें इन तीनों कर्मों की स्थिति को आयुतुल्य करने के लिये केवली समुद्घात करना पड़ता है। समुद्घात करने वाले केवली सर्वप्रथम अपने आत्म-प्रदेशों को बाहर निकालकर शरीर प्रमाण स्थूल और नीचे से ऊपर चौदहराज प्रमाण दीर्घदंड बनाते हैं। दूसरे समय में स्वदेह प्रमाण मोटा तथा उत्तर-दक्षिण में लोक के अन्त भाग तक लम्बा कपाट बनाते हैं। तीसरे समय में ऐसा ही एक कपाट पूर्व-पश्चिम में लोक के अन्त तक लम्बा बनाते हैं। उस समय आत्म-प्रदेशों की स्थिति मन्थनी की तरह हो जाती है। चौथे समय में मन्थनी के बीच का रिक्त स्थान भरते हैं। उस समय सम्पूर्ण लोक आत्म-प्रदेशों से व्याप्त बन जाता है। तत्पश्चात् पाँचवें समय में मन्थनी के अन्तरों में भरे गये आत्म-प्रदेशों का संकोच करते हैं। छट्ठे समय में मन्थनी के आकार का संहरणकर कपाट रूप शेष रखते हैं। सातवें समय में कपाट का भी संहरण कर दंडाकार शेष रखते हैं। आठवें समय में दंड का भी संहरणकर सभी आत्म प्रदेशों को पुनः शरीरस्थ कर लेते हैं। इस प्रकार आठ समय का केवली समुद्घात करके आयु की अपेक्षा अधिक स्थिति वाले वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की निर्जरा करते हैं।

समुद्घात का काल प्रमाण—वेदनीय-कषाय, मरण-वैक्रिय तैजस्-आहारक समुद्घात का काल प्रमाण अन्तर्मुहूर्त्त का है।

केवली समुद्घात आठ समय का है।

केवली समुद्घात में योग—योग = मन, वचन और काया की प्रवृत्ति।केवली समुद्घात गत जीव के मात्र काययोग ही होता है।मनोयोग और वचनयोग का उस समय कोई प्रयोजन नही है।

१ले एवं ८वें समय में	औदारिक काययोग होता है, कारण पहले और आठवें समय में समुद्घात का प्रारम्भ एवं अन्त होने से औदारिक काययोग की ही प्रधानता रहती है।
२रे, ६ठे, ७वें समय में	इनमें औदारिक मिश्र की प्रधानता है, कारण उस समय औदारिक और कार्मण दोनों का सम्मिलित प्रयास होने से औदारिक मिश्र का व्यापार होता है।
३रे, ४थे, ५वें समय में	इस समय औदारिक से बाहर केवल कार्मण काययोग का ही मुख्य रूप से व्यापार होता है। यही कारण है कि केवली समुद्घात के ३रे, ४थे, ५वें समय में जीव अनाहारी होता है तथा जो अनाहारी होता है, वह निश्चित रूप से कार्मण योगी होता है।

जीवों में समुद्घात—

(१) मनुष्य में	=	पूर्वोक्त ७ समुद्घात
(२) एकेन्द्रिय में	=	५ समुद्घात (वेदना, कषाय, मरण, तैजस् और वैक्रिय)
(३) विकलेन्द्रिय में	=	४ समुद्घात (वेदना, कषाय, मरण, तैजस्)
(४) असंज्ञी पंचेन्द्रिय में	=	४ समुद्घात (वेदना, कषाय, मरण, तैजस्)

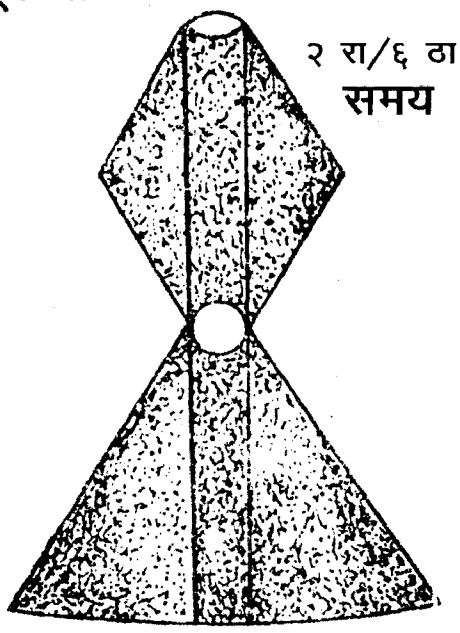
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम/सातवां पूर्व पश्चिम कपाट

दंडाकार



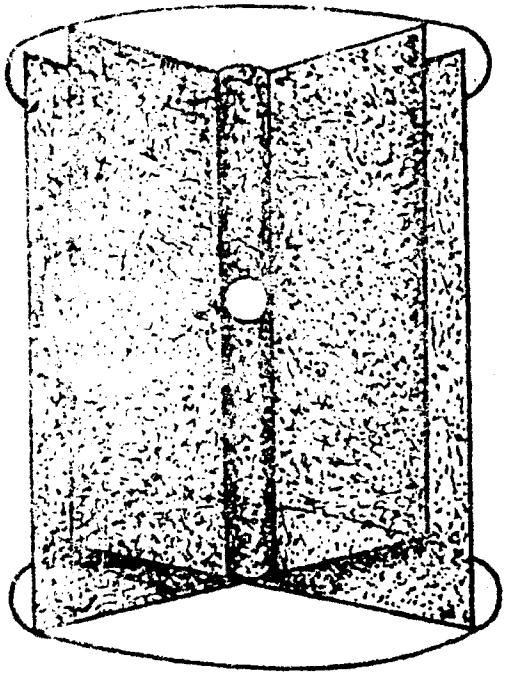
समय



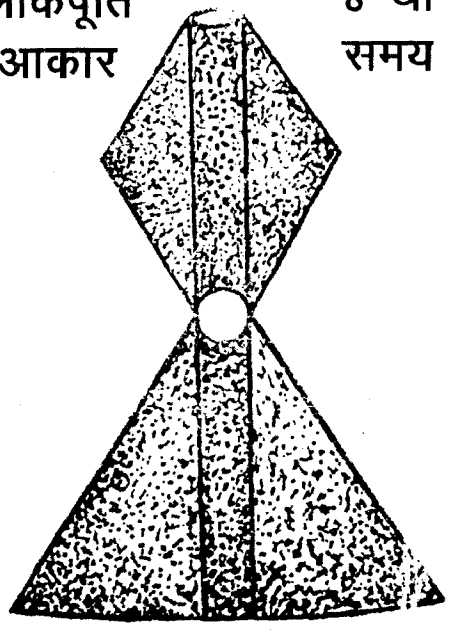
२ रा/६ ठा
समय

३रा/५ वां
समय

मंथन आकार



लोकपूर्ति
आकार



४ था
समय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- प्रस्तुत ग्रंथ में जीवों में जो समुद्घात बताये हैं, उनका **प्रज्ञापना, पंचसंग्रह, जीव-समास** आदि के साथ विरोध आता है। चतुर्विंशति दंडक के क्रम से समुद्घात की चर्चा करने वाला **प्रज्ञापना** सूत्र कहता है कि—

नारकी में— ४ समुद्घात (वेदना, कषाय, मरणान्तिक, वैक्रिय), तथाविध स्वभाव के कारण नारकी में तेजोलेश्यालब्धि, आहारकलब्धि और केवललब्धि नहीं होती।

१० भवनपति में—५ समुद्घात (वेदना, कषाय, मारणान्तिक, वैक्रिय और तैजस्) भवनपति में तेजोलेश्या होने से पूर्वोक्त ५ समुद्घात हैं।

एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय में = ३ समुद्घात (वेदना, कषाय, मरण), परन्तु वायुकाय में वैक्रिय सहित = ४, कारण बादर पर्याप्ता वायुकाय में वैक्रिय लब्धि होती है।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च में—तैजस् सह पूर्वोक्त ४ समुद्घात होते हैं। तिर्यंचों में क्वचित् तेजोलेश्या और वैक्रियलब्धि होती है।

मनुष्य में = ७ समुद्घात (वेदना, कषाय, मरण, तैजस्, वैक्रिय, आहारक और केवली) है।

व्यंतर, ज्योतिष् और वैमानिक में—५ समुद्घात होते हैं (वेदना, कषाय, मरण, तैजस् और वैक्रिय), आहारक और केवली समुद्घात नहीं होते ॥१३११-१६॥

२३२ द्वार : पर्याप्ति—

आहार सरीरिंदिय पज्जत्ती आणपाण भास मणे।
चत्तारि पंच छप्पिय एगिंदियविगलसन्नीणं ॥१३१७॥
पढमा समयपमाणा सेसा अंतोमुहुत्तिया य कमा।
समगंपि हुंति नवरं पंचम छट्ठा य अमरणं ॥१३१८॥

—गाथार्थ—

पर्याप्ति छः—**१. आहार २. शरीर ३. इन्द्रिय ४. श्वासोच्छ्वास ५. भाषा और ६. मन — ये छः पर्याप्तियाँ हैं। इनमें से एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय के क्रमशः चार, पाँच और छः पर्याप्तियाँ होती हैं॥१३१७॥**

प्रथम पर्याप्ति का कालमान एक समय एवं शेष पर्याप्तियों का क्रमशः पृथक्-पृथक् अन्तर्मुहूर्त्त का है। परन्तु देवों की पाँचवीं और छट्ठी पर्याप्ति साथ ही पूर्ण होती है॥१३१८॥

—विवेचन—

पर्याप्ति = आहार आदि के पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें आहार, खल, रस आदि के रूप में परिणत करने की आत्मिक शक्ति विशेष। वह शक्ति पुद्गल के उपचय से उत्पन्न होती है। सारांश यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि उत्पत्ति स्थान में आने के बाद जीव द्वारा प्रथम समय में गृहीत पुद्गलों के साथ प्रतिसमय गृह्यमाण पुद्गलों का संपर्क होता है। संपर्क होने से ये पुद्गल तद्रूप बनते हैं। इससे आहारादि के पुद्गलों को खल, रस आदि के रूप में परिणत करने की जो शक्ति प्राप्त होती है वह पर्याप्ति कहलाती है। पर्याप्ति के छः भेद हैं—

१. आहार पर्याप्ति	२. शरीर पर्याप्ति	३. इन्द्रिय पर्याप्ति
४. भाषा पर्याप्ति	५. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति	६. मन पर्याप्ति

१. आहार पर्याप्ति—आहार के पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें खल, रस रूप में परिणत करने की जीव की शक्ति विशेष।

२. शरीर पर्याप्ति—रस रूप में परिणत आहार के पुद्गलों को रस, रक्त, माँस, मेद, हड्डी, मज्जा और वीर्य इन सात धातुओं के रूप में परिणमन करने की जीव की शक्ति विशेष।

३. इन्द्रिय पर्याप्ति—सात धातु के रूप में परिणत हुए आहार से इन्द्रियों की रचना के योग्य द्रव्य को ग्रहण कर उसे इन्द्रियों के रूप में परिणत करने वाली जीव की शक्ति विशेष।

४. भाषा पर्याप्ति—भाषावर्गणा के दलिकों को ग्रहण करके उन्हें भाषा के रूप में बदलकर भाषा के आलम्बन द्वारा अर्थात् वचनरूप में उनका प्रयोग करके उन दलिकों का पुनः विसर्जन करने वाली जीव की शक्ति विशेष।

५. श्वासोच्छ्वास—श्वास योग्य वर्गणा के दलिकों को ग्रहण करके श्वासोच्छ्वास रूप में बदलने वाली तथा उन्हीं पुद्गलों का आलंबन कर उन्हें छोड़ने वाली शक्ति विशेष।

६. मनः पर्याप्ति— मनोवर्गणा के दलिकों को ग्रहण करके उन्हें मन रूप में परिणत कर उन का आलम्बन लेकर पुनः उन्हें विसर्जन करनेवाली जीव की शक्ति विशेष।

किसके कितनी पर्याप्ति?

(i) एकेन्द्रिय = चार पर्याप्ति (आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति)

(ii) **(iii)** विकलेन्द्रिय, असंज्ञी = पांच पर्याप्ति (भाषा पर्याप्ति सहित पूर्वोक्त चार = पांच)

(iv) संज्ञी-पंचेन्द्रिय = छः पर्याप्ति (मन पर्याप्ति सहित पूर्वोक्त पांच = छः)

जो जीव स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही मरते हैं, वे भी आहार, शरीर और इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियों को तो पूरा करके ही मरते हैं। ऐसे जीव मरने से पूर्व अन्तर्मुहूर्त्त में परभव का आयु बाँधते हैं। अन्तर्मुहूर्त्त का अबाधाकाल भोगते हैं पश्चात् ही मरते हैं। अन्तर्मुहूर्त्त के अनेक भेद होने से पूर्वोक्त बात संगत है।

निष्पत्ति काल—जीव अपने योग्य पर्याप्तियों का प्रारम्भ तो उत्पत्ति के समय ही कर देता है, किन्तु उनकी समाप्ति अनुक्रम से होती है—

१. आहार पर्याप्ति = एक समय में।
२. शरीर पर्याप्ति = अन्तर्मुहूर्त्त में।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. इन्द्रिय पर्याप्ति = अन्तर्मुहूर्त्त में (शरीर पर्याप्ति के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त में पूर्ण होती है)
४. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति = अन्तर्मुहूर्त्त में (इन्द्रिय पर्याप्ति के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त में पूर्ण होती है)
५. भाषा पर्याप्ति = अन्तर्मुहूर्त्त में (श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त में पूर्ण होती है)
६. मनः पर्याप्ति = अन्तर्मुहूर्त्त (भाषा पर्याप्ति के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त में पूर्ण होती है)

छः पर्याप्ति को मिलाकर भी निष्पत्ति काल अन्तर्मुहूर्त्त ही है। इससे स्पष्ट है कि पूर्व पर्याप्ति के अन्तर्मुहूर्त्त की अपेक्षा उत्तर पर्याप्ति का अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण में बड़ा है। अन्तर्मुहूर्त्त के अनेक भेद हैं।

प्रश्न—आहार पर्याप्ति प्रथम समय में ही पूर्ण हो जाती है यह आप किस आधार से कह रहे हो?

उत्तर—प्रज्ञापना सूत्र के द्वितीय उद्देशक के आहार पद में **आर्य श्याम** ने कहा है कि 'आहार पज्जत्तीए अपज्जत्तए णं भंते किं आहारए अणाहारए? गोयमा! नो आहारए अणाहारए' अर्थात् आहार पर्याप्ति से अपर्याप्त जीव आहारी होता है या अनाहारी? भगवान्—गौतम! वह जीव आहारी नहीं किन्तु अनाहारी होता है।

आहार पर्याप्ति से अपर्याप्त जीव विग्रह-गति में ही होता है। उत्पत्ति स्थान में आने के बाद जीव प्रथम समय में ही आहार ग्रहण कर लेता है। यदि उपपात क्षेत्र में आने के बाद भी जीव प्रथम समय में आहार ग्रहण न करे, तो पूर्वोक्त सूत्र में ऐसा कहना चाहिये कि 'सिय आहारए, सिय अणाहारए' (आहारी भी हो सकता है, अनाहारी भी हो सकता है) जैसे कि शरीरादि पर्याप्ति के विषय में इसी सूत्र में "सिय आहारए, सिय अणाहारए" कहा है। अर्थात् शरीर पर्याप्ति से अपर्याप्त जीव विग्रह-गति में अनाहारक होता है तथा उत्पत्ति से लेकर शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक आहारक होता है। इसलिये यहाँ 'स्यात् आहारक, स्यात् अनाहारक' कहा। इन्द्रिय आदि पर्याप्तियों के विषय में भी यही समझना चाहिये। पर्याप्तियों का अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण निष्पत्ति-काल औदारिक शरीर की अपेक्षा से कहा है।

आहारक और वैक्रिय शरीर की अपेक्षा से निष्पत्ति-काल—

१ .आहार पर्याप्ति = १ समय
२. शरीर पर्याप्ति = अन्तर्मुहूर्त्त
३. इन्द्रिय पर्याप्ति = १ समय
४. भाषा पर्याप्ति = १ समय
५. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति = १ समय
६. मनः पर्याप्ति = १ समय

वैक्रिय और आहारक शरीरी जीव एक ही साथ अपने योग्य सभी पर्याप्तियों को प्रारम्भ करते हैं, किन्तु उनकी समाप्ति क्रमशः एक-एक समय के अन्तर से होती है। देवों के भाषा और मन पर्याप्ति एक ही साथ पूर्ण होती है। **भगवती सूत्र** में इन दोनों पर्याप्तियों को अलग न मानकर एक ही माना है। इस प्रकार देवों के छः पर्याप्ति के स्थान पर पाँच ही पर्याप्तियाँ बताई हैं। "पंचविहाए पज्जत्तीए" इसका अर्थ बताते हुए टीकाकार ने कहा है कि आहार, शरीर आदि पर्याप्तियाँ अन्यत्र छः प्रकार की बताई हैं, किन्तु प्रकृत सूत्र में बहुश्रुतों ने किसी कारण से भाषा और मन पर्याप्ति को एक मानकर पाँच पर्याप्तियाँ ही बताई हैं॥ १३१७-१८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३३ द्वार : अनाहारक ४—

विग्गहगइमावन्ना केवलिणो समोहया अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारगा जीवा ॥१३१९॥

—गाथार्थ—

चार अनाहारी—**१. विग्रहगतिवर्ती २. केवली समुद्घात करने वाले ३. अयोगी केवली तथा ४. सिद्ध परमात्मा अनाहारी हैं। शेष सभी जीव आहारी हैं॥१३१९॥**

—विवेचन—

१. विग्रहगति में स्थित जीव।
२. केवली समुद्घात के ३रे-४थे और ५वें समय में स्थित जीव।
३. अयोगी (शैलेशीकरण करते समय) आत्मा।
४. सिद्धात्मा।
ये चार जीव अनाहारक होते हैं।

परभव जाते समय जीवों की गति दो प्रकार की होती है—

(i) ऋजुगति—यह गति एक समय की है। जीव के मरण-स्थान से उसका उत्पत्ति-स्थान समश्रेणी (सीधी लाइन) में स्थित है तो वह प्रथम समय में ही अपने उत्पत्ति-स्थान में सीधा पहुँच जाता है। ऋजुगति से जाने वाला जीव निश्चितरूप से आहारक होता है, क्योंकि इसमें पुराने एवं नये शरीर के बीच समयान्तर नहीं रहता। एक समय में ही पूर्व शरीर का त्याग एवं उत्तर शरीर के योग्य पुद्गलों का ग्रहण हो जाता है। यह ओजाहार है। इस प्रकार ऋजुगति में नियम से आहार होता है।

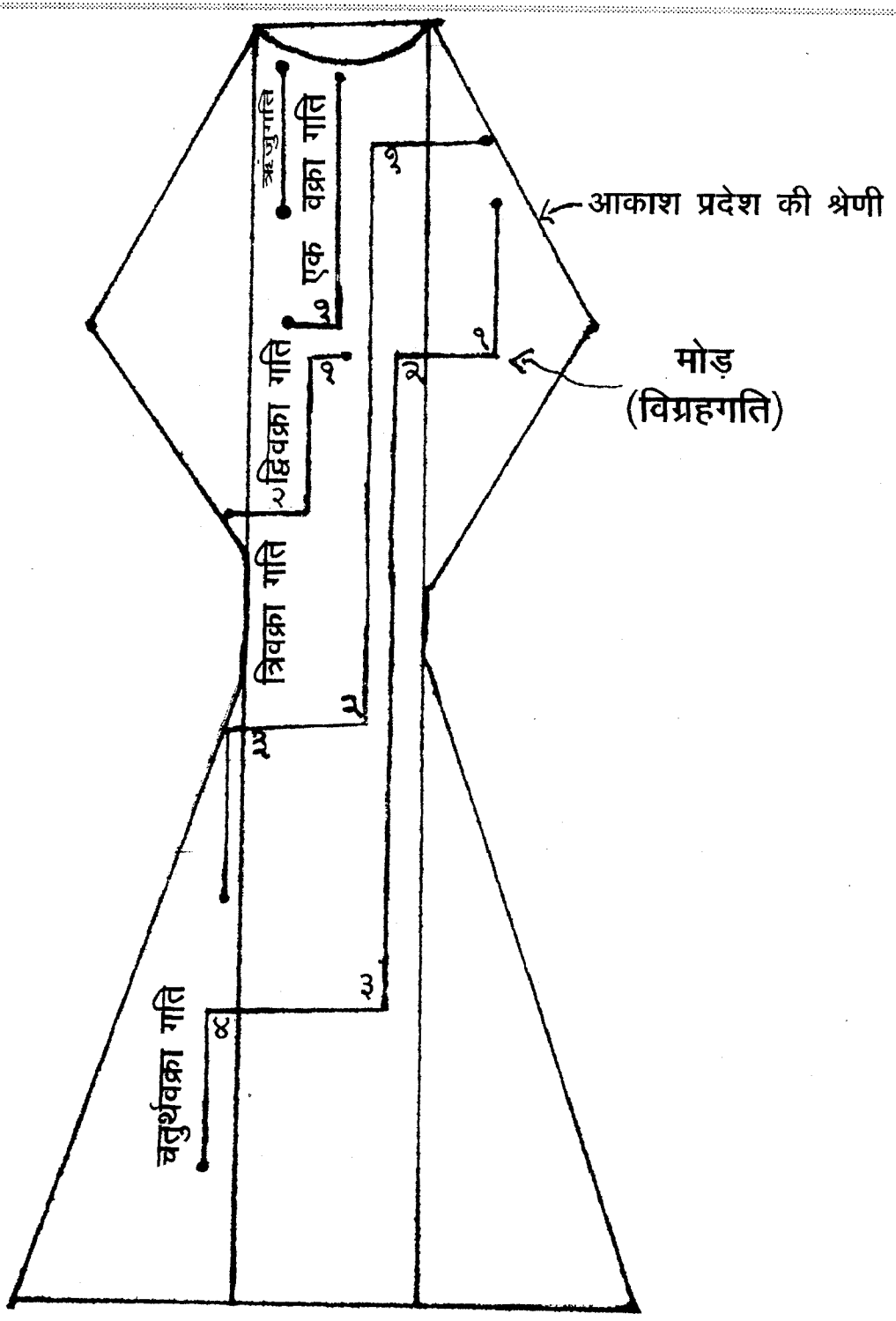
(ii) विग्रह गति—जीव के मरण-स्थान से उसका उत्पत्ति-स्थान जब वक्रश्रेणी में होता है तो जीव की विग्रह गति होती है अर्थात् जीव बीच में मोड़ लेता हुआ अपने उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है। जिस गति में समय का व्यवधान होता है वह विग्रह गति है। अधिक से अधिक जीव तीन मोड़ लेता है। इसमें क्रमशः दो समय, तीन समय, और चार समय लगते हैं। यदा कदा चार वक्र भी होते हैं।

(अ) एक वक्रा—यह दो समय की होती है। दो समय की वक्रगति में जीव निश्चित रूप से आहारक होता है। प्रथम समय में जीव पूर्व शरीर को छोड़ते हुए उस शरीर सम्बन्धी कुछ पुद्गल लोमाहार के रूप में अवश्य ग्रहण करता है अतः वहाँ आहारक होता है। वैसे ही दूसरे समय में उत्पत्तिस्थान पर पहुँचकर तद्भव सम्बन्धी शरीर योग्य पुद्गलों को ग्रहण करने से आहारक होता है। आहार का अर्थ है औदारिक, वैक्रिय व आहारक शरीर योग्य पुद्गलों को ग्रहण करना।

(ब) दो वक्रा—इसमें तीन समय लगते हैं। यहाँ प्रथम और अंतिम समय में जीव पूर्ववत् आहारक और मध्यवर्ती समय में अनाहारक होता है।

(स) त्रसनाड़ी के बाहर नीचे से ऊपर व ऊपर से नीचे उत्पन्न होने वाला जीव यदि विदिशा से दिशा में या दिशा से विदिशा में उत्पन्न हो तो वहाँ पहुँचने में जीव को तीन मोड़ लेने पड़ते हैं। इसमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चार समय लगते हैं। विदिशा से दिशा में उत्पन्न होने वाला जीव प्रथम समय में विदिशा से दिशा में आता है.....द्वितीय समय में त्रसनाड़ी में प्रवेश करता है.....तृतीय समय में ऊपर से नीचे या नीचे से ऊपर जाता है और चतुर्थ समय में बाहर उत्पन्न होता है। दिशा से विदिशा में उत्पन्न होने वाला जीव प्रथम समय में त्रसनाड़ी में प्रवेश करता है। द्वितीय समय में ऊपर से नीचे अथवा नीचे से ऊपर जाता है। तृतीय समय में त्रसनाड़ी से बाहर निकलता है और चतुर्थ समय में विदिशा में उत्पन्न होता है। यहाँ प्रथम और अंतिम समय में जीव आहारक तथा मध्यवर्ती दो समय में अनाहारक होता है।

(द) **चतुर्-वक्रा**—इसमें पाँच समय लगते हैं। जब कोई जीव त्रस नाड़ी से बाहर विदिशा में से निकलकर विदिशा में ही उत्पन्न होने वाला होता है, तो उसकी चतुर् वक्रा गति होती है। प्रथम समय में वह त्रस-नाड़ी से बाहर विदिशा में से दिशा में आता है। दूसरे समय में त्रस-नाड़ी में प्रवेश करता है। तीसरे समय में ऊपर अथवा नीचे आता है। चौथे समय में त्रस-नाड़ी से बाहर निकलता है और पाँचवें समय में विदिशा में स्थित अपने उत्पत्ति-स्थान में पहुँचता है। यहाँ भी प्रथम और अंतिम समय में जीव आहारक और मध्यवर्ती तीनों समय में अनाहारक होता है।

अष्टसमय परिमाण वाले, केवलिसमुद्घात को करते समय, तीसरे, चौथे व पाँचवें समय में जीव मात्र कार्मणकाय योगी होने से अनाहारी होता है। शैलेशी अवस्था में, अयोगी आत्मा ५ ह्रस्वाक्षर उच्चारण काल पर्यंत अनाहारी होते हैं तथा सिद्धभगवंत सादि अनंत काल तक अनाहारी ही है ॥१३१९॥

२३४ द्वार : भयस्थान—

इह परलोयाऽऽयाणा-मकम्ह आजीव मरण मसिलोए।
सत्त भयट्ठाणाइं इमाइं सिद्धंतभणियाइं ॥१३२०॥

—गाथार्थ—

भयस्थान सात—**१. इहलोक भय २. परलोक भय ३. आदान भय ४. अकस्मात् भय ५. आजीविका भय ६. मरण भय और ७. अश्लोक भय—ये सात भयस्थान आगम में कहे गये हैं ॥१३२०॥**

—विवेचन—

भय — भय मोहनीय कर्म से जन्य आत्मा का परिणाम विशेष।

स्थान — भय के कारण, निमित्त या आश्रय।

भय स्थान सात हैं—

१. इहलोकभय—सजातीय से भय होना। जैसे किसी को अपने सजातीय मनुष्य से भय लगना इहलोकभय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **परलोकभय**—विजातीय से भय होना। जैसे, किसी मनुष्य को तिर्यंच या देव से भय लगना परलोकभय है।

३. **आदानभय**—किसी से कुछ लेना आदान है। मेरे से कोई कुछ ले लेगा, इस प्रकार छीने जाने का भय आदानभय है। जैसे, चोर मेरा कुछ चुरा लेंगे, ऐसा भय लगना।

४. **अकस्मात्भय**—बिना किसी बाह्यनिमित्त के भय होना। जैसे कईयों को रात में बन्द कमरे में सोते-सोते ही डर लगता है।

५. **आजीविकाभय**—जीवन निर्वाह के लिये चिन्ता करना। जैसे—अकाल की संभावना होने पर चिन्ता करना कि मैं निर्धन हूँ....अकाल पड़ने पर मेरी क्या दशा होगी? मैं कैसे जीऊँगा?....इत्यादि।

६. **मरणभय**—ज्योतिषी आदि से अपनी मृत्यु निकट जानकर डरना।

७. **अश्लोकभय**—अकार्य करते हुए लोकनिन्दा से डरना ॥१३२०॥

२३५ द्वार : अप्रशस्तभाषा—

हीलिय खिंसिय फरुसा अलिआ तह गारहत्थिया भासा।
छट्ठी पुण उवसंताहिगरणउल्लाससंजणणी ॥१३२१॥

—गाथार्थ—

छः अप्रशस्तभाषा—**१. हीलिता २. खिंसिता ३. परुषा ४. अलीका ५. गार्हस्थिका तथा ६. उपशांत अधिकरण उल्लास-संजननी—ये छः अप्रशस्त भाषा है ॥१३२१॥**

—विवेचन—

अप्रशस्त = कर्मबंध के हेतुभूत, भाषा = वचन।

(i) हीलिता —तिरस्कारपूर्वक बोलना, हे वाचक! हे ज्येष्ठार्य.....इत्यादि।

(ii) खिंसिता —निन्दा करना। किसी की हलकी बात सब के सम्मुख प्रकट करना।

(iii) परुषा —कठोर वचन बोलना....यह दुष्ट है....बदमाश है....इत्यादि।

(iv) अलीका —झूठ बोलना। किसी के द्वारा पूछने पर कि तुम दिन में जाते हो? कहना कि नहीं जाता हूँ।

(v) गार्हस्थी —साधु होकर गृहस्थ की भाषा में बोलना। मेरा पुत्र....मेरा भाई...मेरे माता-पिता इत्यादि।

(vi) उपशान्ताधिकरणोल्लाससंजननी—उपशान्त = शांत हुए, अधिकरण = कलह को, उल्लास = पुनः, संजननी = पैदा करने वाली भाषा अर्थात् शान्त हुए कलह को प्रेरित कर पुनः पैदा करने वाली भाषा ॥१३२१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३६ द्वार : अणुव्रत-भंग भेद (भांगे) —

दुविहा अट्ठविहा वा बत्तीसविहा य सत्तपणतीसा ।
सोलस य सहस्स भवे अट्ठ सयट्ठोत्तरा वइणो ॥१३२२ ॥
दुविहा विरयाविरया दुविहं तिविहाइणट्ठहा हुंति ।
वयमेगेगं छव्विह गुणियं दुगमिलिय बत्तीसं ॥१३२३ ॥
तिन्नि तिया तिन्नि दुया, तिन्निक्केक्का य हुंति जोएसु ।
ति दु एक्कं ति दु एक्कं, ति दु एक्कं चेव करणाइं ॥१३२४ ॥
मणवयकाइयजोगे करणे कारावणे अणुमईए ।
एक्कग-दुगतिगजोगे सत्ता सत्तेव गुणवन्ना ॥१३२५ ॥
पढमेक्को तिन्नि तिया दोन्नि नवा तिन्नि दो नवा चेव ।
कालतिगेण य गुणिया सीयालं होइ भंगसयं ॥१३२६ ॥
पंचाणुव्वयगुणियं सीयालसयं तु नवरि जाणाहि ।
सत्त सया पणतीसा सावयवयगहणकालंमि ॥१३२७ ॥
सीयालं भंगसयं जस्स विसुद्धीए होइ उवलद्धं ।
सो खलु पच्चक्खाणे कुसलो सेसा अकुसला उ ॥१३२८ ॥
दुविहतिविहाइ छव्विह तेसिं भेया कमेणिमे हुंति ।
पढमेक्को दुन्नि तिया दुगेग दो छक्क इगवीसं ॥१३२९ ॥
एगवए छब्भंगा निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते ।
ते च्चिय पयवुड्ढीए सत्तगुणा छज्जुया कमसो ॥१३३० ॥
इगवीसं खलु भंगा निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते ।
ते च्चिय बावीसगुणा इगवीसं पक्खिवेयव्वा ॥१३३१ ॥
एगवए नव भंगा निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते ।
ते च्चिय दसगुण काउं नव पक्खेवंमि कायव्वा ॥१३३२ ॥
इगवन्नं खलु भंगा निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते ।
ते च्चिय पन्नासगुणा, गुणवन्नं पक्खिवेयव्वा ॥१३३३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एगाई एगुत्तरपत्तेयपयंमि उवरि पक्खेवो ।
एक्केक्कहाणिअवसाणसंखया हुंति संयोगा ॥१३३४ ॥
अहवा पयाणि ठविउं अक्खे घित्तूण चारणं कुज्जा ।
एक्कगदुगाइजोगा भंगाणं संख कायव्वा ॥१३३५ ॥
बारस छावट्ठीविय वीसहिया दो य पंच नव चउरो ।
दो नव सत्त य चउ दोन्नि नव य दो नव य सत्तेव ॥१३३६ ॥
पण नव चउरो वीसा य दोन्नि छावट्ठि बारसेक्को य ।
सावय भंगाणमिमे सव्वाणवि हुंति गुणकारा ॥१३३७ ॥
छच्चेव य छत्तीसा सोल दुगं चेव छ नव दुगमिक्कं ।
छ सत्त सत्त सत्त य छप्पन छसट्ठि चउ छट्ठे ॥१३३८ ॥
छत्तीसा नवनउई सत्तावीसा य सोल छन्नउई ।
सत्त य सोलस भंगा अट्ठमठाणे वियाणाहि ॥१३३९ ॥
छन्नउई छावत्तरि सत्त दु सुन्नेक्क हुंति नवमम्मि ।
छाहत्तरि इगसट्ठि छायाला सुन्न छच्चेव ॥१३४० ॥
छप्पन्न सुन्न सत्त य नव सत्तावीस तह य छत्तीसा ।
छत्तीसा तेवीसा अडहत्तरी छहत्तरीगवीसा ॥१३४१ ॥
दुविहतिविहेण पढमो दुविहं दुविहेण बीयओ होइ ।
दुविहं एगविहेणं एगविहं चेव तिविहेणं ॥१३४२ ॥
एगविहं दुविहेणं एक्केक्कविहेण छट्ठओ होइ ।
उत्तरगुण सत्तमओ अविरयओ अट्ठमो होइ ॥१३४३ ॥
पंचण्हमणुवयाणं एकगदुगतिगचउक्कपणगेहिं ।
पंचगदसदसपणएक्कगो य संजोय नायव्वा ॥१३४४ ॥
छच्चेव य छत्तीसा सोल दुगं चेव छ नव दुग एक्कं ।
छस्सत्त सत्त सत्त य पंचण्ह वयाणगुणणपयं ॥१३४५ ॥
वयएक्कग्गसंजोगाण हुंति पंचण्ह तीसई भंगा ।
गुणसंजोग दसण्हंपि तिन्नि सट्ठा सया हुंति ॥१३४६ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिग संजोग दसण्हं भंगसया एक्कवीसई सट्ठा ।
चउसंजोगप्पणगे चउसट्ठि सयाण असियाणि ॥१३४७ ॥
सत्तत्तरी सयाइं छहत्तराइं तु पंचमे हुंति ।
उत्तरगुण अविरयमेलियाण जाणाहि सव्वग्गं ॥१३४८ ॥
सोलस चेव सहस्सा अट्ठ सया चेव हुंति अट्ठहिया ।
एसो वयपिंडत्थो दंसणमाई उ पडिमाओ ॥१३४९ ॥
तेरसकोडिसयाइं चुलसी इजुयाइं बारस य लक्खा ।
सत्तासीई सहस्सा दो य सया तह दुरुत्ता य ॥१३५० ॥

—गाथार्थ—

अणुव्रतों के भांगे—दो प्रकार के, आठ प्रकार के, बत्तीस प्रकार के, सात सौ पैंतीस प्रकार तथा सोलह हजार आठ सौ आठ प्रकार के व्रतधारी होते हैं ॥१३२२ ॥

विरत-अविरत के भेद से दो प्रकार के, त्रिविध आदि के भेद से आठ प्रकार के, तथा प्रत्येक व्रत को छः से गुणा करके उसमें दो जोड़ने से बत्तीस प्रकार के होते हैं ॥१३२३ ॥

योगों के लिये तीन का अंक तीन बार, दो का अंक तीन बार तथा एक का अंक तीन बार लिखना होता है। करण के लिये क्रमशः तीन, दो, और एक के अंकों को तीन बार लिखना होता है ॥१३२४ ॥

मन, वचन और काय रूप तीन योगों के करने, कराने और अनुमोदन करने रूप तीन करणों के साथ परस्पर एक संयोगी, द्विसंयोगी और त्रिसंयोगी भांगों के सात सप्तक बनते हैं। इन सात सप्तकों के कुल मिलाकर उनपचास भांगे होते हैं ॥१३२५ ॥

प्रथम भांगे में एक भेद, पश्चात् तीन भांगों में तीन-तीन भेद, पश्चात् दो भांगों में नौ-नौ भेद, पश्चात् एक में तीन और अन्तिम दो में पुनः नौ-नौ भेद होते हैं। इन सभी को तीन काल से गुणा करने पर एक सौ सैंतालीस भांगे होते हैं ॥१३२६ ॥

एक सौ सैंतालीस भेदों को पाँच अणुव्रतों के साथ गुणा करने पर सात सौ पैंतीस भेद होते हैं। ये भेद श्रावक के व्रत ग्रहण काल से सम्बन्धित समझना चाहिये ॥१३२७ ॥

जिसने प्रत्याख्यान के एक सौ सैंतालीस भांगों को अच्छी तरह समझ लिया है वही प्रत्याख्यान में कुशल है। शेष को अकुशल समझना चाहिये ॥१३२८ ॥

द्विविध, त्रिविध आदि छः भांगे हैं। उनके भेदों का क्रम इस प्रकार है। पहिले में एक, दो में तीन, एक में दो और दो में छः-छः भेद होते हैं। इस प्रकार कुल इक्कीस भेद होते हैं ॥१३२९ ॥

सूत्र में श्रावकों के एक व्रत के जो छः भांगे बताये हैं, उन्हीं भांगों की पदवृद्धि करते हुए सात से गुणा करके छः जोड़ने पर भांगों की कुल संख्या आती है ॥१३३० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्र में श्रावकों के जो इक्कीस भांगे बताये हैं उन्हें बाईस से गुणा करके इक्कीस जोड़ने पर क्रमशः बारह व्रत के कुल भांगों की संख्या आती है ॥१३३१॥

सूत्र में श्रावकों के एकव्रत के जो नौ भांगे बताये हैं उन्हें दस से गुणा करके नौ जोड़ने पर भांगों की संख्या आती है ॥१३३२॥

सूत्र में श्रावकों के जो उनपचास भांगे बताये हें उन्हें पचास से गुणा करके गुणनफल में इक्यावन जोड़ना चाहिये ॥१३३३॥

एक से लेकर जितने संयोगी भांगे करने हों, एक से लेकर उतने अंक क्रमशः वृद्धिपूर्वक खड़ी पंक्ति में स्थापन करना। तत्पश्चात् नीचे के अंक को ऊपर के अंक में जोड़कर अगली खड़ी पंक्ति के रूप में लिखते जाना। पंक्ति के ऊपरवर्ती अंक में कुछ भी नहीं जोड़ना है। इस प्रकार अंतिम संख्या द्वारा संयोगी भांगों की कुल संख्या आती है ॥१३३४॥

अथवा विवक्षित पदों को पट आदि पर लिखकर अक्ष द्वारा गुणाकार करना। एक, दो आदि पदों का संयोग करने पर एक संयोगी आदि भांगों की कुल संख्या आती है ॥१३३५॥

१. बारह २. छ्यासठ ३. दो सौ बीस ४. चार सौ पंचाणुं ५. सात सौ बाणुं ६. नौ सौ चौबीश ७. सात सौ बाणुं ८. चार सौ पंचाणुं ९. दो सौ बीस १०. छासठ ११. बारह १२. एक। इस प्रकार श्रावक के संपूर्ण भांगों का गुणाकार होता है ॥१३३६-३७॥

छः, छत्तीस, दो सौ सोलह, बारह सौ छन्नु, सितत्तर सो छिअत्तर, छयालीस हजार छः सौ छप्पन्न, दो लाख उन्न्यासी हजार नौ सौ छत्तीस, सोलह लाख उन्न्यासी हजार छः सौ सोलह, अष्टम स्थान के भांगे हैं। एक करोड़ सितत्तर हजार छः सौ छन्नु ये नौवें स्थान के भांगे हैं। छः करोड़ चार लाख छासठ हजार एक सौ छिअत्तर, छत्तीस करोड़ सत्तावीस लाख सत्ताणुं हजार छप्पन्न, दो अरब सित्तर करोड़ सड़सठ लाख बयासी हजार तीन सौ छत्तीस भांगे हैं ॥१३३८-४१॥

प्रथम भंग—द्विविध-त्रिविध। द्वितीय भंग—द्विविध-द्विविध। तृतीय भंग-द्विविध-एकविध। चतुर्थ भंग—एकविध-त्रिविध। पंचम भंग—एकविध-द्विविध। षष्ठ भंग—एकविध-एकविध। सप्तम भंग—उत्तर गुण रूप। अष्टम भंग—अविरतसम्यग्दृष्टिरूप है ॥१३४२-४३॥

पाँच अणुव्रतों के एक संयोगी पाँच, द्विसंयोगी दस, त्रिसंयोगी दस, चार संयोगी पाँच और पाँच संयोगी एक भांगा होता है ॥१३४४॥

छः, छत्तीस, सोलह, दो सौ सोलह, बारह सौ छन्नु, सात हजार सात सौ छिअत्तर, ये पाँच अणुव्रतों के गुणनपद हैं ॥१३४५॥

व्रत सम्बन्धी एक संयोगी पाँच भांगों के तीस भांगे, द्विसंयोगी दस भांगों के तीन सौ साठ भांगे, त्रिसंयोगी दस भांगों के इक्कीस सौ साठ भांगे, चतुर्संयोगी पाँच भांगों के चौसठ सौ अस्सी भांगे, पाँच संयोगी भांगे के सितत्तर सौ छिअत्तर भांगे होते हैं। उत्तर गुण और अविरत को मिलाकर कुल सोलह हजार आठ सौ आठ भांगे होते हैं। यह संख्या पाँच व्रतों के सामूहिक भांगों की है। दर्शन आदि की नहीं है। दर्शन आदि तो प्रतिमा-अभिग्रह विशेष रूप है ॥१३४६-४९॥

तेरह सौ चौरासी करोड़, बारह लाख सत्यासी हजार दो सौ दो—यह संख्या छः भंगी युक्त बारह देवकुलिकाओं की संपूर्ण संख्या में उत्तरगुण तथा अविरतसम्यक्त्व रूप दो भेद मिलाने से होती है ॥१३५०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

व्रत = नियमविशेष, व्रती = नियमविशेष का पालन करने वाले श्रावक। यहाँ व्रती शब्द का अर्थ देशविरति ही नहीं है, परन्तु नियम विशेष का पालन करने वाला है। अतः अविरत सम्यक् दृष्टि भी व्रती की कोटि में आता है क्योंकि वह भी सम्यक् श्रद्धानरूप नियमसंपन्न है। सामान्यतया श्रावकों का पच्चक्खाण दो करण-तीन योग से होता है परन्तु सभी की शक्ति व परिस्थिति समान नहीं होती। अतः सभी लोग चाहते हुए भी दो करण-तीन योग से पच्चक्खाण नहीं कर सकते। ऐसे आत्मा भी यथाशक्ति श्रावकव्रत स्वीकार कर सकें, इसके लिये व्रतग्रहण के कई भेद बताये हैं। उनकी अपेक्षा से श्रावकों के भी अनेकभेद होते हैं।

१. श्रावक के दो भेद—

(i) विरतिधारी — देशविरति श्रावक

(ii) अविरतिधारी — औपशमिक, क्षायिक आदि सम्यक्त्व संपन्न सत्यकि, श्रेणिक, कृष्ण आदि।

२. श्रावक के आठ भेद—

(i) द्विविध-त्रिविध—दो करण और तीन योग से पच्चक्खाण करने वाले श्रावक। जैसे स्थूलहिंसा स्वयं न करना, अन्य से न कराना, मन से वचन से और काया से। इस प्रकार व्रतग्रहण करने वाले श्रावकों का व्रत 'द्विविध त्रिविध' कहलाता है। इसमें व्रती को अनुमति देने की छूट रहती है। श्रावक स्त्री पुत्रादि परिग्रह वाला होने से उनके द्वारा होने वाले हिंसादि पापों में उसकी अनुमति की भी संभावना रहती है। अन्यथा साधु और गृहस्थ में कोई अन्तर नहीं होगा।

- **'भगवती सूत्र'** में श्रावक के लिये जो 'त्रिविध-त्रिविधेन' तीन करण और तीन योग से प्रत्याख्यान ग्रहण करने की जो बात कही है वह विशेष-विषयक है—जैसे किसी श्रावक की दीक्षा ग्रहण करने की प्रबल इच्छा है परन्तु पुत्रादि परिवार का पालन करने के लिये गृहस्थ में रहना आवश्यक है। ऐसा श्रावक प्रतिमा ग्रहण करते समय व्रतों का 'त्रिविध-त्रिविधेन' ग्रहण कर सकता है अथवा स्वयंभूरमण समुद्रवर्ती मत्स्यों के मांस, हाथियों के दांत, चीतों की छाल आदि के लिये की जाने वाली हिंसा का अथवा अवस्थाविशेष में स्थूलहिंसा का प्रत्याख्यान करने वाला श्रावक 'त्रिविध-त्रिविधेन' व्रतग्रहण कर सकता है। पर श्रावक का यह व्रत अत्यंत अल्पविषयक होने से गणना में नहीं आता।

(ii) द्विविध-द्विविध—दो करण दो योग से पच्चक्खाण करने वाले श्रावक। यह पच्चक्खाण तीन प्रकार का है—

(अ) स्थूलहिंसा आदि स्वयं न करना, न कराना मन से, वचन से। इस प्रकार व्रत ग्रहण करने वाला आत्मा मात्र काया से असंज्ञी की तरह हिंसादि पापों को करता है।

(ब) स्थूलहिंसा आदि स्वयं न करना, न कराना, मन से व काया से। इस प्रकार व्रत ग्रहण करने वाला आत्मा अज्ञानवश मात्र वचन से ही मारता हूँ, वध करता हूँ ऐसा बोलता है। पर मानसिक उपयोग एवं कायिक दुष्प्रवृत्ति से रहित होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(स) स्थूल हिंसा आदि स्वयं न करना, न कराना वचन से व काया से। इस प्रकार व्रत ग्रहण करने वाला आत्मा मात्र मन से ही हिंसादि करने, कराने का दुर्विचार करता है। अनुमति की तीनों विकल्पों में छूट है।

(iii) द्विविध-एकविध — दो करण एक योग से पच्चक्खाण करने वाले श्रावक। इसके भी तीन भेद हैं—

(अ) — स्थूलहिंसादि आदि स्वयं न करना, न कराना मन से।

(ब) — स्थूलहिंसादि स्वयं न करना, न कराना वचन से।

(स) — स्थूलहिंसादि स्वयं न करना, न कराना काया से।

(iv) एकविध-त्रिविध — एक करण, तीन योग से पच्चक्खाण करने वाले श्रावक। इसके दो भेद हैं—

(अ) — स्थूलहिंसादि न करना, मन से, वचन से और काया से।

(ब) — स्थूलहिंसादि न कराना, मन से, वचन से और काया से।

(v) एकविध-द्विविध — इसके उत्तरभेद छः हैं। एक करण और दो योग से पच्चक्खाण करने वाले श्रावक।

(अ) — स्थूलहिंसादि न करना, मन-वचन से।

(ब) — स्थूलहिंसादि न करना, मन-काया से।

(स) — स्थूलहिंसादि न करना, वचन-काया से।

(द) — स्थूलहिंसादि न कराना, मन-वचन से।

(त) — स्थूलहिंसादि न कराना, मन-काया से।

(थ) — स्थूलहिंसादि न कराना, वचन-काया से।

(vi) एकविध-एकविध — एक करण एक योग से पच्चक्खाण करने वाले श्रावक। इसके भी उत्तरभेद छः हैं।

(अ) — स्थूलहिंसादि न करना, मन से।

(ब) — स्थूलहिंसादि न करना, वचन से।

(स) — स्थूलहिंसादि न करना, काया से।

(द) — स्थूलहिंसादि न कराना, मन से।

(त) — स्थूलहिंसादि न कराना, वचन से।

(थ) — स्थूलहिंसादि न कराना, काया से।

इस प्रकार श्रावक के पच्चक्खाण के मूलभंग छः और उत्तरभंग इक्कीस हैं। इन्हें कोष्ठक द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग	२	२	२	१	१	१
करण	३	२	१	३	२	१
भंग	१	३	३	२	६	६

(vii) उत्तरगुण — उत्तरगुण सम्बन्धी पच्चक्खाण करने वाले श्रावक। यद्यपि उत्तरगुण सात हैं—तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। उनका ग्रहण कई प्रकार से हो सकता है तथापि सामान्यतया उत्तरगुणों को एक मानकर यहाँ भेदों की अपेक्षा ही नहीं रखी।

- श्रावकों के व्रत दो प्रकार के हैं—मूलगुण सम्बन्धी और उत्तरगुण सम्बन्धी। मूलगुण सम्बन्धी व्रतग्रहण के पूर्वोक्त मूलभेद ६ व उत्तरभेद इक्कीस हैं। पर उत्तरगुण सम्बन्धी व्रतग्रहण का कोई भेद नहीं है।

(viii) अविरतसम्यगृदृष्टि— क्षायिकादि सम्यक्त्व युक्त श्रावक।

३. श्रावक के बत्तीस भेद—

'स्थूलप्राणातिपातविरमण' आदि पाँचों व्रतों में से प्रत्येक व्रत छः प्रकार से ग्रहण किया जा सकता है। जैसे, कोई प्रथमव्रत को द्विविध-त्रिविध ग्रहण करता है, कोई द्विविध-द्विविध ग्रहण करता है, इत्यादि। इस प्रकार पाँच व्रत के ५ × ६ = ३० प्रकार होते हैं। इसमें उत्तरगुण व 'अविरतसम्यग्दृष्टि' ये दो भेद जोड़ने से ३० + २ = ३२ व्रतग्रहण के प्रकार होते हैं। इसके अनुसार व्रतग्रहण करने वाले श्रावक भी ३२ प्रकार के होते हैं।

आवश्यक के मतानुसार—

कोई आत्मा पाँच व्रत एक साथ ग्रहण करता है, कोई चार व्रत, कोई तीन व्रत, कोई दो व्रत तो कोई एक व्रत। पर ये सभी छः प्रकार से ग्रहण किये जाते हैं। अतः ऐसे भी पाँच व्रत के ग्रहण करने की अपेक्षा से ३० भेद होते हैं। इनमें उत्तरगुण व 'अविरत-सम्यग्-दृष्टि', इन दो भेदों को जोड़ने से ३० + २ = ३२ भेद श्रावकव्रत के होते हैं।

व्रतग्रहण के पूर्वोक्त भेद **आवश्यक-निर्युक्ति** के अनुसार बताये गये हैं। **भगवती** में ५३७ भेद हैं। उन भेदों को समझने के लिये मूल ९ भेदों को समझना आवश्यक है।

मूल ९ भेद—

(i) त्रिविध-त्रिविध — 'स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न कराना, न करने वाले का अनुमोदन करना, मन-वचन और काया से।' यह प्रथम भेद है।

(ii) त्रिविध-द्विविध — इसके उत्तर भेद ३ हैं • 'स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न कराना, न करने वाले का अनुमोदन करना, मन-वचन से।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

● स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न कराना, न करने वाले का अनुमोदन करना, मन-काया से।

● स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न कराना, न अनुमोदन करना वचन-काया से।

(iii) त्रिविध-एकविध — इसके भी उत्तरभेद ३ हैं।

१.....३ — ● स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न कराना, न अनुमोदन करना, १ मन से, २ वचन से और ३ काया से।

(iv) द्विविध-त्रिविध — इसके उत्तर भेद ३ हैं।

● स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न कराना, मन, वचन व काया से।

● स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न अनुमोदन करना, मन, वचन व काया से।

● स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न कराना, न अनुमोदन करना मन, वचन व काया से।

(v) द्विविध-द्विविध — इसके उत्तर भेद ९ हैं।

१.....३ — स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न कराना, मन-वचन से....मन-काया से...वचन-काया से।

४...से...६ — स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न अनुमोदन करना मन-वचन से...मन-काया से...वचन-काया से।

७...से....९ — स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न कराना, न अनुमोदन करना मन-वचन से...मन-काया से...वचन-काया से।

(vi) द्विविध-एकविध — इसके भी उत्तरभेद ९ हैं।

१....से....३ — स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न कराना मन से...वचन से....काया से।

४....से....६ — स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न अनुमोदन करना, मन से...वचन से...काया से।

७....से....९ — स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न कराना न अनुमोदन करना मन...से...वचन से...काया से।

(vii) एकविध-त्रिविध — इसके उत्तरभेद ३ हैं।

● स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना मन-वचन-काया से।

● स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न कराना मन-वचन-काया से।

● स्थूलहिंसादि सावद्य पाप का अनुमोदन न करना मन-वचन-काया से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(viii) एकविध-द्विविध — इसके उत्तर भेद ९ हैं।

१...से...३ — स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, मन-वचन से...मन-काया से...वचन-काया से।

४...से...६ — स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न कराना, मन-वचन से...मन-काया से...वचन-काया से।

७...से...९ — स्थूलहिंसादि सावद्य पाप का अनुमोदन न करना, मन-वचन से...मन-काया से...वचन-काया से।

(ix) एकविध-एकविध — इसके भी उत्तर भेद ९ हैं।

१...से...३ — स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, मन से, वचन से, काया से।

४...से...६ — स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न कराना, मन से, वचनसे, काया से।

७...से...९ — स्थूलहिंसादि सावद्य पाप का अनुमोदन न करना, मन से, वचन से, काया से।

इस प्रकार मूल ९ भेद के उत्तरभेद कुल = ४९ होते हैं। स्थापना—

३	३	३	२	२	२	१	१	१	**योग**
३	२	१	३	२	१	३	२	१	**करण**
१	३	३	३	९	९	३	९	९	**भंग**

प्रश्न—वचन और काया का करना, कराना व अनुमोदन करना प्रत्यक्ष दिखाई देता है परन्तु मन के तीनों ही दिखाई नहीं देते अत: उन्हें कैसे समझा जाये?

उत्तर—मानसिक विकल्प के बिना वचन और काया सम्बन्धी करण-करावण व अनुमोदन घटित नहीं हो सकता। मन में विकल्प उठने के पश्चात् ही काया सम्बन्धी व वचन सम्बन्धी व्यापार होता है अत: मानसिक करण-करावण व अनुमोदन प्रत्यक्षगम्य है। तथा 'मैं सावद्यकार्य करता हूँ' ऐसा चिंतन करना मानसिक करण है। 'अमुक व्यक्ति सावद्य कार्य करे' ऐसा चिंतन करना तथा हाव-भाव चेष्टा से समझकर उस व्यक्ति द्वारा तद्नुसार करना यह मानसिक करावण है। अन्य द्वारा सावद्य कार्य करने पर यह चिंतन करना कि 'इसने अच्छा किया' यह मानसिक अनुमोदन है।

- पूर्वोक्त ४९ भेद अन्य प्रकार से भी किये जाते हैं। जैसे—

१ से ३ स्थूलहिंसादि पाप न करना, मन से या वचन से या काया से।

४ स्थूलहिंसादि पाप न करना मन-वचन से।

५ स्थूलहिंसादि पाप न करना मन-काया से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६ स्थूलहिंसादि पाप न करना वचन-काया से।

७ स्थूलहिंसादि पाप न करना मन-वचन व काया से।

पूर्वोक्त ७ भेद न करने के साथ हुए। इसी प्रकार क्रमशः न कराने,अनुमोदन न करने, न करने-न कराने, न करने-न अनुमोदन करने, न कराने-न अनुमोदन करने तथा न करने, न कराने-न अनुमोदन करने के साथ भी ७-७ भेद होने से कुल ७ × ७ = ४९ भेद होते हैं।

१४७ भेद—श्रावकव्रत के १४७ भेद भी होते हैं। पूर्वोक्त ४९ भेदों को भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीन काल से गुणा करने पर ४९ × ३ = १४७ भेद श्रावकव्रत के होते हैं।

- प्रत्याख्यान त्रैकालिक होता है। अतीत पाप का निन्दा द्वारा, वर्तमान पाप का संवर द्वारा तथा भावी पाप का त्याग द्वारा प्रत्याख्यान होता है। ४९ भेदों से अतीत में किये गये पाप की निन्दा करके वर्तमान में होने वाले पाप का संवर करके तथा भविष्य में पाप न करने की प्रतिज्ञा करके आत्मा १४७ भेद से यथाशक्ति व्रत ग्रहण कर सकता है।

७३५ भेद—पाँचों व्रत १४७ भेद से ग्रहण किये जाते हैं अतः गुणा करने पर १४७ × ५ = ७३५ भेद होते हैं तथापि मूलभेद १४७ ही हैं अतः सूत्र में १४७ ही बताये हैं।

जो आत्मा प्रत्याख्यान के १४७ भेदों को अच्छी तरह से जानता है वही प्रत्याख्यान-कुशल है।

देवकुलिका—

प्रत्येक व्रत के मूल ६, ९, २१ तथा ४९ भेद हैं। इनसे निष्पन्न उत्तर भंग समूह के प्रतिपादक अंकों को पट्ट पर लिखा जाये तो देवकुलिका का आकार बनता है। 'देवकुलिका' पारिभाषिक शब्द है। जिस संख्या को लिखने पर देवालय Δ जैसी आकृति बनती है उसे देवकुलिका समझना।

एकव्रत की अपेक्षा मूलभंग ६ हैं तो उत्तरभंग = २१ हैं।

एकव्रत की अपेक्षा मूलभंग ९ हैं तो उत्तरभंग = ४९ हैं।

प्रत्येक भंग (६, ९, २१, ४९) की देवकुलिका में ३-३ राशियाँ होती हैं। १ गुण्यराशि (जिसको गुणा किया जाये वह संख्या) २. गुणकराशि (जिससे गुणा किया जाये वह संख्या) ३. आगतराशि अर्थात् गुणनफल। व्रत १२ हैं। मूल भंग ६, ९, २१ व ४९ से एक-एक व्रत की भिन्न-भिन्न संख्यावाली देवकुलिकायें बनती हैं। सर्वप्रथम १२ व्रत की ६ मूल भंगों वाली देवकुलिका की स्थापना बताते हैं।

प्रथमव्रत के ६ भांगे हैं, उन्हें (६ को) ७ से गुणा करके ६ जोड़ने से जो संख्या आती है वह द्वितीयव्रत की भंग संख्या है। द्वितीय व्रत की भंग संख्या को ७ से गुणा करके ६ जोड़ने पर तृतीयव्रत की भंग संख्या आ जाती है। इस प्रकार जितने व्रत की भंगसंख्या लानी हो, पूर्वव्रत संख्या को ७ से गुणा करके ६ जोड़ने पर आ जाती है। जैसे ६ भंगों वाली १२ व्रत की उत्तरभंग संख्या लाने के लिए ११ बार उत्तरोत्तर ७ से गुणा करे गुणनफल में ६ जोड़ देना चाहिये। प्रथमव्रत के तो ६ भांगे हैं ही। अतः ११ बार ही गुणाकार होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवकुलिका (६ भांगों वाली)

	१	२	३	४	५	६	७
गुण्य	६	६	४८	३४२	२,४००	१६,८०६	१,१७,६४८
गुणक	०	x ७	x ७	x ७	x ७	x ७	x ७
गुणनफल	०	४२	३३६	२,३९४	१६८००	१,१७,६४२	८,२३,५३६
योगांक	०	+६	+६	+६	+६	+६	+६
कुल	६	४८	३४२	२,४००	१६,८०६	१,१७,६४८	८,२३,५४२

	८	९	१०
गुण्य	८,२३,५४२	५७,६४,८००	४,०३,५३,६०६
गुणक	x ७	x ७	x ७
गुणनफल	५७,६४,७९४	४,०३,५३,६००	२८,२४,७५,२४२
योगांक	६	+६	+६
कुल	५७,६४,८००	४,०३,५३,६०६	२८,२४,७५,२४८

	११	१२
गुण्य	२८,२४,७५,२४८	१,९७,७३,२६,७४२
गुणक	x ७	x ७
गुणनफल	१,९७,७३,२६,७३६	१३,८४,१२,८७,१९४
योगांक	+६	+६
कुल	१,९७,७३,२६,७४२	१३,८४,१२,८७,२००

पूर्वोक्त १२ व्रतों के भांगों की संख्या क्रमशः ऊपर नीचे लिखने पर अर्ध देवकुलिका का आकार बनता है। इसे खण्ड देवकुलिका कहते हैं। यह षड्भंगी से प्रतिबद्ध 'देवकुलिका' बताई गई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षड्भंगी से प्रतिबद्ध देवकुलिका—

६
४८
३४२
२४००
१६८०६
११७६८४
८२३५४२
५७६४८००
४०३५३६०६
२८२४७५२८४
१९७७३२६७४२
१३८४१२८७२००

इसी प्रकार ९ भंग, २१ भंग, ४९ भंग, १४७ भंग की देवकुलिकायें भी समझना। अन्तर इतना है कि—

	९ भंग की देवकुलिका	२१ भंग की देवकुलिका	४९ भंग की देवकुलिका	१४७ भंग की देवकुलिका
गुणक	९	२१	४९	१४७
गुणक	१०	२२	५०	१४८
योगांक	९	२९	४९	१४७

९ भांगों की अपेक्षा संपूर्ण व्रतों के भांगे = ९,९९,९९,९९,९९,९९९
२१ भांगों की अपेक्षा सम्पूर्ण व्रतों के भांगे = १२,८५,५०,०२,६३,१०,४९,२१५
४९ भांगों की अपेक्षा सम्पूर्ण व्रतों के भांगे = २४,४१,४०,६२,४९,९९,९९,९९,९९,९९९
१४७ भांगों की अपेक्षा सम्पूर्ण व्रतों के भांगे = ११,०४,४३,६०,९९,१९,६१,१५,३३,-३५,६९,५७,६९५ होते हैं।

इस प्रकार ६, ९, २१, ४९ व १४७ भांगों की पाँच खण्ड देवकुलिकायें हुई। अब सम्पूर्ण देवकुलिकायों का प्रतिपादन किया जायेगा। सम्पूर्ण देवकुलिका में एक, एक व्रत की एक-एक देवकुलिका होने से छः भांगों की अपेक्षा से प्रत्येक भांगे की बारह-बारह देवकुलिकायें होती हैं। उन्हें पट्ट पर अंकित करने से सम्पूर्ण देवकुलिका का आकार बनता है। अतः इन्हें पूर्ण देवकुलिकायें कहा जाता है।

यदि सभी भांगों की पूर्ण देवकुलिकायें बताई जाये तो ग्रन्थ अत्यंत विस्तृत हो जायेगा अतः यहाँ केवल षड्भंगी प्रतिबद्ध १२वीं देवकुलिका का ही विस्तृत वर्णन किया जायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवकुलिका में उपयोगी भांगों की संख्या लाने हेतु गुण्य व गुणक राशि उपलब्ध करना आवश्यक है। अतः यहाँ सर्वप्रथम गुणकराशि उपलब्ध करने की प्रक्रिया बताते हैं।

श्रावक के १२ व्रत हैं। १२ व्रत में से कोई आत्मा एक साथ १२ व्रत लेते हैं, उसका १ भांगा होता है। कोई ११ व्रत लेते हैं, उसके १२ भांगे होते हैं क्योंकि कोई अहिंसा सिवाय के ११ व्रत लेते हैं तो कोई सत्य को छोड़कर लेते हैं। इस प्रकार कोई १० व्रत लेते हैं उसके ६६ भांगे होते हैं। यावत् एक साथ मात्र १ व्रत लेने वालों के १२ भांगे होते हैं।

भांगों की रीति—

जितनी संख्या के भांगे बनाने हों, सर्वप्रथम उतनी संख्या नीचे से ऊपर तक क्रमशः लिखना। जैसे यहाँ १२ व्रत के भांगे बनाना है तो प्रथम नीचे से ऊपर तक क्रमशः १ से १२ संख्या लिखना। यह प्रथमपंक्ति है शेष ११ पंक्तियों में सबसे नीचे १-१ अंक स्थापन करना। तत्पश्चात् द्वितीय पंक्ति के शेष अंक उपलब्ध करने की प्रक्रिया यह है कि द्वितीय पंक्ति का १ + प्रथमपंक्ति का २ = ३ + प्रथमपंक्ति का ३ = ६ + प्रथमपंक्ति का ४ = १० + प्रथमपंक्ति का ५ = १५ + प्रथमपंक्ति का ६ = २१ + प्रथमपंक्ति का ७ = २८ + प्रथमपंक्ति का ८ = ३६ + प्रथमपंक्ति का ९ = ४५ + प्रथमपंक्ति का १० = ५५ + प्रथमपंक्ति का ११ = ६६ यह द्वितीय पंक्ति का अंतिम अंक है। इसमें प्रथम पंक्ति की १२ संख्या नहीं जुड़ती, कारण मूल में कहा है कि—'एक्केक्कहाणि' अर्थात् पूर्वपंक्ति की अपेक्षा उत्तरपंक्ति में एक-एक अंक न्यून होता जाता है यावत् १२वीं पंक्ति में मात्र '१' अंक ही रहता है। इसी प्रकार उत्तर पंक्ति के अंकों के साथ पूर्व पंक्ति के अंकों का जोड़ करने पर उत्तर पंक्ति के अगले अंक उपलब्ध होते हैं। सभी पंक्तियों के ऊपर के अंक एक संयोगी, द्विसंयोगी आदि आदि भांगों की संख्या है।

१२ व्रतों के सांयोगिक भांगों की रीति—

१२											
११	६६										
१०	५५	२२०									
९	४५	१६५	४९५								
८	३६	१२०	३३०	७९२							
७	२८	८४	२१०	४६२	९२४						
६	२१	५६	१२६	२५२	४६२	७९२					
५	१५	३५	७०	१२६	२१०	३३०	४९५				
४	१०	२०	३५	५६	८४	१२०	१६५	२२०			
३	६	१०	१५	२१	२८	३६	४५	५५	६६		
२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	
१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके अतिरिक्त सांयोगिक भांगे उपलबध करने की अन्य रीति भी है। जैसे—दूसरी रीति—

संयोग	१२	११	१०	९	८	७	६	५	४	३	२	१
	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
भांगे	१	१२	६६	२२०	४९५	७९२	९२४	७९२	४९५	२२०	६६	१२

प्रथम लाइन में जितने व्रत लेने हों क्रमशः उतने अंक लिखना जैसे १२, ११, १० आदि। उनके नीचे विपरीत अंक लिखना जैसे १२ के नीचे १, ११ के नीचे २ यावत् १ के नीचे १२। तत्पश्चात् १ को १२ से गुणा करना व गुणनफल उसके नीचे रखना। १ को १२ से गुणा करने पर १२ गुणनफल हुए उसे उसके नीचे रखने के पश्चात् उसे दूसरी पंक्ति के ऊपर वाले अंक २ से भाग देकर जो आवे उसे २ के नीचे स्थित अंक से गुणा करके गुणनफल को उसी के नीचे रख देना। जैसे १२ को दूसरी पंक्ति के ऊपर से २ से भाग देने पर ६ आये, उसे ११ से गुणा करने पर ६६ आये। इसका अर्थ है कि १२ व्रत में से यदि कोई व्यक्ति १-१ व्रत लेता है तो उसके १२ भांगे होते हैं। यदि कोई २-२ व्रत ले तो ६६ भांगे होते हैं। इस प्रकार ६६ को तीसरी पंक्ति के ऊपर वर्ती अंक से भाग देकर उसके नीचे के अंक से गुणा करने पर जो संख्या आती है वे तीन संयोगी भांगे हैं। इस प्रकार पूर्ववर्ती गुणनफल को ऊपर की संख्या से भाग देना तथा भागफल को नीचे की संख्या से गुणा करना, जो संख्या आती है वही ऊपरवर्ती संख्या के सांयोगिक भांगे हैं।

तीसरी रीति

विवक्षित व्रतों के पद की संख्या पट्ट पर लिखकर अक्ष क्रम से संख्या बदलने पर जब तक बदलना संभव हो, विवक्षित व्रत के उतने भंग होते हैं। अर्थात् एक संयोगी, द्विसंयोगी आदि भांगे बनते हैं। यद्यपि यहाँ १२वीं देवकुलिका की भंग संख्या बताना इष्ट है तथापि लाघव को ध्यान में रखते हुए पाँच अणुव्रतों के उदाहरण के द्वारा भांगे बताये जाते हैं।

एक संयोगी = ५ भांगे

१. अहिंसा
२. सत्य
३. अस्तेय
४. ब्रह्मचर्य
५. अपिरग्रह

द्विसंयोगी = १० भांगे

१. अहिंसा, सत्य
२. अहिंसा, अस्तेय
३. अहिंसा, ब्रह्मचर्य
४. अहिंसा, अपरिग्रह
५. सत्य, अस्तेय
६. सत्य, ब्रह्मचर्य
७. सत्य, अपरिग्रह
८. अस्तेय, ब्रह्मचर्य
९. अस्तेय, अपरिग्रह
१०. ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रिक संयोगी = १० भांगे

१. अहिंसा, सत्य, अस्तेय
२. अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य
३. अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह
४. अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य
५. अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह
६. अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह
७. सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य
८. सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह
९. सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह
१०. अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह

चतुः संयोगी = ५

१. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य
२. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह
३. अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह
४. अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह
५. सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह

पंच संयोगी = १

१. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

- इस प्रकार क्रमशः पदों का चारण (बदलने) करने से विवक्षित संख्या के भांगे उपलब्ध होते हैं। पंच संयोगी १ ही भांगा होता है क्योंकि वहाँ पदों के अभाव में चारणा (परावर्तना) नहीं होती।

पूर्वोक्त १२, ६६ आदि जो एक संयोगी, द्विसंयोगी भांगों की संख्यायें हैं वे ही १२वीं देवकुलिका की गुणक राशियाँ हैं। ये गुणकराशियाँ केवल षड्भंगी से सम्बन्धित ही नहीं है, परन्तु ९, २१, ४९ भांगों से भी सम्बन्धित हैं क्योंकि गुणक राशियाँ सर्वत्र एक रूप होती हैं।

१२वीं देवकुलिका की गुण्यराशि–

प्रस्तुत देवकुलिका षड्भंगी सम्बन्धित है अतः प्रथम गुण्य राशि ६ है। उसे पुनः ६ से गुणा करने पर ६ × ६ = ३६ द्वितीय गुण्य राशि। ३६ को ६ से गुणा करने पर २१६ तृतीय गुण्य राशि। इस प्रकार उत्तरोत्तर राशि को ६ से ११ बार गुणा करने पर जो राशियाँ आती हैं वे गुण्यराशियाँ हैं। १२, ६६ आदि गुणक राशियों से ६, ३६ आदि गुण्य राशियों का गुणा करने पर जो राशियाँ आती हैं वे गुणनफल कहलाती है जैसे ६ × १२ = ७२, ३६ × ६६ = २३७६ गुणनफल है।

गुण्य	६	३६	२१६	१,२९६	७,७७६
गुणक	१२	६६	२२०	४९५	७९२
गुणाकार	७२	२,३७६	४७५२०	६,४१,५२०	६१,५८,५६२
गुण्य	४६,६५६	२,७९,९३६	१६,७९,६१६	१,००,७७,६९६	
गुणक	९२४	७९२	४९५	२२०	
गुणाकार	४,३१,१०,१४४	२२,१७,०९,३१२	८३,१४,०९,९२०	२,२१,७०,९३,१२०	
गुण्य	६०४६६१७६	३६,२७,९७,०५६	२,१७,६७,८२,३३६		
गुणक	६६	१२	१		
गुणाकार	३,९९,०७,६१६	४,३५,३५,६४,६७२	२,१७,६७,८२,३३६		

इस प्रकार १२वीं देवकुलिका का भंगजाल पूर्ण हुआ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वोक्त १२वें व्रत के भंगजाल को व्यवस्थित लिखने पर पूर्ण देवकुलिका का आकार बनता है। यथा—

गुण्य	गुणक	गुणाकार	कुलभेद
६	१२	७२	
३६	६६	२३७६	
२१६	२२०	४७५२०	
१२७६	४९५	६४१५२०	
७७७६	७९२	६१५८५९२	
४६६५६	९२४	४३११०१४४	१३८४१२८७२००
२७९९३६	७९२	२२१७०९३१२	
१६७९६१६	४९५	८३१४०९९२०	
१००७७९९६	२२०	२२१७०९३१२०	
६०४६६१७६	६६	३९९०७६७६१६	
३६२७९७०५६	१२	४३५३५६४६७२	
२१७६७८२३३६	१	२१७६७८२३३६	

इसी अनुसार अन्य १-२१ देवकुलिकायें भी समझ लेना। जैसे षड्भंगी से सम्बन्धित १२ देवकुलिकायें है वैसे ९, २१, ४९ तथा १४७ भांगों की भी देवकुलिकायें समझना। ६, ९, २१, ४९ तथा १४७ मूल भांगों में से प्रत्येक की १२-१२ देवकुलिका होने से कुल १२ × ५ = ६० देवकुलिकायें होती हैं। सम्पूर्ण देवकुलिकाओं की स्थापना गीतार्थों के द्वारा लिखित पट के अनुसार जानना चाहिये। इनका भावार्थ आगे स्पष्ट करेंगे।

१६८०८ प्रकार के श्रावक—

पूर्वोक्त भेदों के लिए पाँच अणुव्रत सम्बन्धी देवकुलिका का तथा उसके लिये पाँच अणुव्रतों के सांयोगिक भांगों का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि सांयोगिक भांगों की संख्या ही गुणाकारक राशि है। पाँच अणुव्रत के एक संयोगी, द्विसंयोगी आदि भांगों की संख्या क्रमशः ५, १०, १०, ५ तथा १ है। गुण्यराशि क्रमशः ६, ४६, २१६, १,२९६ व ७,७७६ है। गुणनफल निम्न है—

गुण्य	६	३६	२१६	१२९६	७७७६
गुणक	५	१०	१०	५	१
गुणाकार	३०	३६०	२,१६०	६४८०	७७७६

अहिंसा सत्य आदि पाँच अणुव्रतों में से कोई आत्मा एक-एक व्रत ले तो इसके ५ भेद होते हैं और वे भी द्विविध-त्रिविध, द्विविध-द्विविध आदि ६ प्रकार से लिये जायें तो एक-एक के ६-६ भेद होने से कुल ६ × ५ = ३० भेद हो जाते हैं।

द्विसंयोगी में दो व्रत होते हैं और दोनों ही ६-६ प्रकार से लिये जा सकते हैं अतः द्विसंयोगी के ३६ भेद होते हैं। जैसे किसी ने अहिंसाव्रत द्विविध-त्रिविध ग्रहण किया और उसके साथ सत्यव्रत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्विविध-त्रिविध आदि ६ में से किसी भी भेद से ग्रहण कर लिया तो इसके ६ भेद हुए। इसी प्रकार द्विविध-द्विविध गृहीत अहिंसाव्रत के साथ यावत् एकविध-एकविध गृहीत अहिंसाव्रत के साथ सत्य के ६ में से किसी भी प्रकार से जुड़ने पर एक द्विक (अहिंसा व सत्य) के ३६ भेद होते हैं। द्विक १० हैं अतः ३६ × १० = ३६० भेद द्विसंयोगी भांगों के ग्रहणकर्ता के भेद से होते हैं। भांगों की अभिव्यक्ति का प्रकार निम्न है—

१. स्थूलहिंसा व स्थूल असत्य द्विविध-त्रिविध त्याग करता हूँ।
२. स्थूलहिंसा द्विविध त्रिविध तथा स्थूल असत्य द्विविध द्विविध त्याग करता हूँ।
३. स्थूलहिंसा द्विविध-त्रिविध तथा स्थूल असत्य द्विविध एकविध त्याग करता हूँ।
४. स्थूलहिंसा द्विविध-त्रिविध तथा स्थूल असत्य एकविध-त्रिविध त्याग करता हूँ।
५. स्थूलहिंसा द्विविध-त्रिविध तथा स्थूल असत्य एकविध-द्विविध त्याग करता हूँ।
६. स्थूलहिंसा द्विविध-त्रिविध तथा स्थूल असत्य एकविध-एकविध त्याग करता हूँ।

इस प्रकार हिंसा के साथ अदत्तादान, मैथुन व परिग्रह के भी ६-६ भांगे होने से ६ × ४ = २४ भंग हुए। ये भेद स्थूल हिंसा के द्विविध-त्रिविध त्याग के साथ हुए वैसे द्विविध-द्विविध, द्विविध-एकविध, एकविध-त्रिविध, एकविध-द्विविध, एकविध-त्रिविध के साथ होने से २४ × ६ = १४४ भांगे हुए। ये भांगे हिंसा के साथ क्रमशः असत्य, अदत्तादान, मैथुन व परिग्रह के संयोग से हुए वैसे असत्य के साथ क्रमशः अदत्तादान, मैथुन व परिग्रह के संयोग से भी ६-६ भांगे होने से कुल ६ × ३ = १८ भंग हुए। ये १८ भांगे मृषावाद के द्विविध-त्रिविध त्याग के साथ हुए वैसे ही १८-१८ भांगे क्रमशः द्विविध-द्विविध, द्विविध-एकविध, एकविध-त्रिविध, एकविध-द्विविध, एकविध-एकविध के साथ होने से १८ × ६ = १०८ कुल भांगे असत्य के द्विक से हुए।

स्थूल असत्य की तरह स्थूल अदत्तादान के द्विविध त्रिविध भेद के साथ क्रमशः मैथुन व परिग्रह के संयोग से १२ भांगे हुए। इसी प्रकार अदत्तादान के शेष द्विविध-द्विविध आदि भांगों के साथ भी ६-६ भांगे होने से कुल १२ × ६ = ७२ भांगे हुए।

इसी तरह स्थूल मैथुन के द्विविध-त्रिविध भेद के साथ परिग्रह के संयोग से ६ भांगे हुए। वैसे ही स्थूल मैथुन के द्विविध-द्विविध आदि शेष भांगों के साथ भी ६-६ भांगे होने से कुल ६ × ६ = ३६ भांगे हुए।

त्रिसंयोगी २,१६० भांगे होते हैं। जैसे द्विविध-त्रिविध स्थूलहिंसा व मृषा के साथ अदत्तादान द्विविध-त्रिविध आदि ६ प्रकार से जुड़ता है, वैसे द्विविध-त्रिविध हिंसा व द्विविध-द्विविध मृषा के साथ भी अदत्तादान ६ प्रकार से जुड़ता है। इस तरह द्विविध-एकविध, एकविध-एकविध, एकविध-द्विविध और एकविध-त्रिविध मृषा के साथ भी ६ प्रकार से जुड़ता है, अतः द्विविध-त्रिविध हिंसा व षड्विध मृषा के प्रत्येक भेद के साथ अदत्तादान ६-६ प्रकार से जुड़ने से हिंसा के प्रथमभंग द्वि.त्रि. के ६ × ६ = ३६ भेद होते हैं। इस प्रकार शेष भंगों के भी ३६-३६ भेद होने से ३६ × ६ = २१६ भांगे हुए। त्रिसंयोगी १० भांगे होने से २१६ को १० से गुणा करने पर २,१६० पाँचव्रतों के त्रिकसंयोग से सम्बन्धित भांगे बनते हैं।

चतुःसंयोग में १२९६ भंग है। द्वि. त्रि. हिंसा-मृषा, अदत्तादान व मैथुन यह चतुःसंयोग का प्रथम भंग है। यहाँ द्वि.त्रि. हिंसा, मृषा व अदत्तादान के साथ मैथुन ६ प्रकार से जुड़ता है। ६ प्रकारों से युक्त मैथुन सहित अदत्तादान पुनः द्वि. त्रि. हिंसा, मृषा के साथ जुड़ता है, इससे ६ × ६ = ३६ भंग हुए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन ३६ भांगों से युक्त मृषावाद द्वि.त्रि.हिंसा के साथ ६ प्रकार से जुड़ता है, इस प्रकार द्वि.त्रि. हिंसा वाले प्रथमभंग के कुल ३६ × ६ = २१६ भेद्र होते हैं। हिंसा के शेष ५ भांगों के भी इसी प्रकार २१६-२१६ भेद होने से ६ भांगों के कुल २१६ × ६ = १,२९६ भेद हैं। चतुःसंयोग ५ होने से चतुःसंयोगी कुल भांगे १,२९६ × ५ = ६,४८० होते हैं।

पंचसंयोग में कुल भांगे ७,७७६ है। द्वि. त्रि. हिंसा, मृषा, अदत्तादान, मैथुन व परिग्रह यह पंचसंयोगी भांगा है। इसमें परिग्रह ६ प्रकार से जुड़ता है। फिर मैथुन द्वि. त्रि. हिंसा, मृषा, अदत्तादान से ६ प्रकार से जुड़ता है इससे ६ × ६ = ३६ विकल्प हुए। पुनः ३६ विकल्प वाला अदत्तादान द्वि. त्रि. हिंसा, मृषा के साथ ६-६ प्रकार से जुड़ता है अतः ३६ × ६ = २१६ भेद हुए। २१६ विकल्पों से = १,२९६ भांगे हुए। ये भेद केवल द्वि. त्रि. हिंसा वाले प्रथमभंग के हुए शेष ५ भंगों के १,२९६ जोड़ने पर १,२९६ × ६ = ७,७७६ विकल्प पंचसंयोगी में होते हैं। पंचसंयोगी भांगा १ ही है अतः ७,७७६ का १ से गुणा करने पर ७,७७६ ही भेद बनते हैं।

इस प्रकार गुणकारक, गुण्य व गुणनफल की राशियों से निष्पन्न पाँच अणुव्रतों की पाँचवीं देवकुलिका परिपूर्ण हुई। शेष देवकुलिकाओं की निष्पत्ति विद्वानों के द्वारा स्वयं करनी चाहिये। इनमें उत्तरगुण का स्वीकार व अविरत-सम्यग्-दृष्टिरूप दो भेदों को सम्मिलित करने पर तीस इत्यादि भांगों की कुल मिलाकर (३० + ३६० + २,१६० + ६,४८० + ७,७७६ = १६,८०६) १६,८०६ संख्या होती है। दर्शन इत्यादि श्रावक की प्रतिमायें अभिग्रह विशेष रूप हैं। व्रतरूप नहीं है। कारण प्रतिमा और व्रत का स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं। पूर्वोक्त भंग ५ अणुव्रतों के हैं। १२ व्रत के तो बहुत अधिक भेद होते हैं।

इस प्रकार १२ व्रत के मूल ६ भांगों पर आधारित देवकुलिका के कुल भांगों की संख्या में उत्तरगुण व अविरतसम्यग्दृष्टि इन दो भेदों को मिलाने पर १३,८४,१२,८७,२०२ भांगे होते हैं।

ये सभी श्रावकों के १२ व्रत सम्बन्धी भांगे हैं।

महाव्रत (साधु) के २७ भांगे—

साधु का व्रत ग्रहण तीन करण व तीनयोग से होता है, वह इस प्रकार है—

न करना, न कराना, न अनुमोदन करना मन से।

न करना, न कराना, न अनुमोदन करना वचन से।

न करना, न कराना, न अनुमोदन करना काया से।

३ × ३, भूत, भविष्य व वर्तमान तीनों काल की अपेक्षा से ९ × ३ = २७ भेद होते हैं। कारण साधु का प्रत्याख्यान संपूर्ण रूपेण सावद्य के त्यागरूप होता है। अतः उनके पच्चक्खाण के इतने ही भांगे होते हैं। परन्तु देशत्यागी श्रावक के पच्चक्खाण के १४७ भेद होते हैं ॥१३२२-५०॥

२३७ द्वार : पापस्थान—

सव्वं पाणाइवायं अलियमदत्तं च मेहुणं सव्वं।
सव्वं परिग्गहं तह राईभत्तं च वोसरिमो ॥१३५१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सव्वं कोहं माणं मायं लोहं च राग दोसे य।
कलहं अब्भक्खाणं पेसुन्नं परपरीवायं ॥१३५२॥
मायामोसं मिच्छादंसणसल्लं तहेव वोसरिमो।
अंतिमऊसासंमि देहंपि जिणाइपच्चक्खं ॥१३५३॥

—गाथार्थ—

अट्ठारह पापस्थानक—**संपूर्ण भेद सहित १. प्राणातिपात २. असत्य ३. अदत्त ४. मैथुन ५. परिग्रह ६. रात्रिभोजन का मैं त्याग करता हूँ। ७. क्रोध ८. मान ९. माया १०. लोभ ११. राग १२. द्वेष १३. कलह १४. अभ्याख्यान १५. पैशुन्य १६. परपरिवाद १७. मायामृषावाद एवं १८. मिथ्यात्वशल्य तथा जिनेश्वरदेव की साक्षीपूर्वक अन्तिम श्वासोच्छ्वास के समय शरीर का भी विसर्जन करता हूँ॥१३५१-५३॥**

—विवेचन—

पापस्थान—कर्मबंध के प्रबल निमित्त। ये १८ हैं।

१. प्राणातिपात — भेद-प्रभेद सहित हिंसा।
२. मृषावाद — भेद-प्रभेद सहित झूठ।
३. अदत्तादान — भेद-प्रभेद सहित चोरी।
४. मैथुन — भेद-प्रभेद सहित अब्रह्म सेवन।
५. परिग्रह — भेद-प्रभेद सहित संग्रहवृत्ति।
६. रात्रिभोजन — सप्रभेद रात्रिभोजन।
७. क्रोध — रोष।
८. मान — अहंकार।
९. माया — कपट
१०. लोभ — लालच।
११. राग — आसक्ति, जीव का ऐसा स्वभाव जिसमें माया व लोभ परोक्ष रूप से मिश्रित हो।
१२. द्वेष — अप्रीति, जीव का ऐसा स्वभाव जिसमें क्रोध व मान परोक्ष रूप से मिश्रित हो।
१३. कलह — झगड़ा।
१४. अभ्याख्यान — प्रकट रूप से असद् दोषारोपण करना अर्थात् झूठा कलंक देना।
१५. पैशून्य — चुगली करना। गुप्त रूप से किसी के सद्-असद् दोषों को प्रकट करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१६. परपरिवाद — निन्दा करना।

१७. मायामृषा — कपटपूर्वक झूठ बोलना।

१८. मिथ्यादर्शन-शल्य — मिथ्यात्व। जिनाज्ञा से विपरीत श्रद्धा, शस्त्र के शल्य की तरह आत्मा के लिये दुःख का कारण होने से शल्य कहलाती है।

- मायामृषा का प्राकृत मायामोसं व मायामुसं दोनों ही रूप मिलते हैं। यह माया व मृषा, दो दोषों का योग है। यह मानमृषा आदि का उपलक्षण है। अर्थात् मायामृषा की तरह मानमृषा आदि भी पापस्थान है।
- अन्य आचार्यों के मतानुसार वेषपरावर्तन द्वारा लोगों को ठगना मायामृषावाद है।

स्थानांग के मतानुसार—

स्थानांग में रात्रिभोजन को पापस्थान में नहीं माना है परन्तु उसके स्थान पर 'अरतिरति' को पापस्थान माना है। अरति का अर्थ है मोहनीय के उदय से जन्य उद्वेग तथा रति का अर्थ है मोहनीय के उदय से जन्य आनन्द।

प्रतिकूल साधनों के मिलने पर मन में जो व्याकुलता का भाव पैदा होता है वह अरति है और सुखसाधनों के मिलने पर मन में जो हर्ष होता है वह रति है। 'अरतिरति' यहाँ एक ही माना गया है। इन दोनों में औपचारिक एकता भी है। जैसे, किसी विषय में रति है वह विषयान्तर की अपेक्षा से अरति है तथा जो अरति है वह अपेक्षाभेद से रति है। ११वें राग पापस्थान के स्थान पर कहीं 'पिज्ज' पद भी आता है। पिज्ज का अर्थ है प्रेम। यह भी रागरूप ही है ॥१३५१-५३॥

२३८ द्वार : मुनिगुण—

छव्वय छकायरक्खा पचिंदियलोहनिग्गहो खंती।
भावविशुद्धी पडिलेहणाइकरणे विसुद्धी य ॥१३५४॥
संजमजोए जुत्तय अकुसलमणवयणकायसंरोहो।
सीयाइपीडसहणं मरणंतुवसग्गसहणं च ॥१३५५॥

—गाथार्थ—

सत्ताईस मुनि के गुण—**छः व्रत, छः काय की रक्षा, पाँच इन्द्रिय और लोभ का निग्रह, क्षमा, भावविशुद्धि, प्रतिलेखना आदि कार्यों में विशुद्धि, संयम योगों में तत्परता, अप्रशस्त मन-वचन और काया का निरोध, शीतादि परिषहों की पीड़ा को सहन करना तथा मारणांतिक उपसर्गों को सहना—ये मुनि के सत्ताईस गुण हैं ॥१३५४-५५॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

६ व्रत — अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह व रात्रिभोजन विरति।

६ काय — पृथ्विकाय आदि छः काय के जीवों की सर्वप्रकार से रक्षा करना।

५ इन्द्रिय — पाँचों इन्द्रियों के शुभाशुभ विषय में राग-द्वेष न करते हुए संयमपूर्वक प्रवृत्त होना।

१ लोभनिग्रह — वीतरागभाव की साधना करना।

१ क्षमा — क्रोध पर नियन्त्रण रखना।

१ भावविशुद्धि — आत्मा का विशुद्ध परिणाम।

१ क्रियाविशुद्धि — उपयोगपूर्वक पडिलेहण...प्रतिक्रमण आदि क्रिया करना।

१ संयमविशुद्धि — संयम योग में प्रवृत्ति करते हुए समिति, गुप्ति का पालन करना।

३ योगनिरोध — संयम पालन में सहायक मन-वचन-काया के व्यापार में प्रवृत्त होना तथा अप्रशस्तयोगों का निरोध करना।

१ वेदनासहन — सर्दी-गर्मी-वायु आदि जन्य वेदना को समभावपूर्वक सहन करना।

१ उपसर्गसहन — मरणान्त-उपसर्गों को भी समभावपूर्वक सहन करना तथा उपसर्ग करने वालों को कल्याणमित्र मानते हुए उसके प्रति समता रखना।

यह २७ प्रकार का मुनिधर्म-संयमविशेष है।

अन्यमतानुसार मुनि के २७ गुण—

५ महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह।

५ इन्द्रियों का संयम।

४ क्रोध, मान, माया व लोभ इन चारों कषायों पर नियन्त्रण रखना।

३ सत्य — (i) भावसत्य = आत्मशुद्धि (i) करणसत्य = क्रियाशुद्धि। (i) योगसत्य = मन, वचन व काया की एकरूपता।

१ क्षमा — क्रोध-मान आदि का अभाव अर्थात् किसी भी वस्तु व व्यक्ति के प्रति अप्रीति न होना। अथवा उदय प्राप्त क्रोध व मान का निरोध करना।

१ विरागता—आसक्ति का त्याग तथा माया व लोभ का अनुदय होना।

३ मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग।

३ ज्ञान, दर्शन व चारित्र की आराधना।

१ समभावपूर्वक वेदना सहन करना।

१ मारणान्तिक उपसर्ग सहन करना ॥१३५४-५५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२३९ द्वार : श्रावक-गुण—

धम्मरयणस्स जोगो अक्खुद्दो रूववं पगइसोमो ।
लोयप्पिओ अकूरो भीरू असठो सदक्खिन्नो ॥१३५६ ॥
लज्जालुओ दयालू मज्झत्थो सोमदिट्ठि गुणरागी ।
सक्कहसुपक्खजुत्तो सुदीहदंसी विसेसन्नू ॥१३५७ ॥
वुड्ढाणुगो विणीओ कयन्नुओ परहियत्थकारी य ।
तह चेव लद्धलक्खो इगवीसगुणो हवइ सड्ढो ॥१३५८ ॥

—गाथार्थ—

श्रावक के इक्कीस गुण—**१. अक्षुद्र २. रूपवान ३. प्रकृतिसौम्य ४. लोकप्रिय ५. अक्रूर ६. पापभीरु ७. अशठ ८. दाक्षिण्यवान ९. लज्जालु १०. दयालु ११. मध्यस्थ १२. सौम्यदृष्टि १३. गुणानुरागी १४. सत्कथी और सुपक्षयुक्त १५. सुदीर्घदर्शी १६. विशेषज्ञ १७. वृद्धानुयायी १८. विनीत १९. कृतज्ञ २०. परहितार्थकारी और २१. लब्ध लक्ष्य—इन इक्कीस गुणों से युक्त श्रावक धर्म रत्न के योग्य होते हैं ॥१३५६-५८ ॥**

—विवेचन—

श्रावक—अन्य दर्शनियों के द्वारा प्रणीत धर्मों में प्रधान होने से जो रत्नतुल्य शोभित होता है। ऐसा धर्म—जिनेश्वरदेव द्वारा प्ररूपित देशविरतिरूप धर्म का पालन करने में सक्षम।

१. अक्षुद्र—यद्यपि क्षुद्र शब्द के तुच्छ, क्रूर, दरिद्र, लघु आदि कई अर्थ हैं तथापि यहाँ क्षुद्र शब्द का तुच्छ, प्रकृति से चंचल अर्थ अभीष्ट है। अतः अक्षुद्र का अर्थ है प्रकृति से गंभीर आत्मा। गंभीर आत्मा सूक्ष्म बुद्धि वाला होने से, धर्म के मर्म को सरलता से समझ जाता है।

२. रूपवान—अंगोपांग की संपूर्णता से मनोहर आकार वाला। ऐसा आत्मा धर्म के योग्य होता है। ऐसा व्यक्ति यदि सदाचारी है तो अपने आकर्षण से दूसरों को बड़ी सुगमता से धर्म में जोड़ सकता है। धर्म का प्रभावक बनता है।

प्रश्न—नन्दिषेण, हरिकेशी आदि कुरूप होने पर भी महान् धार्मिक थे अतः रूपवान् ही धर्मरत्न के योग्य होता है, ऐसा कैसे कहा?

उत्तर—रूप दो तरह का होता है—१.सामान्य २. अतिशययुक्त। अंगोपांग की संपूर्णता सामान्यरूप है। ऐसा रूप नन्दिषेण आदि को भी मिला था। अतः उनकी योग्यता में कोई कमी नहीं रहती। अतिशायी रूप तो तीर्थंकर आदि का ही होता है। पर लोकदृष्टि से जो व्यक्ति देश, काल व उम्र के अनुसार रूपवान माना जाता है वही यहाँ अधिकृत है। ऐसा धर्मी दूसरों को धर्म के प्रति आकृष्ट कर सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है।

३. **सौम्य**—जिसकी आकृति शान्त व विश्वसनीय हो ऐसा व्यक्ति अनावश्यक पाप में प्रवृत्त नहीं होता। दूसरों के लिये सुखावह बनता है।

४. **लोकप्रिय**—जो इस लोक-परलोक विरोधी कार्यों में प्रवृत्त नहीं होता तथा दानादि परोपकार की प्रवृत्ति में सदा लगा रहता है, ऐसा व्यक्ति लोकप्रिय बनता है और वह अपनी लोकप्रियता से दूसरों के मन में धर्म के प्रति बहुमान पैदा करता है।

५. **अक्रूर**—अक्लिष्ट अध्यवसाय वाला। क्रूर आत्मा छिद्रान्वेषी, कलुषित परिणामी होने से धर्माराधना करने पर भी फल का भागी नहीं बन सकता।

६. **भीरु**—इस लोक-परलोक, दोनों में होने वाली हानि से डरने वाला। ऐसा आत्मा प्रसंग आने पर भी अधर्म का आचरण नहीं करता।

७. **अशठ**—सरल हृदय से धर्म में प्रवृत्त। शठ आत्मा छल प्रपंच द्वारा दूसरों का अविश्वसनीय बनता है।

८. **सदाक्षिण्य**—अपना कार्य छोड़कर पहिले दूसरों का कार्य करने वाला। ऐसा व्यक्ति सभी का आदरणीय बनता है।

९. **लज्जाशील**—अकार्य करने में जिसे स्वाभाविक लज्जा आती हो। ऐसा आत्मा एकबार स्वीकृत कार्य को कभी नहीं छोड़ता।

१०. **दयालु**—दुःखी आत्माओं के दुःख को दूर करने का इच्छुक। वास्तव में दया ही धर्म का मूल है। (दुःखीजन्तुजातत्राणाभिलाषुकः)

११. **मध्यस्थ**—प्रतिकूल-अनुकूल सभी परिस्थितियों में समभाव रखने वाला। ऐसा व्यक्ति सभी का प्रिय बनता है।

१२. **सौम्यदृष्टि**—जिसे देखकर किसी को उद्वेग पैदा न हो। अपितु सभी के हृदय में प्रेम जगे। (प्राणिनां प्रीतिं पल्लवयति)

१३. **गुणरागी**—जिसके दिल में सद्गुणों के प्रति राग हो, प्रेम हो। ऐसा व्यक्ति गुणीजनों का आदर करता है। निर्गुणिओं की उपेक्षा करता है।

१४. **सत्कथा**—हमेशा सदाचार की चर्चा करने वाले या सदाचारी परिवार से युक्त। धर्म के अनुकूल परिवार से परिवृत्त। इससे उन्मार्गगामी बनने का अवसर नहीं आता।

(किसी के मतानुसार सत्कथक और सुपक्षयुक्त ये दोनों गुण अलग-अलग हैं, तथा मध्यस्थ व सौम्यदृष्टि एक गुण है)

१५. **दीर्घदर्शी**—चारों ओर से परिणाम का विचार करके फिर कार्य करने वाला। ऐसा व्यक्ति पारिणामिकी बुद्धि द्वारा सोचकर सुन्दर परिणाम वाला ही कार्य करता है।

१६. **विशेषज्ञ**—सार-असार, अच्छे-बुरे के भेद को जानने वाला। ऐसा आत्मा कभी भ्रम में नहीं पड़ता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१७. **विनीत**—गुरुजनों का गौरव, औचित्य रखने वाला। विनीत आत्मा को अवश्य संपदा प्राप्त होती है।

१८. **वृद्धानुग**—वृद्ध पुरुषों का अनुसरण करने वाला। गुणप्राप्ति की इच्छा से परिणत बुद्धि वाले वृद्ध पुरुषों की सेवा करने वाला। ऐसा व्यक्ति कभी विपद् का भागी नहीं बनता।

१९. **कृतज्ञ**—किसी के द्वारा किये हुए अल्प भी उपकार को कभी भी न भूलने वाला। ऐसा आत्मा सर्वत्र प्रशंसा पाता है। जबकि कृतघ्न आत्मा निंदा-पात्र बनता है।

२०. **परिहितार्थकारी**—बिना कहे दूसरों का हित करने वाला। सदाक्षिण्य में परहित की प्रवृत्ति होती है, किन्तु दूसरों के चाहने पर। जबकि 'परहितार्थकारी' में करने वाला स्वतः परहित में प्रवृत्त होता है। (प्रकृत्यैव परहितकरणे नितरां निरतो भवति) ऐसा व्यक्ति निःस्पृह होने से दूसरों को भी धर्म में जोड़ सकता है।

२१. **लब्ध लक्ष**—लब्ध = प्राप्त कर लिया है, लक्ष = करने योग्य अनुष्ठानादि अर्थात् पूर्वभव के ऐसे सुदृढ़ संस्कार लेकर आने वाला आत्मा कि धर्म क्रियायें जिसके जीवन में सहज प्राप्त हो जायें। ऐसे व्यक्ति को धर्माचरण की शिक्षा सुगमता से दी जा सकती है।

पूर्वोक्त २१ गुणों से युक्त श्रावक होता है ॥१३५६-५८॥

२४० द्वार : गर्भ-स्थिति तिर्यंच-स्त्री की—

उक्किट्ठा गब्भठिई तिरियाणं होइ अट्ठ वरिसाइं।
माणुस्सीणुक्किट्ठं इत्तो गब्भट्ठिइं वुच्छं ॥१३५९॥

—विवेचन—

तिर्यंच स्त्री की उत्कृष्ट गर्भ-स्थिति—

उत्कृष्ट से आठ वर्ष तक गर्भ धारण करती है, तत्पश्चात् अवश्य प्रसव होता है या गर्भस्थ जीव मर जाता है ॥१३५९॥

२४१-२४२ द्वार : गर्भ-स्थिति मानवी की— गर्भ की काय-स्थिति—

गब्भट्ठिइ मणुस्सीणुक्किट्ठा होइ वरिस बारसगं।
गब्भस्स य कायठिई नराण चउवीस वरिसाइं ॥१३६०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—गाथार्थ—

मानवी की उत्कृष्ट गर्भ-स्थिति एवं गर्भस्थ मनुष्य की काय-स्थिति—**मनुष्य स्त्री की उत्कृष्ट गर्भ स्थिति बारह वर्ष की है तथा गर्भस्थ मनुष्य की काय स्थिति चौबीस वर्ष की है॥१३६०॥**

—विवेचन—

उत्कृष्टतः १२ वर्ष महापाप के उदय से वात-पित्त आदि दोषों के कारण तथा देवादि द्वारा गर्भ स्तंभन करने से उत्कृष्टतः जीव की गर्भ स्थिति १२ वर्ष की होती है।

उत्कृष्टतः २४ वर्ष कोई महापापी जीव १२ वर्ष के बाद गर्भ में ही मरकर तथाविध कर्मवश पुनः उसी कलेवर में उत्पन्न हो जाता है और उसी शरीर में पुनः १२ वर्ष तक रहता है॥१३६०॥

२४३ द्वार : गर्भस्थ का आहार—

पढमे समये जीवा उप्पन्ना गब्भवास- मज्झंमि।
ओयं आहारंती सव्वप्पणयाइ पूयव्व॥१३६१॥
ओयाहारा जीवा सव्वे अपज्जत्तया मुणेयव्वा।
पज्जत्ता उण लोमे पक्खेवे हुंति भइयव्वा॥१३६२॥

—गाथार्थ—

गर्भस्थ जीव का आहार—**गर्भ में उत्पन्न होते ही प्रथम समय में जीव मालपुए की तरह अपने संपूर्ण आत्मप्रदेशों के द्वारा ओजाहार करता है। सभी अपर्याप्ताजीव ओजाहारी होते हैं। सभी पर्याप्ता जीव लोमाहारी और कवलाहारी होते हैं॥१३६१-६२॥**

—विवेचन—

उत्पत्ति के प्रथम समय में जीव ओज आहार करता है। जिस प्रकार तेल या घी से भरी कड़ाई में मालपूआ डालते ही (प्रथम समय में ही) वह घी-तेल को पी लेता है, वैसे उत्पत्ति के प्रथम समय में ही जीव अपने सभी आत्म-प्रदेशों के द्वारा पिता के शुक्र और माता के शोणित का मिश्रित आहार करता है।

ओज = पिता के शुक्र और माता के शोणित का मिश्रण ओज कहलाता है।

तत्पश्चात् जीव किस अवस्था में कौनसा आहार करता है? इसकी सम्पूर्ण चर्चा २०५वें द्वार में द्रष्टव्य है॥१३६१-६२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४४ द्वार : गर्भोत्पत्ति—

रिउसमयण्हायनारी नरोवभोगेण गब्भसंभूई।
बारस मुहुत्त मज्झे जायइ उवरिं पुणो नेय ॥१३६३॥

—गाथार्थ—

पुरुष संयोग के कितने समय पश्चात् गर्भोत्पत्ति होती है?—**ऋतुस्नाता स्त्री को पुरुष संयोग के बारह मुहूर्त्त के भीतर गर्भ की उत्पत्ति होती है। तदुपरान्त नहीं होती ॥१३६३॥**

—विवेचन—

ऋतुस्नान करने के पश्चात् पुरुष के संभोग से १२ मुहूर्त (२४ घड़ी अर्थात् ९ घंटा ३६ मिनट) के भीतर स्त्री के गर्भोत्पत्ति होती है। १२ मुहूर्त तक शुक्र और शोणित गर्भाधान कराने में सक्षम होते हैं। तदुपरांत उनका सामर्थ्य नष्ट हो जाता है। अतः १२ मुहूर्त के बाद गर्भोत्पत्ति नहीं होती ॥१३६३॥

२४५ द्वार : २४६ द्वार : कितने पुत्र-कितने पिता—

सुयलक्खपुहुत्तं होइ एगनरभुत्तनारिगब्भंमि।
उक्कोसेणं नवसयनरभुत्तत्थीइ एगसुओ ॥१३६४॥

—गाथार्थ—

गर्भ में एक साथ कितने जीव उत्पन्न होते हैं?; एक पुत्र के कितने पिता हो सकते हैं?—**एक पुरुष द्वारा भोगी गई स्त्री के गर्भ में दो लाख से नौ लाख (लाख पृथक्त्व) जीव उत्पन्न होते हैं। उत्कृष्टतः नौ सौ पुरुषों द्वारा भोगी गई स्त्री के गर्भ में एक पुत्र होता है अर्थात् एक पुत्र के नौ सौ पिता हो सकते हैं ॥१३६४॥**

—विवेचन—

जघन्य से गर्भ में १...२...या ३ जीव उत्पन्न होते हैं।

उत्कृष्ट से गर्भ में ९ लाख जीव उत्पन्न होते हैं। निष्पत्ति एक या दो जीव की ही होती है, शेष अल्प-काल जीकर मर जाते हैं।

उत्कृष्ट से एक गर्भ के ९०० पिता हो सकते हैं। दृढ़ संघयण वाली अत्यंत कामातुर नारी ऋतु-स्नान के पश्चात् १२ मुहूर्त्त के भीतर ९०० पुरुषों के साथ संभोग करे तो उस बीज में से पैदा होने वाला जीव ९०० पिता का पुत्र होता है ॥१३६४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४७ द्वार : स्त्री-पुरुष का अबीजत्वकाल—

पणपन्नाए परेणं जोणी पमिलायए महिलियाणं ।
पणहत्तरीए परओ होइ अबीयओ नरो पायं ॥१३६५ ॥
वाससयाउयमेयं परेण जा होइ पुव्वकोडीओ ।
तस्सद्धे अभिलाया सव्वाउयवीस भाये य ॥१३६६ ॥

—गाथार्थ—

स्त्री-पुरुष का अबीजत्व काल—**पचपन वर्ष की उम्र के पश्चात् स्त्रियों की योनि म्लान हो जाती है। पुरुष पचहत्तर वर्ष के पश्चात् अबीज बन जाता है। पूर्वोक्त कथन सौ वर्ष की आयु की अपेक्षा से समझना चाहिये। पूर्वक्रोड़ वर्ष के आयु की अपेक्षा अर्ध उम्र तक स्त्री की योनि अम्लान रहती है। पुरुष अपनी सम्पूर्ण आयु के बीसवें भाग में अबीज बनता है ॥१३६५-६६ ॥**

—विवेचन—

१०० वर्ष की आयु के अनुसार स्त्री ५५ वर्ष में, पुरुष ७५ वर्ष में अबीज बनता है। अबीज का अर्थ है गर्भोत्पत्ति के अयोग्य।

स्त्री ५५ वर्ष की उम्र तक अन्तराय वाली हो सकती है। अतः ५५ वर्ष तक उसकी योनि अम्लान होने से गर्भधारण योग्य हो सकती है। तत्पश्चात् योनि म्लान हो जाती है, अतः गर्भधारण की क्षमता भी नष्ट हो जाती है।

२०० वर्ष की आयु वाली स्त्रियों से लेकर पूर्व-क्रोड़ वर्ष की आयु की स्त्रियों के लिए यह नियम है कि वे अपनी आयु का अर्ध-भाग पूर्ण होने पर अबीज बनती है। पूव्रक्रोड़ वर्ष की आयु महाविदेह में है।

२०० वर्ष की आयुष्य से लेकर पूर्व क्रोड़ वर्ष की आयु वाले पुरुषों के लिये यह नियम है कि वे अपनी आयु के बीसवें भाग में अबीज बनते हैं। जैसे २०० वर्ष की आयुष्य वाला पुरुष एक सौ साठ वर्ष के बाद अबीज हो जाता है।

- पूर्व क्रोड़ वर्ष से अधिक आयु वाली स्त्रियों की प्रसूति एक बार ही होती है। वे अम्लान योनि वाली और सदावस्थित यौवनवती होती हैं ॥१३६५-६६ ॥

२४८ द्वार : शुक्रादि का परिमाण—

बीयं सुक्कं तह सोणियं च ठाणं तु जणणि गब्भंमि ।
ओयं तु उवट्टंभस्स कारणं तस्स रूवं तु ॥१३६७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अट्ठारसपिट्ठकरंडयस्स संधी उ हुंति देहंमि ।
बारस पंसुलियकरंडया इहं तहच्च छ पंसुलिए ॥१३६८ ॥
होइ कडाहे सत्तंगुलाइं जीहा पलाइ पुण चउरो ।
अच्छीउ दो पलाइं सिरं तु भणियं चउकवालं ॥१३६९ ॥
अद्धट्ठपलं हिययं बत्तीसं दसण अखंडाइं ।
कालेज्जयं तु समए पणवीस पलाइ निद्दिट्ठं ॥१३७० ॥
अंताइं दोन्नि इहयं पत्तेयं पंच पंच वामाओ ।
सट्ठिसयं संधीणं मम्माण सयं तु सत्तहियं ॥१३७१ ॥
सट्ठिसयं तु सिराणं नाभिप्पभवाण सिरमुवगयाणं ।
रसहरणिनामधेज्जाण जाणऽणुग्गह विघाएसु ॥१३७२ ॥
सुइचक्खुघाणजीहाणणुग्गहो होइ तह विघाओ य ।
सट्ठसयं अन्नाण वि सिराणऽहोगामिणीण तहा ॥१३७३ ॥
पायतलमुवगयाणं जंघाबलकारिणीणऽणुवघाए ।
उवघाए सिरवियणं कुणंति अंधत्तणं च तहा ॥१३७४ ॥
अवराण गुदपविट्ठाण होइ सट्ठं सयं तह सिराणं ।
जाण बलेण पवत्तइ वाऊ मुत्तं पुरीसं च ॥१३७५ ॥
अरिसाउ पांडुरोगो वेगनिरोहो य ताण य विघाए ।
तिरियगमाण सिराणं सट्ठसयं होइ अवराणं ॥१३७६ ॥
बाहुबलकारिणीओ उवघाए कुच्छउयरवियणाओ ।
कुव्वंति तहऽन्नाओ पणवीसं सिंभधरणीओ ॥१३७७ ॥
तह पित्तधारिणीओ पणवीसं दस य सुक्कधरणीओ ।
इय सत्तसिरसयाइं नाभिप्पभवाइं पुरिसस्स ॥१३७८ ॥
तीसूणाइं इत्थीण वीसहीणाइं हुंति संढस्स ।
नव ण्हारूण सयाइं नव धमणीओ य देहंमि ॥१३७९ ॥
तह चेव सव्वदेहे नवनउई लक्ख रोमकूवाणं ।
अद्धट्ठा कोडीओ समं पुणो केसमंसूहिं ॥१३८० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुत्तस्स सोणियस्स य पत्तेयं आढयं वसाए उ।
अद्धाढयं भणंति य पत्थं मत्थुलुयवत्थुस्स ॥१३८१॥
असुइमल पत्थछक्कं कुलओ कुलओ य पित्तसिंभाणं।
सुक्कस्स अद्धकुलओ दुट्ठं हीणाहियं होज्जा ॥१३८२॥
एक्कारस इत्थीए नव सोयाइं तु हुंति पुरिसस्स।
इय किं सुइत्तणं अट्ठिमंसमलरुहिरसंघाए ॥१३८३॥

—गाथार्थ—

शरीर में शुक्र आदि का परिमाण—माता के गर्भ में शरीर के बीजरूप शुक्र और रक्त का स्थान है। इन दोनों का योग 'ओज' कहलाता है। यह 'ओज' शरीर का मूल कारण है। शरीर का स्वरूप इस प्रकार है ॥१३६७॥

शरीर में अट्ठारह पाँसुलिओं की सन्धियाँ हैं। इनमें से बारह पाँसुलियाँ करण्डक रूप है तथा छः पाँसुलियाँ कटाह रूप है। जीभ सात अंगुल लंबी और वजन में चार पल परिमाण है। आँख का वजन दो पल है। शिर हड्डियों के चार टुकड़ों से निर्मित है ॥१३६८-६९॥

हृदय का वजन साढ़े तीन पल है। मुँह में हड्डियों के खण्ड रूप बत्तीस दाँत हैं। छाती के भीतर स्थित 'कलेजे' का परिमाण आगम में पच्चीस पल का बताया है ॥१३७०॥

शरीर में पाँच-पाँच हाथ लंबी दो बड़ी आँतें हैं। पूरे शरीर में एक सौ साठ सन्धियाँ तथा एक सौ सात मर्म स्थान हैं ॥१३७१॥

नाभि से उत्पन्न होने वाली एक सौ साठ शिरायें मस्तक से जुड़ती हैं। जिन्हें रसहरणी कहते हैं। इन नसों पर अनुग्रह या उपघात होने पर कान, आँख, नाक और जीभ पर अच्छी-बुरी असर होती है। नाभि से निकलकर एक सौ साठ शिरायें नीचे पाँवों के तलियों से जुड़ती हैं। इनके अनुग्रह से जंघाबल मजबूत होता है और उपघात होने से शिरो वेदना, अंधत्व आदि पीड़ायें होती हैं। नाभि से निकलकर एक सौ साठ नसें गुदा से जुड़ती हैं जो वायु के संचार में तथा मूत्र-पुरीष के निर्गमन में उपयोगी बनती हैं। इनका उपघात होने से बवासीर, पाँडुरोग, मूत्र-पुरीष सम्बन्धी बीमारियाँ हो जाती हैं। नाभि से निकलकर एक सौ साठ शिरायें तिरछी जाती हैं। ये शिरायें भुजाओं में ताकत उत्पन्न करती हैं। इनके उपघात से काँख, पेट आदि की पीड़ा होती है। पच्चीस शिरायें कफधारिणी, पच्चीस पित्तधारिणी तथा दस शिरायें शुक्रधारिणी हैं। इस प्रकार नाभि से उत्पन्न होने वाली कुल सात सौ नसें पुरुष के शरीर में होती हैं ॥१३७२-७८॥

स्त्रियों के तीस न्यून सात सौ नसें होती हैं तथा नपुंसक के बीस न्यून सात सौ नसें होती हैं। इसके अतिरिक्त नौ सौ स्नायु तथा नौ धमनियाँ शरीर में होती हैं ॥१३७९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संपूर्ण शरीर में निन्याणु लाख रोम कूप हैं। दाढ़ी-मूँछ और सिर के बाल सहित रोमराजी की संख्या साढ़े तीन करोड़ हैं ॥१३८० ॥

शरीर में मूत्र और रक्त का पृथक्-पृथक् परिमाण एक आढ़क है। चरबी $\frac{१}{२}$ आढ़क है। मस्तक का भेजा प्रस्थ परिमाण है ॥१३८१ ॥

शरीर में मल छः प्रस्थ परिमाण होता है। पित्त और कफ पृथक्-पृथक् एक कुलव परिमाण होते हैं। वीर्य अर्ध कुलव। यदि ये चीजें उक्त परिमाण से हीनाधिक हो तो समझना चाहिये कि शरीर में किसी प्रकार का दोष है ॥१३८२ ॥

स्त्री के शरीर में ग्यारह और पुरुष के शरीर में नौ द्वार हैं। हड्डी, मांस, मल, मूत्र और रक्त के समूह रूप इस शरीर में क्या पवित्रता है? ॥१३८३ ॥

—विवेचन—

(i) पिता का शुक्र और **(ii)** माता का शोणित ये दोनों शरीर के मुख्य कारण हैं।

(iii) ओजस—यह शरीर-रचना का सर्वप्रथम कारण है, जब जीव गर्भ में आकर उत्पन्न होता है, सर्वप्रथम वह ओज (शुक्र मिश्रित शोणित) के पुद्गलों को ग्रहण करता है। शरीर रचना का प्रारंभ इन्हीं पुद्गलों से होता है।

शरीर का स्वरूप—शरीर रचना का मुख्य भाग है पृष्ठ-वंश (रीढ़ की हड्डी)। बांस के पर्वों की तरह इसमें १८ संधियाँ होती हैं। १२ संधियों में से अर्थात् दोनों तरफ की ६-६ पसलियों में से हड्डियाँ निकल कर वक्षस्थल के मध्य-भागवर्ती अर्थात् ऊपरी हड्डी से संलग्न हो जाती है, जिससे वक्षःस्थल का आकार कटोरा जैसा बन जाता है।

कहा है कि—इस शरीर में १२ पसलियों का डिब्बे जैसे आकार वाला एक पृष्ठ करंडक होता है। पृष्ठवंश की छः सन्धियों से दोनों ओर छः-छः पसलियाँ निकलती हैं और वे दोनों पार्श्वों को आवृत करती हुई, हृदय के दोनों ओर वक्षपंजर से नीचे व पेट से ऊपर परस्पर एक-दूसरे को स्पर्श न करते हुए रहती हैं। इसका कड़ाई जैसा आकार होने से इसे 'कटाह' कहते हैं।

अवयवों का प्रमाण एवं संख्या

१. जिह्वा	= ७ आत्मांगुल लम्बी और ४ पल प्रमाण तौल में होती है।
२. आँख का गोलक	= २ पल प्रमाण है।
३. शिर	= ४ अस्थिखंडों से निर्मित होता है।
४. हृदय का मांसखण्ड	= साढ़े तीन पल प्रमाण है।
५. दाँत	= ३२ (अस्थिखंडरूप) हैं।
६. कलेजा	= २५ पल प्रमाण हैं।
७. दोनों अन्त्र	= ५...५ हाथ प्रमाण हैं।
८. संधियाँ	= १६० हैं।सन्धि = हड्डियों का जोड़।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

९. मर्मस्थान = १०७ हैं।
१०. स्नायु = अस्थिबंधन—हड्डियों को लपेटने वाली ९०० नाड़ियाँ हैं।
११. धमनी = ९ बड़ी नसें, जो रस को वहन करने वाली हैं।

१२. नसें = पुरुष के शरीर में नाभि से उत्पन्न होने वाली ७०० नाड़ियाँ हैं। १६० नाड़ियाँ नाभि से सिर तक फैली हुई हैं। ये नाड़ियाँ रस को विकीर्ण करने वाली होने से रसहरणी कहलाती हैं। चक्षु, श्रोत्र, नाक, जीभ आदि इन्द्रियों के सामर्थ्य का आधार ये नाड़ियाँ हैं। १६० नाड़ियाँ नाभि से पाँव तक फैली हुई हैं। इन नाड़ियों के अनुग्रह, उपघात से जंघा, शिर, ऑख-नाक-जीभ इत्यादि के अनुग्रह, उपघात जुड़े हुए हैं। अन्य १६० नाड़ियाँ नाभि से गुदा तक जाती हैं, जो वायु, मूत्र और पुरिस का निष्कासन करती हैं। इनमें विकार होने से अर्श, पाँडु, टट्टी-पेशाब रुकना आदि रोग उत्पन्न होते हैं। १६० तिरछी फैली हुई नाड़ियाँ हैं, जिनसे भुजाबल मिलता है। इनमें उपघात होने से पसली, पेट आदि में वेदना होती है। अन्य २५ शिरायें कफ, २५ पित्त एवं १० शुक्र आदि सात धातुओं को वहन करने वाली हैं। इस प्रकार ७०० नाड़ियाँ पुरुष के शरीर में होती हैं।

किसके कितनी नाड़ियाँ होती हैं?

पुरुष के	= ७०० शिरा।	ये शिरायें
स्त्री के	= ६७० शिरा।	नाभि से उत्पन्न
नपुंसक के	= ६८० शिरा।	होती हैं।

रोम = ९९ लाख (श्मश्रु = दाढ़ी-मूँछ और शिर के केशों को छोड़कर) श्मश्रु और शिर के केशों को मिलाने से साढ़े तीन करोड़ रोमराजी होती है।

शरीर में सर्वदा मूत्र, शोणित = प्रत्येक चार-चार सेर परिमाण रहते हैं।

शरीर में सर्वदा वसा = दो सेर परिमाण

मस्तक (स्नेह) = एक सेर परिमाण

मेद = एक सेर परिमाण (अन्य मतानुसार मस्तुलुंक का अर्थ है मेद, पिप्पिस आदि।)

मल का परिमाण = छः सेर

पित्त-श्लेष्म का परिमाण = प्रत्येक एक-एक पाव

शुक्र का परिमाण = आधा पाव

परिमाण की इकाई

दो असइओ पसई, दो पसइओ सेइया।
चत्तारि सेइयाउ कुलओ चत्तारि कुड़वा पत्थो।
चत्तारि पत्था अढ़ियं, चत्तारि आढया दोणो॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२ असृति = १ पसली, २ पसली = १ सेत्तिका, ४ सेत्तिका = १ कुलव, ४ कुलव = १ प्रस्थ, ४ प्रस्थ = १ आढ़क, ४ आढ़क = १ द्रोण होता है।

असृति का अर्थ है धान्य से भरा हुआ उलटा हाथ अर्थात् १ मुट्ठी। कुलव = पाव व प्रस्थ = सेर प्रमाण है। प्रस्थ, आढ़क आदि का प्रमाण बाल, कुमार, तरुण आदि की अपनी २ मुट्ठी, पसली आदि से परिमित समझना।

उक्त प्रमाण से जिसके शरीर में शुक्र, शोणित आदि हीनाधिक होते हैं, उसका शरीर विकारी समझना।

शरीर के द्वार—

स्त्री के २ कान + २ नेत्र + २ घ्राण + १ मुँह + २ स्तन + १ पायु (मूत्रस्थल) + १ उपस्थ (मलद्वार) = ११

पुरुष के २ स्तन रहित पूर्वोक्त = ९

तिर्यंच के द्वार अनियमित होते हैं। २ स्तन वाली बकरी के ११, ४ स्तन वाली गाय, भैंस आदि के १३, आठ स्तन वाली सूकरी आदि के १७ द्वार हैं। यह संख्या सभी द्वार निराबाध हो तब समझना। व्याघात होने पर एक स्तन वाली बकरी के १० द्वार, तीन स्तन वाली गाय के १२ द्वार होते हैं। इस प्रकार हाड़ मांस आदि के समूह रूप इस शरीर में क्या पवित्रता है? इस प्रकार यथायोग्य योजन कर लेना ॥१३६७-८३॥

२४९ द्वार : सम्यक्त्वादि का अन्तरकाल—

सम्मत्तंमि य लद्धे पलियपुहुत्तेण सावओ होइ।
चरणोवसमखयाणं सायरसंखंतरा हुंति ॥१३८४॥

—गाथार्थ—

सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति का अंतर—**सम्यक्त्व पाने के समय कर्म की जितनी स्थिति है उसमें से पल्योपम पृथक्त्व परिमाण कर्मस्थिति क्षय होने पर श्रावकपन प्राप्त होता है। तत्पश्चात् क्रमशः संख्याता सागरोपम जितनी कर्मस्थिति क्षय होने पर चारित्र, उपशमश्रेणि एवं क्षपकश्रेणि प्राप्त होती है ॥१३८४॥**

—विवेचन—

देशविरति—सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात् २ से ९ पल्योपम की कर्मस्थिति क्षय होने के बाद प्राप्त होती है।

सर्वविरति—देशविरति की प्राप्ति के पश्चात् संख्यात सागरोपम प्रमाण कर्मस्थिति क्षय होने के बाद प्राप्त होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपशम श्रेणि—सर्वविरति की प्राप्ति के पश्चात् संख्यातसागर-प्रमाण कर्मस्थिति क्षय होने पर प्राप्त होती है।

क्षपकश्रेणि—उपशम श्रेणि के पश्चात् संख्यात सागर-प्रमाण कर्मस्थिति का क्षय होने पर क्षपक श्रेणि प्राप्त होती है तथा आत्मा उसी भव में मोक्ष चला जाता है।

- पूर्वोक्त कथन अप्रतिपतित सम्यक्त्वी, देव और मनुष्यभव में संसरण करने वाले आत्मा को उत्तरोत्तर प्राप्त होने वाले मनुष्य भवों की अपेक्षा से समझना।
- तीव्र शुभ परिणाम द्वारा जिनके विपुल कर्म क्षय हो चुके हैं ऐसे आत्मा को तो एक भव में ही दो में से एक श्रेणि, सम्यक्त्व, देशविरति और सर्वविरति इन चारों की प्राप्ति होती है। कहा है—

एवं अप्परिवडिए सम्मत्ते देवमणुयजम्मेसु।

अन्नयरसेढ़िवज्जं, एगभवेणं च सव्वाइं॥

सिद्धान्त के मतानुसार एक भव में दो श्रेणियाँ नहीं होती। एक आत्मा एक भव में एक ही श्रेणि कर सकता है। कहा है कि—अपतित सम्यक्त्वी, मनुष्य व देवभव में क्रमशः पुनः-पुनः संसरण करने वाला आत्मा एक भव में दो में से एक श्रेणी, देशविरति, सर्वविरति आदि सभी भावों को प्राप्त करता है॥१३८४॥

२५० द्वार : मानव के अयोग्य जीव—

सत्तममहि नेरइया तेऊ वाऊ अणंत रूवट्टा।
न लहंति माणुसत्तं तहा असंखाउया सव्वे॥१३८५॥

—गाथार्थ—

कौन से जीव मरणोपरांत मनुष्य नहीं बनते?—**सातवीं नरक के नैरइये, तेउकाय, वायुकाय तथा असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंच और मनुष्य मरकर मनुष्य नहीं बनते॥१३८५॥**

—विवेचन—

(क)	सातवीं नरक का नेरईया (नारक)	इतने जीव
(ख)	तेउकाय के जीव	मर
(ग)	वायुकाय के जीव	कर
(घ)	युगलिक मनुष्य और युगलिक तिर्यंच	मनुष्य नहीं बनते।

शेष देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक मनुष्य में उत्पन्न होते हैं॥१३८५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५१ द्वार : पूर्वांग का परिमाण—

वरिसाणं लक्खेहिं चुलसीसंखेहिं होइ पुव्वंगं ।
एयं चिय एयगुणं जायइ पुव्वं तयं तु इमं ॥१३८६ ॥

—गाथार्थ—

पूर्वांग का परिमाण—**चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग होता है। चौरासी लाख को चौरासी लाख से गुणा करने पर पूर्व का परिमाण आता है ॥१३८६ ॥**

—विवेचन—

पूर्वांग = पूर्व, संख्या विशेष का अंग अर्थात् निष्पादक। जिसके द्वारा पूर्व का परिमाण निष्पन्न होता है। अर्थात् ८४००००० वर्ष का एक पूर्वांग होता है ॥१३८६ ॥

२५२ द्वार : पूर्व का परिमाण—

पुव्वस्स उ परिमाणं सयरिं खलु वासकोडिलक्खाओ ।
छप्पन्नं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं ॥१३८७ ॥

—गाथार्थ—

पूर्व का परिमाण—**सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्ष एक पूर्व का परिमाण है ॥१३८७ ॥**

—विवेचन—

८४ लाख को ८४ लाख से गुणा करने पर एक पूर्व होता है। अर्थात् ७०५६०००००००००० वर्ष का एक पूर्व होता है। (सत्तर लाख, छप्पन हजार करोड़ वर्ष का एक पूर्व होता है।) ॥१३८७ ॥

२५३ द्वार : लवणशिखा-प्रमाण—

दसजोयणाण सहसा लवणसिहा चक्कवालओ रुंदा ।
सोलस सहस्स उच्चा सहस्समेगं तु ओगाढा ॥१३८८ ॥

—गाथार्थ—

लवणसमुद्र की शिखा—**लवणसमुद्र की शिखा समुद्र के मध्य में चक्र की तरह गोलाकार विस्तृत है। उसका विस्तार दस हजार योजन है। वह सोलह हजार योजन ऊँची तथा एक हजार योजन गहरी है ॥१३८८ ॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

लवणशिखा—शिखा अर्थात् चोटी। जैसे मस्तक के मध्य शिखा होती है वैसे ही लवणसमुद्र के मध्य चोटी की तरह समुन्नत जलराशि है, वह लवणशिखा कहलाती है। शिखा की ऊँचाई १६००० योजन, गहराई १००० योजन व रथ के पहिये की तरह इसका गोलाई में विस्तार १०००० योजन है।

लवणसमुद्र—यह जम्बूद्वीप को चारों ओर से घेरे हुए है। इसका विस्तार दो लाख योजन का है। इसके एक तरफ जम्बूद्वीप की वेदिका और दूसरी तरफ धातकी खण्ड की वेदिका है। मध्य में समुद्र है। दोनों वेदिका से समुद्र के मध्य की ओर जाने पर समुद्रतल उत्तरोत्तर निम्न, निम्नतर होता जाता है। जल में रहने वाला उत्तरोत्तर निम्न निम्नतर भू-भाग गोतीर्थ कहलाता है। तालाब आदि का प्रवेश-मार्ग जैसे क्रमशः निम्न निम्नतर होता है वैसा यह भी होता है। जैसे बैठी हुई गाय का मस्तक भाग ऊँचा होता है पश्चात् पूँछ तक के भाग क्रमशः नीचे होते जाते हैं वैसे ही आकार वाला समुद्र का यह भू-भाग गोतीर्थ कहलाता है। जम्बूद्वीप व धातकीखंड की वेदिका के अत्यन्त समीपवर्ती समुद्रतल की नीचाई अंगुल का असंख्यातवां भाग है उससे आगे उत्तरोत्तर एक-एक प्रदेश की हानि होते-होते दोनों ओर ९५००० योजन समुद्र में जाने पर भू-भाग की गहराई समतल पृथ्वी से १००० योजन की हो जाती है। इस प्रकार लवण समुद्र के १०,००० योजन प्रमाण मध्य भाग की गहराई १००० योजन की है। इस पर १६,००० योजन प्रमाण ऊँची लवण शिखा है।

जम्बूद्वीप और धातकीखंड की वेदिका से समुद्र के समतल भू-भाग में जल की प्राथमिक वृद्धि अंगुल के असंख्यातवें भाग की है। तत्पश्चात् एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते दोनों ओर ९५,००० योजन समुद्र में जाने पर जल की ऊँचाई ७०० योजन की व गहराई १००० योजन की हो जाती है। तत्पश्चात् मध्य के १०,००० योजन गोल विस्तृत भाग में जल की वृद्धि समतल भू-भाग की अपेक्षा १६००० योजन की तथा गहराई १००० योजन की है। यही समुन्नत जलराशि लवणशिखा कहलाती है। पाताल कलशों में रहने वाली वायु क्षुब्ध होने पर अहोरात्रि में दो बार लवणशिखा पर जल दो कोश अधिक बढ़ जाता है। वायु का क्षोभ शान्त होने पर पुनः जल घट जाता है ॥१३८८॥

२५४ द्वार : अंगुल-प्रमाण—

उस्सेहंगुल-मायंगुलं च तइयं पमाणनामं च।
इय तिन्नि अंगुलाइं वावारिज्जंति समयंमि ॥१३८९॥
सत्थेण सुतिक्खेणवि छेत्तुं भेतुं च जं किर न सक्का।
तं परमाणुं सिद्धा वयंति आइं पमाणाणं ॥१३९०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परमाणू तसरेणू रहरेणू अग्गयं च वालस्स।
लिक्खा जूया य जवो अट्ठगुणविवड्ढिया कमसो ॥१३९१ ॥
वीसं परमाणुलक्खा सत्तानउई भवे सहस्साइं।
सयमेगं बावन्नं एगंमि उ अंगुले हुंति ॥१३९२ ॥
परमाणू इच्चाइक्कमेण उस्सेहअंगुलं भणियं।
जं पुण आयंगुलमेरिसेण तं भासियं विहिणा ॥१३९३ ॥
जे जंमि जुगे पुरिसा अट्ठसयंगुलसमूसिया हुंति।
तेसिं जं नियमंगुलमायंगुलमेत्थ तं होइ ॥१३९४ ॥
जे पुण एयपमाणा ऊणा अहिगा व तेसिमेयं तु।
आयंगुलं न भन्नइ किंतु तदाभासमेवत्ति ॥१३९५ ॥
उस्सेहंगुलमेगं हवइ पमाणंगुलं सहस्सगुणं।
उस्सेहंगुलदुगुणं वीरस्सायंगुलं भणियं ॥१३९६ ॥
आयंगुलेण वत्थुं उस्सेह-पमाणओ मिणसु देहं।
नगपढविविमाणाइं मिणसु पमाणंगुलेणं तु ॥१३९७ ॥

—गाथार्थ—

उत्सेधांगुल आत्मांगुल और प्रमाणांगुल—आगम में व्यवहारोपयोगी तीन अंगुल बताये हैं—१. उत्सेधांगुल २. आत्मांगुल तथा ३. प्रमाणांगुल ॥१३८९ ॥

सुतीक्ष्ण शस्त्र भी जिसे छिन्न-भिन्न नहीं कर सकता तथा जो परिमाण का आदि कारण है, केवलज्ञानी उसे परमाणु कहते हैं ॥१३९० ॥

परमाणु, त्रसरेणु रथरेणु, वालाग्र, लीख, जूं और यव—ये उत्तरोत्तर आठ गुणा बड़े होते हैं ॥१३९१ ॥

एक उत्सेधांगुल में बीस लाख सत्ताणु हजार एक सौ बावन परमाणु होते हैं ॥१३९२ ॥

परमाणु आदि के क्रमपूर्वक उत्सेधांगुल का वर्णन किया। अब विधिपूर्वक आत्मांगुल बताया जाता है ॥१३९३ ॥

जिस युग में जो पुरुष अपने अंगुल से एक सौ आठ अंगुल परिमाण होते हैं उनका अंगुल 'आत्मांगुल' कहलाता है ॥१३९४ ॥

जो अपने अंगुल से एक सौ आठ अंगुल नहीं है पर न्यूनाधिक है उनका अंगुल आत्मांगुल नहीं परन्तु 'आत्मांगुलाभास' कहलाता है ॥१३९५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रमाणांगुल उत्सेधांगुल से एक हजार गुणा अधिक बड़ा होता है। दो उत्सेधांगुल से वीरप्रभु का एक 'आत्मांगुल' बनता है॥१३९६॥

वास्तु का माप आत्मांगुल से, शरीर का माप उत्सेधांगुल से तथा पर्वत, पृथ्वी, विमान आदि का माप प्रमाणांगुल से किया जाता है॥१३९७॥

—विवेचन—

अंगुल—'अंगुल' शब्द गत्यर्थक 'अगि' धातु से बना है। गत्यर्थक धातुयें ज्ञानार्थक भी होती हैं अतः यहाँ 'अगि' धातु का अर्थ ज्ञान ही है। अंगुल का अर्थ है—पदार्थों के प्रमाण का ज्ञान कराने वाला माप। इसके ३ भेद हैं—**(i)** उत्सेधांगुल **(ii)** आत्मांगुल व **(iii)** प्रमाणांगुल।

(i) उत्सेधांगुल — उत्सेधांगुल को समझने के लिये सर्वप्रथम परमाणु आदि को समझना आवश्यक है।

परमाणु—यहाँ परमाणु का अर्थ निरंश द्रव्य नहीं है पर ऐसा सूक्ष्मपरिणामी पुद्गल द्रव्य है जो सुतीक्ष्ण शस्त्र से भी विभक्त नहीं किया जा सकता, जिसके खंड नहीं हो सकते तथा जिसे छेदा नहीं जा सकता। जो अनन्त अणुओं से निष्पन्न होता है पर अत्यन्त सूक्ष्मपरिणामी होने से चक्षु का विषय नहीं बन सकता। यह व्यवहारनय सम्मत परमाणु है क्योंकि इसमें भी निरंश द्रव्यरूप परमाणु के लक्षण घटते हैं। सूक्ष्म परमाणु अप्रदेशी होता है। विज्ञानसम्मत परमाणु जैनदृष्टि से व्यवहार परमाणु है। क्योंकि इसका विखण्डन संभव है। यह अनन्त प्रदेश वाला है। आगमों में इसे भी अछेद्य और अभेद कहा गया है।

परमाणु का स्वरूप बताने के पश्चात् उत्सेधांगुल आदि परिमाणों की निष्पत्ति के कारणरूप अन्य परिमाणों का स्वरूप भी यहाँ बताया जाता है। यद्यपि यहाँ मूल में 'उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका' आदि तीन पद अनुक्त हैं तथापि **अनुयोगद्वार** आदि में कहे गये हैं और युक्ति संगत भी हैं अतः टीका में बताये जाते हैं।

अनंत परमाणु	=	१ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका।
८ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका	=	१ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका।
८ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका	=	१ ऊर्ध्व रेणु।
८ ऊर्ध्वरेणु	=	१ त्रसरेणु।
८ त्रसरेणु	=	१ रथरेणु
८ रथरेणु	=	१ वालाग्र (देवकुरु-उत्तरकुरु के युगलिकों का)
८ वालाग्र	=	१ वालाग्र (हरिवर्ष-रम्यकवर्ष के युगलिकों का)
८ वालाग्र	=	१ वालाग्र (हैमवत-हैरण्यवत के युगलिकों का)
८ वालाग्र	=	१ वालाग्र (पूर्व-पश्चिम विदेह के मनुष्यों का)
८ वालाग्र	=	१ वालाग्र (भरत-ऐरवत के मनुष्यों का)
८ वालाग्र	=	१ लीख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८ लीख = १ जूं
८ जूं = १ यव का मध्यभाग
८ यवमध्य = १ उत्सेधांगुल।

- **उर्ध्वरेणु**—जाली आदि के छिद्रों से आने वाली सूर्य की किरणों में ऊपर-नीचे तैरने वाले रजकण।
- **त्रसरेणु**—वायु से प्रेरित होकर इधर-उधर गति करने वाले रजकण।
- **रथरेणु**—घूमते हुए रथ के पहिये से उड़ने वाले रजकण। त्रसरेणु वायु से उड़ता है पर रथरेणु रथ के पहिये से खुदकर ही उड़ता है। अत: इसकी अपेक्षा त्रसरेणु अल्प परिमाणवाला है।

अन्यत्र 'परमाणु रहरेणु तसरेणु' ऐसा पाठ है वह असंगत है, क्योंकि पूर्वोक्त प्रमाण के अनुसार रथरेणु की अपेक्षा त्रसरेणु ८ गुणा अधिक नहीं हो सकता। 'संग्रहणी' में भी ऐसा ही पाठ है वह भी आगमविरोधी होने से विचारणीय है।

यद्यपि क्षेत्रभेद से मनुष्यों के वालाग्र भी भिन्न-भिन्न परिमाप के होते हैं तथापि जाति की विवक्षा से 'वालाग्र' शब्द का यहाँ एक बार ही प्रयोग किया गया है। मूल में अनुक्त भी कुछ माप उपयोगी होने से यहाँ बताये जाते हैं।

६ उत्सेधांगुल = पाँव का मध्यभाग।
२ पाँव के मध्यभाग = १ बेंत।
२ बेंत = १ हाथ।
४ हाथ = १ धनुष।
२००० धनुष = १ कोस।
४ कोस = १ योजन

वैसे तो १ उत्सेधांगुल में अनन्त परमाणु हैं पर 'परमाणु तसरेणु रहरेणु' आदि के क्रम से मूल गाथा में गृहीत परमाणु की अपेक्षा से गिने जायें तो २०,९७,१५२ परमाणु होते हैं। इसमें उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका, श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका व उर्ध्वरेणु के परमाणुओं की गणना सम्मिलित नहीं है।

देव-नारक आदि के शरीर की ऊँचाई उत्सेध कहलाती है। उसका निर्णय करने वाला अथवा उत्सेध अर्थात् बढ़ना, जो अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के समूह से निर्मित एक व्यवहार परमाणु त्रसरेणु, रथरेणु इत्यादि क्रम से उत्तरोत्तर बढ़ते हुए माप वाला है वह अंगुल उत्सेधांगुल है।

(ii) आत्मांगुल—चक्रवर्ती, वासुदेव आदि उत्तम पुरुषों के शरीर की ऊँचाई अपने अंगुल से १०८ अंगुल प्रमाण होती है। जो पुरुष जिस युग में स्वयं की अंगुली से १०८ अंगुल उंचा होता है उस पुरुष की स्वयं की अंगुली को आत्मांगुल कहते हैं।

आत्मांगुल का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है, क्योंकि कालभेद से तत् तत् कालीन पुरुषों के शरीर का प्रमाण अनिश्चित होता है।

जिन पुरुषों की ऊँचाई अपने अंगुल से १०८ अंगुल प्रमाण नहीं होती परन्तु न्यूनाधिक होती है उनका अंगुल आत्मांगुल नहीं कहलाता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मांगुल का पूर्वोक्त प्रमाप मानने पर भरतचक्रवर्ती, परमात्मा महावीरदेव आदि का अंगुल आत्मांगुल नहीं माना जायेगा, कारण भरतचक्रवर्ती का देहमान अपने अंगुल से १२० अंगुल तथा भगवान महावीरदेव का देहमान अपने अंगुल से ८४ अंगुल था। इससे यह सिद्ध होता है कि जिन आत्माओं का देहमान 'अपने अंगुल से १०८ अंगुल नहीं है उन आत्माओं का अंगुल आत्मांगुल नहीं है,' इतना ही निषेध पर्याप्त नहीं है, परन्तु लक्षण-शास्त्रोक्त स्वरादि लक्षणों से रहित होते हुए न्यूनाधिक देहमान वाले आत्माओं का अंगुल आत्मांगुल नहीं कहलाता इतना कथन पर्याप्त है। इससे भरतचक्रवर्ती तथा परमात्मा महावीरदेव का देहमान हीनाधिक होने पर भी स्वरादि विशेष लक्षण-संयुक्त होने से उनके अंगुल को आत्मांगुल मानने में कोई बाधा नहीं है।

(iii) प्रमाणांगुल—सबसे प्रकृष्ट प्रमाण वाला, उत्सेधांगुल से एक हजार गुणा अधिक अंगुल प्रमाणांगुल है। अथवा समस्त लोक व्यवहार के प्रणेता, इस अवसर्पिणी काल में प्रमाणभूत पुरुष युगादिदेव या भरतचक्रवर्ती का अंगुल प्रमाणांगुल है। इस तरह आत्मांगुल और प्रमाणांगुल तुल्य हुआ।

प्रश्न—यदि भरतचक्रवर्ती आदि का अंगुल ही प्रमाणांगुल है तो आत्मांगुल व प्रमाणांगुल तुल्य होंगे तथा उत्सेधांगुल से प्रमाणांगुल एक हजार गुणा अधिक नहीं पर चार सौ गुणा अधिक होगा। क्योंकि भरतचक्रवर्ती आत्मांगुल से १२० अंगुल प्रमाण और उत्सेधांगुल से ५०० धनुष प्रमाण थे। एक धनुष में ९६ उत्सेधांगुल होने से ५०० धनुष के ५०० × ९६ = ४८,००० उत्सेधांगुल हुए। ४८,००० उत्सेधांगुल में १२० आत्मांगुल (भरतचक्रवर्ती का देहमान) का भाग देने पर ४८,००० ÷ १२० = ४०० उत्सेधांगुल हुए। इस प्रकार एक प्रमाणांगुल में ४०० उत्सेधांगुल होने से उत्सेधांगुल से प्रमाणांगुल १००० गुणा अधिक कैसे होगा?

उत्तर—आपका कथन सत्य है परन्तु इसे इस तरह समझना होगा। प्रमाणांगुल की मोटाई ढाई उत्सेधांगुल प्रमाण है और इतनी मोटाई वाला प्रमाणांगुल, उत्सेधांगुल से ४०० गुणा ही अधिक बड़ा होता है। परन्तु ढाई उत्सेधांगुल मोटाई को प्रमाणांगुल की ४०० उत्सेधांगुल प्रमाण लंबाई से गुणा करने पर ४०० × २$\frac{१}{२}$ ढाई = १००० गुणा अधिक बड़ी प्रमाणांगुल की सूची होती है। सारांश यह है कि २$\frac{१}{२}$ उत्सेधांगुल मोटाई वाले प्रमाणांगुल की ३ श्रेणियाँ बनाना। इनमें दो श्रेणियाँ ४०० उत्सेधांगुल लंबी तथा १ उत्सेधांगुल मोटी बनाना। तीसरी श्रेणी ४०० उत्सेधांगुल लंबी व $\frac{१}{२}$ उत्सेधांगुल मोटी बनाना। उसे मध्य से काटकर परस्पर जोड़ देना जिससे वह २०० उत्सेधांगुल लंबी व १ उत्सेधांगुल मोटी श्रेणी बन जाये। इन तीनों श्रेणिओं को लंबाई में जोड़ने से १००० उत्सेधांगुल लंबी तथा १ उत्सेधांगुल मोटी प्रमाणांगुल की १ सूची बनती है। इसकी अपेक्षा से ही प्रमाणांगुल उत्सेधांगुल से १००० गुणा अधिक होता है। वस्तुतः तो उत्सेधांगुल से प्रमाणांगुल ४०० गुणा ही अधिक है।

पृथ्वी-पर्वत-विमान आदि का प्रमाप ४०० उत्सेधांगुल लम्बे व ढाई अंगुल मोटे प्रमाणांगुल से ही मापा जाता है, न कि सूचीकृत प्रमाणांगुल से। ऐसी परम्परा है। तत्त्व केवलीगम्य है।

भगवान महावीरदेव का आत्मांगुल उत्सेधांगुल से दुगुना है। ऐसा पूर्वाचार्यों का कथन है। कारण भगवान महावीर का देहमान ८४ आत्मांगुल प्रमाण तथा उत्सेधांगुल से ७ हाथ प्रमाण था। १ हाथ २४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्सेधांगुल प्रमाण होने से ७ हाथ में ७ × २४ = १६८ उत्सेधांगुल हुए इसमें ८४ आत्मांगुल का भाग देने पर १६८ ÷ ८४ = २ उत्सेधांगुल हुए। इस प्रकार १ आत्मांगुल में २ उत्सेधांगुल हुए।

अनुयोगद्वार-चूर्णि में कहा है कि—मतान्तर से वीर प्रभु की ऊँचाई आत्मांगुल की अपेक्षा ८४ अंगुल है तथा उत्सेधांगुल से १६८ अंगुल की है। अतः २ उत्सेधांगुल = वीर प्रभु का १ आत्मांगुल होता है।

अंगुल के ३ प्रकार—

इस विषय में अनेक मतान्तर है। पर ग्रंथ-विस्तार के भय से यहाँ नहीं बताये।

(i) उत्सेधांगुल **(ii)** आत्मांगुल व **(iii)** प्रमाणांगुल। ये तीनों ही तीन प्रकार के हैं—

(i) सूच्यंगुल **(ii)** प्रतरांगुल व **(iii)** घनांगुल।

(i) सूच्यंगुल—एक अंगुल लंबी एक प्रदेश मोटी आकाश प्रदेश की श्रेणी सूच्यंगुल है। जैसे '०००'। यद्यपि सूची में असंख्य आकाश प्रदेश होते हैं तथापि असत् कल्पना से तीन आकाश प्रदेश की मानी गई है।

(ii) प्रतरांगुल—अंगुल परिमाण लंबी, एक आकाश प्रदेश मोटी एक सूची में जितने आकाश प्रदेश हैं उन्हें उतने ही आकाश प्रदेश से गुणा करने पर जितने आकाश प्रदेश होते हैं उतने आकाश प्रदेश का एक प्रतरांगुल होता है। माना कि सूची ३ आकाश प्रदेश की है '०००' इसे ३ से गुणा करने पर ३ × ३ = ९ आकाश प्रदेश प्रमाण प्रतरांगुल होता है। लंबाई-चौड़ाई में समान होते हुए मोटाई जिसकी १ प्रदेश प्रमाण हो वह प्रतरांगुल है। जैसे—० ० ०

० ० ०

० ० ०

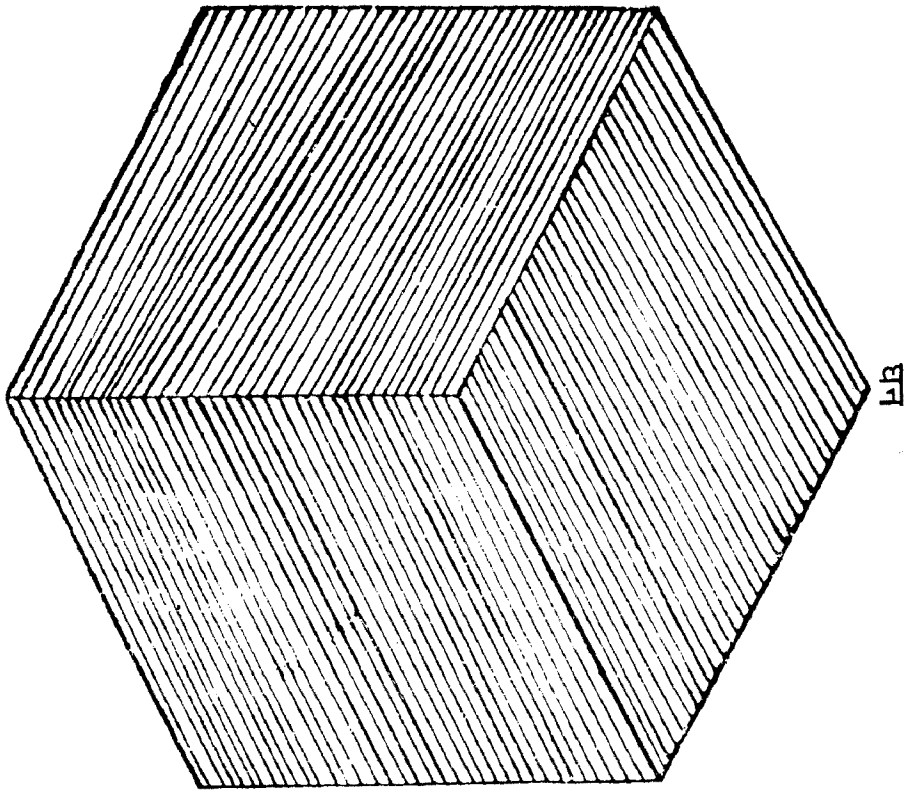
(iii) घनांगुल—जिसकी लंबाई-चौड़ाई व मोटाई तुल्य हो वह घनांगुल कहलाता है। आगम के अनुसार 'घन' शब्द लंबाई-चौड़ाई व मोटाई की समानता में रूढ़ है। प्रतरांगुल लंबाई-चौड़ाई में समान होता है मोटाई तो उसकी एक प्रदेश की ही होती है। ९ प्रदेशात्मक प्रतर का ३ प्रदेशात्मक सूची से गुणा करने पर २७ प्रदेशात्मक (लंबाई-चौड़ाई-मोटाई में समान) घनांगुल होता है। इसकी स्थापना नव प्रदेशात्मक प्रतर के ऊपर-नीचे ९-९ प्रदेश स्थापित करने से पूर्ण बनती है।

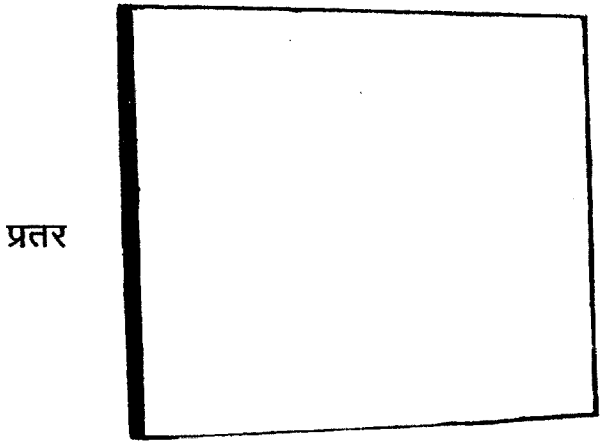
- आत्मांगुल से शिल्प सम्बन्धी माप किया जाता है। शिल्प के ३ प्रकार हैं।

(i)	खात	= खोदकर निर्माण करने योग्य, कुँआ, तालाब, भूमिगृह आदि।
(ii)	उच्छ्रित	= ऊँचाई पर निर्माण करने योग्य, महल, मन्दिर, घर आदि।
(iii)	खातोच्छ्रित	= नीचे-ऊपर दोनों प्रकार के निर्माण से युक्त; जैसे, भूमिगृह से युक्त महल आदि।

- उत्सेधांगुल से देवादि के शरीर का माप किया जाता है।
- मेरु आदि पर्वत, नरक, देव-विमान, समुद्र आदि का माप प्रमाणांगुल से किया जाता है ॥१३८९-९७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org





Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२५५ द्वार : तमस्काय—

जंबूदीवाउ असंखेज्जइमा अरुणवरसमुद्दाओ ।
बायालीससहस्से जगईउ जलं विलंघेउ ॥१३९८ ॥
समसेणीए सतरस एक्कवीसाइं जोयणसयाइं ।
उल्लसिओ तमरूवो वलयागारो अउक्काओ ॥१३९९ ॥
तिरिय पवित्थरमाणो आवरयंतो सुरालयचउक्कं ।
पंचमकप्पेऽरिट्ठंमि पत्थडे चउदिसिं मिलिओ ॥१४०० ॥
हेट्ठा मल्लयमूलट्ठिइट्ठिओ उवरि बंभलोयं जा ।
कुक्कुडपंजरगारसंठिओ सो तमक्काओ ॥१४०१ ॥
दुविहो से विक्खंभो संखेज्जो अत्थि तह असंखेज्जो ।
पढमंमिउ विक्खंभो संखेज्जा जोयणसहस्सा ॥१४०२ ॥
परिहीए ते असंखा बीए विक्खंभपरिहिजोएहिं ।
हुंति असंखसहस्सा नवरमिमं होइ वित्थारो ॥१४०३ ॥

—गाथार्थ—

तमस्काय का स्वरूप—**जंबूद्वीप से असंख्यातवां अरुणवर समुद्र है। उसकी जगती से बयालीस हजार योजन समुद्र के भीतर जाने पर तमस्काय प्रारंभ होता है। वहाँ समश्रेणि में इक्कीस सौ सत्रह योजन ऊँचा, वलयाकार विस्तृत घोर अन्धकार रूप अप्काय उछलता है। वह तिरछा फैलता-फैलता चार देवलोक को आवृत करता हुआ पाँचवें देवलोक के अरिष्ट नामक प्रतर के पास जाकर चारों दिशाओं में मिल जाता है ॥१३९८-१४०० ॥**

तमस्काय का नीचे का आकार शराब के मूल जैसा तथा ऊपर ब्रह्मलोक के पास उसका आकार मुर्गे के पिंजरे जैसा है ॥१४०१ ॥

तमस्काय का विस्तार दो प्रकार का है—संख्याता और असंख्याता। प्रथम विस्तार संख्याता हजार योजन का है। इसमें परिधि का विस्तार मिलाने से प्रथम विस्तार (नीचे से ऊपर का विस्तार) असंख्याता हजार योजन का हो जाता है। द्वितीय विस्तार विष्कंभ और परिधि दोनों की अपेक्षा से असंख्याता हजार योजन का है ॥१४०३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

अरुणवर समुद्र में से उछलते हुए तमस्काय का दृश्य—

जंबूद्वीप से लेकर असंख्य द्वीप-समुद्र का उल्लंघन करने के पश्चात् अरुणवर नामक द्वीप आता है। उसके चारों ओर अरुणवर नामक समुद्र है। अरुणवर द्वीप की जगती से चारों दिशाओं में ४२ हजार योजन दूर समुद्र के मध्य में तमस्काय प्रारम्भ होता है। तमस्काय अर्थात् गहन अन्धकार का समूह जो कि पुद्गल रूप है। प्रारम्भ में तमस्काय समुद्र की सपाटी पर १ प्रदेश विस्तृत होता है। तत्पश्चात् क्रमशः वलयाकार तिरछा फैलते-फैलते १७२१ योजन तक ऊपर फैलता चला जाता है। यह अप्काय का पिण्ड व गहन अन्धकार रूप है। यह तमस्काय फैलते-फैलते सौधर्म-ईशान-सनत्कुमार व महेन्द्र देवलोक को घेरते हुए पाँचवें ब्रह्मलोक के अरिष्ट नामक विमान तक पहुँच कर चारों दिशाओं में मिल जाता है। तब उस तमस्काय का आकार मूल में शराब के बुछा (तल) तथा ऊपर ब्रह्मलोक तक मुर्गे के पिंजरे जैसा है।

यह तमस्काय अरुणवर समुद्र के जल का विकार रूप होने से अप्काय स्वरूप है। इसमें बादर वनस्पति, वायुकाय, त्रसकाय आदि जीव भी होते हैं। इसका विस्तार संख्याता योजन का एवं परिधि असंख्याता योजन की है।

यह तमस्काय घनघोर अंधकारमय है। इसे देखकर देव भी क्षुब्ध हो जाते हैं। ऐसा अंधकार लोक में अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

तमस्काय = तमिस्र अंधकार के पुद्गलों का समूह तमस्काय है ॥१३९८-१४०१ ॥

तमस्काय का विस्तार व परिधि—

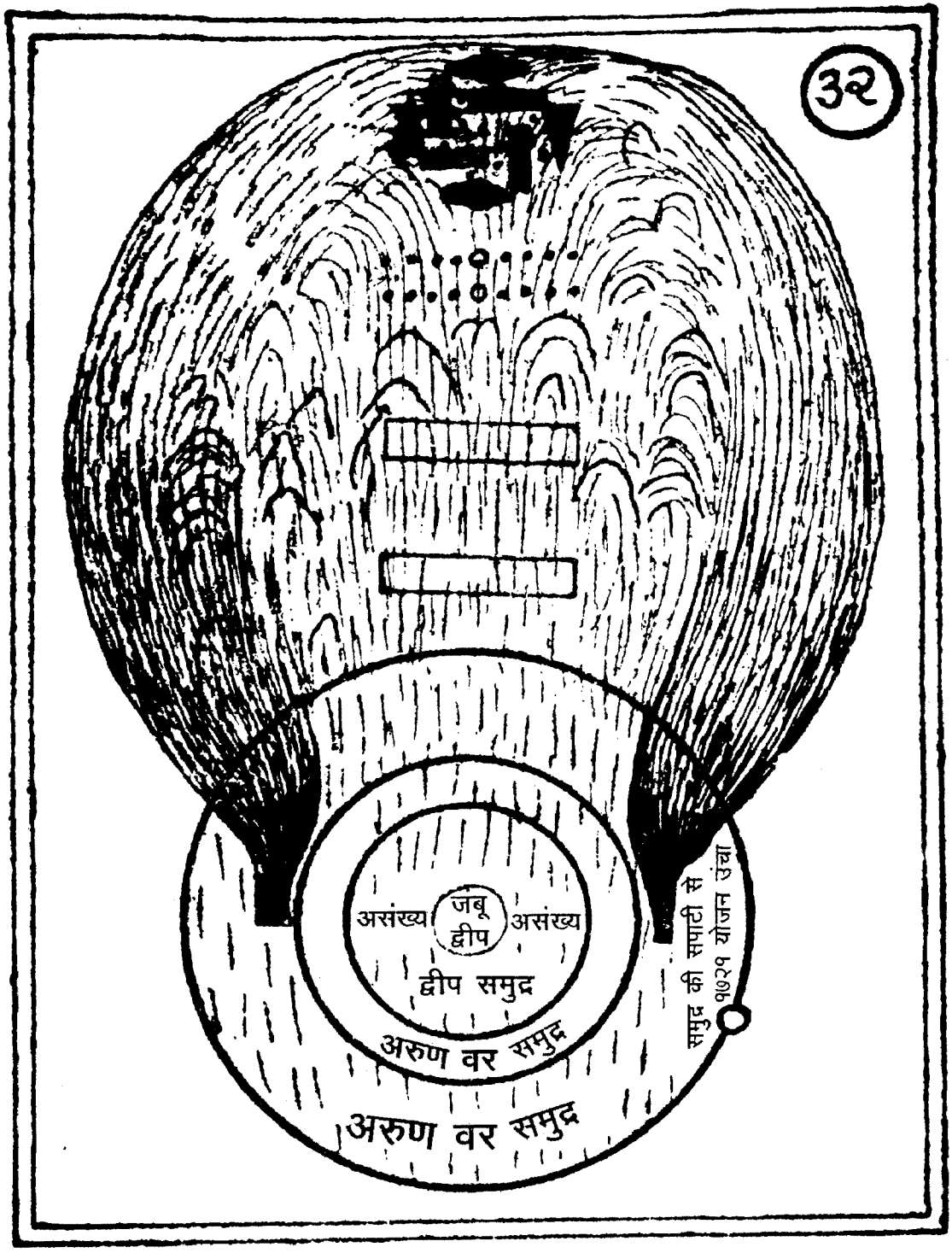
तमस्काय का विस्तार व परिधि दो प्रकार की है। निम्न विस्तार और निम्न परिधि। ऊर्ध्व विस्तार और ऊर्ध्व परिधि। प्रथम विस्तार संख्याता हजार योजन का व परिधि असंख्याता हजार योजन की है। यद्यपि तमस्काय का नीचे विस्तार संख्याता हजार योजन का है तथापि परिधि असंख्याता हजार योजन की ही होगी, कारण तमस्काय असंख्यातवें द्वीप को घेरकर रहा हुआ है अतः परिधि का असंख्यात हजार योजन विस्तृत होना प्रमाण सिद्ध है।

ऊर्ध्व विस्तार और ऊर्ध्व परिधि दोनों ही असंख्यात योजन प्रमाण है। जब तमस्काय गोलाई में ऊपर की ओर फैलता है तब उसका विस्तार असंख्यात योजन प्रमाण होता है। परिधि असंख्यात योजन की है इसमें कोई संदेह ही नहीं रहता।

गीतार्थों ने तमस्काय का महत्त्व बताते हुए कहा है कि कोई महान् समृद्धिशाली देव, तीन चुटकी बजाने में जितना समय लगता है उतने समय में जिस गति से जंबूद्वीप की २१ बार प्रदक्षिणा करके आ सकता है, उस गति से चले तो छः माह में तमस्काय के संख्यात योजन विसतार को ही पार कर सकता है, अन्य विस्तार को नहीं।

परदेवी में आसक्त, दूसरों के रत्नादि को चुराने वाले देव के लिए छुपने की इससे अच्छी कोई जगह नहीं है। मालिक देव अवधि ज्ञान या विभंगज्ञान का उपयोग उसे खोजने हेतु करे उतने समय में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह अन्यत्र भाग सकता है। यह तमस्काय इतना भयंकर् है कि देवता भी इसमें सहसा प्रवेश करने का साहस नहीं करते। इसमें गमनागमन करना देवताओं के लिये भी दुष्कर है ॥१४०३ ॥

२५६ द्वार : अनन्तषट्क—

सिद्धा निगोयजीवा वणस्सई काल पोग्गला चेव।
सव्वमलोगागासं छप्पेएऽणंतया नेया ॥१४०४ ॥

—गाथार्थ—

अनन्त षट्क—१. **सिद्ध २. निगोद के जीव ३. वनस्पति ४. काल ५. पुद्गल तथा ६. अलोकाकाश—ये छः वस्तुयें अनन्त हैं ॥१४०४ ॥**

—विवेचन—

(१)	सिद्ध	ये	
(२)	निगोद के जीव	छः	
(३)	प्रत्येक वनस्पति के जीव	अनन्त	
(४)	तीनों कालों का समय	संख्या	
(५)	समस्त पुद्गल परमाणु	वाले	
(६)	समस्त अलोकाकाश के प्रदेश	हैं।	॥१४०४ ॥

२५७ द्वार : अष्टांग-निमित्त—

अंगं सुविणं च सरं उप्पायं अंतरिक्ख भोमं च।
वंजण लक्खणमेव य अट्ठपयारं इह निमित्तं ॥१४०५ ॥
अंगप्फुरणाईहिं सुहासुहं जमिह भन्नइ तमंगं।
तह सुसुमिणय-दुस्सुमिणएहिं जं सुमिणयंति तयं ॥१४०६ ॥
इट्ठमणिट्ठं जं सरविसेसओ तं सरंति विन्नेयं।
रुहिरवरिसाइ जंमिं जायइ भन्नइ तम्मुपायं ॥१४०७ ॥
गहवेहभूयअट्टट्टहासपमुहं जमंतरिक्खं तं।
भोमं च भूमिकंपाइएहिं नज्जइ वियारेहिं ॥१४०८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इह वंजणं मसाई लंछणपमुहं तु लक्खणं भणियं।
सुहअसुह-सूयगाइं अंगाईयाइं अट्ठावि ॥१४०९॥

—गाथार्थ—

अष्टांग निमित्त—१. अंग २. स्वप्न ३. स्वर ४. उत्पात ५. आकाश ६. भूमि ७. व्यंजन और ८. लक्षण—ये आठ प्रकार के निमित्त हैं ॥१४०५॥

अंग-स्फुरणा से जो शुभ-अशुभ फलादेश किया जाता है वह अंग निमित्त है। अच्छे-बुरे स्वप्नों के द्वारा जो शुभाशुभ फलादेश किया जाता है वह स्वप्न निमित्त है ॥१४०६॥

इष्ट-अनिष्ट स्वर से शुभाशुभ बताना स्वर निमित्त है। रुधिर आदि की वर्षा होना उत्पात निमित्त है ॥१४०७॥

ग्रहवेध, भूतादि का अट्टहास्य आदि अन्तरिक्ष निमित्त है। भूकंप आदि के द्वारा शुभाशुभ जानना भूमि निमित्त है ॥१४०८॥

तिल, मसे आदि व्यंजन हैं। लसणिया आदि लक्षण हैं। ये आठों निमित्त शुभ-अशुभ के सूचक हैं ॥१४०९॥

—विवेचन—

निमित्त—अतीत-अनागत व वर्तमान के अतीन्द्रिय शुभाशुभ भावों के ज्ञान का कारणभूत वस्तुसमूह निमित्त कहलाता है। इसके ८ भेद हैं। अंग, स्वप्न, स्वर, उत्पात, अन्तरिक्ष, भौम, व्यंजन, और लक्षण। आठ अंग होने से 'अष्टांगनिमित्त' कहलाता है ॥१४०५॥

(१) **अंग**—अंग-उपांग की स्फुरणा के आधार से त्रैकालिक शुभाशुभ बताना वह 'अंगनिमित्त' कहलाता है। पुरुष का दायाँ व स्त्री का बायाँ अंग फरकना फलदायी होता है। इसके आधार पर कहना कि—'शिर फरकने से पृथ्वीलाभ, ललाट फरकने से स्थानलाभ होता है' इत्यादि।

(२) **स्वप्न**—सुस्वप्न व दुःस्वप्न के आधार से शुभाशुभ बताना 'स्वप्ननिमित्त' है। जैसे—स्वप्न में 'देवपूजन, पुत्र, बांधव, उत्सव, गुरु, छत्र, कमल आदि देखना, प्राकार, हाथी, बादल, वृक्ष, पर्वत और महल पर चढ़ना, समुद्र में तैरना, सुरा, अमृत व दही का पान करना, चन्द्र-सूर्य का ग्रास स्वप्न में देखना शुभ है' ॥१४०६॥

(३) **स्वर**—सप्तविध स्वर को सुनकर अथवा पक्षियों के स्वर को सुनकर शुभाशुभ फल बताना 'स्वर निमित्त' है। जैसे—'षड्ज स्वर से आजीविका की प्राप्ति होती है। किया हुआ काम निष्फल नहीं जाता। गाय, मित्र, पुत्रादि परिवार की प्राप्ति होती है तथा ऐसा व्यक्ति स्त्रीवल्लभ होता है।' इत्यादि।

(४) **उत्पात**—रक्त, हड्डियाँ आदि की सहज वर्षा होना 'उत्पात' है। उसके आधार से शुभाशुभ कथन करना 'उत्पात निमित्त' है। जैसे चर्बी, रक्त, हड्डियाँ, धान्य, अंगारे व मेद की जहाँ वर्षा होती है वहाँ चारों प्रकार का भय छा जाता है ॥१४०७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(५) **अन्तरिक्ष**—अन्तरिक्ष में होने वाली घटनायें जैसे, ग्रहवेध (ग्रहण), अट्टहास आदि आन्तरिक्ष निमित्त है। इन्हें देखकर शुभाशुभ बताना। ग्रहवेध = एक ग्रह का दूसरे ग्रह में से निकलना। अट्टहास = अचानक आकाश में भयानक हँसी की आवाज आना। 'यदि कोई भी ग्रह चन्द्र के मध्य से निकले तो राजभय, प्रजाक्षोभ आदि उपद्रव पैदा होते हैं।' आकाश में गान्धर्वनगर की रचना देखकर शुभाशुभ बताना भी इसी के अन्तर्गत आता है।

'यदि गंधर्वनगर की रचना भूरे रंग की है तो अनाज का नाश होता है। मजीठवर्णीय है तो गाय, भैंस आदि पशुओं का नाश होता है। अव्यक्तवर्ण वाली नगर संरचना सेना में क्षोभ पैदा करती है। स्निग्ध, प्राकार व तोरण सहित, उत्तर दिशा में दिखाई देने वाला गांधर्वनगर राजा की विजय का सूचक है।'

(६) **भौम**—भूकंप आदि के द्वारा शुभाशुभ बताना 'भौम निमित्त' है। जैसे, 'यदि भयंकर आवाज के साथ भूकंप होता है तो सेनापति, मंत्री, राजा व राष्ट्र अवश्य पीड़ित बनते हैं' ॥१४०८॥

(७) **व्यंजन**—तिल, मसे वगैरह। इनके आधार पर शुभाशुभ बताना।

(८) **लक्षण**—लांछन, जैसे लसणिया आदि इनके आधार से शुभाशुभ बताना। जिस नारी के नाभि से नीचे के भाग में कुंकुम की तरह लालवर्ण का लसणिया या मसा होता है वह शुभ मानी जाती है। 'निशीथ' में लक्षण व व्यंजन के विषय में इस प्रकार बताया है कि—शरीर का प्रमाण आदि लक्षण है तथा मसे आदि व्यंजन है। अथवा शरीर के सहजात चिह्न लक्षण कहलाते हैं तथा पश्चात् उत्पन्न होने वाले व्यंजन हैं।

पुरुषों के लक्षण—

पुरुषों के विभाग के अनुसार उनके लक्षणों की संख्या भी अलग-अलग है। जैसे, सामान्य मनुष्य में ३२ लक्षण, बलदेव वासुदेव में १०८ लक्षण, चक्रवर्ती व तीर्थंकरों के १००८ लक्षण हैं। ये वे लक्षण हैं जो शरीर में स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। यदि सत्त्व, धैर्य आदि आंतरिक गुणों की दृष्टि से देखा जाये तो तीर्थंकरों की अपेक्षा पुरुष के अनंतगुण हैं ॥१४०९॥

२५८ द्वार : मान-उन्मान-प्रमाण—

जलदोणमद्धभारं समुहाइं समूसिओ उ जो नव उ।
माणुम्माणपमाणं तिविहं खलु लक्खणं नेयं ॥१४१०॥

—गाथार्थ—

मान-उन्मान और प्रमाण—**द्रोण-परिमाण जल मान कहलाता है। अर्धभार परिमाण तौल उन्मान है। अपने मुंह से नौ गुणा ऊँचा पुरुष प्रमाणोपेत है। इस प्रकार मान, उन्मान और प्रमाण का लक्षण समझना चाहिये ॥१४१०॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

मान—शरीर का एक प्रमाणविशेष, जो जल के निर्गम से समझा जाता है। जैसे पुरुष के शरीर की ऊंचाई के प्रमाण से कुछ अधिक बड़ी व पानी से परिपूर्ण कुण्डी में जिस पुरुष के प्रवेश करने पर द्रोण प्रमाण जल बाहर निकल जाये अथवा द्रोण प्रमाण जल से न्यून कुंडी में जिस पुरुष के प्रवेश करने पर कुंडी परिपूर्ण हो जाये उस पुरुष का शरीर 'मान' प्रमाणयुक्त है।

उन्मान—सार पुद्गलों से निर्मित, जिस पुरुष के शरीर का तौल अर्धभार जितना हो वह 'उन्मान' प्रमाणयुक्त है।

प्रमाण—अपने अंगुल से १२ अंगुल प्रमाण मुख, प्रमाणयुक्त कहलाता है। ऐसे ९ मुख के बराबर जिसका सम्पूर्ण शरीर है अर्थात् जिस पुरुष के शरीर की ऊँचाई अपने अंगुल से १०८ अंगुल प्रमाण होती है वह 'प्रमाणोपेत' कहा जाता है।

उत्तमपुरुष निश्चित रूप से मान, उन्मान व प्रमाण युक्त होते हैं ॥१४१० ॥

- द्रोण = पूर्वकाल में जो बड़े घड़े पानी भरने के काम में आते थे, उस घड़े से सवा घड़ा जितना जल द्रोण परिमाप है।
- भार—६ सरसव = १ यव, ३ यव = १ चिरमी, ३ चिरमी = १ वाल, १६ वाल = १ गद्यानक (६४ रति का एक तोलने का माप), १० गद्यानक = १ पल, १५० पल, = १ मण, १० मण = १ धड़ी, १० धड़ी = १ भार

२५९ द्वार : १८ भक्ष्य-भोजन—

सूओ यणो जवन्नं तिन्नि य मंसाइं गोरसो जूसो।
भक्खा गुललावणिया मूलफला हरियगं डागो ॥१४११ ॥
होइ रसालू य तहा पाणं पाणीय पाणगं चेव।
अट्ठारसमो सागो निरुवहओ लोइओ पिण्डो ॥१४१२ ॥
जलथलखहयरमंसाइं तिन्नि जूसो उ जीरयाइजओ।
मुग्गरसो भक्खाणि य खंडखज्जयपमोक्खाणि ॥१४१३ ॥
गुललावणिया गुडप्पपडीउ गुलहाणियाउ वा भणिया।
मूलफलंतिक्कपयं हरिययमिह जीरयाईयं ॥१४१४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

डाओ वत्थुलराईण भज्जिया हिंगुजीरयाइजुया।
सा य रसालू जा मज्जियत्ति तल्लक्खणं चेव ॥१४१५॥
दो घयपला महु पलं दहियस्सऽद्धाढयं मिरिय वीसा।
दस खंडगुलपलाइं एस रसालू निवइजोगो ॥१४१६॥
पाणं सुराइयं पाणियं जलं पाणगं पुणो एत्थ।
दक्खावाणियपमुहं सागो सो तक्कसिद्धं जं ॥१४१७॥

—विवेचन—

अट्ठारह प्रकार का भक्ष्यभोजन—

१. मूँग, तुवर, चना आदि की दाल।
२. कूर आदि ओदन
३. जौ से बनी हुई खीर
४. दूध, दही, घी, छाछ आदि
५-७ मत्स्य, हरिण, लावा आदि का मांस (जलचर-स्थलचर-खेचर का मांस) मांस भक्षियों की अपेक्षा मांस भोजन है इस दृष्टि से इसका यहाँ उल्लेख किया गया है। अहिंसा की दृष्टि से तो मांस सर्वथा अभोज्य है।
८. जीरा, हल्दी आदि डालकर संस्कारित किया हुआ मूँग का पानी।
९. चासनी या खाँड चढ़ाये हुए खाजे आदि।
१०. गुड़पापड़ी, गुड़धानी आदि।
११. अश्वगंधा आदि मूल तथा आम आदि फल।
१२. जीरा आदि के पत्तों से बना हुआ भोज्य विशेष (हरीतक)
१३. हींग, जीरा आदि डालकर संस्कारित वथुए आदि की भाजी (डाक)
१४. मज्जिका — राजयोग्य या श्रीमन्तों के खाने योग्य पाक विशेष दो पल घी, एक पल मधु, $\frac{१}{२}$ आढ़क दही, २० मिर्ची, १० पल चीनी या गुड़ मिलाकर बनाया हुआ पाक विशेष जिसे रसाला कहते हैं।
१५. पान — सभी प्रकार का मद्य।
१६. पानी — ठण्डा, सुस्वादु जल।
१७. पानक — दाख, खजूर आदि का पानी।
१८. शाक — दही, छाछ आदि डालकर बनायी हुई बड़े आदि की सब्जी ॥१४११-१७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६० द्वार : षट्स्थान-वृद्धि-हानि—

वुड्ढी वा हाणी वा अणंत अस्संख संखभागेहिं।
वत्थूण संख अस्संखणंत गुणणेण य विहेया ॥१४१८॥

—गाथार्थ—

षड्स्थान वृद्धि-हानि—**वस्तुओं की वृद्धि या हानि अनंत, असंख्यात और संख्यात भाग के द्वारा तथा संख्याता, असंख्याता और अनन्ता गुण के द्वारा जानी जाती है॥१४१८॥**

—विवेचन—

किसी भी पदार्थ की हानि-वृद्धि को समझने के छः प्रकार हैं और वे ही छः प्रकार षट्स्थानक कहलाते हैं। षट्स्थान में ३ स्थानों की हानि-वृद्धि भाग से व ३ स्थानों की हानि-वृद्धि गुणाकार से होती है। भागाकार का क्रम है अनन्त, असंख्यात और संख्यात। गुणाकार का क्रम है संख्यात, असंख्यात व अनंत जैसे—

हानि के प्रतिपादक—

(i)	अनन्तभाग हानि	**(ii)**	असंख्यातभाग हानि	**(iii)**	संख्यातभाग हानि
(iv)	संख्यातगुण हानि	**(v)**	असंख्यातगुण हानि	**(vi)**	अनन्तगुण हानि।

वृद्धि के प्रतिपादक—

(i)	अनन्तभाग वृद्धि	**(ii)**	असंख्यातभाग वृद्धि	**(iii)**	संख्यातभाग वृद्धि
(iv)	संख्यातगुण वृद्धि	**(v)**	असंख्यातगुण वृद्धि	**(vi)**	अनन्तगुण वृद्धि।

सुगम होने से इन्हें सर्वविरति के विशुद्धि स्थानों का उदाहरण देकर समझाया जाता है—देश-विरति के सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि स्थान की अपेक्षा सर्वविरति का सर्व जघन्य विशुद्धि स्थान अनंत गुण अधिक विशुद्धि वाला होता है। षट्स्थानक में सर्वत्र अनन्त गुण अधिक का अर्थ है जीवों की अनंत संख्या से गुणा करने पर जितनी संख्या होती है उतना अधिक अर्थात् सर्वोत्कृष्ट देशविरति के अध्यवसाय स्थानगत निर्विभाग भागों को सर्वजीव की अनंतसंख्या से गुणा करने पर जो संख्या आती है उतनी संख्या केवली की बुद्धि से निर्विभागीकृत सर्वविरति के सबसे जघन्य विशुद्धि स्थान की है। इसे असत् कल्पना के द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—माना कि देशविरति के पर्याय १०००० हैं और सर्व जीवों की संख्या १०० है। पर्याय संख्या १०००० और जीव संख्या १०० को परस्पर गुणा करने पर १०००००० (दस लाख) पर्याय होते हैं। ये सर्वविरति के सर्व जघन्य संयम-स्थान की पर्यायें हैं। द्वितीय संयम-स्थान इससे अनन्त भाग अधिक विशुद्धियुक्त पर्याय वाला है। तृतीय संयम-स्थान इससे अनन्तभाग अधिक विशुद्धियुक्त पर्याय वाला है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार उत्तरोत्तर अनन्तभाग की वृद्धि वाले संयमस्थान अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्रगत आकाश प्रदेश के तुल्य होते हैं और इन संयमस्थानों के समूह का नाम 'कण्डक' है। कारण आगमिक भाषा में, अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र में स्थित आकाश-प्रदेशों के समूह की संख्या 'कण्डक' कहलाती है।

पूर्व कण्डक सम्बन्धी अंतिम संयमस्थान के पर्यायों की अपेक्षा उत्तर कण्डक सम्बन्धी प्रथम संयमस्थान के पर्याय असंख्येय भाग अधिक होते हैं। इसके बाद के द्वितीय कण्डक सम्बन्धी संयमस्थान उत्तरोत्तर अनन्त भाग अधिक होते हैं। जब संयमस्थानों की संख्या अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्र में स्थित आकाश-प्रदेश के तुल्य हो जाती है, तब 'द्वितीय कण्डक' पूर्ण होता है। तृतीय कण्डकवर्ती प्रथम संयमस्थान, द्वितीय कण्डक के अन्तिम संयमस्थान की अपेक्षा असंख्येय भाग अधिक होता है। इसके बाद के अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्रगत आकाश-प्रदेश के तुल्य संयमस्थान, उत्तरोत्तर अनन्तभाग अधिक होते हैं। यह तृतीय-कण्डक है। चतुर्थ-कण्डक का प्रथम संयमस्थान, तृतीय कण्डक के अंतिम संयमस्थान की अपेक्षा असंख्येय भाग अधिक पर्याय वाला होता है। फिर कण्डक की पूर्णाहुति तक उत्तरोत्तर अनन्तभाग अधिक पर्याय वाले संयमस्थान हैं। इस प्रकार चतुर्थ...पंचम...षष्ठ आदि कण्डक बनते हैं। इसके बनने का क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि असंख्येय भाग अधिक पर्याय वाले संयमस्थान एक 'कण्डक प्रमाण' नहीं हो जाते। यह क्रम पूर्ण होने के बाद पूर्व की अपेक्षा संख्यात-भाग अधिक पर्याय वाला एक संयमस्थान तत्पश्चात् उत्तरोत्तर अनन्तभाग अधिक पर्याय वाले कण्डक प्रमाण संयमस्थान होते हैं।

तत्पश्चात् पुनः एक संयमस्थान संख्याता भाग अधिक होता है। तत्पश्चात् प्रारंभ से लेकर अब तक जितने संयमस्थानों का अतिक्रमण हुआ उन संयमस्थानों का उसी क्रम से पुनः कथन करना तथा अन्त में संख्याता भाग अधिक वाला एक संयमस्थान रखना। यह संख्येय भागाधिक द्वितीय स्थान हुआ। इसी क्रम से संख्येय भागाधिक तृतीय संयमस्थान कहना चाहिये। वृद्धि का यह क्रम संख्येय भाग अधिक विशुद्धियुक्त संयमस्थान कण्डक प्रमाण बनते हैं, तब तक चलता है।

तत्पश्चात् पूर्वोक्त क्रमानुसार संयमस्थानों का अतिक्रमण करते हुए संख्येय भागाधिक के स्थान पर संख्येय गुणाधिक संयमस्थान कहना चाहिये। तत्पश्चात् पुनः मूल से लेकर क्रमशः सभी संयमस्थानों का अतिक्रमण करते हुए अन्त में संख्येय गुणाधिक संयमस्थान तब तक कहना चाहिये जब तक कि संख्येय गुणाधिक संयमस्थान कण्डक प्रमाण नहीं बनते। यथा—

अगले कण्डक का प्रथम संयमस्थान संख्यात गुण वृद्धियुक्त पर्याय वाला होता है। बाद के कण्डक प्रमाण संयमस्थान अनन्त भाग अधिक वृद्धियुक्त पर्याय वाले होते हैं। उसके बाद एक असंख्यात भाग अधिक वृद्धि वाला संयमस्थान आता है। इस प्रकार अनंत भाग अधिक पर्याय वाले कण्डकों से अन्तरित, असंख्यात भाग अधिक पर्याय युक्त संयम-स्थानों वाला एक कण्डक होता है। फिर पूर्वोक्त प्रमाणानुसार संख्यात भाग अधिक संयमस्थानों वाला कण्डक आता है। इस कण्डक की पूर्णाहुति के पश्चात् पूर्व क्रमानुसार, दूसरा संख्यातगुण वृद्ध संयमस्थान आता है। तदनन्तर पुनः अनन्त भाग वृद्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयमस्थान वाला कण्डक बनता है। फिर अनन्त भाग वृद्ध संयमस्थान वाले कण्डक से अन्तरित असंख्यात भाग वृद्ध संयमस्थानों वाला कण्डक है। तत्पश्चात् उन दोनों से अन्तरित संख्यात भाग वृद्ध संयमस्थान वाले कण्डक आते हैं। पुनः उन तीनों से अन्तरित उत्तरोत्तर संख्यात गुणवृद्ध संयमस्थान वाले कण्डक होते हैं।

पश्चात् संख्यात गुणवृद्ध कण्डक के अन्तिम संयमस्थान की अपेक्षा पूर्वोक्तरीत्या अनन्तभाग वृद्ध कण्डक प्रमाण संयमस्थान हैं। उनके बाद उनसे व्यवहित असंख्यात भाग वृद्ध संयमस्थान, फिर दोनों से व्यवहित संख्यात भाग वृद्ध संयमस्थानों का कण्डक आता है। तदनंतर क्रमशः आगत अनन्त भाग वृद्ध संयमस्थानवर्ती अविभाज्य भागों को असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों से गुणा कर प्राप्त संख्या को पूर्वोक्त कण्डक में मिलाने से जो संख्या आती है, वह असंख्यात गुण-वृद्धि का प्रमाण है। इस प्रकार अनन्तभाग वृद्ध संयमस्थान वाले कण्डक के पश्चात् तुरन्त असंख्यात गुणवृद्ध संयमस्थान आता है। तत्पश्चात पूर्वक्रमानुसार कण्डक प्रमाण अनन्तभाग वृद्ध संयमस्थान। अनन्तभागवृद्ध संयमस्थानों से अन्तरित कण्डक प्रमाण असंख्यातभागवृद्ध संयमस्थान...दोनों से अन्तरित कण्डक प्रमाण संख्यात भाग वृद्ध संयमस्थान...पूर्वोक्त तीनों से अन्तरित कण्डक प्रमाण संख्यात गुण-वृद्ध संयमस्थान फिर दूसरा असंख्यात गुणवृद्ध संयमस्थान आता है। इसके बाद इसी क्रम से पूर्वोक्त चारों से व्यवहित असंख्यातगुणवृद्ध कण्डक प्रमाण संयमस्थान आते हैं।

पूर्वोक्त असंख्यातगुणवृद्ध संयमस्थान से आगे पूर्वोक्तरीत्या क्रमशः...अनन्तभागवृद्ध, असंख्यातभागवृद्ध, संख्यातभागवृद्ध, संयमस्थानों से अन्तरित कण्डक प्रमाण संख्यातगुणवृद्ध संयमस्थान आते हैं। अन्त्य अनन्तभागवृद्ध संयमस्थानवर्ती प्रदेशों से अनन्तगुण अधिक संख्या वाला संयमस्थान अनन्तगुण वृद्ध कहलाता है। तत्पश्चात् क्रमशः अनन्तभागवृद्ध कण्डक...एक असंख्यातभाग वृद्ध संयमस्थान....अनन्तभागान्तरित असंख्यातभाग वृद्ध संयमस्थानों का कण्डक...इन दोनों से व्यवहित संख्यातभागवृद्ध संयमस्थानों का कण्डक....पूर्वोक्त तीनों से अन्तरित संख्यातगुणवृद्ध संयमस्थानों का कण्डक....चारों से व्यवहित असंख्यात गुणवृद्ध संयमस्थानों वाला कण्डक, तत्पश्चात् दूसरा अनन्तगुणवृद्ध संयमस्थान आता है।

इस प्रकार पूर्वोक्त क्रमानुसार मूल से लेकर यहाँ तक सभी संयमस्थानों का पुनः-पुनः कथन तब तक करते रहना चाहिये जब तक कि अनन्तगुणाधिक संयमस्थान एक कण्डक प्रमाण नहीं बन जाते।

पश्चात् अनन्तगुणवृद्ध संयमस्थानों से आगे पूर्वोक्तरीति से पुनः अनन्तभाग वृद्ध...तदन्तरित असंख्यातभागवृद्ध....दोनों से अन्तरित संख्यातभागवृद्ध....तीनों से अन्तरित संख्यातगुणवृद्ध....पूर्वोक्त चारों से व्यवहित असंख्यात गुणवृद्ध संयमस्थानों वाला कण्डक कहना चाहिये। इसकी पूर्णाहुति के साथ षट्स्थानक पूर्ण हो जाता है, क्योंकि आगे अनन्तगुणवृद्धिवाला संयमस्थान नहीं मिलता। इस प्रकार एक षट्स्थानक में असंख्यात कण्डक होते हैं और संयमस्थान के कुल मिलाकर ऐसे असंख्य लोकाकाश-प्रदेश प्रमाण षट्स्थानक होते हैं। कहा है कि—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक षट्स्थानक पूर्ण होने पर दूसरा षट्स्थानक होता है। पुनः तीसरा षट्स्थानक होता है। इस प्रकार असंख्य लोकाकाश के प्रदेश जितने षट्स्थानक होते हैं।

षट्स्थानक में अनंतभाग, असंख्यातभाग, संख्यातभाग अधिक तथा असंख्यातगुण, संख्यातगुण, अनन्तगुण अधिक किस अपेक्षा से हैं? इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

* अनन्तभाग अधिक का अर्थ है—प्रथम संयमस्थानवर्ती अविभाज्य भागों को सर्वजीवराशि से भाग देने पर समागत संख्या अनंतभाग है। प्रथम संयमस्थान की अपेक्षा द्वितीय संयमस्थान इतना अधिक होता है। द्वितीय संयमस्थान के अविभाज्य भागों को सर्वजीवराशि से भाग देने पर जो संख्या आती है, तृतीय संयमस्थान द्वितीय संयमस्थान की अपेक्षा इतना अधिक होता है। इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती संयमस्थानों से उत्तरवर्ती संयमस्थान इतना अधिक होने से पूर्वापेक्षा अनन्तभाग अधिक कहलाता है।

* असंख्येय भाग अधिक का अर्थ है—पूर्व कण्डक के उत्कृष्ट संयमस्थानवर्ती अविभाज्य भागों को असंख्य लोकाकाश के प्रदेशों द्वारा भाग देने से समागत संख्या असंख्यभाग है। पूर्व की अपेक्षा इतना अधिक संयमस्थान असंख्यात-भागवृद्ध कहलाता है। इस प्रकार आगे भी समझना।

* संख्येयभाग अधिक का अर्थ है—असंख्यातभागवृद्ध अन्तिम संयमस्थान के पश्चात् पुनः कण्डक प्रमाण अनन्तभागवृद्ध संयमस्थानक आते हैं। उन संयमस्थानों में स्थित अविभाज्य भागों को उत्कृष्ट संख्याता की राशि से भाग देने पर, जो संख्या आती है, वह 'संख्यातभाग' का प्रमाण है। इतनी राशि से युक्त संयमस्थान पूर्व की अपेक्षा 'संख्यातभागवृद्ध' कहलाता है।

* संख्यातगुणवृद्ध का अर्थ है—कण्डक के अंतिम संयमस्थान के अविभाज्य भागों को उत्कृष्ट संख्याता की राशि से गुणा करने पर जितनी संख्या आती है, वह 'संख्यातगुणा' है तथा उस राशि से युक्त संयमस्थान संख्यातगुणवृद्ध कहलाता है।

* असंख्यातगुणवृद्ध का अर्थ है—कण्डक के अंतिम संयमस्थान के अविभाज्य भागों को असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के द्वारा गुणा करने पर जितनी संख्या आती है वह असंख्यात गुणा कहलाती है। उस राशि से युक्त संयमस्थान असंख्यातगुणवृद्ध कहलाता है।

* अनन्तगुणवृद्ध का अर्थ है—कण्डक के अन्तिम संयमस्थानगत निर्विभाज्य भागों को सर्वजीवराशि प्रमाण अनन्त संख्या से गुणा करने पर जो संख्या आती है, वह अनंतगुणा कहलाती है तथा उस राशि से युक्त संयमस्थान अनंतगुणवृद्ध कहलाता है।

षट्स्थानक का विचार अत्यंत गंभीर होने से मन्दबुद्धि वाले आत्मा इसे नहीं समझ सकते। उनके अवबोध के लिये **कर्म-प्रकृति** आदि ग्रन्थों में यन्त्र रचना की गई किन्तु यहाँ विस्तार भय से यन्त्र रचना नहीं दी गई। अतः जिज्ञासु आत्मा उसके लिये **कर्म-प्रकृति** आदि ग्रन्थ देखें। यन्त्र की संक्षिप्त प्रक्रिया निम्नलिखित है—

सर्वप्रथम तिरछी लाइन में क्रमशः चार शून्य की —०००० स्थापना करना। शून्य की स्थापना कण्डक का तथा शून्य संयमस्थानगत अविभाज्य भागों का प्रतीक हैं। ये अविभाज्य भाग पूर्व की अपेक्षा क्रमशः अनन्तभागवृद्ध हैं। ४ शून्य के पश्चात् १ संख्या लिखना, ४ शून्य के बाद का १ का अंक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असंख्यातभागवृद्ध का प्रतीक है। पुनः ४ शून्य तथा एक संख्या लिखना। लिखने का यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक कि २० बिन्दु और ४ एक की संख्या न हो जाये। तत्पश्चात् २ संख्या लिखना। २ संख्या संख्यातभागवृद्ध की सूचक है। तदनन्तर पूर्ववत् २० शून्य और चार बार १ संख्या लिखना....पुनः दूसरी बार २ की संख्या लिखना....फिर २० बिन्दु और ४ बार एक की संख्या....तीसरी बार २ की संख्या...फिर २० बिन्दु और ४ बार एक की संख्या...चौथी बार २ की संख्या तत्पश्चात् २० बिन्दु और ४ एक की संख्या पुनः लिखना। इस प्रकार कुल मिलाकर १०० बिन्दु, २० एक की संख्या व ४ दो की संख्या होती है।

इसके बाद अन्तिम ४ बिन्दुओं के आगे संख्यातगुणवृद्धि की सूचक ३ की संख्या लिखना। पुनः पूर्ववत् १०० बिन्दु, २० एक और ४ दो क्रमशः लिखना। तत्पश्चात् दूसरी बार ३ की संख्या लिखना। इस प्रकार क्रमशः तीसरी बार और चौथी बार भी ३ की संख्या लिखना। पश्चात् १०० बिन्दु २० एक और ४ दो लिखना। कुल मिलाकर ५०० शून्य, १०० एक, २० दो और ४ तीन होते हैं। इसके बाद पुनः पूर्ववत् ५०० शून्य, १०० एक, २० दो और ४ तीन लिखने के पश्चात् तीन के स्थान पर असंख्यातगुणवृद्धि का सूचक ४ का अंक लिखना। फिर पूर्ववत् दूसरी....तीसरी और चौथी बार भी वही लिखना। पाँचवी बार में ४ अंक के स्थान पर अनन्तगुण वृद्धि का सूचक ५ का अंक लिखना। इस प्रकार क्रमशः दूसरी, तीसरी और चौथी बार पाँच का अंक लिखना। तत्पश्चात् पुनः पाँच के अंक के योग्य दलिक की स्थापना करना, किन्तु इसके बाद पुनः पाँच का अंक नहीं लिखा जाता कारण 'षट्स्थानक' यहीं समाप्त हो जाता है। यदि फिर से 'षट्स्थानक' का प्रारम्भ करना हो तो प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पुनः इसी क्रम को अपनाना पड़ता है। एक षट्स्थानक में कुल मिलाकर बिन्दुओं एवं अंकों की संख्या निम्नलिखित है।

एक षटस्थानक में चार ५, बीस ४, सौ ३, पाँच सौ २, पच्चीस सौ १ और १२५०० बिन्दु होते हैं ॥१४१८॥

२६१ द्वार : असंहरणीय—

समणीमवगयवेयं परिहार-पुलाय-मप्पमत्तं च।
चउदसपुव्वि आहारगं च न य कोइ संहरइ ॥१४१९॥

—गाथार्थ—

जिनका अपहरण नहीं होता—**१. साध्वी २. केवलज्ञानी ३. परिहारविशुद्ध संयमी ४. पुलाक लब्धिसंपन्न ५. अप्रमत्तसंयत ६. चौदह पूर्वी ७. आहारक शरीरी—इनका कोई अपहरण नहीं कर सकता ॥१४१९॥**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—विवेचन—

१. श्रमणी (शुद्ध ब्रह्मचारिणी)
२. क्षपितवेदी (जिनका वेद क्षय हो चुका है)
३. परिहारविशुद्ध संयमी
४. लब्धि-पुलाक
५. अप्रमत्त-साधु
६. चौदह-पूर्वी
७. आहारक-शरीरी (सभी चौदहपूर्वी आहारकलब्धि संपन्न नहीं होते, इसलिये दोनों को अलग-अलग कहा)।

विद्याधर, देव आदि के द्वारा वैर, राग या अनुकम्पावश इनका अपहरण नहीं हो सकता ॥१४१९॥

२६२ द्वार : अंतरद्वीप—

चुल्लहिमवंतपुव्वावरेण विदिसासु सायरं तिसए।
गंतूणंतरदीवा तिन्नि सए हुंति विच्छिन्ना ॥१४२०॥
अउणावन्ननवसए किंचूणे परिहि तेसिमे नामा।
एगोरुअ आभासिय वेसाणी चेव नंगूली ॥१४२१॥
एएसिं दीवाणं परओ चत्तारि जोयणसयाणि।
ओगाहिऊण लवणं सपडिदिसिं चउसयपमाणा ॥१४२२॥
चत्तारंतरदीवा हयगयगोकन्नसंकुलीकन्ना।
एवं पंचसयाइं छससय सत्तट्ठ नव चेव ॥१४२३॥
ओगाहिऊण लवणं विक्खंभोगाहसरिसया भणिया।
चउरो चउरो दीवा इमेहिं नामेहिं नायव्वा ॥१४२४॥
आयंसमिंढगमुहा अयोमुहा गोमुहा य चउरो ए।
अस्समुहा हत्थिमुहा सीहमुहा चेव वग्घमुहा ॥१४२५॥
तत्तोय आसकन्ना हरिकन्न अकन्न कन्नपावरणा।
उक्कमुहा मेहमुहा विज्जुमुहा विज्जुदंता य ॥१४२६॥
घणदंत लट्ठदंता य गूढदंता य सुद्धदंता य।
वासहरे सिहरिमि य एवं चिय अट्ठवीसा वि ॥१४२७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिन्नेव हुंति आई एगुत्तरवड्ढिया नवसयाओ।
ओगाहिऊण लवणं तावइयं चेव विच्छिन्ना ॥१४२८॥
संति इमेसु नरा वज्जरिसहनारायसंहणणजुत्ता।
समचउरंसगसंठाणसंठिया देवसमरूवा ॥१४२९॥
अट्ठधणुस्सयदेहा किंचूणाओ नराण इत्थीओ।
पलियअसंखिज्जइभागआऊया लक्खणो वेया ॥१४३०॥
दसविहकप्पदुमपत्तवंछिया तह न तेसु दीवेसु।
ससि-सूर-गहण-मक्कूण-जूया-मसगाइया हुंति ॥१४३१॥

—गाथार्थ—

अन्तर्द्वीप—लघुहिमवंत पर्वत से पूर्व-पश्चिम की ओर चारों विदिशाओं में तीन सौ योजन समुद्र में जाने के पश्चात् अन्तर्द्वीप है। ईशानादि चारों विदिशाओं के पहिले अन्तर्द्वीपों के क्रमशः ये नाम हैं—१. एकोरुक २. आभासिक ३. वैषाणिक एवं ४. नांगूली। इन चारों अन्तर्द्वीपों का विस्तार तीन सौ योजन का तथा इनकी परिधि नौ सौ उनचास योजन की है॥१४२०-१४२१॥

इन अन्तर्द्वीपों के पश्चात् चारों विदिशाओं में चार सौ योजन विस्तृत क्रमशः १. हयकर्ण २. गजकर्ण ३. गोकर्ण एवं ४. शष्कुलिकर्ण नामक चार अन्तर्द्वीप हैं। ये लवण समुद्र की जगती से चार सौ योजन दूर समुद्र में स्थित हैं। इसी तरह लवण समुद्र में पाँच सौ, छः सौ, सात सौ, आठ सौ एवं नौ सौ योजन दूर जाने पर चारों विदिशाओं में लंबाई-चौड़ाई में सदृश परिमाण वाले चार-चार द्वीप हैं। जिनके नाम हैं—३ आदर्शमुख, मेंढकमुख, अधोमुख और गोमुख। ४ अश्वमुख, हस्तिमुख, सिंहमुख और व्याघ्रमुख। ५. अश्वकर्ण, हरिकर्ण, अकर्ण और कर्णप्रावरण। ६. उल्कामुख, मेघमुख, विद्युन्मुख, विद्युद्दंत। ७. घनदंत, लष्टदंत, गूढ़दंत और शुद्धदंत। शिखरी पर्वत पर भी इसी तरह अट्ठावीस द्वीप हैं। तीन सौ योजन से लेकर नौ सौ योजन पर्यंत में ये द्वीप स्थित हैं। पूर्वोक्त द्वीपों के अनुसार ही इनका विस्तार समझना चाहिये॥१४२२-१४२८॥

इन द्वीपों में प्रथम संघयण एवं संस्थानयुक्त, देवतुल्य रूपवान, आठ सौ धनुष ऊँचे, स्त्रियाँ किंचिन्न्यून ऊँचाई वाली, पल्योपम के असंख्यातवें भाग परिमाण आयु वाले, समग्र शुभलक्षणों से युक्त युगलिक निवास करते हैं। वे दस प्रकार के कल्पवृक्षों से अपनी इच्छापूर्ति करते हैं। इन द्वीपों पर चन्द्र-सूर्य का ग्रहण, खटमल, जूं, डांस-मच्छर आदि नहीं होते॥१४२९-३१॥

—विवेचन—

अन्तर्द्वीप = समुद्र के भीतर-स्थित द्वीप अन्तरद्वीप कहलाते हैं।

जंबूद्वीप में भरत और हेमवत क्षेत्र की सीमा बाँधने वाला पूर्व-पश्चिम की ओर लम्बा, जिसके दोनों छोर लवण समुद्र को छूते हैं जो महाहिमवंत पर्वत की अपेक्षा छोटा है ऐसा क्षुल्ल हिमवन्त पर्वत है। उस पर्वत के पूर्व-पश्चिम छोर से गजदन्त के आकार वाली दो-दो शाखायें निकल कर क्रमशः ईशान कोण, अग्नि कोण, नैऋत्य कोण एवं वायु-कोण की तरफ जाती हैं।उन शाखाओं पर क्रमशः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सात-सात द्वीप हैं। इस प्रकार चार शाखाओं के कुल मिलाकर ७ × ४ = २८ अन्तरद्वीप हैं। इन २८ अन्तरद्वीपों को चार-चार के समूह में विभक्त करने से सात चतुष्क बनते हैं।

	प्रथम चतुष्क	दिशा	विस्तार	परिधि
(i)	एकेरूक द्वीप	ईशान-कोण	लंबाई-चौड़ाई	९४९
(ii)	आभासिक द्वीप	अग्नि-कोण	३०० योजन	यो
(iii)	वैषणिक द्वीप	नैऋत-कोण	जगती से दूरी	ज
(iv)	नाङ्गलिक द्वीप	वायु-कोण	३०० योजन	न

दूसरा चतुष्क

(i)	हयकर्ण	ईशान-कोण	लंबाई-चौड़ाई	१२६५
(ii)	गजकर्ण	अग्नि-कोण	४०० योजन	यो
(iii)	गोकर्ण	नैऋत-कोण	जगती से दूरी	ज
(iv)	शष्कुली	वायु-कोण	४०० योजन	न

तीसरा चतुष्क

(i)	आदर्श मुख	ईशान-कोण	लंबाई-चौड़ाई	१५८१
(ii)	मेण्ढक मुख	अग्नि-कोण	५०० योजन	यो
(iii)	अयोमुख	नैऋत-कोण	जगती से दूरी	ज
(iv)	गोमुख	वायु-कोण	५०० योजन	न

चौथा चतुष्क

(i)	अश्वमुख	ईशान-कोण	लंबाई-चौड़ाई	१८९७
(ii)	हस्तिमुख	अग्नि-कोण	६०० योजन	यो
(iii)	सिंहमुख	नैऋत-कोण	जगती से दूरी	ज
(iv)	व्याघ्रमुख	वायु-कोण	६०० योजन	न

पाँचवाँ चतुष्क

(i)	अश्वकर्ण	ईशान-कोण	लंबाई-चौड़ाई	२२१३
(ii)	हरिकर्ण	अग्नि-कोण	७०० योजन	यो
(iii)	अकर्ण	नैऋत-कोण	जगती से दूरी	ज
(iv)	प्रावरण	वायु-कोण	७०० योजन	न

छट्ठा चतुष्क

(i)	उल्कामुख	ईशान-कोण	लंबाई-चौड़ाई	२५२९
(ii)	मेघमुख	अग्नि-कोण	८०० योजन	यो
(iii)	विद्युन्मुख	नैऋत-कोण	जगती से दूरी	ज
(iv)	विद्युत्दन्त	वायु-कोण	८०० योजन	न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सातवाँ चतुष्क दिशा विस्तार परिधि

(i) घनदन्त	ईशान-कोण	लंबाई-चौड़ाई	२८४५
(ii) लष्ट दन्त	अग्नि-कोण	९०० योजन	यो
(iii) गूढ़ दन्त	नैऋत-कोण	जगती से दूरी	ज
(iv) शुद्ध दन्त	वायु-कोण	९०० योजन	न

ये सभी द्वीप दो कोस ऊँची एवं ५०० योजन चौड़ी पद्मवर वेदिका से परिवृत हैं। वेदिका रमणीय वनों से सुशोभित है।

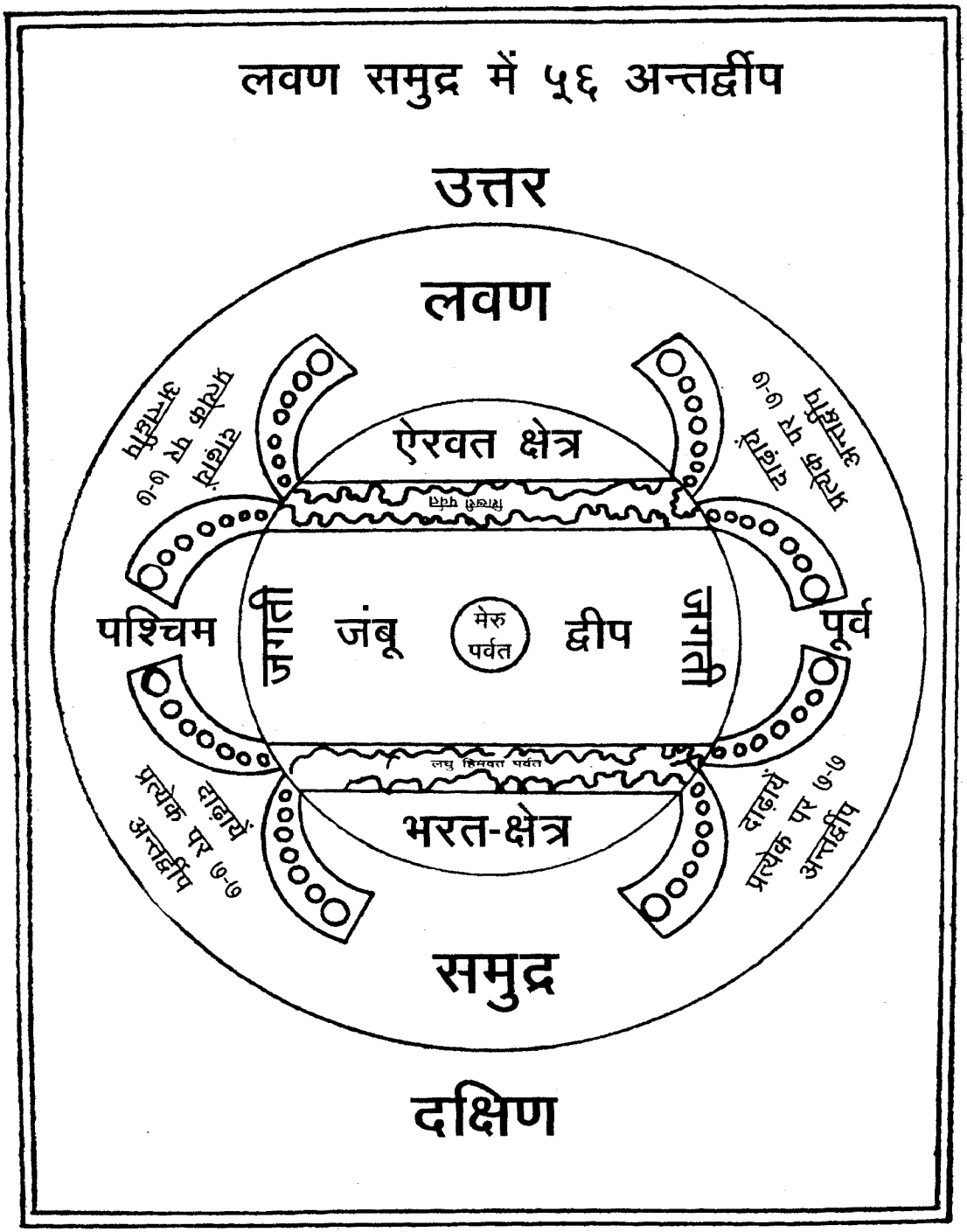
इसी प्रकार शिखरी पर्वत से निकली हुई शाखाओं पर पूर्वोक्त नाम एवं प्रमाण वाले २८ द्वीप हैं। ये सब मिलकर २८ + २८ = ५६ अन्तरद्वीप होते हैं।

अन्तरद्वीप के निवासी मनुष्यों का स्वरूप :

- प्रथम संघयण-संस्थान वाले।
- देवताओं के तुल्य रूप-लावण्य आकार वाले।
- ८०० धनुष देह प्रमाण वाले (स्त्रियों का देह प्रमाण कुछ कम होता है)
- पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण आयुष्य वाले।
- रीति-नीति से युगल धर्म वाले।
- सभी प्रकार के शुभ लक्षणों से युक्त।
- १० प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा अपनी इच्छा-पूर्ति करने वाले।
- स्वभावत: मंदकषायी, सन्तोषी, निरुत्सुक, मृदु और सरल स्वभाव वाले।
- ममत्व एवं वैर रहित, अहमिन्द्र, हाथी, घोड़े आदि वाहन होने पर भी पैदल चलने वाले।
- ज्वर आदि रोग, भूत-पिशाच आदि ग्रहों की पीड़ा से रहित, एकान्तर आहार करने वाले।
- शालि आदि धान्य से निष्पन्न भोजन नहीं करने वाले परन्तु मिश्री व चक्रवर्ती के भोजन से भी अधिक मधुर मिट्टी एवं कल्पवृक्ष के पुष्प, फल का आहार करने वाले।

इनके शरीर में ६४ पसलियाँ होती हैं। आयुष्य के छ: महीने शेष रहने पर एक युगल को जन्म देकर ७९ दिन पर्यन्त उनका पालन-पोषण करते हैं। तत्पश्चात् मन्दकषायी होने से मरकर निश्चित रूप से देवलोक में जाते हैं। मृत्यु के समय इन्हें जरा भी शारीरिक वेदना नहीं होती। इन द्वीपों में अनिष्ट-सूचक चन्द्र-सूर्य ग्रहण, प्राकृतिक उपद्रव, खटमल, मक्खी, मच्छर, जूं आदि के उपद्रव नहीं होते। सर्प, सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी क्षेत्र के प्रभाव से हिंसा नहीं करते। वहाँ रहने वाले सभी प्राणी रौद्र-भाव रहित होते हैं। इसी से वहाँ के तिर्यंच भी मरकर देवलोक में ही जाते हैं। वहाँ की पृथ्वी धूल, कंटक आदि से रहित समतल और अति-रमणीय होती है ॥१४२०-३१॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२६३ द्वार : जीव-अजीव का अल्प-बहुत्व

नर नेरईया देवा सिद्धा तिरिया कमेण इह हुंति ।
थोव असंख असंखा अणंतगुणिया अनंतगुणा ॥१४३२ ॥
नारी नर नेरइया तिरिच्छि सुर देवि सिद्ध तिरिया य ।
थोव असंखगुणा चउ संखगुणाऽणंतगुण दोन्नि ॥१४३३ ॥
तस तेउ पुढवि जल वाउकाय अकाय वणस्सइ सकाया ।
थोव असंखगुणाहिय तिन्नि दोऽणंतगुणअहिया ॥१४३४ ॥
पण चउ ति दु य अणिंदिय एगिंदि सइंदिया कमा हुंति ।
थोवा तिन्नि य अहिया दोऽणंतगुणा विसेसहिया ॥१४३५ ॥
जीवा पोग्गल समया दव्व पएसा य पज्जवा चेव ।
थोवाणंताणंता विसेसअहिआ दुवेऽणंता ॥१४३६ ॥

—गाथार्थ—

जीव-अजीव का अल्पबहुत्व—**मनुष्य अल्प हैं उनसे नरक के जीव असंख्य गुण हैं। उनसे देव असंख्य गुण हैं। उनसे सिद्ध अनन्तगुण हैं और उनसे तिर्यंच अनन्तगुण हैं ॥१४३२ ॥**

स्त्रियाँ अल्प हैं। उनसे मनुष्य असंख्य गुण हैं। मनुष्यों की अपेक्षा नरक के जीव असंख्यगुणा हैं। उनसे तिर्यंच स्त्रियाँ असंख्य गुण हैं। उनसे देव असंख्यगुण हैं। उनसे देवियाँ असंख्यगुण हैं। उनसे सिद्ध अनंतगुण हैं और सिद्धों से तिर्यंच अनन्तगुण हैं ॥१४३३ ॥

त्रस अल्प हैं, उनसे क्रमशः तेउकाय, पृथ्विकाय, अप्काय, वायुकाय और अकाय असंख्यगुण अधिक हैं। वनस्पतिकाय और सकाय अनन्तगुण अधिक है ॥१४३४ ॥

सबसे थोड़े पंचेन्द्रिय हैं। उनसे चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं द्वीन्द्रिय विशेषाधिक हैं। उनकी अपेक्षा अनीन्द्रिय और एकेन्द्रिय जीव अनन्तगुण हैं। उनसे सइन्द्रिय जीव विशेषाधिक है ॥१४३५ ॥

जीव सबसे अल्प हैं। उनसे पुद्गल अनन्तगुण हैं। उनसे काल अनन्तगुण हैं। समय की अपेक्षा द्रव्य विशेषाधिक है। द्रव्य की अपेक्षा प्रदेश और पर्याय क्रमशः अनन्तगुणा हैं ॥१४३६ ॥

—विवेचन—

सब से अल्प गर्भज मनुष्य हैं, क्योंकि वे संख्याता कोटाकोटी हैं। अर्थात् सात रज्जु लंबी और एक आकाश प्रदेश चौड़ी श्रेणि के अंगुल परिमाण क्षेत्र के प्रदेशों की जो संख्या है उसके प्रथम वर्गमूल का तीसरे वर्गमूल की प्रदेश संख्या से गुणा करने पर जो प्रदेश राशि होती है उसी के समरूप मनुष्यों की संख्या है। माना कि अंगुल परिमाण क्षेत्र में २५६ आकाश प्रदेश हैं। उनका प्रथम वर्गमूल १६, द्वितीय वर्गमूल ४ तथा तृतीय वर्गमूल २ है। प्रथम वर्गमूल १६ को तृतीय वर्गमूल २ से गुणा करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर ३२ संख्या आती है अतः असत्कल्पना से मनुष्यों की अधिकतम संख्या ३२ हुई। ऐसा समझना चाहिये।

मनुष्य की अपेक्षा नरक के जीव असंख्याता गुणा हैं, जैसे घनीकृत लोक की सात रज्जु लंबी ऊँची और एक आकाश प्रदेश चौड़ी सूची-श्रेणियों में जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उतने नरक के जीव हैं।

श्रेणियों का प्रमाण—एक अंगुल प्रमाण क्षेत्र में जितने आकाश प्रदेश होते हैं, उनके तीन वर्गमूल निकालकर पहले और तीसरे वर्गमूल का गुणा करना। गुणनफल की जितनी संख्या आये, उतनी सूची श्रेणी समझना। माना कि अंगुल प्रमाण क्षेत्र में दो सौ छप्पन आकाश प्रदेश हैं, उनका प्रथम वर्गमूल १६, द्वितीय वर्गमूल ४ और तृतीय वर्गमूल २ है। प्रथम वर्गमूल १६ को तृतीय वर्गमूल २ से गुणा करने पर १६ × २ = ३२ होते हैं। अतः ३२ श्रेणियों के आकाश प्रदेश प्रमाण नरक के जीव हैं।

नरक-जीवों की अपेक्षा देवता असंख्यात गुण अधिक है क्योंकि व्यतंर, ज्योतिष देव असंख्याता हैं।

देवताओं का प्रमाण—

भवनपति—भवनपति देवों की संख्या प्रतर के असंख्यातवें भाग में स्थित श्रेणियों के आकाश प्रदेशों के समरूप है। श्रेणियों की रीति निम्न है—

अंगुल प्रमाण क्षेत्र में जितने आकाश-प्रदेश होते हैं, उनका एक बार वर्गमूल निकालना। वर्गमूल की संख्या से प्रतर के मूल संख्या का गुणा करने पर जितनी संख्या आती है, उतनी श्रेणियों की संख्या समझना। इतनी प्रतर श्रेणियों में जितने आकाश प्रदेश होते हैं उतने भवनपति देव हैं।

व्यंतर-ज्योतिषी—सात राज ऊँचे, लम्बे तथा एक आकाश-प्रदेश चौड़े प्रतर के असंख्यात भागवर्ती सात राज ऊँची और एक आकाश-प्रदेश चौड़ी सूची श्रेणियों के आकाश-प्रदेश प्रमाण व्यन्तर और ज्योतिष देव है।

सिद्ध—देवों की अपेक्षा सिद्ध अनंतगुणा हैं। सिद्धों का विरह-काल अधिक से अधिक छः महीने का है। छः महीने के पश्चात् कोई न कोई आत्मा अवश्य ही सिद्ध होता है। सिद्धिगमन अनन्त काल से चल रहा है तथा सिद्ध होने के पश्चात् आत्मा का संसार में पुनरागमन नहीं होता।

सिद्धों की अपेक्षा तिर्यंच अनन्तगुण है। कारण-तिर्यंचगति में असंख्यात निगोद का समावेश होता है।

(अ) चौदह रज्जुप्रमाण लोक के जितने आकाश-प्रदेश हैं उनसे अनंतगुण अधिक हैं।

(ब) अनन्तकाल बीतने के बाद भी एक निगोद का अनन्तवाँ भाग ही सिद्ध होता है।

(स) निगोद असंख्याता हैं और एक-एक निगोद में सिद्धों की अपेक्षा अनन्तगुण अधिक जीव होते हैं।

नारक, तिर्यंच पुरुष व स्त्री, मनुष्य-मानुषी, देव-देवी और सिद्धों का अल्पबहुत्त्व—

सबसे अल्प मनुष्य स्त्री है क्योंकि वे संख्याता कोड़ाकोड़ी हैं।

स्त्री की अपेक्षा मनुष्य असंख्याता गुणा है (मनुष्य संमूर्च्छिम और गर्भज दोनों समझना। मात्र गर्भज लें तो मनुष्य की अपेक्षा स्त्रियाँ ही अधिक हैं। यद्यपि संमूर्च्छिम मनुष्य नपुंसक है तथापि यहाँ वेद की अविवक्षा करके सामान्यतः मनुष्य जाति का ग्रहण किया गया है।)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वमन, नगर की खाल आदि चौदह स्थानों में उत्पन्न होने वाले संमूर्च्छिम मनुष्य असंख्याता हैं।

मनुष्य की अपेक्षा नरक के जीव असंख्यात गुण अधिक हैं। अंगुल-प्रमाण क्षेत्रवर्ती आकाश-प्रदेशों के पहले और तीसरे वर्गमूल को गुणा करने पर जितनी संख्या आती है, उतनी सूची श्रेणियों के आकाश-प्रदेश प्रमाण नरक के जीव हैं। जबकि मनुष्य उत्कृष्ट से भी श्रेणि के असंख्येय भागवर्ती आकाश-प्रदेश की राशि परिमाण है।

नारक जीवों की अपेक्षा तिर्यंच स्त्रियाँ असंख्याता गुणा अधिक हैं। क्योंकि सात राज लम्बे और सात राज ऊँचे तथा एक आकाश प्रदेश चौड़े प्रतर के असंख्यातवें भाग में सात राज ऊँची और एक आकाश-प्रदेश चौड़ी जितनी सूची-श्रेणियाँ हैं, उतनी सूची-श्रेणियों के आकाश-प्रदेश परिमाण तिर्यंच स्त्रियाँ होती हैं।

तिर्यंच स्त्रियों की अपेक्षा देव असंख्यात गुणा हैं, कारण देवता असंख्यातगुण विस्तृत प्रतर के असंख्यातवें भागवर्ती असंख्यात सूची-श्रेणियों के आकाश प्रदेश परिमाण हैं।

देवों की अपेक्षा देवियाँ संख्यात गुणा हैं, कारण देवियाँ उनसे बत्तीस गुणी अधिक हैं।

देवियों की अपेक्षा सिद्ध अनंत गुण हैं, क्योंकि वे एक निगोद के अनन्तवें भाग जितने होते हैं।

सिद्धों की अपेक्षा तिर्यंच अनन्तगुण हैं, क्योंकि तिर्यंच गति में असंख्यात निगोद का समावेश होता है तथा एक निगोद में सिद्धों की अपेक्षा अनंतगुण जीवराशि है।

काया की अपेक्षा अल्प-बहुत्व--

सबसे अल्प त्रसकायिक जीव हैं। क्योंकि द्वीन्द्रिय आदि ही त्रसकाय हैं।

सात राज लम्बे, सात राज चौड़े और एक आकाश-प्रदेश मोटे प्रतर के असंख्यात कोटाकोटि योजन प्रमाण भाग में स्थित सूची-श्रेणियों के जितने आकाश-प्रदेश हैं, उतने त्रसकायिक जीव हैं।

त्रसकाय जीवों की अपेक्षा तैजस्काय के जीव असंख्याता गुणा हैं। ये चौदह राज लोक जितने प्रमाप वाले असंख्यात लोकों के आकाश प्रदेश के तुल्य है।

तेजस्काय जीवों से पृथ्वीकाय के जीव विशेषाधिक हैं। पूर्ववत् वे भी असंख्यात लोकों के आकाश-प्रदेश के तुल्य हैं किन्तु पूर्व के असंख्याता की अपेक्षा यह असंख्याता कुछ अधिक समझना। इसी से पृथ्वीकाय के जीव विशेषाधिक होते हैं।

पृथ्वीकाय के जीवों की अपेक्षा अप्कायिक जीव विशेष अधिक हैं (पूर्ववत्)।

अप्काय जीवों की अपेक्षा वायुकायिक जीव विशेषाधिक हैं (पूर्ववत्)।

पूर्वोक्त सभी जीवों की अपेक्षा सिद्ध अनंत गुण है।

सिद्धों की अपेक्षा वनस्पति कायिक अनन्त गुणा हैं। वे अनन्त-लोकवर्ती आकाश-प्रदेश के तुल्य हैं।

वनस्पति जीवों की अपेक्षा सकायिक जीव अधिक हैं, क्योंकि इसमें पृथ्विकाय आदि सभी जीवों का समावेश होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रियों की अपेक्षा अल्प-बहुत्व—

(i)	पंचेन्द्रिय	=	सबसे अल्प हैं, क्योंकि संख्याता कोड़ाकोड़ी योजन प्रमाण विष्कंभ सूची से परिमित प्रतर के असंख्यातवें भाग में स्थित असंख्याती श्रेणियों के जितने आकाश-प्रदेश हैं, उतने पंचेन्द्रिय जीव हैं।
(ii)	चतुरिन्द्रिय	=	विशेषाधिक। पूर्वोक्त विष्कंभ-सूची के संख्याता की अपेक्षा इनका संख्याता अधिक है। (संख्याता के संख्याता भेद है)
(iii)	त्रीन्द्रिय	=	विशेषाधिक। पूर्वोक्त विष्कंभ सूची के संख्याता की अपेक्षा इनका संख्याता अधिकतम हैं।
(iv)	द्वीन्द्रिय	=	विशेषाधिक। पूर्वोक्त विष्कंभ सूची के संख्याता की अपेक्षा इनका संख्याता अधिकतम हैं।
(v)	अनिन्द्रिय	=	अनन्तगुणा हैं। सिद्ध अनन्त हैं।
(vi)	एकेन्द्रिय	=	सिद्धों की अपेक्षा अनन्तगुणा हैं, क्योंकि वनस्पति के जीव सिद्धों की अपेक्षा अनन्त हैं।
(vii)	सेन्द्रिय	=	पूर्व की अपेक्षा विशेषाधिक (सेन्द्रिय में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव आ जाते है)।

जीव और पुद्गल का अल्प-बहुत्व—

जीव सबसे अल्प है। कारण निम्न हैं—

जीव की अपेक्षा पुद्गल अनन्तगुणा है, क्योंकि पुद्गल द्रव्य के परमाणु से लेकर द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी यावत् अनन्तप्रदेशी, अनन्तानन्त स्कन्ध होते हैं। यद्यपि पुद्गलद्रव्य अनन्त हैं, तथापि सामान्यतः उनके तीन भेद हैं।

(i) प्रयोग-परिणत—जो पुद्गल जीव के प्रयत्न से विशेष परिणाम प्राप्त करता है।

(ii) मिश्र-परिणत—जो पुद्गल-द्रव्य अपने सहज-स्वभाव एवं जीव के प्रयत्न द्वारा विशेष परिणाम प्राप्त करता है।

(iii) विस्रसा परिणत—जो पुद्गल-द्रव्य अपने सहज स्वभाव से ही विशेष परिणाम प्राप्त करता है।

जीवों की अपेक्षा प्रयोग-परिणत पुद्गल-द्रव्य अनन्तगुणा है, क्योंकि प्रत्येक संसारी जीव अपने-अपने प्रयत्न के द्वारा ज्ञानावरणीय आदि कर्म के रूप में परिणत बने अनंत-अनंत पुद्गल स्कंधों से आवृत रहते हैं।

प्रयोग-परिणत पुद्गल-द्रव्य की अपेक्षा मिश्र-परिणत पुद्गल द्रव्य अनन्तगुण हैं।

मिश्र-परिणत पुद्गल-द्रव्य की अपेक्षा विस्रसा-परिणत पुद्गल द्रव्य अनन्तगुण हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव सब से अल्प हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा समय अनन्तगुण है। कारण, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा एक परमाणु का भावी समय अनन्त है। इस प्रकार अनन्त परमाणुओं का, सभी द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी यावत् अनन्त प्रदेशी स्कन्धों का भिन्न-भिन्न द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से भावी समय अनन्त है तथा सभी का अतीत काल भी अनन्त है। अत: यह सिद्ध है कि पुद्गल की अपेक्षा समय अनन्तगुणा है।

समय की अपेक्षा सर्व-द्रव्यों की संख्या विशेषाधिक है, क्योंकि द्रव्यों में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और समय सभी का समावेश होता है। क्योंकि सारे द्रव्य मिलकर भी अद्धासमय के अनन्तभाग जितने ही होते हैं। अत: उनको सम्मिलित करने पर भी समय की अपेक्षा सर्वद्रव्य की संख्या विशेषाधिक ही होती है।

सर्व-द्रव्यों की अपेक्षा सर्व-प्रदेशों की संख्या अनन्तगुण है। क्योंकि दूसरे द्रव्यों के प्रदेशों की अपेक्षा, केवल अलोकाकाश के प्रदेश अनन्तगुणा अधिक हैं।

सर्वद्रव्य प्रदेशों की अपेक्षा उनके पर्याय अनन्तगुण हैं, क्योंकि एक-एक आकाश-प्रदेश में अनन्त-अनन्त अगुरु-लघु पर्यायें होती हैं ॥१४३२-३६ ॥

२६४ द्वार : युगप्रधान-सूरि-संख्या

जा दुप्पसहो सूरी होहिंति जुगप्पहाण आयरिया।
अज्जसुहुम्मप्पभिई चउसहिया दुन्नि य सहस्सा ॥१४३७ ॥

—गाथार्थ—

युगप्रधान आचार्यों की संख्या—**आर्य सुधर्मास्वामी से लेकर दुप्पसहसूरि पर्यंत दो हजार और चार युगप्रधान आचार्य होंगे ॥१४३७ ॥**

—विवेचन—

युगप्रधान = परमात्मा के शासन के रहस्य को जानने वाले, विशिष्टतर मूल और उत्तरगुण से सम्पन्न प्रस्तुत काल की अपेक्षा से भरतक्षेत्र में प्रधानभूत आचार्य।

आर्य सुधर्मा, जंबू, प्रभव, स्वयंभव आदि गणधरों की पट्ट-परम्परा से लेकर पाँचवें आरे के अंतिम युगप्रधान दुप्पसहसूरि तक = २००४ युगप्रधान होते हैं।

- **महानिशीथ** में—

'इत्थं चायरियाणं पणपन्ना होंति कोडिलक्खाओ।
कोडिसहस्से कोडिसए य तह इत्तिए चेवत्ति ॥'

यहाँ ५५ लाख करोड़, ५५ हजार करोड़, ५५ सौ करोड़ की संख्या आचार्यों की बताई है, वह सामान्य मुनिपति की अपेक्षा से बतायी है। यह संख्या युगप्रधान आचार्यों की नहीं है, क्योंकि उसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्र में आगे कहा है कि—

'एएसिं मज्झाओ एगे निव्वडइ गुणगणाइन्ने।

सव्वुत्तमभंगेणं तित्थयरस्साणुसरिस गुरू॥'

अर्थात् इन सामान्य आचार्यों में से सर्वोत्तम भांगे में गुणगुण से समन्वित तीर्थंकर के तुल्य कुछ आचार्य होते हैं।

आर्य = आरात् + यातः जो सभी हेयधर्मों से दूर हो चुके हैं, वे आर्य कहलाते हैं।

सब से अन्तिम आचार्य दुप्पसहसूरि होंगे।

दुप्पसहसूरि—पाँचवें आरे के अंत में होंगे। इनका शरीर प्रमाण दो हाथ एवं आयुष्य बीस वर्ष की होगी। महान् तपस्वी एवं आसन्न मुक्तिगामी होंगे। मात्र **दशवैकालिक** के ज्ञाता होने पर भी चौदहपूर्वी की तरह इन्द्र से भी पूज्य होंगे॥१४३७॥

२६५ द्वार : श्रीभद्रकृत्तीर्थप्रमाण—

ओसप्पिणिअंतिमजिण-तित्थं सिरिरिसहनाणपज्जाया।

संखेज्जा जावइया तावयमाणं धुवं भविही॥१४३८॥

—गाथार्थ—

उत्सर्पिणी के अन्तिम जिन का शासन-परिमाण—**ऋषभदेव परमात्मा के केवलज्ञान के पर्यायों की जितनी संख्या है, उतने काल तक उत्सर्पिणी के अन्तिम तीर्थंकर भद्रकृत् जिनेश्वर का शासन चलेगा॥१४३८॥**

—विवेचन—

ऋषभदेव परमात्मा का केवलज्ञान पर्याय एक हजार वर्ष न्यून एक लाख पूर्व वर्ष का है। उनकी केवलज्ञानी अवस्था की जितनी पर्यायें हैं, इतने काल परिमाण का उत्सर्पिणी के अन्तिम तीर्थंकर अर्थात् २४वें तीर्थंकर भद्रकृत् का शासनकाल होगा। सारांश यह है कि भद्रकृत् तीर्थंकर का शासन काल संख्याता लाख पूर्व वर्ष का होगा॥१४३८॥

२६६ द्वार : देवों का प्रविचार—

दो कायप्पवियारा कप्पा फरिसेण दोन्नि दो रूवे।

सद्दे दो चउर मणे नत्थि वियारो उवरि यत्थी॥१४३९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गेविज्जणुत्तरेसुं अप्पवियारा हवंति सव्वसुरा।
सप्पवियारठिईणं अणंतगुणसोक्खसंजुत्ता ॥१४४०॥

—गाथार्थ—

देवों का प्रविचार—**प्रथम दो देवलोक में कायप्रविचार है। तीसरे-चौथे देवलोक में स्पर्श-प्रविचार है। पाँचवें-छट्ठे में रूप-प्रविचार, सातवें-आठवें में शब्द-प्रविचार तथा शेष चार में मन-प्रविचार है। ऊपरवर्ती देवों में प्रविचार नहीं है॥१४३९॥**

नवग्रैवेयक एवं पाँच अनुत्तर के सभी देव मैथुन संज्ञा से रहित हैं। अप्रविचारी देव सप्रविचारी देवों की अपेक्षा अनन्तगुण सुखसंपन्न हैं॥१४४०॥

—विवेचन—

'द्वौ कल्पौ' यहाँ कल्प शब्द मर्यादा का वाचक है। कल्प = मर्यादा, व्यवहार अर्थात् जहाँ सेव्य-सेवक भाव, ऊँच-नीच आदि का व्यवहार हो, वह कल्प है। वहाँ रहने वाले देव कल्पस्थ कहलाते हैं।

प्रविचार का अर्थ है मैथुन क्रिया।

१. भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष् एवं सौधर्म-ईशान देवलोक के देव अत्यन्त क्लेशकारक प्रबल पुरुषवेद के उदय से मनुष्य की तरह मैथुनक्रिया में आसक्त होकर सर्वांगीण कायक्लेशजन्य स्पर्श सुख को अनुभव करके ही तृप्त होते हैं, अन्यथा नहीं।

काय-प्रविचार = मनुष्य की तरह शारीरिक सम्बन्ध द्वारा जो देव मैथुन सेवन करते हैं, वे काय-प्रविचारी कहलाते हैं।

२. सनत्कुमार और महेन्द्र देवलोक के देव, देवी के स्पर्श द्वारा मैथुन का सुख मानते हैं। इन देवों को जब मैथुन की अभिलाषा होती है तब वे देव देवियों के अंग-स्पर्श के द्वारा अपनी इच्छापूर्ति करते हैं। देवियाँ भी देवों के स्पर्शजन्य दिव्य प्रभाव से अपने शरीर में शुक्र के पुद्गलों का संचार होने से अपार सुख का अनुभव करती हैं। इस प्रकार ऊपर के देवों का भी समझना। ये देव स्पर्श प्रविचारी हैं।

३. ब्रह्मलोक और लान्तक देवलोक के देव देवियों का रूप देखकर मैथुन सुख की अनुभूति करते हैं। अर्थात् देवियों के उन्मादकारी रूप का दर्शन करके ही यहाँ के निवासी देव वासनापूर्ति का आनन्द प्राप्त कर लेते हैं। ये देव रूप-प्रविचारी हैं।

४. शुक्र और सहस्रार इन दो देवलोक के देव देवियों के शब्द सुनकर अर्थात् देवियों के विलासयुक्त गीत, हास्य, वार्तालाप, आभूषणों की आवाज आदि सुनकर अत्रस्थित देव उपशांत वेदी बनते हैं। ये देव शब्द प्रविचारी हैं।

५. आनत, प्राणत, आरण व अच्युत देवलोक के देव मानसिक विचारों से ही मैथुन का आनन्द लेते हैं अतः ये मनःप्रविचारी हैं। अर्थात् इन देवों को जब वेदोदय होता है तब वे देवियों के मन को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने चिन्तन का विषय बनाते हैं। देवियाँ उनके संकल्प से अनभिज्ञ होने पर भी तथाविध स्वभाववश अद्‌भुत शृंगारादि करके आन्दोलित मन वाली होकर, मन द्वारा ही भोग के लिये तत्पर बनती हैं। इस प्रकार परस्पर मानसिक संकल्प की स्थिति में दैविक प्रभाव से देवियों में शुक्र के पुद्गलों का संक्रमण होता है। इससे दोनों को कायिक वासनापूर्ति की अपेक्षा अनंतगुण अधिक सुख की अनुभूति होती है। ग्रैवेयक आदि ऊपर के देवों में स्त्री-सेवन सर्वथा नहीं होता।

- ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानवासी देव वीतराग प्रायः होने से अनन्तसुख सम्पन्न होते हैं। (यद्यपि ये देवता अप्रविचारी हैं, तथापि विरतिधारी न होने से ब्रह्मचारी नहीं कहलाते।)
- शब्द रूप, स्पर्श आदि के द्वारा प्रविचार करने वाले देवता, अपनी शक्ति द्वारा अपने वीर्य पुद्गलों को देवी के शरीर में संक्रमित करते हैं, जिससे देवी को सुखानुभूति होती है ॥१४३९-४०॥

२६७ द्वार : कृष्णराजी—

पंचमकप्पे रिट्ठंमि पत्थडे अट्ठकण्हराईओ।
समचउरंसक्खोडयठिइओ दो दो दिसिचउक्के ॥१४४१॥
पुव्वावरउत्तरदाहिणाहि मज्झिल्लियाहि पुट्ठाओ।
दाहिणउत्तरपुव्वा अवरा बहिकण्हराईओ ॥१४४२॥
पुव्वावरा छलंसा तंसा पुण दाहिणुत्तरा बज्झा।
अब्भंत्तरचउरंसा सव्वावि य कण्हराईओ ॥१४४३॥
आयामपरिक्खेवेहिं ताण अस्संखजोयणसहस्सा।
संखेज्जसहस्सा पुण विक्खंभे कण्हराईणं ॥१४४४॥
ईसाणदिसाईसुं एयाणं अंतरेसु अट्ठसुवि।
अट्ठ विमाणाइं तह तम्मज्झे एक्कगविमाणं ॥१४४५॥
अच्चि तहऽच्चिमालिं वइरोयण पभंकरे य चंदाभं।
सूराभं सुक्काभं सुपइट्ठाभं च रिट्ठाभं ॥१४४६॥
अट्ठायरट्ठिईया वसंति लोगंतिया सुरा तेसुं।
सत्तट्ठभवभवंता गिज्जंति इमेहिं नामेहिं ॥१४४७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारस्सय-माइच्चा वण्ही वरुणा य गद्दतोया य।
तुसिया अव्वाबाहा अग्गिच्चा चेव रिट्ठा य ॥१४४८॥
पढमजुयलंमि सत्त उ सयाणि बीयंमि चउदस सहस्सा।
तइए सत्त सहस्सा नव चेव सयाणि सेसेसु ॥१४४९॥

—गाथार्थ—

कृष्णराजी—**पाँचवें देवलोक के रिष्ट नामक प्रतर में आठ कृष्णराजियाँ हैं। वे समचौरस, प्रेक्षास्थान के आकार की हैं। चारों दिशा में दो-दो हैं॥१४४१॥**

पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशा की आभ्यन्तर कृष्णराजियाँ क्रमशः दक्षिण, उत्तर, पूर्व और पश्चिम दिशा की बाह्य कृष्णराजियों को स्पर्श करती है॥१४४२॥

पूर्व-पश्चिम की बाह्य कृष्णराजियां छः कोण वाली हैं और दक्षिण-उत्तर की बाह्य कृष्णराजियाँ तिकोन हैं। पर आभ्यन्तर सभी कृष्णराजियाँ चतुष्कोण हैं॥१४४३॥

—विवेचन—

कृष्णराजी—सजीव निर्जीव पृथ्विकाय द्वारा निर्मित दीवारों की पंक्तियाँ। पांचवें ब्रह्मलोक नामक देवलोक के तीसरे रिष्टनामक प्रतर की चारों दिशा में दो-दो कृष्णराजियाँ हैं। ये प्रेक्षकों के बैठने के आसन की तरह समचौरस हैं। जिसके चारों कोने समान हों, वह समचौरस कहलाती है। पूर्व और पश्चिम की दो-दो कृष्णराजियाँ दक्षिण-उत्तर की तरफ तिरछी फैली हुई हैं। उत्तर-दक्षिण की दोनों कृष्णराजियाँ पूर्व-पश्चिम की ओर तिरछी फैली हुई हैं। पूर्व दिशा की अभ्यंतर कृष्णराजी दक्षिण दिशा की बाह्य कृष्णराजी को छूती है। दक्षिण दिशा की अभ्यंतर कृष्णराजी पश्चिम दिशा की बाह्य कृष्णराजी को छूती है। पश्चिम दिशा की अभ्यंतर कृष्णराजी उत्तर-दिशा की बाह्य कृष्णराजी का स्पर्श करती है तथा उत्तर दिशा की अभ्यंतर कृष्णराजी पूर्व दिशा की बाह्य कृष्णराजी को छूती है।

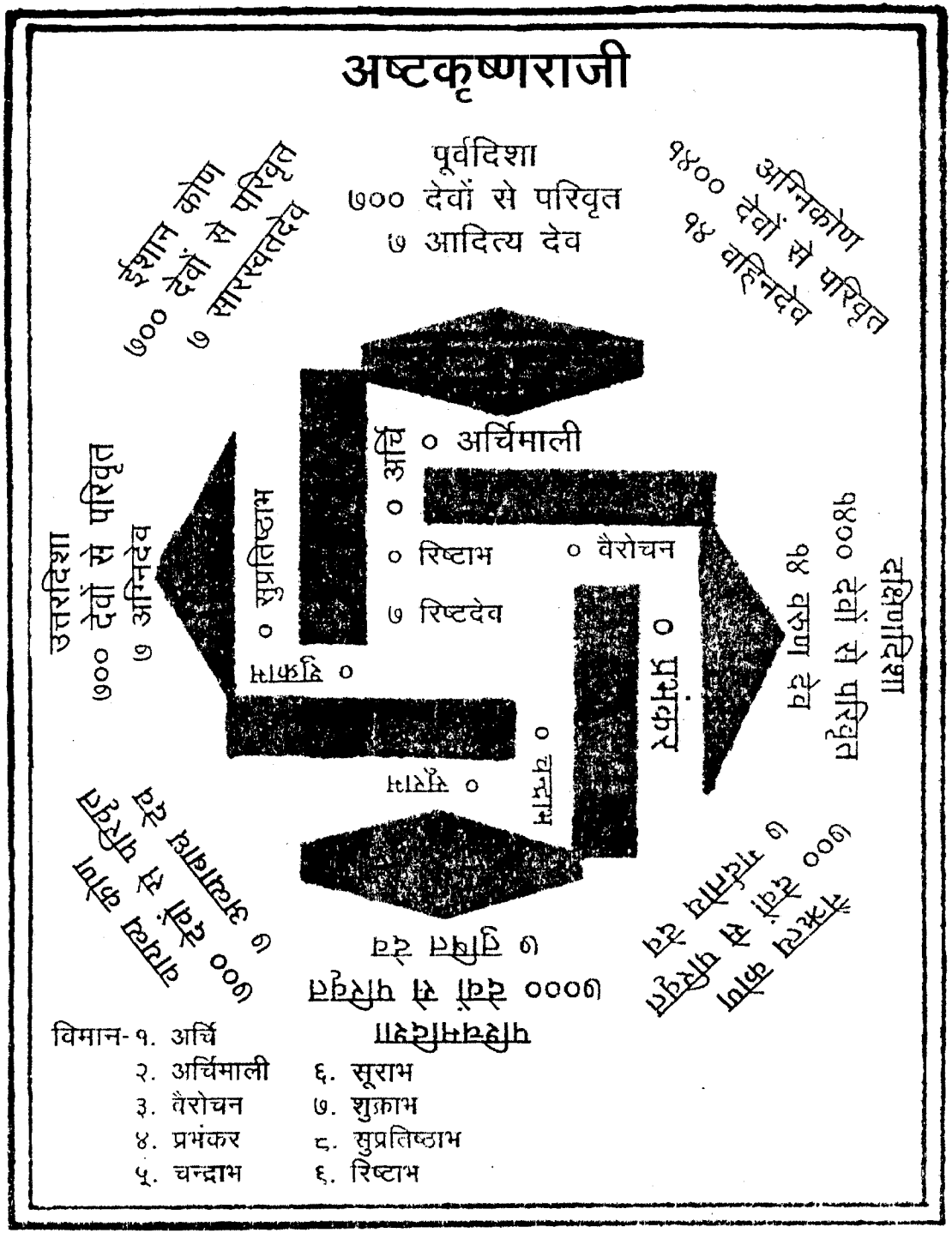
पूर्व और पश्चिम की दोनों बाह्य कृष्णराजियाँ छः कोनों वाली हैं। उत्तर-दक्षिण की दोनों बाह्य कृष्णराजियाँ तिकोन हैं और अभ्यंतर चारों ही कृष्णराजियाँ चोकोर हैं।

पूर्वोक्त आठों कृष्णराजियों का विस्तार संख्याता योजन का तथा लंबाई व परिधि असंख्याता हजार योजन की है।

विमान—

१. उत्तर-पूर्व की आभ्यंतर कृष्णराजी के बीच में 'अर्चि' नामक विमान है।
२. पूर्व की दोनों कृष्णराजी के बीच में 'अर्चिमाली' विमान है।
३. पूर्व-दक्षिण की आभ्यंतर कृष्णराजी के बीच में 'वैरोचन' विमान है।
४. दक्षिण की दोनों कृष्णराजी के बीच में 'प्रभंकर' विमान है।
५. दक्षिण-पश्चिम की आभ्यन्तर कृष्णराजी के बीच में 'चन्द्राभ' विमान है।
६. पश्चिम की दोनों कृष्णराजी के बीच में 'सूराभ' विमान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



विमान- १. अर्चि
२. अर्चिमाली
३. वैरोचन
४. प्रभंकर
५. चन्द्राभ
६. सूराभ
७. शुक्राभ
८. सुप्रतिष्ठाभ
९. रिष्टाभ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. पश्चिम उत्तर की आभ्यंतर कृष्णराजी के बीच में 'शुक्राभ' विमान है।

८. उत्तर की दोनों कृष्णराजी के बीच में 'सुप्रतिष्ठाभ' विमान है।

९. तथा इन सभी कृष्णराजी के मध्यभाग में 'रिष्ठाभ' विमान है।

विमान-निवासी देव—

पूर्वोक्त विमानों में लोकान्तिक देव रहते हैं। पाँचवें ब्रह्मलोक के समीप रहने से ये देवता लोकान्तिक कहलाते हैं। ये देव ८ सागर की स्थिति वाले तथा ७-८ भव के पश्चात् मोक्ष जाने वाले हैं।

इनके नाम क्रमशः सारस्वत, आदित्य, वह्नि, वरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, आग्नेय (मरुत्) तथा रिष्ठ (रिष्ठ-नामक विमान में रहने वाले) हैं। इन देवताओं का कर्त्तव्य है कि तीर्थंकर परमात्मा की दीक्षा से एक वर्ष पूर्व स्वयंबुद्ध जिनेश्वर परमात्मा को तीर्थ की प्रवर्तना हेतु निवेदन करना

देवों का परिवार—

सारस्वत	—	आदित्य	(विमान में)	= ७ देव व ७०० का परिवार है।
वह्नि	—	वरुण	(विमान में)	= १४ देव व १४०० का परिवार है।
गर्दतोय	—	तुषित	(विमान में)	= ७ देव व ७००० का परिवार है।
अव्याबाध	—	आग्नेय-रिष्ठ	(विमान में)	= ९ देव व ९०० का परिवार है।

॥१४४१-४९॥

नोट—पृ. ३९१ पर दिया गया चित्र अष्टकृष्णराजी का है। जहां तमस्काय का अंत है वहां कृष्णराजी का प्रारंभ है। अर्थात् ब्रह्मदेवलोक के तीसरे रिष्टनामक प्रतर के चारों और तिकोन-चतुष्कोण आकार में एक-एक दिशा में दो-दो कृष्णराजियां है। इनके मध्य में एवं अन्तराल में नवलोकान्तिक देवों के नौ विमान हैं। अभ्यन्तर कृष्णराजी चतुष्कोण एवं बाह्य तिकोनाकार है। ये कृष्णराजियां वैमानिक देवकृत हैं। ये पृथ्वी परिणाम रूप हैं। जल परिणाम रूप नहीं हैं। इनमें क्षुद्र जीव उत्पन्न होते हैं। इनका आयाम असंख्य हजार योजन का, विष्कंभ संख्याता हजार योजन का तथा परिधि असंख्याता हजार योजन की है।

२६८ द्वार : अस्वाध्याय—

संजमघा उप्पाये सादिव्वे वुग्गहे य सारीरे।
महिया सच्चित्तरओ वासम्मि य संजमे तिविहं ॥१४५०॥
महिया उ गब्भभासे सच्चित्तरओ य ईसिआयंबे।
वासे तिन्नि पगारा बुब्बुय तव्वज्ज फुसिए य ॥१४५१॥
दव्वे तं चिय दव्वं खेत्ते जहियं तु जच्चिरं कालं।
ठाणाइभास भावे मोत्तं उस्सासउम्मेसे ॥१४५२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पंसू य मंसरुहिरे केससिलावुट्ठि तह रयुग्घाए।
मंसरुहिरे अहरत्तं अवसेसे जच्चिरं सुत्तं ॥१४५३॥
पंसू अच्चित्तरओ रयस्सलाओ दिसा रउग्घाओ।
तत्थ सवाए निव्वायए य सुत्तं परिहरंति ॥१४५४॥
गंधव्वदिसा विज्जुक्क गज्जिए जूव जक्खआलित्ते।
एक्केक्कपोरिसिं गज्जियं तु दो पोरिसी हणइ ॥१४५५॥
दिसिदाहो छिन्नमूलो उक्क सरेहा पगाससंजुत्ता।
संझाछेयावरणो उ जूवओ सुक्कि दिण तिन्नि ॥१४५६॥
चंदिमसूरुवरागे निग्घाए गुंजिए अहोरत्तं।
संझाचउ पडिवए जं जहि सुगिम्हए नियमा ॥१४५७॥
आसाढी इंदमहो कत्तिय सुगिम्हए य बोद्धव्वे।
एए महामहा खलु एएसिं जाव पाडिवया ॥१४५८॥
उक्कोसेण दुवालस चंदो जहन्नेण पोरिसी अट्ठ।
सूरो जहन्न बारस पोरिसी उक्कोस दो अट्ठ ॥१४५९॥
सग्गहनिवुड्ढ एवं सूराई जेण दुंतिऽहोरत्ता।
आइन्नं दिणमुक्के सोच्चिय दिवसो य राई य ॥१४६०॥
वुग्गहदंडियमाई संखोभे दंडिए व कालगए।
अणरायए य सभए जच्चिरऽनिद्दोच्चऽहोरत्तं ॥१४६१॥
तद्दिवसभोइआइ अंतो सत्तण्ह जाव सज्झाओ।
अणाहस्स य हत्थसयं दिट्ठिवि वित्तंमि सुद्धं तु ॥१४६२॥
मयहरपगए बहुपक्खिए य सत्तधर अंतर मयंमि।
निद्दुक्खत्ति य गरिहा न पढंति सणियगं वावि ॥१४६३॥
तिरिपंचिंदिय दव्वे खेत्ते सट्ठिहत्थ पोग्गलाइन्नं।
तिकुरत्थ महंतेगा नगरे बाहिं तु गामस्स ॥१४६४॥
काले तिपोरिसि अट्ठ व भावे सुत्तं तु नंदिमाईयं।
सोणिय मंसं चम्मं अट्ठीवि य अहव चत्तारि ॥१४६५॥
अंतो बहिं व धोयं सट्ठी हत्थाउ पोरिसी तिन्नि।
महकाइ अहोरत्तं रत्ते वूढे य सुद्धं तु ॥१४६६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंडगमुज्झिय कप्पे न य भूमि खणंति इयरहा तिन्नि।
असझाइयप्पमाणं मच्छियपाया जहिं बुड्डे ॥१४६७॥
अजराउ तिन्नि पोरिसि जराउयाणं जरे पडे तिन्नि।
रायपहबिंदुपडिए कप्पे बूढे पुणो नत्थि ॥१४६८॥
माणुस्सयं चउद्धा अट्ठिं मोत्तूण सयमहोरत्तं।
परियावन्नविवन्ने सेसे तिय सत्त अट्ठेव ॥१४६९॥
रत्तुक्कडा उ इत्थी अट्ठ दिणे तेण सत्त सुक्कहिए।
तिण्ण दिणाण परेणं अणोउगं तं महारत्तं ॥१४७०॥
दंते दिट्ठे विगिंचण सेसट्ठि बारसेव वरिसाइं।
दड्ढट्ठीसु न चेव य कीरइ सज्झायपरिहारो ॥१४७१॥

—गाथार्थ—

अस्वाध्याय—**अस्वाध्याय के पाँच प्रकार हैं—१. संयमघाती २. उत्पात ३. सादिव्य ४. व्युद्ग्रह एवं ५. शारीरिक। संयमघाती स्वाध्याय के तीन भेद हैं—१. महिका २. सचित्तरज और ३. वर्षा। इनमें महिका गर्भमास में होती है। किंचित् ताम्रवर्णी रज सचित्तरज है। वर्षा तीन प्रकार की है—१. बुद्बुद् २. बुद्बुद्रहित एवं ३. जलस्पर्शिकारूप ॥१४५०-५१॥**

द्रव्य से अस्वाध्यायिक द्रव्य, क्षेत्र से जितने क्षेत्र में अस्वाध्यायिक हो, काल से जितने काल तक अस्वाध्यायिक रहे और भाव से श्वासोच्छ्वास लेना, पलक झपकना आदि का त्याग करना चाहिये ॥१४५२॥

पाँशुवृष्टि, मांसवृष्टि, रुधिरवृष्टि, केशवृष्टि, पत्थरवृष्टि, रजोद्घात आदि अस्वाध्यायिक हैं। इनमें मांस और रुधिरवृष्टि में एक अहोरात्रि का अस्वाध्याय होता है। शेष में जितने समय तक वृष्टि हो उतने समय तक सूत्र-स्वाध्याय का त्याग करना चाहिये ॥१४५३॥

कुछ पीले वर्ण की अचित्तरज पाँशु है। दिशाओं का रजस्वला होना रजोद्घात है। ये तीनों वायु सहित या निर्वात जब तक रहे तब तक अस्वाध्याय होती है ॥१४५४॥

गान्धर्वनगर, दिग्दाह, विद्युत्, उल्कापात, मेघगर्जन, यूपक, यक्षादीप्त, इनमें मेघगर्जना में दो पोरिसी तक अस्वाध्याय होती है और शेष में एक पोरिसी की अस्वाध्याय होती है ॥१४५५॥

छिन्नमूला अग्नि दिग्दाह है। रेखायुक्त प्रकाश उल्का है। सन्ध्या जिसके कारण दिखाई नहीं देती वह सन्ध्या छेदावरण है। इसे यूपक कहते हैं। यह सुदी पक्ष की दूज, तीज और चौथ को होता है ॥१४५६॥

चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, निर्घात और गुंजित में एक अहोरात्रि का अस्वाध्याय होता है। चार सन्ध्या, प्रतिपदा में होने वाले महोत्सव तथा अन्य भी महोत्सव जो जहाँ होते हों इनमें निश्चित रूप से अस्वाध्याय होती है ॥१४५७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आषाढ़ सुदी पूनम, आसोज सुदी पूनम, कार्तिक सुदी पूनम तथा चैत्र सुदी पूनम को होने वाले महोत्सव—ये चार 'महामह' है और प्रतिपदा पर्यन्त चलते हैं ॥१४५८ ॥

चन्द्रग्रहण में उत्कृष्ट बारह प्रहर, जघन्य आठ प्रहर, सूर्यग्रहण में उत्कृष्ट सोलह प्रहर और जघन्य बारह प्रहर की अस्वाध्याय होती है। यदि सूर्य आदि सग्रहण अस्त हो जाये तो एक अहोरात्रि की अस्वाध्याय होती है। किन्तु परंपरा इस प्रकार है—सूर्य आदि यदि दिन में ग्रहणमुक्त हो गये हों तो उस दिन ही अस्वाध्याय होती है ॥१४५९-६० ॥

दो सेनापतियों का परस्पर युद्ध चल रहा हो, किसी कारण से वातावरण संक्षुब्ध हो, राजा के मर जाने के पश्चात् जब तक दूसरा राजा न बने, जब तक भय शान्त न हो तब तक अस्वाध्याय होती है। गाँव का अधिपति आदि यदि उपाश्रय से सात घरों के भीतर मर जाये तो अहोरात्रि की अस्वाध्याय होती है। यदि कोई अनाथ सौ हाथ के भीतर मर जाये तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिये। शव सम्बन्धी जो कुछ हो देखकर वहाँ से हटा देने के बाद स्वाध्याय करना कल्पता है ॥१४६१-६२ ॥

गाँव का मुखिया, व्यवस्थापक, बड़े परिवार वाला, शय्यातर आदि यदि उपाश्रय से सात घर के भीतर मर जाये तो अहोरात्र पर्यंत स्वाध्याय नहीं होता। अन्यथा ये साधु हृदयहीन हैं, ऐसा लोकापवाद होने की संभावना रहती है। यदि स्वाध्याय करना हो तो मन्द स्वर से करना चाहिये ॥१४६३ ॥

तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय का रक्त, मांस आदि यदि साठ हाथ के भीतर पड़ा हो तो उस क्षेत्र में स्वाध्याय नहीं करना चाहिये। परन्तु तीन गलियाँ छोड़कर स्वाध्याय कर सकते हैं। यदि शहर हो और राजमार्ग हो तो एक राजमार्ग छोड़कर स्वाध्याय करना चाहिये। यदि रुधिरादि पूरे नगर में बिखरे हुए हों तो गाँव के बाहर जाकर स्वाध्याय करना चाहिये ॥१४६४ ॥

जलचर आदि छोटे जीवों के रुधिर आदि गिरने के समय से तीन पोरसी तक अस्वाध्याय पर बड़े जीव जैसे चूहा-बिल्ली आदि के रुधिर आदि गिरने पर आठ पोरसी तक अस्वाध्याय होता है। भाव से नन्दी आदि सूत्रों का अस्वाध्याय होता है। रुधिर, मांस, चर्म एवं हड्डी के भेद से जलज आदि चार प्रकार के हैं ॥१४६५ ॥

साठ हाथ के भीतर मांस को धोकर फिर बाहर ले गये हों तो भी वहाँ तीन प्रहर तक स्वाध्याय नहीं हो सकता। महाकाय हो तो अहोरात्रि का अस्वाध्याय और रुधिर पानी के प्रवाह में बह गया हो तो वहाँ स्वाध्याय कर सकते हैं ॥१४६६ ॥

अंडा गिरा किन्तु फूटा न हो तो उसे दूर रख देने के पश्चात् स्वाध्याय कर सकते हैं। किन्तु अंडा फूटा हो और उसका कलल मक्खी का पाँव डूबे इतना भी जमीन पर गिरा हो और उसे जमीन खोद कर निकाल दिया हो तो भी वहाँ तीन प्रहर तक स्वाध्याय नहीं हो सकता ॥१४६७ ॥

जरायु-रहित उत्पन्न होने वाले प्राणियों के प्रसव होने पर तीन प्रहर का अस्वाध्याय होता है। जरायु सहित उत्पन्न होने वाले प्राणियों के प्रसव में जरायु पड़े तब तक तथा जरायु पड़ने के पश्चात् तीन प्रहर का अस्वाध्याय होता है। राजमार्ग पर अस्वाध्यायिक की बूँदें पड़ी या पानी में बह गई हो तो स्वाध्याय करना कल्पता है ॥१४६८ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हड्डियों को छोड़कर मनुष्य सम्बन्धी शेष अस्वाध्यायिक सौ हाथ के भीतर पड़े हो तो एक अहोरात्रि का अस्वाध्याय होता है। यदि रुधिर आदि विवर्ण हो गया हो तो वहाँ स्वाध्याय करना कल्पता है। शेष अस्वाध्यायिकों में तीन दिन, सात दिन तथा आठ दिन अस्वाध्याय होता है ॥१४६९॥

स्त्री-पुरुष के संभोग के समय यदि रक्त की प्रधानता हो तो स्त्री संतान पैदा होती है। स्त्री जन्मे तो आठ दिन का अस्वाध्याय होता है। शुक्र की अधिकता में पुत्र जन्म होता है। उसमें सात दिन का अस्वाध्याय होता है। स्त्रियों के तीन दिन के पश्चात् यदि रक्त गिरता है तो 'अनार्त्तव' होने से अस्वाध्यायिक नहीं माना जाता ॥१४७०॥

दाँत को देखकर दूर परठना चाहिये। शेष हड्डियाँ यदि सौ हाथ के भीतर पड़ी हों तो वहाँ बारह वर्ष तक स्वाध्याय करना नहीं कल्पता। यदि हड्डियाँ आग से जली हुई हों तो स्वाध्याय कर सकते हैं ॥१४७१॥

—विवेचन—

स्वाध्याय—सुष्ठु अध्यायः स्वाध्यायः। आगमिक विधि के अनुसार अध्ययन करना अध्याय है। शोभन अध्याय स्वाध्याय है। वही स्वाध्यायिक कहलाता है।

अस्वाध्यायिक—जिन कारणों के रहते स्वाध्याय नहीं होता वे अस्वाध्यायिक हैं। जैसे, रुधिर, मांस आदि।

मुख्य रूप से अस्वाध्यायिक के दो भेद हैं—आत्मसमुत्थ व परसमुत्थ।

(i) **आत्मसमुत्थ**—स्वाध्याय कर्ता से स्वयं से सम्बन्धित रुधिर, मांस आदि।

(ii) **परसमुत्थ**—स्वाध्यायकर्ता से भिन्न व्यक्ति से सम्बन्धित रुधिर, मांस आदि। इसके पाँच भेद हैं। आत्मसमुत्थ की अपेक्षा अधिक विवेचन होने से प्रथम परसमुत्थ अस्वाध्यायिक ही बताया जाता है।

१. **संयमघाती**—संयम का घात करने वाला अस्वाध्यायिक। इसके तीन भेद हैं। महिका, सचित्तरज व वर्षा।

(i) **महिका**—कार्तिक से माघमास तक धूवर पड़ती है। इससे समूचा वातावरण अप्कायमय हो जाता है। इस समय स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

(ii) **सचित्तरज**—हवा से उड़ने वाली चिकनी मिट्टी, जो हलके लाल वर्ण वाली होती है। यह व्यवहार सचित्त है। इसके निरन्तर गिरने से पृथ्वी तीन दिन के पश्चात् पृथ्विकायमय बन जाती है।

(iii) **वर्षा**—इसके तीन भेद हैं।

(अ) **बुद्बुद्**—जिस वर्षा के पानी में बुलबुले उठते हों। ऐसी वर्षा में आठ प्रहर के पश्चात् किसी के मतानुसार तीन दिन के पश्चात् समूचा वातावरण अप्कायमय बन जाता है।

(ब) **बुद्बुद्वर्जा**—बुद् बुद् रहित वर्षा। ऐसी वर्षा में पाँच दिन पश्चात् वातावरण अप्कायमय बन जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(स) जलस्पर्शिका—बूंदाबांदी वाली वर्षा। ऐसी वर्षा में सात दिन के पश्चात् वातावरण अप्कायमय बन जाता है ॥१४५०-५१ ॥

संयमघाती अस्वाध्याय का ४ प्रकार का परिहार—

(i) द्रव्यतः—धूवर, सचित्तरज व वर्षा ये तीनों अस्वाध्याय के कारण हैं।

(ii) क्षेत्रतः—जितने क्षेत्र में ये तीनों गिरे उतने क्षेत्र में स्वाध्याय करना नहीं कल्पता।

(iii) कालतः—जितने समय तक गिरे, उतने समय तक अस्वाध्याय।

(iv) भावतः—धूवर, सचित्तरज और वर्षा के गिरते हुए, गमनागमन, पडिलेहण, बोलना आदि कुछ भी करना नहीं कल्पता। श्वासोच्छ्वास व पलक झपकाये बिना जीवन चल नहीं सकता अतः इन क्रियाओं की छूट है। निष्कारण शेष सभी क्रिया करना निषिद्ध है। ग्लान आदि का कार्य हो तो यतनापूर्वक हाथ, आँख व अंगुली के इशारे से सूचित कर सकते हैं। बोलने की आवश्यकता हो तो मुंहपत्ति के उपयोगपूर्वक बोलना चाहिये। बाहर जाना आवश्यक हो तो वर्षाकल्प ओढ़कर जाना चाहिये ॥१६५२ ॥

२. औत्पातिक — प्राकृतिक व अप्राकृतिक उत्पात के कारण होने वाला अस्वाध्याय। इसके पाँच भेद हैं।

(i) पांशुवृष्टि—पांशु = अचित्तरज की वर्षा होना। जब तक ऐसी वर्षा हो, दिशायें धूलिधूसरित दिखाई दे तब तक सूत्र सम्बन्धी अस्वाध्याय होता है। ऐसी वर्षा में गमनागमन हो सकता है।

(ii) मांसवृष्टि—मांस के टुकड़ों की वर्षा हुई हो तो एक अहोरात्र का अस्वाध्याय होता है।

(iii) रुधिरवृष्टि—रक्त बिन्दु की वर्षा हुई हो तो एक अहोरात्र का अस्वाध्याय होता है।

(iv) केशवृष्टि—केश की वर्षा हुई हो तो जहाँ तक हो वहाँ तक अस्वाध्याय होता है।

(v) शिलावृष्टि—ओलावृष्टि, पत्थरों की वर्षा जहाँ तक हो वहाँ तक अस्वाध्याय होता है।

पांशु —धुंए जैसे वर्ण वाली अचित्तरज पांशु कहलाती है। धुंए जैसी व कुछ पीलापन लिये हुए ऐसी अचित्त रज पांशु है।

रजोद्घात—दिशायें धूलि धूसरित हो जाने से चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देता है, वह रज-उद्घात कहलाता है।

वायु सहित या वायु रहित दोनों ही प्रकार की पांशुवृष्टि व रज उद्घात में जब तक धूल गिरती है तब तक अस्वाध्याय रहता है ॥१४५३-५४ ॥

३. सदैवम्—देवकृत अस्वाध्याय। गान्धर्वनगर, दिग्दाह, विद्युत्, उल्का, गर्जित, यूपक व यक्षादीप्त आदि देवकृत अस्वाध्याय हैं।

(i) गान्धर्वनगर—चक्रवर्ती आदि के नगर में उपद्रव की सूचना करने वाला संध्या काल में नगर के ऊपर नगर जैसा ही जो दूसरा नगर दिखाई देता है वह 'गान्धर्वनगर' है।

(ii) दिग्दाह—दिशा विशेष में मानो कोई महानगर जल रहा हो ऐसा प्रकाश दिखाई देना जिसके नीचे अंधकार हो दिग्दाह कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(iii) विद्युत्—बिजली चमकना।

(iv) उल्का—आकाश से सरेख अथवा प्रकाशयुक्त बिजली का गिरना अथवा पुच्छल तारा का गिरना।

(v) गर्जन—मेघ गर्जना।

(vi) यूपक—शुक्लपक्ष में दूज, तीज व चौथ इन तीन दिनों में चन्द्र का प्रकाश संध्या पर पड़ने से संध्या का विभाग प्रतीत नहीं होता अत: इन तीन दिनों में प्रादोषिक कालग्रहण (वैरात्रिक कालग्रहण) तथा प्रादोषिकी सूत्रपौरुषी नहीं होती, क्योंकि कालवेला का ज्ञान नहीं हो सकता। सन्ध्या के विभाग का आवारक दूज, तीज व चौथ का चाँद यूपक कहलाता है।

(vii) यक्षादीप्त—किसी दिशा विशेष में थोड़ी-थोड़ी देर में बिजली चमकने जैसा प्रकाश दिखाई देना यक्षादीप्त कहलाता है।

किसका कितने समय का अस्वाध्याय—

१. गांधर्वनगर	= १ प्रहर का अस्वाध्याय	५. यक्षादीप्त	= १ प्रहर का अस्वाध्याय
२. दिग्दाह	= १ प्रहर का अस्वाध्याय	६. यूपक	= १ प्रहर का अस्वाध्याय
३. विद्युत्	= १ प्रहर का अस्वाध्याय	७. मेघगर्जन	= २ प्रहर का अस्वाध्याय
४. उल्का	= १ प्रहर का अस्वाध्याय		

- पूर्वोक्त अस्वाध्यायिकों में गांधर्वनगर निश्चित रूप से देवकृत होता है शेष 'दिग्दाह' आदि देवकृत व स्वाभाविक दोनों तरह के होते हैं। स्वाभाविक में स्वाध्याय का निषेध नहीं है किन्तु देवकृत में स्वाध्याय निषिद्ध है। परन्तु जहाँ कारण का स्पष्ट ज्ञान न हो वहाँ स्वाध्याय नहीं करना चाहिये ॥१४५५-५६॥

पूर्वोक्त अस्वाध्यायिक के अतिरिक्त अन्य भी देवकृत अस्वाध्यायिक हैं। जैसे—

(i) चन्द्रग्रहण—राहू के विमान से चन्द्र के विमान का उपराग (ढंकना) होना चन्द्रग्रहण है।

(ii) सूर्यग्रहण—केतु के विमान से सूर्य के विमान का उपराग (ढंकना) सूर्यग्रहण है।

(iii) निर्घात—आकाश में व्यंतरकृत महागर्जना निर्घात है।

(iv) गुञ्जित—आकाश में व्यंतरकृत गुञ्जारव होना गुञ्जित है।

निर्घात और गुञ्जित में एक अहोरात्रि की असज्झाय होती है। इतना विशेष है कि जिस दिन जिस समय निर्घात व गुञ्जित प्रारंभ हुआ हो उस समय से लेकर दूसरे दिन उस समय तक अस्वाध्याय रहती है। जैसे, आज दिन के १२ बजे निर्घात या गुंजित प्रारंभ हुआ हो तो कल दिन के १२ बजे तक असज्झाय समझना चाहिये।

(v) चारसंध्या—सूर्यास्त का समय, अर्धरात्रि, प्रभातकाल तथा दिन का मध्यभाग ये ४ संध्याकाल हैं। इनमें अस्वाध्याय होता है।

(vi) चारप्रतिपदा—श्रावणवदी १, कार्तिकवदी १, चैत्रवदी १ व मिगसरवदी १ इन चारों प्रतिपदा में स्वाध्याय करना नहीं कल्पता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(vii) महामहः—आषाढ़ सुदी १५, आसोजसुदी १५, कार्तिकसुदी १५ तथा चैत्रसुदी १५, इन चारों पूर्णिमा के दिन बड़े-बड़े उत्सव मनाये जाते हैं। पूर्णिमा के उत्सव जिस दिन से प्रारम्भ होते हैं। उस दिन से लेकर पूर्णिमा तक अस्वाध्याय रहता है। ये उत्सव कहीं-कहीं हिंसक रीति से मनाये जाते हैं, जैसे देवी-देवताओं के सम्मुख बलि देना आदि। जिस देश में जिस पूर्णिमा को जितने समय तक उत्सव चलता है उस देश में उतने समय तक स्वाध्याय करना नहीं कल्पता। यद्यपि उत्सव पूर्णिमा को पूर्ण हो जाते हैं तथापि आनन्द की अनुभूति दूसरे दिन भी रहती है अतः 'प्रतिपदा' को भी स्वाध्याय अवश्य वर्ज्य है।

- पूर्वोक्त अस्वाध्यायिकों में मात्र स्वाध्याय करना नहीं कल्पता। परन्तु प्रतिलेखन, विहार, प्रतिक्रमण आदि क्रियायें करना कल्पता है ॥१४५७-५८ ॥

चन्द्रग्रहण में जघन्य से ८ प्रहर व उत्कृष्ट से १२ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

१.	उदीयमान चन्द्र गृहीत हो तो	४ प्रहर रात के व ४ प्रहर आगामी दिन के इस प्रकार ८ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।
२.	प्रभातकाल में चन्द्रमा सग्रहण अस्त हो जाये तो	४ प्रहर दिन के, ४ प्रहर आगामी रात के तथा ४ प्रहर दूसरे दिन के = १२ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।
३.	औत्पातिक ग्रहण में यदि चन्द्र गृहीत ही अस्त हो जाये तो	संदूषित रात्रि के ४ प्रहर व एक अहोरात्र पर्यंत = १२ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।
४.	आकाश मेघाच्छन्न होने से ज्ञात न हो कि चन्द्र कब गृहीत हुआ, पर अस्त होते समय गृहीत देखा गया हो तो	४ प्रहर संदूषित रात के व आगामी एक अहोरात्र पर्यंत = १२ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

सूर्यग्रहण में जघन्य से १२ प्रहर व उत्कृष्ट से १६ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

१.	गृहीत सूर्य अस्त हो तो	४ प्रहर रात के, ४ प्रहर दिन के तथा ४ प्रहर आगामी रात के = १२ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।
२.	उदीयमान सूर्य राहु से गृहीत हो और अस्त भी गृहीत ही हो तो	४ प्रहर दिन के, ४ प्रहर रात के, ४ प्रहर दूसरे दिन के तथा ४ प्रहर दूसरी रात के = १६ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।
३.	सूर्य दिन में गृहीत हुआ हो व दिन में ही मुक्त हो जाये तो	शेष दिवस व आगामी संपूर्ण रात्रि का अस्वाध्याय होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- अहोरात्रि शब्द का अर्थ सूर्य व चन्द्र के लिये अलग-अलग समझना। सूर्य के लिये अहोरात्रि का अर्थ है सूर्य ग्रहणमुक्त हुआ वह दिन तथा वही रात्रि अहोरात्रि है। परन्तु चन्द्रग्रहण के सम्बन्ध में अहोरात्रि का अर्थ भिन्न है, जिस रात्रि को चन्द्रमुक्त हुआ वह रात्रि तथा आगामी दिन मिलकर अहोरात्रि कहलाता है।
- आचरणा दोनों प्रकार के ग्रहण के विषय में अलग है। चन्द्र रात में गृहीत होकर रात में ही मुक्त हो जाता है तो उस रात्रि का शेषकाल ही अस्वाध्याय काल माना जाता है, क्योंकि सूर्योदय होते ही अहोरात्रि पूर्ण हो जाती है। पर गृहीत सूर्य दिन में मुक्त हो जाता है तो शेष दिन व रात पर्यंत अस्वाध्याय रहता है, क्योंकि 'अहोरात्रि' तभी पूर्ण होती है ॥१४५९-६०॥

४. व्युद्ग्रह—युद्धादि के कारण होने वाला अस्वाध्याय। दो राजाओं का सेना सहित युद्ध, दो सेनापतियों का युद्ध, प्रसिद्ध स्त्रियों का परस्पर युद्ध, मल्लयुद्ध, दो गाँवों के मध्य झगड़ा होने पर युवकों की परस्पर पत्थरबाजी, बाहुयुद्ध, होली का कलह आदि जब तक शान्त न हो तब तक स्वाध्याय करना नहीं कल्पता।

दोष—यदि कोई वाणव्यंतर देव कौतुकवश युद्ध देखने आये हुए हों तो स्वाध्याय करते हुए साधु को देखकर छलना करे। लोगों को अप्रीति उत्पन्न हो कि हम तो युद्धादि के कारण भयभीत हैं और ये मुनि लोग प्रसन्नतापूर्वक स्वाध्याय कर रहे हैं।

अस्वाध्याय के अन्य कारण—

१. राजा की मृत्यु हो जाने पर जब तक दूसरा राजा न बने तब तक स्वाध्याय करना नहीं कल्पता, क्योंकि इस स्थिति में प्रजा क्षुब्ध रहती है।

२. म्लेच्छादिजन्य भय की स्थिति में भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

- व्युद्ग्रह आदि की स्थिति में जब तक शान्ति, स्वस्थता प्राप्त न हो जाये तब तक अस्वाध्याय/तत्पश्चात् भी एक अहोरात्र पर्यंत स्वाध्याय करना नहीं कल्पता।

३. वसति से सात घर के बीच यदि ग्रामस्वामी आदि महत्तर पुरुष मर गया हो तो एक अहोरात्रि तक स्वाध्याय करना नहीं कल्पता।

४. वसति से सौ हाथ के भीतर यदि कोई अनाथ मर गया हो तो वहाँ स्वाध्याय करना नहीं कल्पता। यदि साधु के कहने पर शय्यातर या श्रावक कलेवर को वहाँ से हटवा दे तो वहाँ स्वाध्याय किया जा सकता है अन्यथा साधु दूसरी वसति में चले जाये। यदि योग्य वसति न हो तो सागारिक न देखे इस प्रकार वृषभ-गीतार्थ मुनि रात में 'अनाथमृतक' को अन्यत्र परठें। यदि जानवरों ने शव को क्षत-विक्षत कर दिया हो तो सर्वप्रथम चारों ओर देखकर पुद्गलों को यथाशक्य एकत्रित करके फिर शव को परठे। यदि कुछ पुद्गल अनजान में रह भी जाये तो भी वहाँ यतनापूर्वक स्वाध्याय कर सकते हैं। इसमें कोई प्रायश्चित्त नहीं आता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. वसति से सात घर के भीतर ग्राम-प्रधान, ग्राम-प्रधान रूप में नियुक्त व्यक्ति, विशाल परिवार वाला, शय्यातर अथवा कोई विशिष्ट व्यक्ति मर गया हो तो एक अहोरात्रि तक स्वाध्याय करना नहीं कल्पता।

- दोष—ऐसी स्थिति में यदि साधु स्वाध्याय करे तो लोगों को साधु के प्रति अप्रीति हो कि ये कैसे लोग हैं? इन्हें कोई दुःख नहीं है। अथवा कोई भी न सुन सके इस प्रकार स्वाध्याय करे।

६. स्त्री का रुदन सुनाई दे तब तक भी स्वाध्याय करना नहीं कल्पता ॥१४६१-६३॥

५. **शारीरिक**—शरीर सम्बन्धी अस्वाध्याय के कारण। इसके दो भेद हैं—**(i)** तिर्यंच सम्बन्धी **(ii)** मनुष्य सम्बन्धी।

(i) तिर्यंच सम्बन्धी—तिर्यंच सम्बन्धी अस्वाध्याय के कारण भी तीन प्रकार के हैं—**(i)** जलचर सम्बन्धी **(ii)** स्थलचर सम्बन्धी व **(iii)** खेचर सम्बन्धी।

- मछली आदि जल में उत्पन्न होने वाले प्राणियों से सम्बन्धित रक्त, मांस आदि जलचर सम्बन्धी अस्वाध्यायिक है।
- गाय, भैंस आदि से सम्बन्धित रक्त, मांस आदि स्थलचर सम्बन्धी अस्वाध्यायिक है।
- मोर, कबूतर आदि से सम्बन्धित रक्त, मांस आदि खेचर सम्बन्धी अस्वाध्यायिक है।

पूर्वोक्त तीनों से सम्बन्धित अस्वाध्यायिक (रक्त, मांस, मृतकलेवर आदि) द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव के भेद से पुनः चार प्रकार का है।

१. **द्रव्यतः**—तीनों प्रकार के तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय जीवों का रक्त, मांस आदि अस्वाध्यायिक है। विकलेन्द्रिय के रुधिर आदि अस्वाध्यायिक नहीं है।

२. **क्षेत्रतः**—तीनों प्रकार के तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय जीवों का रुधिर आदि साठ हाथ के भीतर पड़ा हो तो अस्वाध्यायिक है इससे आगे का नहीं।

३. **कालतः**—तिर्यंच पंचेन्द्रिय का मांस आदि जब से पड़ा हो तब से लेकर तीन प्रहर तक स्वाध्याय करना नहीं कल्पता। पर बिल्ली आदि के द्वारा मारा हुआ चूहा आदि पड़ा हो तो आठ प्रहर का अस्वाध्याय होता है।

४. **भावतः**—नंदी आदि सूत्र का स्वाध्याय करना नहीं कल्पता।

- **विशेष**—यदि तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय के मांस आदि को कौए, कुत्ते आदि के द्वारा उस स्थान में चारों ओर बिखेर दिया गया हो और वह गाँव हो तो तीन गली के पश्चात् स्वाध्याय करना कल्पता है। यदि शहर है और उधर से सेना सहित राजा, देवताओं के रथ व अन्य भी अनेक प्रकार के वाहन निकलते हों तो एक गली को छोड़कर भी स्वाध्याय किया जा सकता है। यदि समूचा गाँव मांस आदि के पुद्गलों से व्याप्त हो गया हो तो गाँव के बाहर स्वाध्याय करना कल्पता है।

  अथवा रुधिर आदि के भेद से जलचर, स्थलचर व खेचर सम्बन्धी अस्वाध्यायिक चार-चार प्रकार का है ॥१४६५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. रक्त—स्वाध्याय भूमि से साठ हाथ के भीतर पड़ा हुआ रक्त यदि जल के प्रवाह में बह जाये तो वहाँ ३ प्रहर के पश्चात् स्वाध्याय करना कल्पता है।

२. मांस—स्वाध्याय भूमि से साठ हाथ के भीतर मांस धोकर बाहर ले गये हों तो भी वहाँ तीन प्रहर तक स्वाध्याय करना नहीं कल्पता, कारण धोते समय मांस के कुछ कण वहाँ गिरने की संभावना रहती है। इस प्रकार मांस पकाने में भी समझना चाहिये। स्वाध्याय भूमि से साठ हाथ के बाहर मांस धोने व पकाने पर वहाँ स्वाध्याय करने में कोई दोष नहीं होता।

अन्यमत—बिल्ली द्वारा मारे गये चूहे का शरीर यदि बिखरा न हो और उसे मुँह में दबाकर या निगलकर बिल्ली अन्यत्र चली गई हो तो उस स्थान पर साधु को स्वाध्याय करना कल्पता है।

मतान्तर—कौन जानता है कि कलेवर लेशमात्र भी बिखरा या न बिखरा हो? अतः वहाँ तीन प्रहर तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिये।

मतान्तर—जहाँ बिल्ली आदि स्वतः मरी हो अथवा दूसरे ने मारी हो पर अभी तक उसका कलेवर जरा भी बिखरा न हो तो वहाँ स्वाध्याय करना कल्पता है। यदि बिखर जाये तो अस्वाध्यायिक होता है। ऐसा किसी का मानना अयुक्त है, कारण शोणित, मांस, चर्म व अस्थि चारों की उपस्थिति में स्वाध्याय करना नहीं कल्पता। कलेवर भी तो इस दृष्टि से अस्वाध्यायिक है। अतः कलेवर बिखरा न हो तो भी वहाँ स्वाध्याय करना नहीं कल्पता ॥१४६६॥

३. अण्डा—स्वाध्याय भूमि में साठ हाथ के भीतर अंडा गिर जाये पर फूटे नहीं, तो उसे दूर फेंक देने के पश्चात् वहाँ स्वाध्याय करना कल्पता है। यदि अंडा फूट जाये तो वहाँ स्वाध्याय करना नहीं कल्पता है। यदि भूमि खोदकर या साफ करके कललबिन्दु सर्वथा स्वच्छ कर दिये जायें तो भी वहाँ तीन प्रहर तक स्वाध्याय करना नहीं कल्पता।

यदि अंडा कपड़े में गिरकर फूट जाये तो उसे स्वाध्याय भूमि से साठ हाथ बाहर ले जाकर धोने के पश्चात् वहाँ स्वाध्याय करना कल्पता है।

अंडे का रस या रक्त मक्खी का पाँव डूबे, इतना भी कहीं पड़ा हो तो वहाँ स्वाध्याय करना नहीं कल्पता ॥१४६७॥

जरायु रहित प्रसव वाले हथिनी आदि की प्रसूति होने पर तीन प्रहर तक स्वाध्याय करना नहीं कल्पता। अहोरात्रि के बाद समीप में प्रसूति हुई हो तो भी स्वाध्याय करना कल्पता है।

गाय आदि की प्रसूति होने के पश्चात् जब तक 'जरायु' न गिरे तब तक अस्वाध्याय तथा गिरने के पश्चात् तीन प्रहर तक अस्वाध्याय।

अस्वाध्यायिक के बिन्दु यदि राजपथ पर गिरे हों तो साठ हाथ के भीतर भी स्वाध्याय करना कल्पता है। कारण राजमार्ग पर इतना गमनागमन रहता है कि अशुचि के बिन्दु तुरन्त नष्ट हो जाते हैं। इसमें जिनाज्ञा ही प्रमाण है। यदि तिर्यंच सम्बन्धी अस्वाध्यायिक राजमार्ग से हटकर साठ हाथ के भीतर कहीं पड़ा हो तो वर्षा के प्रवाह में बहने के बाद अथवा आग द्वारा जलने के बाद ही वहाँ स्वाध्याय करना कल्पता है अन्यथा नहीं ॥१४६८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ii) मनुष्य सम्बन्धी—मनुष्य सम्बन्धी आस्वाध्यायिक भी चार प्रकार का है। चर्म, रुधिर, मांस व हड्डी।

पूर्वोक्त चारों में से हड्डी को छोड़कर शेष तीन अस्वाध्यायिक सौ हाथ के भीतर पड़े हो तो वहाँ एक अहोरात्रि पर्यंत स्वाध्याय करना नहीं कल्पता।

मनुष्य या तिर्यंच सम्बन्धी रक्त यदि बहुत समय तक पड़ा रहने से स्वभाव से और वर्ण से विवर्ण हो गया हो, जैसे खेर की लकड़ी के सत्त्व की तरह, तो वहाँ स्वाध्याय करने में कोई दोष नहीं है। अन्यथा आस्वाध्यायिक होता है ॥१४६९॥

रजस्वला स्त्री को तीन दिन पर्यंत स्वाध्याय करना नहीं कल्पता। यदि किसी स्त्री के तीन दिन के पश्चात् भी अशुचि रहती हो तो स्वाध्याय किया जा सकता है, कारण उस समय रुधिर विवर्ण हो जाता है।

यदि पुत्र जन्मा हो तो सात दिन का अस्वाध्याय। पुत्री जन्मी हो तो आठ दिन का अस्वाध्याय। तत्पश्चात् स्वाध्याय करना कल्पता है। पुत्र में शुक्र की अधिकता और पुत्री में रक्त की अधिकता होती है। अतः अस्वाध्याय काल का अन्तर पड़ता है ॥१४७०॥

सौ हाथ के भीतर यदि बालक आदि का दाँत गिरा हो तो उसे प्रयत्नपूर्वक देखना चाहिये। मिल जाये तो उसे दूर परठ देना चाहिये। यदि खोजने पर भी न मिले तो स्थान शुद्धि मानकर वहाँ स्वाध्याय किया जा सकता है। किसी का मत है कि अस्वाध्याय निवारण हेतु कायोत्सर्ग करके स्वाध्याय करना चाहिये।

दाँत के सिवाय अन्य अंगोपांग सम्बन्धी हड्डी यदि सौ हाथ के भीतर पड़ी हो तो बारह वर्ष तक वहाँ स्वाध्याय करना नहीं कल्पता। यदि हड्डियाँ आग से जल गई हों तो सौ हाथ के भीतर भी स्वाध्याय किया जा सकता है। अनुप्रेक्षा स्वाध्याय करने का निषेध कहीं भी नहीं है ॥१४७१॥

२६९ द्वार : नन्दीश्वर द्वीप—

विक्खंभो कोडिसयं तिसट्ठिकोडी उ लक्खचुलसीई।
नंदीसरो पमाणंगुलेण इय जोयणपमाणो ॥१४७२॥
एयंतो अंजणरयणसामकरपसरपूरिओवंता।
बालतमालवणावलिजुयव्व घणपडलकलियव्व ॥१४७३॥
चउरो अंजणगिरिणो पुव्वाइदिसासु ताणमेक्केक्को।
चुलसीसहस्सउच्चो ओगाढो जोयणसहस्सं ॥१४७४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूले सहस्सदसगं विक्खंभे तस्स उवरिसयदसगं ।
तेसु घणमणिमयाइं सिद्धाययणाणि चत्तारि ॥१४७५ ॥
जोयणसयदीहाइं बावत्तरि ऊसियाइं रम्माइं ।
पन्नास वित्थडाइं चउदुवाराइं सधयाइं ॥१४७६ ॥
पइदारं मणितोरणपेच्छामंडवविरायमाणाइं ।
पंचधणुस्सयऊसियअट्ठुत्तरसयजिणजुयाइं ॥१४७७ ॥
मणिपेढिया महिंदज्झया य पोक्खरिणिया य पासेसुं ।
कंकेल्लिसत्तवन्नयचंपयचूयवणजुयाओ ॥१४७८ ॥
नंदुत्तरा य नंदा आणंदा नंदिवद्धणा नाम ।
पुक्खरिणीओ चउरो पुव्वंजणचउदिसिं संति ॥१४७९ ॥
विक्खंभायामेहिं जोयणलक्खप्पमाणजुत्ताओ ।
दसजोयणूसियाओ चउदिसितोरणवणजुयाओ ॥१४८० ॥
तासिं मज्झे दहिमुह महीहरा दुद्धदहियसियवन्ना ।
पोक्खरिणीकल्लोलाहणणोब्भवफेणपिण्डुव्व ॥१४८१ ॥
चउसट्ठिसहस्सुच्चा दसजोयणसहस्सवित्थडा सव्वे ।
सहसमहो उवगाढा उवरि अहो पल्लयागारा ॥१४८२ ॥
अंजणगिरिसिहरेसु व तेसुवि जिणमंदिराइं रुंदाइं ।
वावीणमंतरालेसु पव्वयदुगं दुगं अत्थि ॥१४८३ ॥
ते रइकराभिहाणा विदिसिठिया अट्ठ पउमरायाभा ।
उवरिठियजिणिंदसिणाणधुसिणरससंगपिंगुव्व ॥१४८४ ॥
अच्चंतमसिणफासा अमरेसरविंदविहियआवासा ।
दसजोयणसहसुच्चा उव्विद्धा गाउयसहस्सं ॥१४८५ ॥
झल्लरिसंठाणठिया उच्चत्तसमाणवित्थडा सव्वे ।
तेसुवि जिणभवणाइं नेयाइं जहुत्तमाणाइं ॥१४८६ ॥
दाहिणदिसाए भद्दा विसालवावी य कुमुयपुक्खरिणी ।
तह पुंडरीगिणी मणितोरणआरामरमणीया ॥१४८७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुक्खरिणी नंदिसेणा तहा अमोहा य वावि गोथूभा ।
तह य सुदंसणवावी पच्छिमअंजणचउदिसासु ॥१४८८ ॥
विजया य वेजयंती जयंति अपराजिया उ वावीओ ।
उत्तरदिसाए पुव्वुत्तवावीमाणा उ बारसवि ॥१४८९ ॥
सव्वाओ वावीओ दहिमुहसेलाण ठाणभूयाओ ।
अंजणगिरिपमुहं गिरितेरसग विज्जइ चउदिसिंपि ॥१४९० ॥
इय बावन्नगिरिसरसिहरट्ठिय वीयरायबिम्बाणं ।
पूयणकए चउव्विहदेवनिकाओ समेइ सया ॥१४९१ ॥

—गाथार्थ—

नन्दीश्वर द्वीप के जिनालय—**नन्दीश्वर द्वीप का विष्कंभ प्रमाणांगुल के द्वारा एक सौ त्रेसठ करोड़ चौरासी लाख योजन है ॥१४७२ ॥**

इस द्वीप में अंजनरत्न की श्याम किरणों की प्रभा से जिनके द्वारा दिशायें आलोकित हैं, जो पर्वत ऐसे लगते हैं मानो हरे-भरे तमाल वृक्षों के वन-समूह से घिरे हुए हों अथवा बादलों के समूह से सुशोभित हों, ऐसे चारों दिशा में चार अंजनगिरि हैं। वे चौरासी हजार योजन ऊँचे तथा एक हजार योजन गहरे हैं। ये पर्वत मूल में दस हजार योजन तथा ऊपर एक हजार योजन विस्तृत हैं। चारों पर्वत पर मणिमय चार सिद्धायतन हैं ॥१४७३-७५ ॥

वे सिद्धायतन एक सौ योजन लंबे, बहत्तर योजन ऊँचे तथा पचास योजन चौड़े हैं। इनके चारों दिशा में चार दरवाजे हैं और ऊपर ध्वजा है। दरवाजों पर मणिमय तोरणों से युक्त प्रेक्षामण्डप बने हुए हैं। सिद्धायतनों में पाँच सौ धनुष ऊँची एक सौ आठ जिन प्रतिमायें हैं ॥१४७६-७७ ॥

सिद्धायतनों में मणिमय पीठिका, महेन्द्रध्वज, पुष्करिणी, पार्श्वभाग में कंकेलि, शतपर्ण, चंपक तथा आम्रवृक्षों के वन हैं ॥१४७८ ॥

पूर्वदिशावर्ती अंजनगिरि के चारों ओर नन्दोत्तरा, नन्दा, आनन्दा और नन्दिवर्धना नाम की चार बावड़ियाँ हैं ॥१४७९ ॥

इन बावड़ियों की लंबाई-चौड़ाई एक लाख योजन की तथा गहराई दस योजन की है। बावड़ियों की चारों दिशा में तोरण व वन हैं ॥१४८० ॥

बावड़ियों के मध्य भाग में दूध और दही के समान श्वेत वर्ण वाले दधिमुख पर्वत हैं। वे पर्वत ऐसे लगते हैं मानो बावड़ी के उछलते हुए जल की तरंगों के परस्पर टकराने से उत्पन्न हुए झागों का समूह हों ॥१४८१ ॥

ये दधिमुख पर्वत चौसठ हजार योजन ऊँचे, दस हजार योजन विस्तृत एवं एक हजार योजन गहरे हैं। ऊपर से नीचे समान विस्तार वाले होने से प्याले की तरह लगते हैं ॥१४८२ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंजनगिरि की तरह दधिमुख गिरिओं पर भी विशाल जिन मन्दिर हैं। बावड़ियों के अन्तराल में भी दो-दो पर्वत हैं॥१४८३॥

विदिशा में स्थित, पद्मरागमणि के समान लाल रंग वाले इन पर्वतों का नाम 'रतिकर' है। मानो इन पर विराजमान जिन प्रतिमाओं के प्रक्षाल के जल के संपर्क से ये पर्वत लाल वर्ण के बने हों। सभी रतिकर पर्वत कोमल स्पर्श वाले तथा इन्द्रों के आवास स्थान हैं। इनकी ऊँचाई और विस्तार दस हजार योजन का तथा गहराई ढाई सौ योजन की है। इनका आकार झालर की तरह है। इन पर पूर्वोक्त परिमाण वाले जिन भवन हैं॥१४८४-८६॥

दक्षिण दिशा के अंजनगिरि की पूर्वादि दिशा में क्रमशः भद्रा, विशाला, कुमुदा और पुंडरीकिणी नाम की बावड़ियाँ हैं। ये बावड़ियाँ मणिमय तोरण और बगीचों से अत्यन्त रमणीय हैं। पश्चिम दिशावर्ती अंजनगिरि के चारों ओर क्रमशः नन्दिषेणा, अमोघा, गोस्तूभा एवं सुदर्शना नामक बावड़ियाँ हैं। उत्तर दिशा के 'अंजनगिरि' के चारों ओर विजया, वैजयन्ती, जयन्ति और अपराजिता नाम की चार बावड़ियाँ हैं। इन सभी बावड़ियों का परिमाण पूर्ववत् समझना चाहिये॥१४८७-८९॥

सभी बावड़ियाँ, दधिमुख पर्वतों का आधार हैं। इस प्रकार नन्दीश्वर द्वीप में, प्रत्येक दिशा में 'अंजनगिरि' आदि तेरह-तेरह पर्वत हैं॥१४९०॥

नन्दीश्वर द्वीप में चारों दिशा के कुल मिलाकर बावन पर्वत हैं। सभी पर्वतों पर जिनबिंब हैं। उनकी पूजा के लिये चारों निकाय के देवता सदा आते हैं॥१४९१॥

—विवेचन—

नन्दीश्वर = विशाल जिनमन्दिर, उद्यान, बावड़ी, पर्वत आदि अनेकविध पदार्थों की समृद्धि से संपन्न 'नन्दीश्वरद्वीप' है। यह द्वीप जंबूद्वीप से आठवाँ, गोलाकार, अत्यन्त कमनीय, देवताओं को आनन्द देने वाला है। गोलाई में इसका विस्तार १६३८४००००० योजन है। ये योजन प्रमाणांगुल से मापे जाते हैं। नन्दीश्वरद्वीप के मध्यभाग में चारों दिशा में चार 'पर्वत' हैं। अंजनरत्नमय होने से वे 'अंजनगिरि' कहलाते हैं।

पूर्व में	=	देवरमण	ये चारों पर्वत ८४ हजार योजन ऊँचे, १ हजार योजन भूमि में हैं। मूल में इनका विस्तार १० हजार योजन का है तथा न्यून होते-होते ऊपर भाग में विस्तार १ हजार योजन का रह जाता है। प्रत्येक पर्वत पर विविध रत्नमय एक-एक 'सिद्धायतन' (शाश्वत जिन चैत्य) है।
दक्षिण में	=	नित्योद्योत	
पश्चिम में	=	स्वयंप्रभ	
उत्तर में	=	रमणीय	

सिद्धायतन—चारों अंजनगिरि पर अनेकविध मणिरत्नों से निर्मित एक-एक सिद्धायतन है। जो १०० योजन पूर्व से पश्चिम की ओर लंबे, ७२ योजन ऊँचे तथा ५० योजन दक्षिण से उत्तर की ओर चौड़े हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'अंजनगिरि' कृष्णरत्नमय हैं अतः उनसे श्याम किरणें निकलती हैं। वे पर्वत ऐसे लगते हैं मानो चारों ओर से वे नवपल्लवित तमालवृक्षों के वन से घिरे हुए हों। अनेकविध सुन्दर उद्यान से युक्त व वर्षाकालीन मेघ घटाओं से सुशोभित हों।

वस्तुतः पर्वत विविध उद्यानों से सुशोभित व जल से परिपूर्ण बादलों से घिरे हुए ही रहते हैं।

प्रत्येक सिद्धायतन के चारों दिशा में ४ द्वार व ऊपर पताका है। प्रत्येक द्वार मणिरत्नों के तोरणों से तथा प्रेक्षामण्डपों से सुशोभित हैं। इन सिद्धायतनों में ५०० धनुष ऊँची १०८ शाश्वत जिन प्रतिमायें हैं। सिद्धायतनों के मध्य में रत्नमय पीठिका है तथा पीठिका पर इन्द्रध्वजा विराजमान है। सिद्धायतनों के आगे १०० योजन लंबी, ५० योजन चौड़ी तथा १० योजन गहरी एक-एक वापी है। इन वापिकाओं के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर में क्रमशः अशोकवन, सप्तच्छदवन, चंपकवन व आम्रवन हैं।

प्रत्येक अंजनगिरि से एक-एक लाख योजन दूर चारों दिशा में ४-४ वापिकायें हैं। प्रत्येक वापी १ लाख योजन लंबी-चौड़ी व १० योजन गहरी है। वापिकाओं के मणिरत्नमय खंभे उत्तुंग तोरणों से सुशोभित हैं। उनके पूर्व, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर में क्रमशः अशोकादि वन हैं। इन वापिकाओं के मध्यभाग में स्फटिक रत्नमय, दूध, दही की तरह उज्ज्वल वर्ण वाले दधिमुख नामक पर्वत हैं। ये पर्वत ऐसे लगते हैं मानों जल तरंगों के परस्पर टकराने से उत्पन्न होने वाले झागों का समूह हों। ये पर्वत ६४ हजार योजन ऊँचे, १ हजार योजन भूमिगत तथा नीचे से ऊपर तक १० हजार योजन विस्तृत पलंग की तरह दिखाई देते हैं। इन पर्वतों पर अंजनगिरि जैसे ही सिद्धायतन हैं।

इन वापिकाओं के अन्तराल में अर्थात् अंजनगिरि की विदिशा में रतिकर नामक दो-दो पर्वत हैं। ये पर्वत पद्मराग मणि की तरह रक्ताभ हैं। मानों ये पर्वत सिद्धायतनों में विराजमान प्रतिमाओं के कुंकुमवर्णीय प्रक्षाल के जल प्रवाह से रक्ताभ प्रतीत हो रहे हों। ये पर्वत अत्यन्त कोमल स्पर्श वाले व देवताओं के आवास स्थान है। इन पर्वतों की ऊँचाई व विस्तार १०००० योजन तथा अवगाह २५० योजन है। चारों ओर से समानाकार होने से झालर की तरह प्रतीत होते हैं। उन पर भी पूर्व प्रमाण वाले जिनायतन हैं।

चारों दिशा की वापिकाओं के नाम—

१. देवरमण गिरि की पूर्व, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशा में क्रमशः नन्दोत्तरा, नन्दा, आनन्दा व नन्दिवर्धना नाम की वापिकायें हैं।

२. नित्योद्योत की पूर्व, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशा में क्रमशः भद्रा, विशाला, कुमुदा व पुण्डरिकिणी वापिकायें हैं।

३. स्वयंप्रभ की पूर्व, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशा में क्रमशः नन्दिषेणा, अमोघा, गोस्तूभा व सुदर्शना वापिकायें हैं।

४. रमणीय की पूर्व, दक्षिण, पश्चिम व उत्तर दिशा में क्रमशः विजया, वैजयन्ती, जयन्ती व अपराजिता वापिकायें हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ये १६ ही वापिकायें दधिमुख पर्वत का आधार स्थल हैं। इस प्रकार नन्दीश्वरद्वीप में प्रत्येक दिशा में १३-१३ पर्वत हैं—जैसे, मध्य में अंजनगिरि, चारों दिशा की ४-४ वापिकाओं में ४-४ दधिमुख, चारों विदिशाओं में २-२ रतिकर कुल = १३ पर्वत। चारों दिशा में १३ × ४ = ५२ पर्वत। प्रत्येक पर्वत पर एक-एक सिद्धायतन है अतः कुल सिद्धायतन भी ५२ हुए। इनमें विराजमान जिन प्रतिमाओं की पूजा हेतु चारों निकायों के देवता सदाकाल आते रहते हैं।

नन्दीश्वर द्वीप के विषय में विस्तार से जानने के इच्छुक **जीवाभिगम, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, संग्रहणी** आदि ग्रन्थों से जान सकते हैं। इन ग्रन्थों में जो वस्तुभेद है वह मतान्तर समझना चाहिये ॥१४७२-९१ ॥

२७० द्वार : लब्धियाँ—

आमोसहि विप्पोसहि खेलोसहि जल्लओसही चेव।
सव्वोसहि संभिन्ने ओही रिउ-विउलमइलद्धी ॥१४९२ ॥
चारण आसीविस केवलिय गणहारिणो य पुव्वधरा।
अरहंत चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा वा ॥१४९३ ॥
खीरमहुसप्पिआसव कोट्ठयबुद्धी पयाणुसारी य।
तह बीयबुद्धितेयग आहारग सीयलेसा य ॥१४९४ ॥
वेउव्विदेहलद्धी अक्खीणमहाणसी पुलाया य।
परिणामतववसेणं एमाई हुंति लद्धीओ ॥१४९५ ॥
संफरिसणमामोसो मुत्तपुरीसाण विप्पुसो वावि (वयवा)।
अन्ने विडिति विट्ठा भासंति पइत्ति पासवणं ॥१४९६ ॥
एए अन्ने य बहू जेसिं सव्वेवि सुरहिणोऽवयवा।
रोगोवसमसमत्था ते हुंति तओसहिं पत्ता ॥१४९७ ॥
जो सुणइ सव्वओ मुणइ सव्वविसए उ सव्वसोएहिं।
सुणइ बहुएवि सद्दे भिन्ने संभिन्नसोओ सो ॥१४९८ ॥
रिउ सामन्नं तम्मत्तगाहिणी रिउमई मणोनाणं।
पायं विसेसविमुहं घडमेत्तं चिंतियं मुणइ ॥१४९९ ॥
विउलं वत्थुविसेसण नाणं तग्गाहिणी मई विउला।
चिंतियमणुसरइ घडं पसंगओ पज्जवसएहिं ॥१५०० ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आसी दाढा तग्गय महाविसाऽऽसीविसा दुविहभेया ।
ते कम्मजाइभेएण णेगहा चउविहविकप्पा ॥१५०१ ॥
खीरमहुसप्पिसाओवमाणवयणा तयासवा हुंति ।
कोट्ठयधन्नसुनिग्गलसुत्तत्था कोट्ठबुद्धीया ॥१५०२ ॥
जोसुत्तपएण बहुं सुयमणुधावइ पयाणुसारी सो ।
जो अत्थपएणऽत्थं अणुसरइ स बीयबुद्धीओ ॥१५०३ ॥
अक्खीणमहाणसिया भिक्खं जेणाणियं पुणो तेणं ।
परिभुत्तं चिय खिज्जइ बहुएहिंवि न उण अन्नेहिं ॥१५०४ ॥
भवसिद्धियपुरिसाणं एयाओ हुंति भणियलद्धीओ ।
भवसिद्धियमहिलाणवि जत्तिय जायंति तं वोच्छं ॥१५०५ ॥
अरहंत चक्किकेसवबलसंभिन्ने य चारणे पुव्वा ।
गणहरपुलायआहारगं च न हु भवियमहिलाणं ॥१५०६ ॥
अभवियपुरिसाणं पुण दस पुव्विल्लाउ केवलित्तं च ।
उज्जुमई विउलमई तेरस एयाउ न हु हुंति ॥१५०७ ॥
अभवियमहिलाणंपि हु एयाओ हुंति भणियलद्धीओ ।
महुखीरासवलद्धीवि नेय सेसा उ अविरुद्धा ॥१५०८ ॥

—गाथार्थ—

अट्ठावीस लब्धियाँ—१. **आमर्षौषधिलब्धि २. विप्रुडौषधिलब्धि ३. खेलौषधिलब्धि ४. जल्लौषधि लब्धि ५. सर्वौषधिलब्धि ६. संभिन्नश्रोतोलब्धि ७. अवधिलब्धि ८. ऋजुमतिलब्धि ९. विपुलमतिलब्धि १०. चारणलब्धि ११. आशीविषलब्धि १२. केवलीलब्धि १३. गणधरलब्धि १४. पूर्वधरलब्धि १५. अरहंतलब्धि १६. चक्रवर्तीलब्धि १७. बलदेवलब्धि १८. वासुदेवलब्धि १९. क्षीरमधुसर्पि-आसवलब्धि २०. कोष्ठकबुद्धिलब्धि २१. पदानुसारीलब्धि २२. बीजबुद्धिलब्धि २३. तैजसलब्धि २४. आहारक लब्धि २५. शीतलेश्यालब्धि २६. वैक्रियलब्धि २७. अक्षीणमहानसीलब्धि एवं २८. पुलाकलब्धि—ये अट्ठावीस लब्धियाँ हैं। परिणाम विशेष और तप विशेष के प्रभाव से जीव को ये लब्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥१४९२-१४९५ ॥**

आमर्ष अर्थात् संस्पर्श। विप्रुष अर्थात् मूत्र और विष्ठा। अन्य आचार्यों के अनुसार विड् अर्थात् विष्ठा और पत्ति यानि पेशाब अर्थ है। विप्रुड् से अन्य सुगन्धित अवयवों का ग्रहण होता है जो रोगादि को उपशान्त करने में समर्थ हैं ॥१४९६-९७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिस लब्धि के प्रभाव से जीव अपने शरीर के संपूर्ण रोमों व छिद्रों द्वारा सुन सकता है अथवा सभी विषयों को सभी इन्द्रियों से ग्रहण कर सकता है अथवा एक साथ सुनाई देने वाले वादित्र आदि के शब्दों को अलग-अलग करके जान सकता है वह लब्धि संभिन्नश्रोतस् कहलाती है ॥१४९८ ॥

ऋजु अर्थात् सामान्य, उसको ग्रहण करने वाला मनपर्यवज्ञान 'ऋजुमति' है। जैसे कोई व्यक्ति घड़े का विचार कर रहा है तो 'ऋजुमति मनपर्यवी' इतना जान सकता है कि 'अमुक व्यक्ति घड़े का विचार कर रहा है' विशेष कुछ भी नहीं जान सकता। विपुलमति वस्तुगत विशेष धर्मों को जानता है। अर्थात् घड़े को जानने के साथ-साथ उसकी पर्यायों को भी जानता है ॥१४९९-१५०० ॥

आशी अर्थात् दाढ़ा, उसमें रहने वाला जहर 'आशीविष' कहलाता है। वह जहर दो प्रकार का है—कर्म और जाति के भेद से। इन दो भेदों के भी अनेक भेद और चार भेद हैं ॥१५०१ ॥

दूध, मधु और घृत तुल्य उपमा वाले मधुर वचन जिस लब्धि के प्रभाव से निकलते हों, वह क्षीरमधुसर्पिराश्रवलब्धि है। कोठी में पड़े हुए धान्य की तरह जिसके सूत्र और अर्थ हों वह कोष्ठकबुद्धिलब्धिधर है ॥१५०२ ॥

जिसके प्रभाव से एक सूत्र पढ़कर स्वयं की बुद्धि द्वारा अनेक सूत्रों का ज्ञान कर सकता है वह पदानुसारी लब्धि है। एक पद के अर्थ का बोध होने पर अनेक पद के अर्थ का बोध कराने वाली लब्धि बीजबुद्धि है ॥१५०३ ॥

जिसके द्वारा लाई गई भिक्षा, जब तक वह स्वयं भोजन न करे तब तक लाखों व्यक्ति भोजन कर लें फिर भी शेष नहीं होती, उसके खाने पर ही भिक्षा पूर्ण होती है, वह अक्षीणमहानसीलब्धिधर है ॥१५०४ ॥

भव्य पुरुष को पूर्वोक्त सभी लब्धियाँ होती हैं। भव्य स्त्रियों को जितनी लब्धियाँ होती हैं वे आगे कहेंगे ॥१५०५ ॥

—विवेचन—

लब्धि = शुभ-अध्यवसाय या संयम की आराधना द्वारा जन्य, कर्म के क्षय या क्षयोपशम से उत्पन्न विशिष्ट आत्मिक शक्ति 'लब्धि' कहलाती है। मुख्य रूप से लब्धियाँ अट्ठावीस हैं। इनके अतिरिक्त जीवों के शुभ-शुभतर व शुभतम परिणाम विशेष के द्वारा अथवा असाधारण तप के प्रभाव से अनेकविध लब्धियाँ ऋद्धि विशेष जीवों को प्राप्त होती हैं।

(१) **आमर्षौषधि लब्धि**—आमर्ष अर्थात् स्पर्श। जिस लब्धि के प्रभाव से लब्धि-विशिष्ट आत्मा के कर आदि का स्पर्श होने पर स्व और पर के रोग शान्त हो जाते हैं वह आमर्षौषधि लब्धि कहलाती है।

(२) **विप्रुडौषधि लब्धि**—यहाँ प्रसिद्ध पाठ है 'मुत्तपुरीसाण विप्पुसो वाऽवि। 'विप्रुड्' का अर्थ है अवयव अर्थात् मूत्र व पुरीष (विष्ठा) के अवयव विप्रुड् कहलाते हैं। 'विप्पुसो वाऽवि' ऐसा पाठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध न होने से उपेक्षित है। यदि यह पाठ माने तो 'विप्रुड्' का अर्थ होगा मूत्र-पुरीष के ही अवयव। क्योंकि 'वाऽवि' में 'वा' शब्द समुच्चयार्थ है, 'अपि' शब्द एवकारार्थ है तथा क्रम की भिन्नता का सूचक है। किसी का कथन है, कि विड् अर्थात् विष्ठा और 'पत्ति' का अर्थ प्रश्रवण होता है। जिस लब्धि के प्रभाव से मूत्र-पुरीष के अवयव सुगन्धित तथा स्व-पर का रोग शमन करने में समर्थ होते हैं वह विप्रुडौषधि लब्धि है। सूत्र सूचक होने से यहां खेल, जल्ल, केश, नखादि के अवयवों का भी ग्रहण होता है।

(३) **खेलौषधि लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से व्यक्ति का श्लेष्म सुगंधित एवं रोगनाशक होता है।

(४) **जल्लौषधि लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से व्यक्ति के कान, नाक, आँख, जीभ एवं शरीर का मैल सुगंधित एवं रोगनाशक होता है।

(५) **सर्वौषधि लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से व्यक्ति के मल-मूत्र, श्लेष्म, नाक, कान आदि का मैल, केश और नख सभी सुगन्धित एवं रोगापहारी होते हैं।

(६) **संभिन्नश्रोतो लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से शरीर के सभी प्रदेशों में श्रवण-शक्ति उत्पन्न हो जाती है अथवा जिस लब्धि के प्रभाव से पाँच-इन्द्रियों से ग्राह्य-विषय को एक ही इन्द्रिय से ग्रहण करने की शक्ति पैदा हो जाती है, अथवा जिस लब्धि से बारह योजन तक विस्तृत चक्रवर्ती के सैन्य में बजने वाले विविध वाद्यों विविध स्वरों को व्यक्ति एक ही साथ अलग-अलग करके सुन सकता है।

(७) **अवधि लब्धि**—जिस लब्धि से इन्द्रियों की सहायता के बिना मात्र आत्मशक्ति से मर्यादा में रहे हुए रूपी द्रव्यों का ज्ञान होता है।

(८) **ऋजुमति लब्धि**—यह मनःपर्यवज्ञान का भेद है। मनोगत भाव को सामान्य रूप से ग्रहण करने वाली बुद्धि ऋजुमति है। उदाहरणार्थ—कोई व्यक्ति घड़े के बारे में सोच रहा है, तो ऋजुमति अपने ज्ञान से इतना जान सकता है कि उस व्यक्ति ने घड़े का चिन्तन किया है, किन्तु वह यह नहीं जान सकता कि वह घड़ा कहाँ का है? किस द्रव्य का है? किस रंग का है? इस ज्ञान की विषय सीमा ढाई अंगुल न्यून ढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय के मनोगत भाव हैं।

(९) **विपुलमति लब्धि**—यह भी मनःपर्यवज्ञान का भेद है। यह मनोगत भावों को ग्रहण करता है, किन्तु चिन्तनीय वस्तु को अपनी सभी पर्यायों (विशेषताओं) के साथ ग्रहण करता है, जैसे किसी व्यक्ति ने घड़े का चिंतन किया, तो विपुलमति 'इसने घड़े का चिंतन किया है' यह जानने के साथ यह भी जानता है कि इसके द्वारा सोचा हुआ घड़ा सोने का है, पाटलिपुत्रनगर का है, आज का बना हुआ है, महान् है, भीतर घर में रखा हुआ है। इस प्रकार अनेक विशेषणों से युक्त 'घट' को जानता है।

(१०) **चारण लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से मानवीय शक्ति की सीमा से परे के क्षेत्रों में भी लब्धिधारी का गमनागमन होता है।

(११) **आशीविष लब्धि**—आशी = दाढ़, विष = जहर अर्थात् जिनकी दाढ़ों में भयंकर जहर होता है वे 'आशीविष' कहलाते हैं। इसके दो भेद हैं—कर्म आशीविष और जाति आशीविष।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(i) **कर्म आशीविष**—पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्य और आठवें सहस्रार देवलोक तक के देवता आदि अनेक प्रकार के जीव कर्म आशीविष हैं। ये जीव तप-चारित्र आदि अनुष्ठान के द्वारा अथवा अन्य किसी गुण से आशीविष साँप, बिच्छु, नाग आदि से साध्य-क्रिया करने में समर्थ होते हैं। अर्थात् ये शाप आदि देकर दूसरों का नाश करते हैं।

देवों में यह लब्धि अपर्याप्त-अवस्था में ही होती है। कोई जीव प्राक्-भव सम्बन्धी लब्धि के संस्कार को लेकर देवता में उत्पन्न होता है उसे ही अपर्याप्तावस्था में यह लब्धि रहती है। पर्याप्त अवस्था में लब्धि-निवृत्त हो जाती है। जो देवता पर्याप्तावस्था में शापादि प्रदान करते हैं, वह उनकी भव-प्रत्ययिक शक्ति का परिणाम है और ऐसी शक्ति सभी देवों में होती है। जबकि लब्धि वही कहलाती है, जो विशिष्ट साधना एवं आराधना से उत्पन्न होती है।

(ii) **जाति आशीविष के ४ प्रकार हैं—**

(अ) **वृश्चिक** — बिच्छू के जहर की असर अर्ध-भरत प्रमाण शरीर में हो सकती है।

(ब) **मेंढक** — मेंढक के जहर की असर भरत प्रमाण शरीर में हो सकती है।

(स) **सर्प** — सर्प के विष की असर जंबू-द्वीप प्रमाण शरीर में हो सकती है।

(द) **मनुष्य** — मनुष्य के जहर की असर ढाई-द्वीप प्रमाण शरीर में हो सकती है।

(१३) **गणधर लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से व्यक्ति द्वादशांगी का प्रणेता तीर्थंकर परमात्मा का प्रधान शिष्य गणधर बनता है।

(१४) **पूर्वधर लब्धि**—तीर्थंकर परमात्मा द्वादशांगी का मूल आधारभूत जो सर्वप्रथम उपदेश गणधरों को देते हैं, वह पूर्व कहलाता है। गणधर उस उपदेश को सूत्र रूप में व्यवस्थित करते हैं। पूर्व की संख्या चौदह है, जिन्हें दस से चौदह पूर्व का ज्ञान होता है, वे पूर्वधर कहलाते हैं। जिस लब्धि के प्रभाव से पूर्वों का ज्ञान प्राप्त होता है, वह पूर्वधर लब्धि कहलाती है।

(१५) **अर्हत् लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से अर्हत् पद प्राप्त होता है।

(१६) **चक्रवर्ती लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से चक्रवर्ती पद की प्राप्ति होती है। चक्रवर्ती चौदह रत्न और छः खण्ड का स्वामी होता है।

(१७) **बलदेव लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से बलदेव पद की प्राप्ति होती है।

(१८) **वासुदेव लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से वासुदेव पद की प्राप्ति होती है। वासुदेव सात रत्न और त्रिखण्ड का अधिपति होता है।

(१९) **क्षीरमधुसर्पिराश्रव लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से वक्ता का वचन, श्रोता को दूध, मधु और घृत के स्वाद की तरह मधुर लगता है जैसे, वज्रस्वामी आदि के वचन सुनने में अति मधुर लगते थे। यहाँ यह तात्पर्य है कि गन्ने का चारा चरने वाली एक लाख गायों का दूध पचास हजार गायों को....उनका दूध...पच्चीस हजार गायों को....इस प्रकार आधा-आधा करके अंत में एक गाय को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिलाने पर उसका दूध एवं उससे बना मंद आंच पर पकाया हुआ, विशिष्ट वर्णादि से युक्त घी कैसा मधुर होता है, उससे अधिक मधुर-वचन, इस लब्धि के प्रभाव से मिलता है। ऐसा दूध और घी मन की संतुष्टि एवं शरीर की पुष्टि करने वाला होता है, वैसे इस लब्धि से संपन्न आत्मा का वचन, श्रोता के तन-मन को आह्लादित करता है। अमृताश्रवी, इक्षुरसाश्रवी आदि लब्धियाँ भी इसी प्रकार समझना। अथवा—जिस लब्धि के प्रभाव से पात्र में आया हुआ स्वादरहित भी आहार, दूध, घी एवं मधु की तरह स्वादिष्ट एवं पुष्टिकर बन जाता है।

(२०) **कोष्ठक-बुद्धि**—कोठी में डाला हुआ अनाज बहुत समय तक सुरक्षित रह सकता है, वैसे जिस लब्धि के प्रभाव से सुना हुआ या पढ़ा हुआ शास्त्रार्थ चिरकाल तक यथावत् याद रहता है।

(२१) **पदानुसारी लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से एक पद सुनकर अनेक पदों का ज्ञान हो जाता है।

(२२) **बीज-बुद्धि**—जिस लब्धि की शक्ति से बीज-भूत एक अर्थ को सुन कर अश्रुत अनेक अर्थों का ज्ञान होता है। यह लब्धि गणधर-भगवन्तों को होती है। वे तीर्थंकर परमात्मा के मुख से अर्थ-प्रधान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिपदी को सुनकर अनन्त अर्थों से भरी हुई द्वादशांगी की रचना करते हैं।

(२३) **तेजोलेश्या**—जिस लब्धि से, आत्मा क्रुद्ध होकर अपने तैजस्-पुद्गल को ज्वाला के रूप में बाहर निकालकर अपनी अप्रिय वस्तु, व्यक्ति आदि को भस्म कर सकता है।

(२४) **शीतलेश्या**—जिस लब्धि से आत्मा अपने शीत तेज-पुद्गलों को तेजोलेश्या से जलते हुए आत्मा पर डालकर, उसे भस्म होने से बचा सकता है। भगवान महावीर के समय में कूर्म गाँव में अति करुणाशील वैशंपायन नाम का तपस्वी अज्ञानतप करता था। स्नानादि के अभाव में उसके सिर में अगणित जूँएँ पड़ गई थीं। उसे देखकर गोशालक ने 'यूका शय्यातर' (जुंओं का जाला) कहकर उसका उपहास किया था। इससे अत्यन्त क्रुद्ध होकर उस तपस्वी ने गोशालक को भस्म करने हेतु तेजोलेश्या का प्रयोग किया। तेजोलेश्या से गोशालक की रक्षा करने के लिये अत्यंत करुणाशील भगवान महावीर ने तत्काल शीतलेश्या का प्रयोग किया।

तेजोलेश्या की सिद्धि—छट्ठ के पारणे छट्ठ करने वाले, पारणे में एक मुट्ठी उड़द के बाकुले एवं चुल्लू भर जल लेने वाले साधक को छमास में तेजोलेश्या सिद्ध होती है।

(२५) **आहारक लब्धि**—प्राणीदया, तीर्थंकर की ऋद्धि एवं अपने संशयों का निराकरण करने के लिये जिस लब्धि से चौदह पूर्वधर साधक अन्य क्षेत्र में जाने योग्य एक हाथ प्रमाण का आहारक शरीर बनाते हैं।

(२६) **वैक्रिय लब्धि**—जिस लब्धि से मनचाहे रूप बनाने की शक्ति प्राप्त होती है। यह लब्धि मनुष्य और तिर्यंच को आराधनाजन्य एवं देव-नरक को सहज होती है।

(२७) **अक्षीणमहानसी लब्धि**—जिस लब्धि-शक्ति से छोटे से पात्र में लायी हुई भिक्षा लाखों लोकों को तृप्त कर देती है, फिर भी पात्र भरा रहता है। पात्र तभी खाली होता है, जब लब्धिधारी स्वयं उस भिक्षा का उपयोग करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२८) **पुलाक लब्धि**—जिस लब्धि के प्रभाव से साधक शासन व संघ की सुरक्षा के लिये चक्रवर्ती की सेना से भी अकेला जूझ सकता है।

पूर्वोक्त अट्ठावीस लब्धियों के अतिरिक्त अन्य भी कई लब्धियाँ हैं, जैसे—

(i) अणुत्व लब्धि—जिस शक्ति से साधक अपना शरीर अणु जितना बनाकर मृणालतंतु में प्रवेश कर सकता है और वहाँ चक्रवर्ती की तरह सुखभोग कर सकता है।

(ii) महत्त्व लब्धि—मेरु की तरह महान् शरीर बनाने की शक्ति विशेष।

(iii) लघुत्व लब्धि—शरीर को वायु से भी हल्का बनाने की विशिष्ट शक्ति।

(iv) गुरुत्व लब्धि—शरीर को वज्र से भी भारी बनाने की शक्ति विशेष।

(v) प्राप्ति लब्धि—अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही अपने अंगोपांगों को इच्छित-प्रदेश तक फैलाने की विशिष्ट शक्ति।

(vi) प्राकाम्य लब्धि—जल में स्थल की तरह और स्थल में जल की तरह चलने की विशिष्ट शक्ति।

(vii) वशित्व लब्धि—प्राणीमात्र को वश करने वाली विशिष्ट शक्ति।

(viii) अप्रतिघातित्व लब्धि—पर्वत आदि के व्यवधान को भेदकर निराबाध गमन-आगमन कराने वाली विशिष्ट शक्ति।

(ix) अन्तर्धान लब्धि—अदृश्य करने वाली विशिष्ट शक्ति।

(x) कामरूपित्व लब्धि—एक साथ इच्छित अनेक रूप बनाने की विशिष्ट शक्ति।

किसके कितनी लब्धि होती है?

भव्य		अभव्य	
पुरुष	**स्त्री**	**पुरुष**	**स्त्री**
सभी लब्धियाँ होती हैं।	अर्हत्, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, संभिन्न-श्रोता, चारण, पूर्वधर, गणधर, पुलाक और आहारक इन दस लब्धियों को छोड़कर शेष सभी लब्धियाँ होती हैं। भगवान मल्लिनाथ स्त्री रूप में तीर्थंकर बने यह आश्चर्यजनक घटना है।	अर्हत्, केवली, ऋजुमति, विपुलमति, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, संभिन्न-श्रोता, चारण, पूर्वधर, गणधर, पुलाक और आहारक इन तेरह को छोड़कर शेष सभी लब्धियाँ होती हैं।	अभव्य पुरुष में नहीं होने वाली तेरह और मधुघृत सर्पिराश्रव = चौदह लब्धियाँ नहीं होती हैं। ॥१४९२-१५०८॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७१ द्वार : विविधतप—

पुरिमड्ढेक्कासणनिव्विगइय-आयंबिलोववासेहिं ।
एगलया इय पंचहिं होइ तवो इंदियजउत्ति ॥१५०९ ॥
निव्विगइयमायामं उववासो इय लयाहिं तिहिं भणिओ ।
नामेण जोगसुद्धी नवदिणमाणो तवो एसो ॥१५१० ॥
नाणंमि दंसणंमि य चरणंमि य तिन्नि तिन्नि पत्तेयं ।
उववासो तप्पूयापुव्वं तन्नामगतवंमि ॥१५११ ॥
एक्कासणगं तह निव्विगइयमायंबिलं अभत्तट्ठो ।
इय होइ लयचउक्कं कसायविजए तवच्चरणे ॥१५१२ ॥
खमणं एक्कासणगं एक्कगसित्थं च एगठाणं च ।
एक्कगदत्तं नीव्वियमायंबिलमट्ठकवलं च ॥१५१३ ॥
एसा एगा लइया अट्ठहिं लइयाहिं दिवस चउसट्ठी ।
इय अट्ठकम्मसूडणतवंमि भणिया जिणिंदेहिं ॥१५१४ ॥
इग दुग इग तिग दुग चउ तिग पण चउ छक्क पंच सत्त छगं ।
अट्ठग सत्तग नवगं अट्ठग नव सत्त अट्ठेव ॥१५१५ ॥
छग सत्तग पण छक्कं चउ पण तिग चउर दुग तिगं एगं ।
दुग एक्कग उववासा लहुसिहनिक्कीलियतवंमि ॥१५१६ ॥
चउपन्नं खमणसयं दिणाण तह पारणाणि तेत्तीसं ।
इह परिवाडिचउक्के वरिसदुगं दिवस अडवीसा ॥१५१७ ॥
विगईओ निविगईयं तहा अलेवाडयं च आयामं ।
परिवाडिचउक्कंमि य पारणएसुं विहेयव्वं ॥१५१८ ॥
इग दुग इग तिग दुग चउ तिग पण चउ छक्क पंच सत्त छगं ।
अड सत्त नवऽड दस नव एक्कारस दस य बारसगं ॥१५१९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक्कार तेर बारस चउदस तेरस य पनर चउदसगं ।
सोलस पनरस सोला होइ विवरीयमेक्कंतं ॥१५२० ॥
एए उ अभतट्ठा इगसट्ठी पारणाणमिह होइ ।
एसा एगा लइया चउग्गुणाए पुण इमाए ॥१५२१ ॥
वरिसछगं मासदुगं दिवसाइं तहेव बारस हवंति ।
एत्थ महासीहनिकीलियंमि तिव्वे तवच्चरणे ॥१५२२ ॥
एक्को दुगाइ एक्कग अंतरिया जाव सोलस हवंति ।
पुण सोलस एगंता एक्कंतरिया अभत्तट्ठा ॥१५२३ ॥
पारणयाणं सट्ठी परिवाडिचउक्कगंमि चत्तारि ।
वरिसाणि हुंति मुत्तावलीतवे दिवससंखाए ॥१५२४ ॥
इग दु ति काहलियासुं दाडिमपुप्फेसु हुंति अट्ठ तिगा ।
एगाइसोलसंता सरियाजुयलंमि उववासा ॥१५२५ ॥
अंतंमि तस्स पयगं तत्थंकट्ठाणमेक्कमह पंच ।
सत्त य सत्त य पण पण तिन्निक्कंतेसु तिगरयणा ॥१५२६ ॥
पारणयदिणट्ठासी परिवाडिचउक्कगे वरिसपणगं ।
नव मासा अट्ठारस दिणाणि रयणावलितवंमि ॥१५२७ ॥
रयणावलीकमेणं कीरइ कणगावली तवो नवरं ।
कज्जा दुगा तिगपए दाडिमपुप्फेसु पयगे य ॥१५२८ ॥
परिवाडिचउक्के वरिसपंचगं दिणदुगूणमासतिगं ।
पढमतवुत्तो कज्जो पारणयविही तवप्पणगे ॥१५२९ ॥
भद्दाइतवेसु तहाऽऽइया लया इग दु तिन्नि चउ पंच ।
तह दु ति चउ पंच इग दु तह पणग इग दोन्नि ति चउक्कं ॥१५३० ॥
तह दुति चउ पणगेगं तह चउ पणगेग दोन्नि तिन्नेव ।
पणहत्तरि उववासा पारणयाणं तु पणवीसा ॥१५३१ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पभणामि महाभद्दं इग दुग तिग चउ पणच्छ सत्तेव ।
तह चउ पण छग सत्तग इग दु ति तह सत्त एक्कं दो ॥१५३२ ॥
तिन्नि चउ पंच छक्कं तह तिग चउ पण छ सत्तगेगं दो ।
तह छग सत्तग इग दो तिग चउ पण तह दुगं ति चउ ॥१५३३ ॥
पण छग सत्तेक्कं तह पण छग सत्तेक्क दोन्नि तिय चउरो ।
पारणयाण गुवन्ना छण्णउयसयं चउत्थाणं ॥१५३४ ॥
भद्दोत्तरपडिमाए पण छग सत्तट्ठ नव तहा सत्त ।
अड नव पंचच्छ तहा नव पण छग सत्त अट्ठेव ॥१५३५ ॥
तह छग सत्तट्ठ नव पण तहट्ठ नव पणट्ठ सत्तऽभत्तट्ठा ।
पणहत्तरसयसंखा पारणगाणं तु पणवीसा ॥१५३६ ॥
पडिमाए सव्वभद्दाए पण छ सत्तट्ठ नव दसेक्कारा ।
तह अड नव दस एक्कार पण छ सत्त य तहेक्कारा ॥१५३७ ॥
पण छग सत्तग अड नव दस तह सत्तट्ठ नव दसेक्कारा ।
पण छ तहा दस एक्कार पण छ सत्तट्ठ नव य तहा ॥१५३८ ॥
छग सत्तड नव दसगं एक्कारस पंच तह नवग दसगं ।
एक्कारस पण छक्कं सत्तट्ठ य इह तवे होंति ॥१५३९ ॥
तिन्नि सया बाणउया इत्थुववासाण होंति संखाए ।
पारणया गुणवन्ना भद्दाइतवा इमे भणिया ॥१५४० ॥
पडिवइया एक्कच्चिय दुगं दुइज्जाण जाव पन्नरस ।
खमणेहऽमावसाओ होइ तवो सव्वसंपत्ती ॥१५४१ ॥
रोहिणीरिक्खदिणे रोहिणीतवो सत्त मासवरिसाइं ।
सिरिवासुपुज्जपूयापूव्वं कीरइ अभत्तट्ठो ॥१५४२ ॥
एक्कारस सुयदेवीतवंमि एक्कारसीओ मोणेणं ।
कीरंति चउत्थेहिं सुयदेवीपूयणापुव्वं ॥१५४३ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सव्वंगसुंदरतवे कुणंति जिणपूयखंतिनियमपरा ।
अट्ठुववासे एगंतरंबिले धवलपक्खंमि ॥१५४४॥
एवं निरुजसिहोवि हु नवरं सो होइ सामले पक्खे ।
तंमि य अहिओ कीरइ गिलाणपडिजागरणनियमो ॥१५४५॥
सो परमभूसणो होइ जंमि आयंबिलाणि बत्तीसं ।
अंतरपारणयाइं भूसणदाणं च देवस्स ॥१५४६॥
आयइजणगोऽवेवं नवरं सव्वासु धम्मकिरियासुं ।
अणिगूहियबलविरियप्पवित्तिजुत्तेहिं सो कज्जो ॥१५४७॥
एगंतरोववासा सव्वरसं पारणं च चेत्तंमि ।
सोहग्गकप्परुक्खो होइ तहा दिज्जए दाणं ॥१५४८॥
तवचरणसमत्तीए कप्पतरू जिणपुरो ससत्तीए ।
कायव्वो नाणाविहफलविलसिरसाहियासहिओ ॥१५४९॥
तित्थयरजणणिपूयापुव्वं एक्कासणाइं सत्तेव ।
तित्थयरजणणिनामगतवंमि कीरंति भद्दवए ॥१५५०॥
एक्कासणाइएहिं भद्दवयचउक्कगंमि सोलसहिं ।
होइ समोसरणतवो तप्पूयापुव्वविहिएहिं ॥१५५१॥
नंदीसरपडपूया नियसामत्थसरिसतवचरणा ।
होइ अमावस्सतवो अमावसावासरुद्दिट्ठो ॥१५५२॥
सिरिपुंडरीयनामगतवंमि एगासणाइ कायव्वं ।
चेत्तस्स पुन्निमाए पूएयव्वा य तप्पडिमा ॥१५५३॥
देवग्गठवियकलसो जा पुन्नो अक्खयाण मुट्ठीए ।
जो तत्थ सत्तिसरिसो तवो तमक्खयनिहिं बिंति ॥१५५४॥
वड्ढइ जहा कलाए एक्केक्काएऽणुवासरं चंदो ।
संपुन्नो संपज्जइ जा सयलकलाहिं पव्वंमि ॥१५५५॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तह पडिवयाए एक्को कवलो बीयाइ पुन्निमा जाव ।
एक्केक्ककवलवुड्ढी जा तेसिं होइ पन्नरसगं ॥१५५६ ॥
एक्केक्कं किण्हंमि य पक्खंमि कलं जहा ससी मुयइ ।
कवलोवि तहा मुच्चइ जाऽमावासाइ सो एक्को ॥१५५७ ॥
एसा चंदप्पडिमा जवमज्झा मासमित्तपरिमाणा ।
इण्हि तु वज्जमज्झं मासप्पडिमं पवक्खामि ॥१५५८ ॥
पन्नरस पडिवयाए एक्कगहाणीए जावऽमावस्सा ।
एक्केणं कवलेणं जाया तह पडिवईऽवि सिआ ॥१५५९ ॥
बीयाइयासु इक्कगवुड्ढी जा पुन्निमाए पन्नरस ।
जवमज्झवज्जमज्झाओ दोवि पडिमाओ भणियाओ ॥१५६० ॥
दिवसे दिवसे एगा दत्ती पढमंमि सत्तगे गिज्झा ।
वड्ढइ दत्ती सह सत्तगेण जा सत्त सत्तमए ॥१५६१ ॥
इगुवन्नवासरेहिं होइ इमा सत्तसत्तमी पडिमा ।
अट्ठट्ठमिया नवनवमिया य दसदसमिया चेव ॥१५६२ ॥
नवरं वड्ढइ दत्ती सह अट्ठगनवगदसगवुड्ढीहिं ।
चउसट्ठी एक्कासी सयं च दिवसाणिमासु कमा ॥१५६३ ॥
एगाइयाणि आयंबिलाणि एक्केक्कवुड्ढिमंताणि ।
पज्जंतअभत्तट्ठाणि जाव पुन्नं सयं तेसिं ॥१५६४ ॥
एयं आयंबिलवद्धमाणनामं महातवच्चरणं ।
वरिसाणि एत्थ चउदस मासतिगं वीस दिवसाणि ॥१५६५ ॥
गुणरयणवच्छरंमी सोलस मासा हवंति तवचरणे ।
एगंतरोववासा पढमे मासंमि कायव्वा ॥१५६६ ॥
ठायव्वं उक्कुडुआसणेण दिवसे निसाए पुण निच्चं ।
वीरासणिएण तहा होयव्वमवाउडेणं च ॥१५६७ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बीयाइसु मासेसुं कुज्जा एगुत्तराए वुड्ढीए।
जा सोलसमे सोलस उववासा हुंति मासंमि ॥१५६८॥
जं पढमगंमि मासे तमणुट्ठाणं समग्गमासेसु।
पंच सयाइं दिणाणं वीसूणाइं इमंमि तवे ॥१५६९॥
तह अंगोवंगाणं चिइवंदणपंचमंगलाईणं।
उवहाणाइ जहाविहि हवंति नेयाइं तह समया ॥१५७०॥

—गाथार्थ—

तप—पुरिमड्ढ, एकाशन, निवि, आयंबिल और उपवास—यह एक लता हुई। ऐसी पाँच लताओं द्वारा इन्द्रियजय तप पूर्ण होता है ॥१५०९॥

निवि, आयंबिल, उपवास—यह एक लता (बारी) हुई। ऐसी तीन लताओं के द्वारा योगशुद्धि तप पूर्ण होता है। यह तप नौ दिन का है ॥१५१०॥

ज्ञान-दर्शन और चारित्र इन तीनों की तीन-तीन उपवास द्वारा आराधना करके ज्ञानादि की पूजा करना यह रत्नत्रय तप है ॥१५११॥

एकाशन, निवि, आयंबिल और उपवास-यह एक लता हुई। इस प्रकार चार कषाय की चार लता द्वारा आराधना करना कषायजय तप है ॥१५१२॥

उपवास, एकाशन, एक दाना, एकल ठाणा, एक दत्ति, निवि, आयंबिल एवं आठ कवल यह एक लता हुई। इस प्रकार आठ कर्म की आठ लताओं के द्वारा चौसठ दिन में पूर्ण होने वाला अष्टकर्मसूदन तप जिनेश्वर भगवन्त ने बताया है ॥१५१३-१४॥

एक, दो, एक, तीन, दो, चार, तीन, पाँच, चार, छः, पाँच, सात, छः, आठ, सात, नौ, आठ, नौ, सात, आठ, छः, सात, पाँच, छः, चार, पाँच, तीन, चार, दो, तीन, एक, दो और एक उपवास—यह लघुसिंह निष्क्रीड़ित तप की एक परिपाटी है। एक परिपाटी में एक सौ चौवन उपवास तथा तेत्तीस पारणे होते हैं। इस प्रकार चार परिपाटी करने पर तप पूर्ण होता है। इसमें दो वर्ष और अट्ठावीस दिन लगते हैं। चार परिपाटी में क्रमशः विगययुक्त आहार, निवि, अलेपकृत तथा आयंबिल से पारणा करना चाहिये ॥१५१५-१५१८॥

एक, दो, एक, तीन, दो, चार, तीन, पाँच, चार, छः, पाँच, सात, छः, आठ, सात, नौ, आठ, दस, नौ, ग्यारह, दस, बारह, ग्यारह, तेरह, बारह, चौदह, तेरह, पन्द्रह, चौदह, सोलह, पन्द्रह, सोलह—इस प्रकार पश्चानुपूर्वी के क्रम से एक उपवास पर्यंत तप करना। इन उपवासों के मध्य एक-एक पारणा होता है। यह एक लता हुई। महासिंह निष्क्रीड़ित तप में ऐसी चार लतायें छः वर्ष, दो मास एवं बारह दिन में पूर्ण होती है ॥१५१९-२२॥

एक, दो यावत् सोलह तक उपवास करना। इन उपवासों के मध्य में एक-एक उपवास करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पश्चात् पश्चानुपूर्वी के क्रम से एक-एक उपवास के अन्तर सहित सोलह से एक तक उपवास करना। साठ पारणे होते हैं। इस प्रकार चार लतायें मिलकर चार वर्ष में मुक्तावली तप पूर्ण होता है ॥१५२३-२४॥

एक, दो, तीन उपवास काहलिका में, दाड़िमपुष्प में आठ तीन उपवास, दोनों सरों में एक से लेकर यावत् सोलह पर्यंत पृथक्-पृथक् उपवास होते हैं। अन्त में पदक में एक, पाँच, सात, सात, पाँच, पाँच, तीन और एक—इस प्रकार अट्ठमों की रचना होती है। इस तप में अट्ठयासी पारणे होते हैं। इस तप में चार लताओं के मिलाकर पाँच वर्ष, नौ महीने और अट्ठारह दिन होते हैं। यह रत्नावली तप है ॥१५२५-२७॥

रत्नावली के अनुसार ही कनकावली तप होता है। परन्तु इतना अंतर है कि दाड़िमपुष्प तथा पदक में तीन उपवास के स्थान पर दो-दो उपवास करने होते हैं। यह तप चार लताओं से, पाँच वर्ष, तीन मास (दो दिन न्यून) में पूर्ण होता है। लघुसिंहनिष्क्रीड़ित तप के अनुसार पाँचों ही तप में पारणे की विधि समझना चाहिये ॥१५२८-२९॥

भद्रादि चार तपों में से पहिले भद्रतप बताया जाता है। भद्रतप में प्रथम परिपाटी में क्रमशः एक, दो, तीन, चार और पाँच उपवास होते हैं। द्वितीय परिपाटी में क्रमशः तीन, चार, पाँच, एक और दो उपवास होते हैं। तृतीय परिपाटी में पाँच, एक, दो, तीन, चार उपवास होते हैं। चतुर्थ परिपार्टी में दो, तीन, चार, पाँच तथा एक उपवास एवं पंचम परिपाटी में चार, पाँच, एक, दो और तीन उपवास होते हैं। इस प्रकार पचहत्तर उपवास और पच्चीस पारणे से यह तप पूर्ण होता है ॥१५३०-३१॥

अब महाभद्र तप का वर्णन करते हैं। पहिली परिपाटी में एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः और सात उपवास। दूसरी परिपाटी में चार, पाँच, छः, सात, एक, दो और तीन उपवास। तीसरी परिपाटी में सात, एक, दो, तीन, चार, पाँच और छः उपवास। चौथी परिपाटी में तीन, चार, पाँच, छः, सात, एक और दो उपवास। पाँचवीं परिपाटी में छः, सात, एक, दो, तीन, चार और पाँच उपवास। छट्ठी में दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात और एक उपवास तथा सातवीं परिपाटी में पाँच, छः, सात, एक, दो, तीन और चार उपवास होते हैं। इस प्रकार इस तप में उनपचास पारणे व एक सौ छन्नु उपवास होते हैं ॥१५३२-३४॥

भद्रोत्तर तप की पहिली लता में—क्रमशः पाँच, छः, सात, आठ, नौ उपवास। दूसरी में सात, आठ, नौ, पाँच, छः उपवास। तीसरी में नौ, पाँच, छः, सात, आठ उपवास। चौथी में छः, सात, आठ, नौ, पाँच, उपवास तथा पाँचवीं में आठ, नौ, पाँच, छः और सात उपवास होते हैं। इस प्रकार पचहत्तर उपवास और पच्चीस पारणों से तप पूर्ण होता है ॥१५३५-३६॥

सर्वतोभद्र प्रतिमा की पहिली लता में—पाँच, छः, सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह उपवास। दूसरी में आठ, नौ, दस, ग्यारह, पाँच, छः, सात उपवास। तीसरी में ग्यारह, पाँच, छः, सात, आठ, नौ, दस उपवास। चौथी में सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह, पाँच और छः उपवास। पाँचवीं में दस, ग्यारह, पाँच, छः, सात, आठ और नौ उपवास। छट्ठी में छः, सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह एवं पाँच उपवास।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सातवीं में नौ, दस, ग्यारह, पाँच, छः, सात और आठ उपवास होते हैं। इस तप में उपवास के दिन तीन सौ बाणुं तथा पारणे के दिन उनचास हैं। इस प्रकार भद्रादि तप का वर्णन पूर्ण हुआ ॥१५३७-४०॥

एकम का एक उपवास, दूज के दो उपवास यावत् अमावस्या के पन्द्रह उपवास करने से सर्वसौख्यसंपत्ति तप होता है ॥१५४१॥

रोहिणी नक्षत्र के दिन वासुपूज्य स्वामी की पूजा पूर्वक सात वर्ष और सात माह तक उपवास करने से रोहिणी तप पूर्ण होता है ॥१५४२॥

ग्यारह एकादशी को मौन व श्रुतदेवता की पूजा पूर्वक उपवास करने से श्रुतदेवता तप होता है ॥१५४३॥

जिनेश्वर देव की पूजा एवं क्षमादि का अभिग्रह रखते हुए एकान्तरित उपवास करना तथा पारणे में आयंबिल करना सर्वांगसुन्दर तप है। यह तप शुक्ल-पक्ष में होता है ॥१५४४॥

निरुजशिख तप की विधि 'सर्वांग सुन्दर' तप के अनुसार ही है। इतना अन्तर है कि यह तप कृष्ण पक्ष में होता है तथा इस तप में रोगी की सेवा करने का अभिग्रह विशेष रूप से धारण किया जाता है ॥१५४५॥

परमभूषण तप में निरन्तर अथवा एकान्तर बत्तीस आयंबिल होते हैं। तप की पूर्णाहुति पर परमात्मा की प्रतिमा पर मुकुट, तिलक आदि आभूषण चढ़ाना होता है ॥१५४६॥

आयतिजनक तप भी 'परमभूषण' तप के अनुसार ही होता है। परन्तु इसमें वन्दन प्रतिक्रमणादि सभी क्रियायें शक्ति छुपाये बिना उत्साहपूर्वक करना चाहिये ॥१५४७॥

चैत्र महीने में एकान्तर उपवास करना तथा पारणे में सर्वरस ग्रहण करना यह सौभाग्यकल्पवृक्ष तप है। इस तप में यथाशक्ति साधु भगवन्तों को दान देना चाहिये तथा तप की समाप्ति पर परमात्मा के सम्मुख अनेकविध फलों से सुशोभित शाखाओं वाला कल्पवृक्ष यथाशक्ति सादे चावलों का अथवा चाँदी-सोने के चावलों का बनाना चाहिये ॥१५४८-४९॥

तीर्थंकर माता तप में, तीर्थंकर की माता की पूजा करते हुए भाद्रपद मास में सात एकाशन करके किया जाता है ॥१५५०॥

समवसरण में बिराजमान प्रभु की पूजापूर्वक सोलह एकाशन आदि के द्वारा समवसरण तप किया जाता है। यह तप भाद्रपद मास में किया जाता है। चार वर्ष में पूर्ण होता है।।१५५१॥

अमावस्या तप, नन्दीश्वरद्वीप के पट की पूजापूर्वक अमावस्या के दिन यथा-शक्ति उपवासादि तप करके किया जाता है ॥१५५२॥

पुण्डरीक तप, पुण्डरीक गणधर की पूजापूर्वक एकाशनादि के द्वारा चैत्र सुदी पूर्णिमा से प्रारंभ किया जाता है ॥१५५३॥

परमात्मा के सम्मुख कलश की स्थापना करके प्रतिदिन एक मुट्ठी चावल उसमें डालना। जितने दिन में कलश भर जाये उतने दिन पर्यंत यथा शक्ति तप करना, अक्षयनिधि तप है ॥१५५४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रतिदिन एक-एक कला बढ़ने से पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा संपूर्ण कलायुक्त बन जाता है वैसे प्रतिपदा के दिन एक कवल ग्रहण करके द्वितीया से पूर्णिमा पर्यन्त एक-एक कवल की वृद्धि करते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह कवल होते हैं। कृष्ण पक्ष में जैसे चन्द्रमा की प्रतिदिन एक-एक कला क्षीण होती जाती है वैसे अमावस्या पर्यन्त एक-एक कवल न्यून करते हुए अन्त में अमावस के दिन एक कवल ग्रहण करना शेष रहता है। यह तप यवमध्या चन्द्रप्रतिमा तप कहलाता है। यह एक मास में पूर्ण होता है। तत्पश्चात् वज्रमध्या चन्द्रप्रतिमा तप कहा जायेगा ॥१५५५-५८ ॥

प्रतिपदा के दिन पन्द्रह कवल पश्चात् एक-एक कवल न्यून करते हुए अमावस्या तथा सुदी एकम के दिन एक कवल ग्रहण करना। दूज आदि को पुनः एक-एक कवल की वृद्धि करते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह कवल ग्रहण करना। इस प्रकार यवमध्या और वज्रमध्या दोनों प्रतिमायें बताई गई हैं ॥१५५९-६० ॥

सप्त-सप्तमिका तप के प्रथम सप्तक में प्रतिदिन एक दत्ति ग्रहण करना। जैसे-जैसे सप्तक बढ़ता जाता है वैसे-वैसे दत्ति भी बढ़ती जाती है अर्थात् सातवें सप्तक में प्रतिदिन सात दत्ति का ग्रहण होता है। इस प्रकार उनचास दिन में सप्तसप्ततिका तप पूर्ण होता है।

इस प्रकार अष्टअष्टमिका, नवनवमिका, दसदसमिका प्रतिमा में दत्ति की अभिवृद्धि के साथ अष्टक, नवक और दशक की वृद्धि होती है। इस प्रकार चौसठ, इक्यासी तथा सौ दिन में ये प्रतिमायें पूर्ण होती हैं ॥१५६१-६३ ॥

एक...दो आदि आयंबिलों की अभिवृद्धि पूर्वक तथा अन्त में उपवासपूर्वक सौ आयंबिल के द्वारा आयंबिल वर्धमान नामक महातप पूर्ण होता है। इसमें चौदह वर्ष, तीन मास तथा बीस दिन लगते हैं ॥१५६४-६५ ॥

गुणरत्नसंवत्सर तप सोलह महीनों में पूर्ण होता है। इसके प्रथम मास में एकान्तर उपवासपूर्वक दिन में उत्कटुक आसन से बैठना तथा रात्रि में निर्वस्त्र होकर वीरासन में रहना। द्वितीयादि मास में एक-एक उपवास की अभिवृद्धि करते हुए उपवास करना। इस प्रकार सोलहवें महीने में सोलह उपवास करना। अनुष्ठान की दृष्टि से पहिले महीने में जो-जो अनुष्ठान होते हैं वे सभी अनुष्ठान संपूर्ण तप में किये जाते हैं। यह तप बीस दिन न्यून पाँच सौ दिन में पूर्ण होता है ॥१५६६-६९ ॥

अंग-उपांग, चैत्यवन्दन, पंचमंगल आदि के उपधानों की विधि आगम से ज्ञातव्य है ॥१५७० ॥

—विवेचन—

तप = जो दुष्कर्मों को जलाता है वह तप है। इसके अनेक भेद हैं।

१. **इन्द्रियजय**—जिनधर्म का मूल उद्देश्य है इन्द्रियों पर विजय पाना। अतः सर्वप्रथम इन्द्रियजय तप ही बताया जाता है। इन्द्रियाँ ५ हैं। एक-एक इन्द्रिय पर विजय पाने हेतु ५-५ दिन तप किया जाता है। इसमें क्रमशः पुरिमट्ढ, एकाशन, नीवि, आयंबिल तथा पाँचवें दिन उपवास होता है। इस प्रकार ५ बार करने से कुल ५ × ५ = २५ दिन में यह तप पूर्ण होता है।

- यद्यपि सभी तपों का मूल उद्देश्य इन्द्रियजय है पर पूर्वाचार्यों के द्वारा इस तप को विशेष रूप से इसीलिये करने का कहा है अतः इसका यह नाम सार्थक है ॥१५०९ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. **योगशुद्धि**—मन, वचन और काया इन तीनों योगों की शुद्धि करने वाला तप 'योगशुद्धि' तप है। इस तप में क्रमशः नीवि, आयंबिल और उपवास होता है। इस प्रकार तीन बार किया जाता है अतः यह तप ३ × ३ = ९ दिन में पूर्ण होता है ॥१५१० ॥

३. **रत्नत्रय**—ज्ञान-दर्शन-चारित्र की शुद्धि करने वाला तप। इस तप में प्रत्येक के ३-३ उपवास होते हैं। ज्ञानशुद्धि के लिये किये जाने वाले ३ उपवास के दिनों में ज्ञानपूजा, आगमों की सुरक्षा, ज्ञानी पुरुषों की एषणीय वस्त्र, अन्न, पान आदि के द्वारा भक्ति अवश्य करना चाहिये। दर्शनपद की आराधना करते समय उपवास के साथ दर्शन प्रभावक **सम्मति** आदि ग्रन्थों की, सद्गुरुओं की पूजा करनी चाहिये। चारित्र पद के आराधन में भी ३ उपवासपूर्वक चारित्रात्माओं की भक्ति, पूजा आदि करना चाहिये ॥१५११ ॥

४. **कषायविजय**—क्रोध, मान, माया व लोभ। इन चारों कषायों पर विजय पाने के लिये किया जाने वाला तप। इस तप में क्रमशः एकाशन, नीवि, आयंबिल व उपवास किये जाते हैं। एक कषाय विजय में ४ दिन, इस प्रकार ४ कषाय-विजय में ४ × ४ = १६ दिन तक तप होता है ॥१५१२ ॥

५. **कर्मसूदन**—ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों का नाश करने वाला तप 'कर्मसूदन' है। इस तप में एक-एक कर्म को उद्देश्य करके आठ-आठ दिन तक क्रमशः उपवास, एकाशन, एकदाने का एकाशन, एकलठाणा, दत्ति, नीवि, आयंबिल व आठ कवल का एकाशन होता है। इस प्रकार यह तप ८ × ८ = ६४ दिन में पूर्ण होता है। इस तप की पूर्णाहुति होने पर परमात्मा का स्नात्र, विलेपन, पूजन, अंगरचना आदि करना चाहिये। परमात्मा के सम्मुख विशिष्ट नैवेद्य धरकर उसके बीच सुवर्णमयी कुल्हाड़ी रखना चाहिये। यह कुल्हाड़ी कर्मरूपी वृक्ष को छेदन करने का प्रतीक है ॥१५१३-१४ ॥

६. **लघुसिंहनिष्क्रीड़ित**—जिस तप की आराधना का क्रम सिंह के गमन की तरह हो वह सिंहनिष्क्रीड़ित तप है। जैसे सिंह आगे चलता जाता है और बीच-बीच में मुड़कर पुनः पीछे भी देखता जाता है वैसे इस तप में आगे बढ़कर पुनः पीछे का तप किया जाता है अतः इसका सिंहनिष्क्रीड़ित नाम सार्थक है। महासिंहनिष्क्रीड़ित की अपेक्षा जो तप छोटा हो वह लघु सिंहनिष्क्रीड़ित है। इस तप में प्रथम १ उपवास तत्पश्चात् २ पुनः पूर्वकृत १ उपवास किया जाता है। इस प्रकार आगे बढ़कर पुनः पीछे गमन होता है। इसमें तपाराधना इस प्रकार होती है।

लघुसिंहनिष्क्रीड़ित तपः

उपवास—१-२-१-३-२-४-३-५-४-६-५-७-६-८-७-९-८९-७-८-६-७-५-६-४-५-३-४-२-३-१-२-१

यह प्रथम परिपाटी है। इस प्रकार ४ बार करने से यह तप संपूर्ण होता है। उपवास के बीच सर्वत्र पारणा समझना। इस प्रकार इस तप में एक परिपाटी के कुल उपवास १५४ व पारणा ३३ होते हैं। संपूर्ण तप १५४ + ३३ = १८७ × ४ = ७४८ दिन में होता है। अर्थात् इस तप को पूर्ण होने में २ वर्ष २८ दिन लगते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पारणे का स्वरूप—

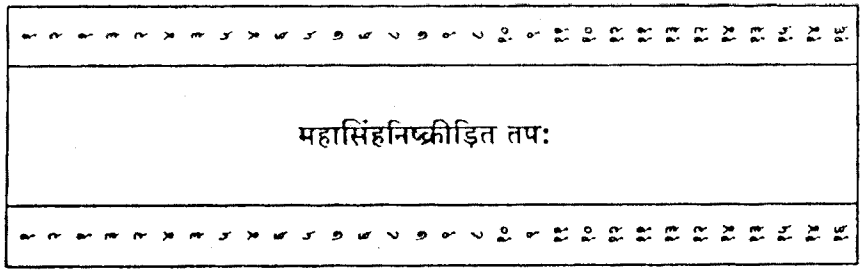
प्रथम परिपाटी में पारणे में सर्वरस भोजन ग्रहण करना।

द्वितीय परिपाटी में पारणे में विगयरहित आहार ग्रहण करना।

तृतीय परिपाटी में पारणे में अलेपकृत वाल, चना आदि का आहार करना।

चतुर्थ परिपाटी में पारणे में परिमित आहार वाला आयंबिल करना ॥१५१५-१८॥

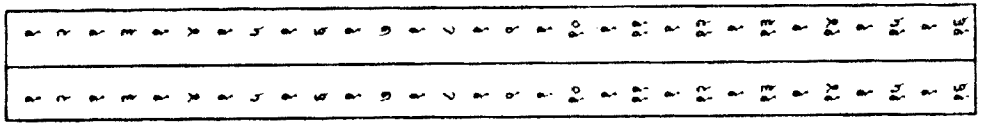
७. महासिंहनिष्क्रीड़ित—जिसमें लघुसिंहनिष्क्रीड़ित की अपेक्षा उपवास की संख्या अधिक हो वह महासिंहनिष्क्रीड़ित है। शेष व्याख्या पूर्ववत् है। इसमें तपाराधन का क्रम इस प्रकार है—



यह एक परिपाटी है। इस प्रकार ४ बार करने से यह तप संपूर्ण होता है। इस तप की एक परिपाटी में एक वर्ष, ६ महीने और १८ दिन लगते हैं इसे ४ से गुणा करने पर ६ वर्ष, दो मास व १२ दिन में तप पूर्ण होता है।

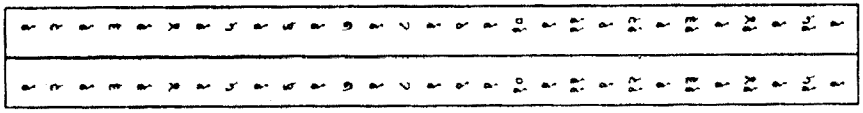
एक परिपाटी में ४९७ उपवास तथा ६१ पारणे होते हैं। चारों परिपाटी में पारणे का स्वरूप लघुसिंहनिष्क्रीड़ित की तरह समझना चाहिये ॥१५१९-२२॥

८. मुक्तावली—जिस तप की संख्या को यथाविधि पट्ट पर लिखा जाये तो मोतियों की माला का आकार बने वह तप मुक्तावली तप है। इसमें तपाराधना का क्रम इस प्रकार होता है।



यह एक परिपाटी है। इसकी तप संख्या ३०० उपवास व ६० पारणे हैं। इस प्रकार इस तप की १ परिपाटी १ वर्ष में (३६० दिन में) पूर्ण होती है तथा ४ परिपाटी ४ वर्ष में पूर्ण होती है अर्थात् यह तप ४ वर्ष में पूर्ण होता है।

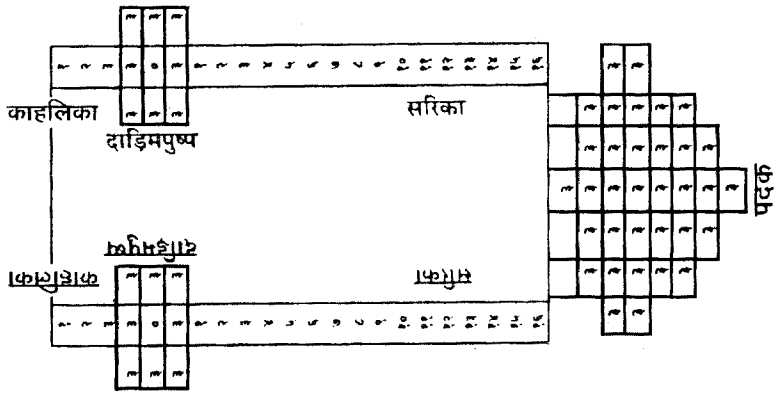
'अन्तकृद्दशांगसूत्र' के अनुसार इसकी स्थापना इस प्रकार है



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् प्रथम पंक्ति के अंत में जो १६ का अंक है, दूसरी पंक्ति का प्रारंभ उसी से हो जाता है। दूसरी बार १६ उपवास करने की आवश्यकता नहीं होती। चारों परिपाटी में पारणे का स्वरूप पूर्ववत् समझना चाहिये ॥१४२३-२४॥

९. रत्नावली—रत्नावली, गले में धारण करने योग्य आभरण (हार) विशेष का नाम है। इसके दोनों छोर प्रारंभ से सूक्ष्म फिर स्थूल, स्थूलतर सुवर्णमय अवयवद्वय से युक्त होते हैं। तत्पश्चात् अनार के पुष्प की तरह दोनों ओर दो (थेगडे) होते हैं उससे आगे दोनों ओर सरयुगल होता है। पश्चात् दोनों सरों के मध्य में सुन्दर पदक होता है। जिस तप की संख्या को यथाविधि पट्ट पर लिखने से रत्नावली का आकार बनता हो, वह तप भी 'रत्नावली' कहा जाता है। इस तप के आराधन का क्रम इस प्रकार होता है—



काहलिका दाड़िमपुष्प सरिका

यह एक परिपाटी है। ऐसी ४ परिपाटी करने पर तप संपूर्ण होता है। ४ परिपाटी में पारणे का स्वरूप पूर्ववत् होता है।

काहलिका	=	१२ उपवास	अर्थात् १ वर्ष ५ मास व १२ दिन में एक परिपाटी पूर्ण। ४ परिपाटी के ५२२ × ४ = २०८८ दिन होते हैं अर्थात् ५ वर्ष ९ महीने व १८ दिन में यह तप पूर्ण होता है। ॥१५२५-२७॥
दाड़िमपुष्प	=	४८ उपवास	
सरयुगल	=	२७२ उपवास	
पदक	=	१०२ उपवास	
कुल उपवास	=	४३५ उपवास	
पारणा	=	८८	
एक परिपाटी के	=	५२२ दिन	

१०. कनकावली—कंठ में पहिनने योग्य मणि जड़ित, सुवर्णमय आभूषण विशेष। जिस तप का आकार यथाविधि आलेखन करने पर कनकावली की तरह होता हो वह तप भी कनकावली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहलाता है। यह तप भी रत्नावली की तरह ही होता है। मात्र इतना अंतर है कि दाड़िमपुष्पों में अट्ठम के स्थान पर छट्ठ, वैसे पदक में भी सर्वत्र छट्ठ ही होता है अतः इस तप का प्रमाण इस प्रकार होता है—

काहलिका = १२ उपवास, दाड़िमपुष्प = ३२ उपवास, सरयुगल = २७२ उपवास, पदक = ६८ उपवास

कुल उपवास = ३८४ व पारणे = ८८ मिलकर एक परिपाटी ४७२ दिन अर्थात् १ वर्ष, ३ मास व २२ दिन में पूर्ण होती है। ४ परिपाटी ४७२ × ४ = ५ वर्ष २ मास व २८ दिन में संपूर्ण होती है।

'अन्तकृद्दशा' के अनुसार कनकावली तप में पदक व दाड़िमपुष्प में छट्ठ के स्थान पर अट्ठम व रत्नावली तप में अट्ठम के स्थान पर छट्ठ करने का कहा है। चारों परिपाटी में पारणा का स्वरूप पूर्ववत् समझना ॥१५२८-२९॥

११. भद्रतप—पाँच लता (परिपाटी) में यह तप पूर्ण होता है। इस तप में ७५ उपवास २५ पारणे कुल १०० दिन लगते हैं। इसका क्रम—

१	२	३	४	५
२	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

॥१५३०-३१॥

१२. महाभद्रतप—

१	२	३	४	५	६	७	१ लता
४	५	६	७	१	२	३	२ लता
७	१	२	३	४	५	६	३ लता
३	४	५	६	७	१	२	४ लता
६	७	१	२	३	४	५	५ लता
२	३	४	५	६	७	१	६ लता
५	६	७	१	२	३	४	७ लता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाभद्रतप ७ लता (परिपाटी) में पूर्ण होता है। इसमें १९६ उपवास तथा ४९ पारणे होने से यह तप १९६ + ४९ = २४५ दिन में पूर्ण होता है ॥१५३२-३४॥

१३. भद्रोत्तर—यह प्रतिमा भी कहलाती है। प्रतिमा अर्थात् प्रतिज्ञा विशेष। यह प्रतिमा ५ लता में परिपूर्ण होती है। इसमें १७५ उपवास व २५ पारणे हैं। कुल २०० दिन में यह तप पूर्ण होता है।

५	६	७	८	९
७	८	९	५	६
९	५	६	७	८
६	७	८	९	५
८	९	५	६	७

॥१५३५-३६॥

१४. सर्वतोभद्र—यह प्रतिमा ७ परिपाटी में पूर्ण होती है। इसमें उपवास के दिन ३६२ तथा पारणे के दिन ४९ है। दोनों मिलाने से ४४१ दिन में सर्वतोभद्रतप पूर्ण होता है। ग्रंथान्तर में ये तप अन्यरीति से भी बताये हैं।

५	६	७	८	९	१०	११
८	९	१०	११	५	६	७
११	५	६	७	८	९	१०
७	८	९	१०	११	५	६
१०	११	५	६	७	८	९
६	७	८	९	१०	११	५
९	१०	११	५	६	७	८

भद्रादि तपों के पारणे में पूर्ववत् सर्वरस भोजन, विगय रहित भोजन, अलेपकारी भोजन या आयंबिल किया जा सकता है। इस प्रकार ४ प्रकार के पारणे के भेद से ये तप भी ४ प्रकार के होते हैं ॥१५३७-४०॥

१५. सर्वसुखसंपत्ति—सर्व सुख-संपत्ति प्राप्त कराने वाला तप। संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो इस तप की आराधना करने वाले प्राणी को नहीं मिलती। इस तप में तिथि की संख्या के अनुसार उपवास किये जाते हैं। जैसे एकम का १ उपवास, दूज के २ उपवास यावत् पूनम के १५ उपवास होते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। यहाँ प्रतिपदा से यावत् अमावस्या तक तथा अन्यत्र 'इय जाव पन्नरस पुन्निमासु कीरंति जत्थ उववासा' इस पाठ के अनुसार पूर्णिमा तक करने का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि यह तप कृष्णपक्ष या शुक्लपक्ष दोनों में प्रारम्भ किया जा सकता है। इस तप के १२० उपवास होते हैं। इसे भाषा में 'पखवासा' तप कहते हैं ॥१५४१ ॥

१६. रोहिणी—रोहिणी-देवताविशेष, उसकी आराधना के लिये किया जाने वाला तप रोहिणी तप है। जिस दिन रोहिणी नक्षत्र होता है उस दिन उपवास किया जाता है। इस प्रकार यह तप सातवर्ष और सात महीने में पूर्ण होता है। उपवास के दिन वासुपूज्य स्वामी की पूजा आदि करना चाहिये। वासुपूज्य स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराना चाहिये। वर्तमान में इस तप को ग्रहण करने की परंपरा यह है कि अक्षयतृतीया को रोहिणी नक्षत्र होने पर यह तप प्रारम्भ किया जाता है ॥१५४२ ॥

१७. श्रुतदेवता—श्रुतदेवता की आराधना निमित्त किया जाने वाला तप। यह तप एकादशी के दिन मौनपूर्वक उपवास करके किया जाता है। यह तप ११ महीने तक होता है। इसी तरह नेमिनाथ परमात्मा की अधिष्ठायिका का अम्बामाता का तप भी होता है। यह तप पाँच पंचमी को एकाशनादि तप करके नेमिनाथ व अंबा देवी की पूजा भक्तिपूर्वक करना चाहिये ॥१५४३ ।।

१८. सर्वांगसुन्दर—जिस तप की आराधना से सभी अंग सुन्दर मिलते हैं वह तप 'सर्वांगसुन्दर' कहलाता है। यह तप शुक्लपक्ष में प्रारम्भ किया जाता है। इस तप में एकान्तर ८ उपवास तथा पारणे में आयंबिल होता है। तप करते हुए क्षमा, मृदुता, सरलता रखना, तीर्थंकर परमात्मा की पूजा, सुपात्रदान आदि करना आवश्यक है। सभी अंग सुन्दर मिलना इस तप का आनुषंगिक फल है वास्तविक फल तो सभी तपों का मोक्ष है ॥१५४४ ॥

१९. निरुजशिख—निरुज = रोगों का अभाव। शिखा = शिखा की तरह वही है मुख्य फल जिसका अर्थात् आरोग्यरूप मुख्य फल को उद्देश्य करके किया जाने वाला तप। इस तप में भी सर्वांगसुन्दर तप की तरह ८ उपवास व पारणे ८ आयंबिल होते हैं। अन्तर इतना है कि यह तप कृष्णपक्ष में होता है। इस तप में जिन पूजादि के अतिरिक्त रोगी की सेवा, उन्हें दवा, पथ्य देना आदि कार्य अवश्य करणीय है ॥१५४५ ॥

२०. परमभूषण—इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के योग्य मुकुट, कुण्डल, हार, कड़े आदि आभूषणों की प्राप्ति के उद्देश्य से जो तप किया जाता है वह परमभूषण तप है। इस तप में निरन्तर अथवा शक्ति न हो तो एकान्तर ३२ आयंबिल होते हैं। तप के समापन पर परमात्मा को यथाशक्ति मुकुट, तिलक आदि आभूषण चढ़ाना, सुपात्रदान आदि करना चाहिये ॥१५४६ ॥

२१. आयतिजनक—भविष्य में इच्छित फल को देने वाला तप। यह तप भी परमभूषण तप की तरह ३२ आयंबिल से पूर्ण होता है। इस तप में वन्दन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, वैयावृत्त्य आदि सभी धर्मक्रियायें वीर्योल्लासपूर्वक करनी चाहिये ॥१५४७ ॥

२२. सौभाग्यकल्पवृक्ष—सौभाग्य रूप फल देने में कल्पवृक्ष तुल्य तप सौभाग्य कल्पवृक्ष तप कहलाता है। यह तप चैत्रमास में एकान्तर उपवास करके पूर्ण किया जाता है। पारणे में सर्वरस-भोजन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ले सकते हैं। इस तप में यथाशक्ति साधु आदि की आहारादि द्वारा भक्ति करना चाहिये। तप संपूर्ण होने पर जिनेश्वर परमात्मा के सम्मुख विशाल थाल में चाँदी के अथवा सादे चावलों से फल पत्र सहित अनेक शाखाओं से युक्त कल्पवृक्ष की रचना करनी चाहिये ॥१५४८-४९ ॥

२३. तीर्थंकरमाता—तीर्थंकर की माताओं की पूजापूर्वक किया जाने वाला तप तीर्थंकरमातृ तप है। यह तप भाद्रपद मास की सुदी सातम से त्रयोदशी तक एकाशन करके पूर्ण होता है। यह तीन वर्ष तक इसी प्रकार किया जाता है ॥१५५० ॥

२४. समवसरण—यह तप भादवा वदी १ से प्रारम्भ होकर १६ दिन तक किया जाता है। यह तप क्रमशः एकाशन, नीवि, आयंबिल और उपवास द्वारा किया जाता है। समवसरण के एक-एक द्वार का आश्रय कर चार-चार दिन आराधना की जाती है। इस प्रकार ४ द्वार के १६ दिन होते हैं। यह तप ४ वर्ष में पूर्ण होता है। इस तप में समवसरण में विराजमान जिन प्रतिमा की पूजा अवश्य करनी चाहिये ॥१५५१ ॥

२५. अमावस्या—यह तप दीपावली की अमावस्या से प्रारम्भ होकर सात वर्ष में पूर्ण होता है। यथाशक्ति उपवासादि से यह तप किया जाता है। जिस दिन उपवास हो उस दिन नन्दीश्वर द्वीप के पट की एवं देवलोक में स्थित जिन प्रतिमाओं के पट की यथाशक्ति पूजा करनी चाहिये ॥१५५२ ॥

२६. पुण्डरीक—यह तप चैत्रसुदी पूनम से प्रारम्भ होकर १२ वर्ष में पूर्ण होता है। प्रतिवर्ष चैत्री पूर्णिमा को उपवास किया जाता है। अन्य मतानुसार यह तप सात वर्ष में ही पूर्ण हो जाता है। इस तप में मुख्यतः पुण्डरीक गणधर की प्रतिमा का विधिपूर्वक पूजन होता है। क्योंकि इस दिन तपाराधन का मुख्य कारण पुण्डरीक गणधर को केवलज्ञान की प्राप्ति ही है। **श्रीपद्मप्रभचरित्र** में पुण्डरीक गणधर के वर्णन के प्रसंग में जैसे कहा है—

घणघाइकम्मकलुसं, पक्खालिय सुक्कझाणसलिलेणं।
चेत्तस्स पुन्निमाए, संपत्तो केवलालोयं॥

शुक्ल ध्यान रूपी जल से घनघाती कर्म रूपी कलुश को प्रक्षालित कर चैत्र सुदी पूर्णिमा को पुण्डरीक गणधर ने केवलज्ञान को प्राप्त किया ॥१५५३ ॥

२७. अक्षयनिधि—जिस तप की आराधना करने से खजाना सदा भरा हुआ रहे वह 'अक्षयनिधि' तप है। इस तप में जिनप्रतिमा के सम्मुख कलश स्थापन कर उसे प्रतिदिन एक-एक मुट्ठी अक्षत डालकर भरना इस तप की मुख्य क्रिया है। वर्तमान में यह तप भादवा वदी ४ से प्रारम्भ कर भादवा सुदी ४ तक अर्थात् १६ दिन में यथाशक्ति एकाशन द्वारा किया जाता है ॥१५५४ ॥

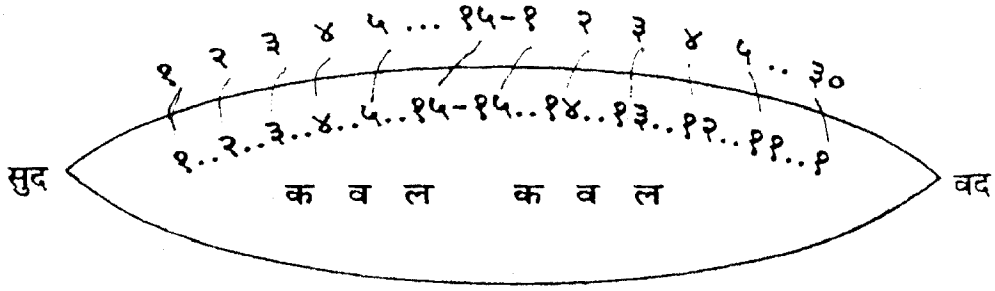
२८. चन्द्रप्रतिमा—चन्द्रकला की तरह जिस तप में हानि-वृद्धि होती रहती है वह तप चन्द्रप्रतिमा या चन्द्रायण कहलाता है। यह तप दो तरह से होता है—यवमध्यरीति से व वज्रमध्यरीति से।

यवमध्य—'जौ' की तरह मध्य में स्थूलतप व अन्त में सूक्ष्म तप है जिसमें यह यवमध्या चन्द्रप्रतिमा है। जैसे, चन्द्र की कला सुदी १ से प्रतिदिन बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा को पूर्ण हो जाती है तथा वदी एकम

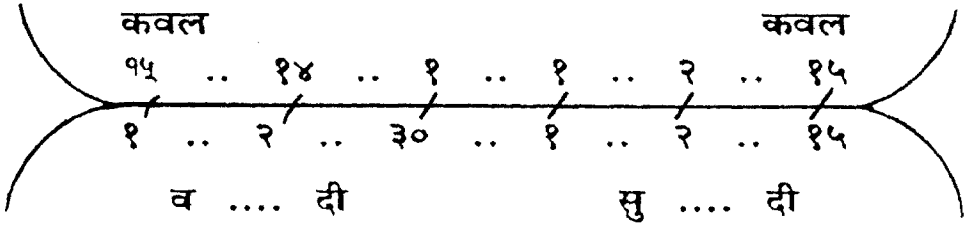
Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से एक-एक कला घटते-घटते अमावस्या को चन्द्र की मात्र १ कला ही शेष रह जाती है। वैसे यह तप भी सुदी एकम को १ कवल, दूज को २ कवल यावत् पूर्णिमा को १५ कवल, दूज को १४ कवल यावत् अमावस्या को १ कवल से पूर्ण होता है। इस प्रकार यवमध्य चन्द्र प्रतिमा तप एकमास में संपूर्ण होता है।

यवमध्य चन्द्रप्रतिमा



वज्रमध्य—जैसे वज्र मध्य में सूक्ष्म व दोनों किनारों पर स्थूल होता है वैसे जो तप मध्य में सूक्ष्म, प्रारम्भ व अन्त में स्थूल होता है वह वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा तप है। यह तप कृष्ण प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है। इस तप में कृष्ण एकम को १५ कवल दूज को १४ कवल, तीज को १३ कवल यावत् अमावस्या को १ कवल पुनः सुदी एकम को १ कवल, दूज को दो कवल, तीज को ३ कवल यावत् पूनम को १५ कवल ग्रहण किये जाते हैं। इस प्रकार यवमध्य व वज्रमध्य चन्द्रप्रतिमा तप होता है। यह **पञ्चाशक** ग्रन्थ के अनुसार समझना। कवल के स्थान पर 'दत्ति' अर्थात् १ दत्ति, २ दत्ति यावत् १५ दत्ति ग्रहण करने का भी वर्णन आता है।



व्यवहारचूर्णि के अनुसार—

चन्द्रविमान के कुल १५ भाग किये गये हैं। वे भाग 'कला' कहलाते हैं। शुक्लपक्ष की एकम को चन्द्र के विमान की १ कला दिखाई देती है, दूज को २ कला यावत् पूर्णिमा को १५ कला से पूर्ण चन्द्र दिखाई देता है। कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को एक कला से न्यून दूज को २ कला से न्यून, तीज को ३ कला से न्यून यावत् अमावस्या को एक भी कला दिखाई नहीं देती। इससे तात्पर्य यह हुआ कि जैसे चंद्र महीने के प्रारम्भ में अल्प, मध्य में पूर्ण तथा अंत में सर्वथा हीन हो जाता है वैसे ही तप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना चन्द्रप्रतिमा की यवमध्य रीति है। इसके अनुसार तप शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ होकर अमावस्या को पूर्ण होता है। इसमें भिक्षाग्रहण की विधि निम्न है—

सुदी एकम को १ दत्ति, दूज को २ दत्ति, तीज को ३ दत्ति यावत् पूर्णिमा को १५ दत्ति ग्रहण करे। वैसे ही वदी एकम को १४ दत्ति, दूज को १३ दत्ति, तीज को १२ दत्ति यावत् चौदश को १ दत्ति तथा अमावस्या को चन्द्र की एक भी कला दिखाई न देने से उपवास करना। इस प्रकार तप के आदि व अन्त में भिक्षा प्रमाण अल्प व मध्य में विपुल होने से यह यवमध्य चन्द्रप्रतिमा तप है। वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा तप कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से प्रारम्भ होकर पूर्णिमा को पूर्ण होता है क्योंकि वज्र के अंतिम दोनों भाग स्थूल होते हैं तथा मध्य भाग सूक्ष्म होता है। कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को चन्द्र के विमान की १४ कला दिखाई देती है। दूज को १३, तीज को १२ यावत् चौदश को १ तथा अमावस्या को एक भी कला दिखाई नहीं देती। पुनः शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को चन्द्र के विमान की १ कला, दूज को २ यावत् पूर्णिमा को १५ कला दिखाई देती है। इसका यह तात्पर्य है कि जैसे चन्द्र महीने के आदि व अन्त भाग में स्थूल होता है तथा मध्यभाग में सूक्ष्म होता है वैसे ही तप करना चन्द्र प्रतिमा की वज्रमध्यरीति है। इसमें भिक्षाग्रहण की विधि निम्न है—

वद एकम को १४ कवल या दत्ति, दूज को १३ कवल, यावत् चौदश को १ कवल तथा अमावस्या को एक भी कला दिखाई न देने से उपवास करना। पुनः शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को १ दत्ति या कवल, दूज को २ दत्ति या कवल यावत् पूर्णिमा को १५ दत्ति या कवल ग्रहण करना। इस प्रकार तप के आदि व अन्त में भिक्षा प्रमाण विपुल व मध्य में सूक्ष्म होने से यह वज्रमध्य चन्द्र प्रतिमा तप है ॥१५५४-६०॥

२९. सप्तसप्तमिका—यह तप सात बार सात-सात दिन तक करके परिपूर्ण होता है यह तप कुल ४९ दिन का है। प्रथम सप्तक में प्रतिदिन भोजन की १ दत्ति, द्वितीय सप्तक में प्रतिदिन भोजन की २ दत्ति यावत् सातवें सप्तक में भोजन की ७ दत्ति ग्रहण की जाती है। इसी तरह पानी की दत्ति भी समझना।

अन्ये तु—सप्तक के प्रथम दिन में १ दत्ति, दूसरे दिन में २ दत्ति, तीसरे दिन में ३ दत्ति यावत् सातवें दिन में ७ दत्ति ग्रहण की जाती है। इसी प्रकार सभी सप्तक में समझना। **व्यवहारभाष्य** में ऐसा कथन है।

जो तप सात सप्तकों से परिपूर्ण होता है, वह सप्तसप्तमिका तप है।

३०. अष्टअष्टमिका—जो तप आठ अष्टकों (८ दिन = १ अष्टक) से पूर्ण होता है वह अष्टअष्टमिका तप है। इसमें प्रथम अष्टक में प्रतिदिन १ दत्ति, दूसरे अष्टक में प्रतिदिन २ दत्ति यावत् आठवें में प्रतिदिन ८ दत्ति ग्रहण की जाती है। यह तप ८ × ८ = ६४ दिन में पूर्ण होता है।

३१. नवनवमिका—जो तप नव नवकों (९ दिन = १ नवक) से पूर्ण होता है वह 'नवनवमिका' तप है। प्रथम नवक में प्रतिदिन १ दत्ति, द्वितीय नवक में प्रतिदिन २ दत्ति यावत् नौवें नवक में प्रतिदिन ९ दत्ति ग्रहण की जाती है। यह तप कुल ९ × ९ = ८१ दिन में पूर्ण होता है।

३२. दशदशमिका—जो तप दश दशकों (१० दिन : १ दशक) में पूर्ण होता है वह दशदशमिका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तप है। प्रथम दशक में प्रतिदिन १ दत्ति, द्वितीय दशक में प्रतिदिन २ दत्ति यावत् दशम दशक में प्रतिदिन १० दत्ति ग्रहण की जाती है। इस प्रकार यह तप कुल १० × १० = १०० दिन में पूर्ण होता है।

- सप्तसप्तमिका आदि चारों प्रतिमायें (तप) ९ महीने २४ दिन में पूर्ण होती है।

दत्ति का परिमाण—

सप्तसप्तमिका प्रतिमा में १९६ दत्ति।

अष्टाष्टमिका प्रतिमा में २८० दत्ति।

नवनवमिका प्रतिमा में ४०५ दत्ति।

दशदशमिका प्रतिमा में ५५० दत्ति ॥१५६१-६३॥

३३. आयंबिल वर्धमान तप—'एतदाचाम्लवर्धमाननामकं महातपश्चरणं।'

१ आयंबिल	=	१ उपवास
२ आयंबिल	=	१ उपवास
३ आयंबिल	=	१ उपवास
४ आयंबिल	=	१ उपवास
५ आयंबिल	=	१ उपवास
यावत् १०० आयंबिल	=	१ उपवास

इस प्रकार १०० उपवास + ५०५० आयंबिल = ५१५० कुल दिन अर्थात् यह तप १४ वर्ष ३ महीने और २० दिन में सम्पूर्ण होता है ॥१५६४-६५॥

३४. गुणरत्नसंवत्सर तप—विशेष निर्जरा आदि गुण-रत्नों की उपलब्धि का साधन गुणरत्नवत्सर या गुणरत्नसंवत्सर तप कहलाता है। यह तप १ वर्ष, ४ महीने में पूर्ण होता है।

प्रथम मास में एकान्तर उपवास, दूसरे मास में एकान्तर छट्ठ, तीसरे मास में एकान्तर अट्ठम व चौथे मास में एकान्तर दशमभक्त (चोला) यावत् १६वें मास में एकान्तर १६ उपवास। इस प्रकार यह तप १६ मास में पूर्ण होता है। इसमें तप दिन १३ मास, १७ दिन तथा पारणा ७३ हैं।

- इस तप में दिन में उत्कटुक आसन में एवं रात्रि में वीरासन में वस्त्र रहित रहना।

अट्ठमादि तप के महीने में, यदि दिन की कमी रहती हो तो उतने दिन आगे के महीने से लेकर दिन की पूर्ति करना। यदि महीने के दिन बढ़ते हो तो उन्हें अगले महीने में डाल देना ॥१५६६-६९॥

शास्त्रों में स्कंधक आदि मुनियों के द्वारा आराधित अनेकानेक तप हैं। उन्हें पृथक्-पृथक् बताना संभव नहीं होता अतः पूर्वोक्त तपों के अतिरिक्त शेष अंग, उपांग, ईर्यापथिकी, शक्रस्तव, स्थापनार्हस्तव, नामस्तव, श्रुतस्तव, सिद्धस्तव, पंचमंगल-महाश्रुतस्कंध के उपधानादि तप जिस विधि से सिद्धान्त में बताये हैं, वे सभी अन्यान्य ग्रन्थों से जानना। (टीकाकार द्वारा निर्मित समाचारी में देखें-विशेष तपों का वर्णन) ॥१५७०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७२ द्वार : पातालकलश—

पणनउइ सहस्साइं ओगाहित्ता चउद्दिसिं लवणं ।
चउरोऽलिंजरसंठाणसंठिया होंति पायाला ॥१५७१ ॥
वलयामुह केयूरे जुयगे तह ईसरे य बोद्धवे ।
सव्ववइरामयाणं कुड्डा एएसि दससइया ॥१५७२ ॥
जोयणसहस्सदसगं मूले उवरिं च होंति विच्छिन्ना ।
मज्झे य सयसहस्सं तत्तियमित्तं च ओगाढा ॥१५७३ ॥
पलिओवमट्ठिईया एएसिं अहिवई सुरा इणमो ।
काले य महाकाले वेलंब पभंजणे चेव ॥१५७४ ॥
अन्नेवि य पायाला खुड्डालिंजरगसंठिया लवणे ।
अट्ठ सया चुलसीया सत्त सहस्सा य सव्वेसिं ॥१५७५ ॥
जोयणसयविच्छिन्ना मूलुवरिं दस सयाणि मज्झंमि ।
ओगाढा य सहस्सं दसजोयणिया य सिं कुड्डा ॥१५७६ ॥
पायालाण विभागा सव्वाणवि तिन्नि तिन्नि बोद्धव्वा ।
हिट्ठिमभागे वाऊ मज्झे वाऊ य उदगं च ॥१५७७ ॥
उवरिं उदगं भणियं पढमगबीएसु वाउसंखुभिओ ।
उड्ढं वामे उदगं परिवड्ढइ जलनिही खुभिओ ॥१५७८ ॥
परिसंठिअंमि पवणे पुणरवि उदगं तमेव संठाणं ।
वड्ढेइ तेण उदही परिहायइऽणुक्कमेणेव ॥१५७९ ॥

—गाथार्थ—

पातालकलश—**चारों दिशाओं से लवण समुद्र के भीतर पंचाणु-पंचाणु हजार योजन जाने पर बड़ी कोठी के आकार वाले चार पातालकलश स्थित हैं ॥१५७१ ॥**

वडवामुख, केयूप, यूपक और ईश्वर ये चार पातालकलशों के नाम हैं। सभी पातालकलश वज्रमय हैं और इनकी ठीकरी की मोटाई एक हजार योजन की है। पातालकलश मूल तथा ऊपर में दस हजार योजन विस्तृत हैं। इनका मध्य विस्तार एक लाख योजन का है। एक लाख योजन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धरती में अवगाढ़ है। काल, महाकाल, वेलंब और प्रभंजन नामक एक पल्योपम की स्थिति वाले देवता इनके अधिष्ठाता हैं ॥१५७२-७४॥

छोटी कोठी के आकार वाले अन्य भी छोटे-छोटे पातालकलशे लवण समुद्र में हैं। वे सभी मिलकर सात हजार आठ सौ चौरासी कलश हैं ॥१५७५॥

सभी लघु पातालकलश मूल तथा ऊपर के भाग में एक सौ योजन विस्तृत हैं तथा मध्य भाग में एक हजार योजन विस्तृत हैं। हजार योजन भूमि में अवगाढ़ है तथा इनकी ठीकरी की मोटाई दस योजन की है ॥१५७६॥

सभी पातालकलश तीन भागों में विभक्त हैं। सबसे निम्न भाग में वायु है, मध्य भाग में वायु और जल है तथा ऊपर के भाग में केवल जल है। प्रथम और द्वितीय भाग में स्थित वायु क्षुब्ध होने से ऊपर के भाग का जल बाहर निकलने लगता है और समुद्र क्षुब्ध हो जाता है जिससे समुद्र में जल बढ़ने लगता है। जब वायु स्थिर हो जाता है तो जल भी सन्तुलित हो जाता है। इस प्रकार समुद्र में अनुक्रम से ज्वारभाटा आता है ॥१५७७-७९॥

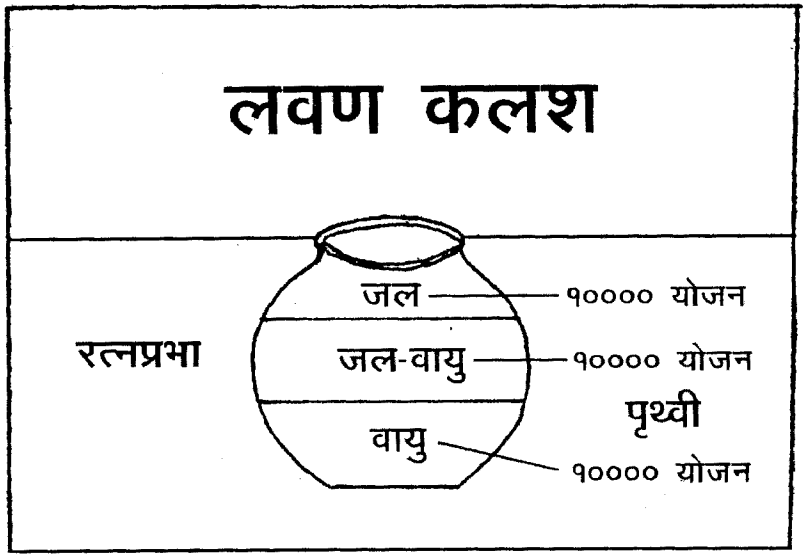
—विवेचन—

जंबूद्वीप के मध्यभाग में स्थित मेरुपर्वत की चारों दिशाओं में ९५००० योजन तक लवणसमुद्र का अवगाहन करने के पश्चात् प्रत्येक दिशा में एक-एक पातालकलश होने से कुल ४ पातालकलश हैं। यहाँ 'पाताल' शब्द पद का एकदेश पद समुदाय का परिचायक होता है इस नियमानुसार 'पातालकलश' इतने पूरे पद को सूचित करता है। ये पातालकलश महाकाय घड़े के आकार वाले हैं।

नाम	दिशा	अधिपति	
वडवामुख केयूप यूप ईश्वर	पूर्व में दक्षिण में पश्चिम में उत्तर में	काल महाकाल वेलंब प्रभंजन	वडवामुख के स्थान पर कहीं वलयामुख है। केयूप के स्थान पर केयूर व समवायांग टीका में केतुक नाम भी है। पाताल कलशों के अधिपति देवता महर्द्धिक तथा १ पल्योपम की आयु वाले हैं।

चारों पातालकलश वज्ररत्नमय हैं। इनकी ठीकरी की मोटाई १,००० योजन परिमाण हैं। इन कलशों का मूल व मुखभाग में विस्तार १०,००० योजन का तथा उदर प्रदेश में विस्तार १ लाख योजन का है। १,००,००० योजन भूमिगत हैं अर्थात् ऊँचे हैं। (भूमिगत होना ही इनकी ऊँचाई है) ये कलश मूल में १०,००० योजन विस्तीर्ण हैं। तत्पश्चात् प्रदेश विस्तार बढ़ते-बढ़ते मध्यभाग में विस्तार १,००,००० योजन प्रमाण हो जाता है। मध्यभाग से ऊपर की ओर पुनः-पुनः एक-एक प्रदेश घटते-घटते मुखभाग में विस्तार १०,००० योजन रह जाता है ॥१५७२-७४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



लघु पातालकलश—

पूर्वोक्त चारों पातालकलशों के अन्तराल में लवण समुद्र में यत्र-तत्र छोटे घड़े के आकार वाले अन्य भी बहुत से लघु पातालकलश हैं। एक-एक महाकलश से सम्बन्धित १९७१ लघु पाताल कलश हैं। चारों महाकलशों का कुल परिवार ७८८४ कलश हैं।

सभी लघु पातालकलशों के अधिपति देव हैं और वे अर्ध पल्योपम की आयु वाले हैं।

इन कलशों का विस्तार मूल व मुखभाग में १०० योजन, मध्यभाग में १००० योजन तथा ऊँचाई १००० योजन है। इन कलशों की ठीकरी की मोटाई १० योजन प्रमाण है ॥१५७५-७६ ॥

महाकलश व लघुकलश प्रत्येक के ३-३ भाग हैं।

भाग	महाकलश	लघुकलश	क्या है?
१. अधोभाग	प्रत्येक भाग का	प्रत्येक भाग	वायु है।
२. मध्यभाग	प्रमाण ३३३३३$\frac{१}{३}$	३३३$\frac{१}{३}$ योजन का	वायु और जल है।
३. उपरितनभाग	योजन है।	है।	जल है।

तथाविध स्वभावत: प्रतिनियत समय में महाकलश व लघुकलश सभी के प्रथम-द्वितीय भाग में अनेक प्रकार के वायु उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर उनमें महान संक्षोभ पैदा होता है। इससे उनकी शक्ति अद्‌भुत हो जाती है और वे वायु बड़े वेग से इधर-उधर फैलते हैं। इससे कलशगत जल भी क्षुब्ध होकर उछलने लगता है। जल के क्षोभ से समुद्र भी क्षुब्ध होकर बढ़ने लगता है। जब वायु उपशान्त हो जाता है तो जल भी यथावस्थित हो जाता है। वायु क्षोभ की यह प्रक्रिया अहोरात्रि में दो बार तथा पक्ष में ८-१४ आदि तिथियों में होती है अत: इस समय समुद्र में ज्वार आता है। पश्चात् शान्त हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

छोटे व बड़े सभी पाताल कलश लवण समुद्र में ही होते हैं। शेष समुद्रों में नहीं होते।

लवण समुद्र के अति मध्य भाग में चारों दिशा में चार बृहदाकार पाताल कलश हैं। प्रत्येक कलश रत्नप्रभा पृथ्वी में १,००,००० योजन गहरे हैं। मध्यभाग में भी ये १,००,००० योजन विस्तृत हैं। इनका मुँह के पास विस्तार १०,००० योजन का है तथा इनका निम्न भाग भी इतना ही विस्तार वाला है। इनकी ठीकरी की मोटाई १००० योजन है। इनकी ऊँचाई के $\frac{१}{३}$ भाग में वायु, मध्य के $\frac{१}{३}$ भाग में जल तथा वायु तथा ऊपर के $\frac{१}{३}$ भाग में केवल जल है।

२७३ द्वार : आहारक-शरीर—

समओ जहन्नमंतरमुक्कोसेणं तु जाव छम्मासा।
आहारसरीराणं उक्कोसेणं नव सहस्सा ॥१५८०॥
चत्तारि य वाराओ चउदसपुव्वी करेइ आहारं।
संसारम्मि वसंतो एगभवे दोन्नि वाराओ ॥१५८१॥
तित्थयररिद्धिसंदंसणत्थमत्थोवगहणहेउं वा।
संसयवुच्छेयत्थं वा गमणं जिणपायमूलंमि ॥१५८२॥

—गाथार्थ—

आहारक स्वरूप—**आहारक शरीर का जघन्य अन्तर एक समय का तथा उत्कृष्ट अन्तर छः महीने का है। उत्कृष्टतः आहारक शरीरी नौ हजार हैं। चौदह पूर्वधर संपूर्ण भवचक्र में चार बार आहारक शरीर बना सकते हैं और एक भव में दो बार कर सकते हैं॥१५८०-८१॥**

तीर्थंकर की ऋद्धि को देखने हेतु, सिद्धांत के अर्थ का बोध करने के लिये, अपने संशय का निराकरण करने के लिये चौदह पूर्वधर आहारक शरीर बनाकर जिनेश्वर परमात्मा के चरण कमल में जाते हैं॥१५८२॥

—विवेचन—

आहारक शरीर = चौदहपूर्वधर मुनि, विशेष प्रयोजन से आहारक लब्धि द्वारा जिस शरीर की रचना करते हैं, वह आहारक शरीर है। वैक्रिय शरीर की अपेक्षा यह शरीर इतने स्वच्छ, शुभ पुद्गलों से बना हुआ होता है कि इसकी गति में पर्वत आदि व्यवधान नहीं डाल सकते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आहारक शरीर का विरह काल—

विरह काल		संख्या		अवगाहना		कितनी बार	
उत्कृष्ट छः माह	जघन्य एक समय	उत्कृष्ट ९ हजार आहारक शरीरी	जघन्य १-२-३ आहारक शरीरी	उत्कृष्ट एक हाथ	जघन्य देशोन एक हाथ	सर्वभव आश्रयी ४ बार पश्चात् मोक्ष	एक भव आश्रयी २ बार

- **जीवसमास** में आहारक मिश्र का २ से ९ वर्ष का जो विरह-काल (अन्तर) बताया है, वह मतान्तर समझना।

प्रयोजन—परमात्मा के समवसरण की शोभा देखने के लिये, विशिष्ट ज्ञान के लिये अथवा अपने सन्देह का निराकरण करने के लिये समीप में कोई तीर्थंकर न होने से जब आहारक लब्धि-सम्पन्न-आत्मा महाविदेह क्षेत्र में जाना चाहते हैं, तो इस शरीर की रचना करते हैं क्योंकि औदारिक शरीर से वहाँ नहीं जा सकते। जब आहारक लब्धिधारी आत्मा आहारक शरीर बनाते हें तो अपने मूल औदारिक शरीर में रहे हुए आत्म-प्रदेशों में से कुछ आत्म-प्रदेश उसमें डाल देते हैं। आत्म-प्रदेश की धारा अविच्छिन्न होने से दोनों शरीर के बीच में एक दंडाकार धारा बन जाती है, जो दोनों शरीरों को अदृश्य रूप से जोड़ती है। प्रयोजन पूर्ण होने के बाद लब्धिधारी आत्मा अपने स्थान में आकर आहारक शरीर का विसर्जन कर देते हैं और उसमें रहे हुए आत्म-प्रदेशों को पुनः औदारिक शरीर जो कि धरोहर की तरह सुरक्षित रखा हुआ था तथा आत्म-प्रदेशों के जाल से अवबद्ध था उसमें व्यवस्थित कर देते हैं। इस शरीर की स्थिति अन्तमुहूर्त की होती है ॥१५८०-८२॥

आहारक शरीर की जघन्य अवगाहना भी किंचिन्यून एक हाथ से कम नहीं होती। क्योंकि आहारक लब्धिधारक का प्रयत्न ऐसा ही होता है तथा आहारक शरीर के आरंभक पुद्गलों की शक्ति भी विशिष्ट होती है अतः प्रारम्भ में ही इसकी अवगाहना देशोन एक हाथ की हो जाती है। औदारिक आदि शरीर की तरह आहारक शरीर की प्रारंभ काल में अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र की नहीं होती ॥१५८०-८२॥

२७४ द्वार :

अनार्यदेश—

सग जवण सबर बब्बर काय मुरुंडोद्द गोद्डपक्कणया।
अरबाग होण रोमय पारस खस खासिया चेव ॥१५८३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुंबिलय लउस बोक्कस भिल्लंध पुलिंद कुंच भमररुआ।
कोवाय चीण चंचुय मालव दमिला कुलग्घा या ॥१५८४॥
केक्कय किराय हयमुह खरमुह गयतुरयमिंढयमुहा य।
हयकन्ना गयकन्ना अन्नेऽवि अणारिया बहवे ॥१५८५॥
पावा य चंडकम्मा अणारिया निग्घिणा निरणुतावी।
धम्मोत्ति अक्खराइं सुमिणेऽवि न नज्जए जाणं ।११५८६॥

—गाथार्थ—

अनार्यदेश—**शक, यवन, शबर, बर्बर, काय, मुरुण्ड, उड्ड, गौड़, पक्कणग, अरबाग, हूण, रोम, पारस, खस, खासिक, दुम्बिलक, लकुश, बोक्कस, भिल्ल, अन्ध्र, पुलिन्द्र, कुंच, भ्रमररुक, कोपाक, चीन, चंचुक, मालव, द्रविड़, कुलार्घ केकय, किरात, हयमुख, खरमुख, गजमुख, तुरंगमुख, मिंढकमुख, हयकर्ण और गजकर्ण। अन्य भी बहुत से अनार्य देश हैं ॥१५८३-८५॥**

पापी, अति रौद्र कर्म करने वाले, निर्दय, पश्चात्ताप हीन, 'धर्म' शब्द को स्वप्न में भी नहीं जानने वाले लोग 'अनार्य' हैं ॥१५८६॥

—विवेचन—

अनार्यदेश = अशिष्ट, असभ्य व्यवहार वाले देश अनार्य देश हैं। वे निम्न हैं।

१. शकदेश	१४. खसदेश	२७. मालवदेश
२. यवनदेश	१५. खासिकदेश	२८. द्रविड़देश
३. शबरदेश	१६. दुंबिलकदेश	२९. कुलार्घदेश
४. बर्बरदेश	१७. लकुशदेश	३०. केकयदेश
५. कायदेश	१८. बोक्कशदेश	३१. किरातदेश
६. मुरुण्डदेश	१९. भिल्लदेश	३२. हयमुखदेश
७. उड्डुदेश	२०. अंधदेश	३३. खरमुखदेश
८. गौडदेश	२१. पुलींद्रदेश	३४. गजमुखदेश
९. पक्वणगदेश	२२. कुंचदेश	३५. तुरंगमुखदेश
१०. अरबदेश	२३. भ्रमररुकदेश	३६. मिंढकमुखदेश
११. हूणदेश	२४. कोपाकदेश	३७. हयकर्णदेश
१२. रोमदेश	२५. चीनदेश	३८. गजकर्णदेश
१३. पारसदेश	२६. चञ्चुकदेश	

जो हेय धर्मों से रहित तथा उपादेय धर्मों से सहित हैं, वे आर्य देश हैं। इससे विपरीत देश अनार्य हैं। अर्थात् जो देश अशिष्ट व्यवहार वाले हैं वे अनार्य हैं।

- अनार्य देशों का वातावरण पाप बँधाने वाला होने से ये देश पाप देश हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- अनार्य देशों का वातावरण उत्कटकषाय वाला होने से जीवों को रौद्रकर्म का प्रेरक है अत: ये देश 'चण्डकर्मा' कहलाते हैं।
- क्षेत्रज स्वभाव के कारण यहाँ के निवासी लोगों में पाप के प्रति लेशमात्र भी घृणा नहीं होती अत: ये देश 'निर्घृण' कहलाते हैं।
- कुकृत्य करने पर भी यहाँ के लोगों में लेशमात्र भी पश्चात्ताप नहीं होता अत: ये देश 'निरनुतापी' हैं।
- जिस देश में 'धर्म' इतने अक्षर देखने-सुनने को स्वप्न में भी नहीं मिलते, जो अपेय का पान, अभक्ष्य का भक्षण, अगम्या का गमन करने वाले, शास्त्रविरुद्ध वेष-भाषा व आचार वाले हैं वे सभी अनार्य देश हैं।

पूर्वोक्त नामों के अतिरिक्त अन्य भी देश अशिष्ट आचार वाले होने से अनार्यदेश की गणना में आते हैं। **प्रश्नव्याकरणादि** ग्रन्थों में ऐसे देशों का वर्णन है। विस्तृत ज्ञान के लिये वे ग्रंथ देखना चाहिये ॥१५८३-८६॥

२७५ द्वार : आर्यदेश—

रायगिह मगह चंपा अंगा तह तामलित्ति वंगा य।
कंचणपुरं कलिंगा वणारसी चेव कासी य ॥१५८७॥
साकेयं कोसला गयपुरं च कुरु सोरियं कुसट्टा य।
कंपिल्लं पंचाला अहिछत्ता जंगला चेव ॥१५८८॥
बारवई य सुरट्ठा मिहिल विदेहा य वच्छ कोसंबी।
नंदिपुरं संडिल्ला भद्दिलपुरमेव मलया य ॥१५८९॥
वइराड मच्छ वरुणा अच्छा तह मत्तियावइ दसन्ना।
सोत्तीमई य चेई वीयमयं सिंधुसोवीरा ॥१५९०॥
महुरा य सूरसेणा पावा भंगी य मासपुरी वट्टा।
सावत्थी य कुणाला कोडीवरिसं च लाढा य ॥१५९१॥
सेयवियावि य नयरी केयइअद्धं च आरियं भणियं।
जत्थुप्पत्ति जिणाणं चक्कीणं रामकण्हाणं ॥१५९२॥

—विवेचन—

आर्यदेश—

आर्यदेश = जिन देशों में तीर्थंकर चक्रवर्ती, बलदेव व वासुदेवों की उत्पत्ति होती है वे आर्यदेश हैं। अन्य सभी देश अनार्य हैं। यह आर्य-अनार्य की व्यवस्था है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यक-चूर्णि के मतानुसार—

जिन देशों में युगलिकों का जन्म हो तथा जहाँ हकार, मकारादि नीति का व्यवहार हो वे देश आर्यदेश कहलाते हैं। आर्यदेश २५$\frac{१}{२}$ हैं।

	देश	नगरी		देश	नगरी
१.	मगध	राजगृही	१५.	मलयदेश	भद्दिलपुर
२.	अंगदेश	चंपानगरी	१६.	मत्स्य	वैराटपुर
३.	बंगदेश	ताम्रलिप्ती	१७.	अच्छदेश	वरुणा
४.	कलिंगदेश	कांचनपुर	१८.	दशार्णदेश	मृत्तिकावतीनगरी
५.	काशीदेश	बाराणसी	१९.	चेदिदेश	शुक्तिमती नगरी
६.	कोशलदेश	साकेतनगर	२०.	सिंधुसौवीरदेश	वीतभयनगर
७.	कुरुदेश	गजपुर	२१.	सूरसेनदेश	मथुरानगरी
८.	कुशार्त्त	शौरीपुर	२२.	भंगिदेश	पापानगरी
९.	पांचालदेश	कांपिल्यनगर	२३.	वर्तदेश	मासपुरीनगरी
१०.	जंगलदेश	अहिच्छत्रानगरी	२४.	कुणालदेश	श्रावस्तीनगरी
११.	सौराष्ट्र देश	द्वारवतीनगरी	२५.	लाढ़ादेश	कोटीवर्षनगर
१२.	विदेहदेश	मिथिलानगरी	२५$\frac{१}{२}$.	अर्धकेकय	श्वेतांबिकानगरी
१३.	वत्सदेश	कौशाम्बीनगरी			
१४.	शण्डिल्य या शाण्डिल्य	नन्दिपुर			

मतान्तर — चेदिदेश में सौक्तिकावती नगरी। सिन्धुदेश में वीतभयनगर। सौवीरदेश में मथुरा। सूरसेन में पापा नगरी तथा भंगिदेश में मासपुरीवट्ट नगर है।

जहाँ-जहाँ नगर व देश के नामों का भेद हैं वहाँ बहुश्रुतों की परंपरा को मान्य रखते हुए व्यवहार करना चाहिये।

पूर्वोक्त आर्यदेश भरतक्षेत्र सम्बन्धी हैं। वैसे महाविदेह की विजय से सम्बन्धित भी अनेक आर्यदेश हैं ॥१५८७-९२॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२७६ द्वार : सिद्ध-गुण—

नव दरिसणंमि चत्तारि आउए पंच आइमे अंते।
सेसे दो दो भेया खीणभिलावेण इगतीसं ॥१५९३॥
पडिसेहण संठाणे य वन्नगंधरसफासवेए य।
पण पण दु पणट्ठ तिहा एगतीसमकायऽसंगऽरुहा ॥१५९४॥

—गाथार्थ—

सिद्ध के इकतीस गुण—**दर्शनावरण के नौ भेद, आयुष्य के चार भेद, ज्ञानावरण के पाँच भेद, अन्तराय के पाँच भेद, शेष कर्मों के दो-दो भेद—इन सभी भेदों के साथ 'क्षय' शब्द जोड़ने से सिद्ध के इकतीस भेद होते हैं ॥१५९३॥**

संस्थान, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और वेद—इनके क्रमशः पाँच, पाँच, दो, पाँच और आठ भेद हैं। इन्हें प्रतिषेधमुखेन बोलना तथा इनमें अकायत्व, असंगत्व और अरुहत्व जोड़ना—इस प्रकार भी सिद्ध के इकतीस गुण होते हैं ॥१५९४॥

—विवेचन—

५ ज्ञानावरणीय ९ दर्शनावरणीय ४ आयु ५ अन्तराय २ शुभ-अशुभ नामकर्म २ साता-असातावेदनीय २ दर्शनमोह-चारित्रमोह २ ऊँच-नीचगोत्र	पूर्वोक्त ३१ प्रकृतियों का क्षय होने से उत्पन्न ३१ गुण वाले सिद्ध परमात्मा हैं।

अथवा—

५ संस्थान = शारीरिक रचना विशेष, आकार विशेष। जिसके द्वारा वस्तु ठहरती है वह संस्थान है।

(१) परिमंडल (चूड़ी की तरह गोलाकार)
(२) वृत्त (गोलाकार, भीतर-बाहर ठोस दर्पण की तरह)
(३) त्रयस्र (सिंघाड़े की तरह तिकोन)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) चतुरस्र (चौकी आदि की तरह चोकोर)

(५) आयत (लंबा-दण्डाकार)

अन्य भी घन, प्रतर आदि अनेक आकार हैं जो **उत्तराध्ययन** की **वृहद्वृत्ति** से समझना चाहिये।

५ वर्ण	२ गंध	५ रस	६ स्पर्श
(१) श्वेत	(१) सुरभि	(१) तिक्त	(१) गुरु
(२) पीत	(२) असुरभि	(२) कटु	(२) लघु
(३) रक्त	३ वेद	(३) कषाय	(३) मृदु
(४) नील	(१) स्त्रीवेद	(४) खट्टा	(४) कर्कश
(५) श्याम	(२) पुरुषवेद	(५) मीठा	(५) शीत
	(३) नपुंसकवेद		(६) उष्ण
			(७) स्निग्ध
			(८) रूक्ष।

संस्थानादि २८ पौद्गलिक भावों के क्षीण होने से २८ गुण युक्त तथा निम्न ३ गुण सहित = ३१ गुणयुक्त सिद्ध परमात्मा है।

(१) अकाय = औदारिक आदि ५ शरीर से रहित।

(२) असंग = बाह्य-आभ्यन्तर संग रहित।

(३) अरुह = संपूर्ण कर्म-बीज के जल जाने से जो पुनः संसार में नहीं आते।

संस्थान आदि का अभाव और अकायत्वादि गुणों का सद्भाव सिद्धों में प्रसिद्ध है। आचारांग में कहा है कि—

"से न दीहे, न वट्टे, न तंसे, न चउंरसे न परिमंडले।
न किण्हे, न नीले, न लोहिए, न हालिद्दे, न सुक्किले।
न सुब्भिगंधे, न दुब्भिगंधे।
न तित्ते, न कडुए, न कसाए न अंबिले, न महुरे, न कक्खड़े।
न मउए, न गरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न निद्दे, न लुक्खे न काए,
न संगे, न रुहे, न इत्थीए, न पुरिसे, न नपुंसे।"

(अ. ५) इत्यादि।

सिद्ध गुणों का प्रतिपादक यह द्वार उत्कृष्ट मङ्गलरूप है। ग्रन्थ के अन्त में इस द्वार का कथन अन्तिम मङ्गल के रूप में किया गया है ताकि यह ग्रन्थ शिष्य-प्रशिष्यादि परंपरा पर्यन्त अविच्छिन्न रूप से यथावत् प्रचलित रहे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस द्वार की समाप्ति के साथ २७६ द्वारों की व्याख्या पूर्ण हुई और इसकी पूर्णता के साथ प्रस्तुत प्रवचनसारोद्धार नामक ग्रन्थ भी संपूर्ण हुआ।

कहा है कि—

'बीज के जल जाने पर कभी अङ्कुर पैदा नहीं हो सकता वैसे कर्म के बीजभूत राग-द्वेष आदि के क्षय हो जाने पर जन्म-मरण के अङ्कुर उत्पन्न नहीं होते।' ॥१५९३-९४॥

मूल-ग्रन्थकार-प्रशस्ति

धम्मधुरधरणमहावराह**जिणचंदसूरि**सिस्साणं।
सिरिअम्मएवसूरीण पायपंकयपराएहिं ॥१५९५॥
सिरिविजयसेणगणहरकणिट्ठ**जसदेवसूरि**जिट्ठेहिं।
सिरिनेमिचंदसूरिहिं सविणयं सिस्सभणिएहिं ॥१५९६॥
समयरयणायराओ रयणाणं पिव समत्थदाराइं।
निउणनिहालणपुव्वं गहिउं संजत्तिएहिं व ॥१५९७॥
पवयणसारुद्धारो रइओ सपरावबोहकज्जंमि।
जंकिंचि इह अजुत्तं बहुस्सुआ तं विसोहंतु ॥१५९८॥
सा विजयइ भुवणत्तयमेयं रविससिसुमेरुगिरिजुत्तं।
पवयणसारुद्धारो ता नंदउ बुह पढिज्जंतो ॥१५९९।

अर्थ—**धर्मरूपी पृथ्वी का उद्धार करने में महावराह समान श्री जिनचन्द्रसूरिजी के शिष्य, श्री आम्रदेवसूरि जी के चरण कमल के पराग तुल्य श्री विजयसेनसूरि के लघु गुरु-बन्धु तथा यशोदेवसूरि के बड़े गुरु-बन्धु श्री नेमिचन्द्रसूरिजी ने शिष्यों के विनम्र निवेदन से प्रेरित होकर जैसे नाविक समुद्र में से रत्नों को निकालता है वैसे कुशल-परीक्षणपूर्वक सद् अर्थयुक्त द्वारों को सिद्धान्तरूप सिन्धु से उद्धृत कर स्व-पर के बोध-हेतु प्रवचनसारोद्धार नामक ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में जो कुछ भी अयुक्त लगे, बहुश्रुत-गीतार्थ उसमें अवश्य संशोधन करें ॥१५९५-९८॥**

चन्द्र, सूर्य और सुमेरु पर्वत से युक्त यह भुवनत्रय जब तक विजयवन्त है तब तक विद्वानों के द्वारा पढ़ा जाता हुआ यह 'प्रवचनसारोद्धार' नामक ग्रन्थ वृद्धि को प्राप्त करे ॥१५९९॥

—विवेचन—

अब ग्रन्थकर्ता निम्न श्लोकों द्वारा गुरु परम्परा का उल्लेख करते हुए अपना नाम, ग्रन्थ रचना का प्रयोजन व अपनी विनम्रता का भी सूचन करते हैं—

जैसे विष्णु ने वराह अवतार धारण कर, पृथ्वी का उद्धार किया वैसे **श्रीजिनचन्द्रसूरि** ने जीवादि पदार्थों के आधारभूत धर्म की दो तरह से रक्षा की। प्रथम तो उसके स्वरूप को दूषित होने से बचाया,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा उसकी यथार्थता को प्रतिष्ठित किया। अत: जिनचन्द्रसूरि महावराह तुल्य हुए। उनके शिष्य **आम्रदेवसूरि** हुए। उनके चरण कमल में पराग सदृश श्रीमान् **विजयसेनसूरि** व उनके कनिष्ठभ्राता श्री **यशोदेवसूरि** हुए। श्रीयशोदेवसूरि के प्रधान शिष्य **श्रीनेमिचन्द्रसूरि** ने शिष्यों की विनम्र प्रार्थना स्वीकार कर इस ग्रन्थ की रचना की। जैसे कुशल नाविक समुद्र से बड़ी कुशलतापूर्वक बहुमूल्य रत्न निकाल लेते हैं, वैसे शास्त्ररूप अथाह सागर से रत्नों की तरह बहुमूल्य, विशिष्ट अर्थ वाले २७६ द्वारों को परीक्षणपूर्वक ग्रहण कर मैंने (श्रीनेमिचन्द्रसूरि) स्व-पर के ज्ञान के लिये **प्रवचनसारोद्धार** नामक ग्रन्थ की रचना की। इस रचना में अज्ञानवश कुछ असंगत कहा गया हो तो बहुश्रुत गीतार्थ महापुरुष उसका संशोधन करने की कृपा करें ॥१५९५-९८ ॥

यह सत्य है कि परिणाम भवितव्यता के अनुसार ही मिलता है तथापि शुभाशय फलदायी होने से आशंसा सदा शुभ फल की ही करनी चाहिये। अत: ग्रन्थ के लिये शुभ कामना करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

जब तक स्वर्ग, मृत्यु व पाताल इन तीनों लोकों का अस्तित्व है, जब तक चन्द्र और सूर्य मेरुपर्वत की परिक्रमा करते हैं तब तक यह **प्रवचनसारोद्धार** ग्रन्थ तत्त्वज्ञों के द्वारा पढ़ा जाता हुआ शिष्य-प्रशिष्यादि परम्परा पर्यन्त अव्यवच्छिन्न रूप से प्रचलित होता रहे।

टीकाकार-प्रशस्ति

सिद्धान्तादिविचित्रशास्त्रनिकरव्यालोकनेन क्वचित्,
क्वाप्यात्मीयगुरूपदेशवशत: स्वप्रज्ञया च क्वचित्।
ग्रन्थेऽस्मिन् गहनेऽपि शिष्यनिवहैरत्यर्थमभ्यर्थित-
स्तत्त्वज्ञानविकाशिनीमहमिमां वृत्तिं सुबोधां व्यधाम् ॥ १ ॥

मेधामन्दतया चलाचलतया चित्तस्य शिष्यावली-
शास्त्रार्थप्रतिपादनादिविषयव्याक्षेपभूयस्तया।
यत्सिद्धान्तविरुद्धमत्र किमपि ग्रन्थे निबद्धं मया,
तद्भूतावहितै: प्रपञ्चितहितै: शोध्यं सुधीभि: स्वयम् ॥ २ ॥

श्री**चन्द्रगच्छ**गगने प्रकटितमुनिमण्डलप्रभाविभव:।
उदगान्नवीनमहिमा श्रीमद**भयदेवसूरि**रवि: ॥ ३ ॥

तार्किकागस्त्यविस्तारिसत्प्रज्ञाचुलुकैश्चिरम्।
वर्धते पीयमानोऽपि येषां **वादमहार्णव:**।। ४ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तदनु **धनेश्वरसूरि**र्जज्ञे यः प्राप **पुण्डरीका**ख्यः ।
निर्मथ्य वादजलधिं जयश्रियं **मुञ्जनृप**पुरतः ॥ ५ ॥
भास्वानभून्नवीनः श्रीमद**जितसिंहसूरि**रथ यस्य ।
तपसोल्लासितमहिमा ज्ञानोद्योतः क्व न स्फुरितः ? ॥ ६ ॥
श्री**वर्धमानसूरि**स्ततः परं गुणनिधानमजनिष्ट ।
अतनिष्ट सोममूर्त्तेरपि यस्य सदा कलाविभवः ॥ ७ ॥
अथ **देवचन्द्रसूरिः** श्रीमान् गोभिर्जगज्जनं धिन्वन् ।
रजनीजानिरिवाजनि नास्पृश्यत यः परं तमसा ॥ ८ ॥
श्री**चन्द्रप्रभ**मुनिपतिरवति स्म ततः स्वगच्छमच्छमनाः ।
अचलेन येन महता सुचिरं चक्रे क्षमोद्धरणम् ॥ ९ ॥
अथ भद्रभुवोऽभूवन् श्री**भद्रेश्वरसूरयः** ।
ये दधुर्विधुतारीणि तपांसि च यशांसि च ॥ १० ॥
शिष्यास्तेषामभवन् श्रीमद**जितसिंहसूरयः** शमिनः ।
भ्रमरहितैः कुसुमैरिव शिरसि सदा यैः स्थितं गुणिनाम् ॥ ११ ॥
श्री**देवप्रभसूरि**प्रभवोऽभूवन्नथोन्मथितमोहाः ।
सूरिषु रेखा येषामाद्यैव बभूव भूवलये ॥ १२ ॥
अप्रमेयप्रमेयोर्मिनिर्माणेऽर्णवसन्निभाः ।
यैः **प्रमाणप्रकाशो**ऽयं मथ्यते विबुधैर्ननु ॥ १३ ॥
श्री**श्रेयांसचरित्रा**दिप्रबन्धाङ्गनसङ्गिनी ।
यद्वाणी लास्यमुल्लास्य कस्य नो मुदमादधे ? ॥ १४ ॥

प्रज्ञावैभवजृंभणादहरहर्देवेज्यसब्रह्मभि-
र्यैर्वाग्ब्रह्म विनेयवृन्दहृदयक्षेत्रान्तरुप्तं तथा ।
नित्याभ्यासघनाम्बुवृष्टिघटनादंकूरितं पूर्णता
मायातं फलति स्म वादिविजयैर्दत्तप्रमोदं यथा ॥ १५ ॥

नाप्लाव्यन्त कति स्मयोद्धुरधियो यद्गद्यगुम्फोर्मिभिः,
यद्वाग्वैभवभङ्गिभिः कति न हि प्राप्यन्त हर्षं नृपाः ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यत्तीव्रव्रतमुद्रया कति न चानीयन्त चित्रं जना,
यद्वा किं बहुजल्पितेन निखिलं यत्कृत्यमत्यद्भुतम् ॥ १६ ॥
तेषां गुणिषु गुरूणां शिष्यः **श्रीसिद्धसेनसूरि**रिमाम् ।
प्रवचनसारोद्धारस्य वृत्तिमकरोदतिस्पष्टाम् ॥ १७ ॥
करिसागररविसंख्ये (१२४८) श्रीविक्रमनृपतिवत्सरे चैत्रे ।
पुष्यार्क्कदिने शुक्लाष्टम्यां वृत्तिः समाप्ताऽसौ ॥ १८ ॥
तारकमुक्तोच्चूले शशिकलशे गगनमरकतच्छत्रे ।
दण्ड इव भवति यावत् कनकगिरिर्जयतु तावदियम् ॥ १९ ॥

वृत्तिकार सिद्धसेनसूरिपुरन्दर 'तत्वज्ञानविकाशिनी' टीका के अन्त में अपनी गुरु परम्परा का वर्णन तथा टीका करने का प्रयोजन बताते हुए कहते हैं—

प्रयोजन—यह ग्रन्थ अतिगहन है। इसकी सुबोध टीका रचने की शिष्य समूह की प्रार्थना स्वीकार कर मैंने (सिद्धसेनसूरि ने) अनेक शास्त्रों का अवलोकन कर, अपने गुरु के उपदेश से तथा स्वप्रज्ञा से इस ग्रन्थ की 'तत्त्वज्ञानविकाशिनी' नाम की अत्यन्त सुबोध टीका की रचना की।

विनम्रता—बुद्धि की मन्दता, चित्त की चञ्चलता, शिष्य समूह के अध्यापन की व्यस्तता आदि कारणों से इस ग्रन्थ में जो कुछ आगम-विरुद्ध कहा गया हो तो प्राणिमात्र के प्रति हितकारी प्रवृत्ति वाले विद्वान् उसका अवश्य संशोधन करें।

गुरु-परम्परा—चन्द्रगच्छ रूपी आकाश में मुनिमंडल रूपी प्रभा-वैभव से युक्त नवीन महिमाशाली श्री अभयदेवसूरि रूपी सूर्य उदय हुआ।

अगस्त्य ऋषि ने अपने चुल्लुओं के द्वारा समुद्र को पीकर शेष कर दिया पर अभयदेवसूरि का 'वादमहार्णव' (ग्रन्थ का नाम) ऐसा है कि जो तार्किक रूपी अगस्त्यों के सत्प्रज्ञारूपी चुल्लुओं द्वारा पिये जाने पर भी सतत बढ़ता ही रहता है।

धनेश्वरसूरि—उनके पश्चात् वाद के सागर रूप **पुण्डरीक** नामक वादी का मन्थन कर अर्थात् उसे जीतकर **मुञ्जभूपति** के सम्मुख जिन्होंने जयश्री का वरण किया, ऐसे धनेश्वरसूरि हुए।

अजितसिंहसूरि—नूतन सूर्य के समान तेजस्वी, तप की गरिमा से अत्यन्त महिमाशाली ऐसे अजितसिंहसूरि हुए, जिनके ज्ञान का प्रकाश कहाँ स्फुरित नहीं था?

वर्धमानसूरि—श्री अजितसिंहसूरि के पश्चात् महान गुणनिधान श्री वर्धमानसूरि हुए। जो सोममूर्ति (चन्द्र) होने पर भी कभी क्षीण नहीं हुए अर्थात् चन्द्रमा कृष्णपक्ष में क्षीण हो जाता है पर वर्धमानसूरि का कलावैभव कभी क्षीण नहीं हुआ, सदा फैलता ही रहा।

देवचन्द्रसूरि—जैसे चन्द्रमा अपनी किरणों से जगत् के प्राणियों को सन्तुष्ट करता है वैसे अपनी वाणी रूपी किरणों से जगत के प्राणियों को सन्तुष्ट करने वाले श्री देवचन्द्रसूरि हुए। चन्द्रमा अंधकार से घिर जाता है पर देवचन्द्रसूरि ऐसे चन्द्र थे कि उन्हें अन्धकार छू भी नहीं सकता था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्रप्रभसूरि—जिस प्रकार सुमेरु पर्वत ने रसातल में जाती हुई पृथ्वी की रक्षा की वैसे निर्मल मन वाले चन्द्रप्रभ मुनिपति ने अपनी व अपने गच्छ की रक्षा की।

भद्रेश्वरसूरि—तत्पश्चात् कल्याण के भंडार श्री भद्रेश्वरसूरि हुए, जो अप्रतिस्पर्धी तप और यश के धारक थे।

अजितसिंहसूरि (द्वितीय) —उनके शिष्य प्रशान्तमूर्ति श्री अजितसिंहसूरि हुए जो भौरों के हितकारी पुष्पों की तरह सदा गुणवानों के मूर्धन्य रहे।

देवप्रभसूरि—उनके पट्ट पर मोह का मंथन करने वाले, आचार्यों की परम्परा में प्रथम स्थान रखने वाले, अगणित पदार्थ रूपी तरङ्गों के निर्माण में सागर समान, विद्वानों के द्वारा पुनः-पुनः अभ्यसनीय ऐसे 'प्रमाणप्रकाश' ग्रन्थ के कर्ता देवप्रभसूरि हुए। जिनकी वाणी 'श्रेयांसचरित्र' रूप प्रबंध काव्य की रङ्गभूमि में अद्‌भुत नर्तन कर किसको हर्षित नहीं करती?

टीकाकार सिद्धसेनसूरि—प्रज्ञारूपी वैभव के विस्तार से बृहस्पति के समान, जिन्होंने शब्द रूपी ब्रह्म को शिष्य समूह के हृदय रूपी क्षेत्र में बोया तथा सतत अभ्यास रूपी वृष्टि से अङ्कुरित होता हुआ वह शब्द ब्रह्म वादी-विजय द्वारा सफल बनकर प्रमोददायी बना। जिनकी गद्यरचना रूपी तरङ्गों से किनका गर्व नहीं गला? जिनके रचना कौशल ने किस राजा को हर्षित नहीं किया?

जिनके व्रतपालन की कठोरता ने किसे आश्चर्य-मुग्ध नहीं बनाया !अथवा अधिक कहने से क्या? जिनके सभी कार्य अति अद्‌भुत थे। ऐसे गुणवानों में श्रेष्ठ श्री देवप्रभसूरि के शिष्य श्री 'सिद्धसेनसूरि' ने प्रवचनसारोद्धार की यह 'तत्त्वज्ञानविकाशिनी' नाम की अतिस्पष्ट टीका रची। विक्रम संवत् १२४८ के चैत्र शुक्ल अष्टमी के दिन पुष्य नक्षत्र में यह वृत्ति पूर्ण हुई।

मङ्गल-कामना—

तारा रूपी मुक्ताजाल से सुशोभित, चन्द्ररूपी कलश से युक्त आकाशरूपी मरकतमणि के छत्र में जब तक सुमेरु पर्वत दण्ड की तरह सुशोभित है तब तक यह वृत्ति जयवती रहे ॥१-१९॥

दोहा प्रशस्ति

शासनपति **महावीर** जिन, गणधर **गौतम** स्वाम।
श्रद्धायुत वन्दन करूं, पूरे वाञ्छित काम॥ १॥

खरतर-वर धारक हुए, **सूरि जिनेश्वर** राय।
चैत्यवास का नाशकर, सुविहित विधि दर्शाय॥ २॥

अभयदेवसूरि गुरु, नव-अङ्ग टीकाकार।
स्तंभनतीर्थ प्रकाश कर, जग में जय-जयकार॥ ३॥

कर्ता पिण्डविशुद्धि के, **जिनवल्लभ** गणिनाथ।
कालिदास सम कीर्तिधर, गण को किया सनाथ॥ ४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दादा **जिनदत्तसूरि** की, महिमा अपरंपार।
जैन संघ विस्तार कर, धर्म दीपाया सार॥ ५॥
उनके शिष्य महान थे, **मणिधारी** गुरुदेव।
अल्पवयी साधक बड़े, सुर-नर करे जसु सेव॥ ६॥
कलियुग-कल्पतरु प्रकट, वाञ्छित पूरण काज।
चमत्कार जिनके अजब, **कुशलसूरि** गुरुराज॥ ७॥
चौथे श्री **जिनचन्द्रसूरि**, टाला शिथिलाचार।
अकबर को प्रतिबोधकर, किया धर्म प्रचार॥ ८॥
जिनके नामोल्लेख से, **वासकक्षेप** विधान।
होती खरतरगच्छ में, नमूं **क्षमाकल्याण**॥
पद्मविजय गणिवर प्रमुख, तपगच्छीय मुनिराज।
जिनके संयम-ज्ञान पर, करते सब ही नाज॥ ९॥ युग्मम्॥
सुखसागर गणनाथ जी, खरतरगच्छ शृङ्गार।
अधिपति मम समुदाय के, प्रणमूं बारंबार॥ १०॥
सुखसिन्धु के पाट पर, सरल-शान्त गणधार।
भाग्यवान **भगवानविभु** पालक शुद्धाचार॥ ११॥
तपसी **छगन** रहे सदा, तप-जप-साधन लीन।
बावन दिन अनशन करी, देह करी निज क्षीण॥ १२॥
तपी-जपी शुद्ध संयमी, **त्रैलोक्य सिंधु** महान।
त्रिविध ताप को मेटकर, देते इच्छित दान॥ १३॥
सरल शान्त अरु संयमी, सागर सम गंभीर।
जिनहरिसागर मुनिपति, हरे करम की पीर॥ १४॥
धर्मबोध दाता गुरु, **आनंद** आनंद सार।
उपकारी परिवार के, अद्भुत प्रवचनकार॥ १५॥
मुखमंडल तेजोमयी, आगम-ज्ञान-निधान।
प्रखर प्रवक्ता संयमी, चिन्तन-तत्त्व-प्रधान॥ १६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपकारी मेरे गुरु, सफल किया निजनाम।
कविकुल के सम्राट सम, **कवीन्द्रसूरि** गुणधाम॥ १७॥ युग्मम्
उदयाब्धि प्रणमूं सदा, सरल शंभू खुशहाल।
शांत चित्त से प्रभु भजे, कटे कर्म जंजाल॥ १८॥
ज्योतिर्मय प्रज्ञापुरुष, **सूरि कान्ति** विधिदक्ष।
वारक मिथ्या पंथ के, पोषक सुविहित पक्ष॥ १९॥
प्रवचन-पटु गर्जन करे, सिंह केसरी सार।
जिनके पुण्य प्रभाव का, कोई न पावे पार॥ २०॥ युग्मम्
वर्तमान गणपति नमूं, **सूरि महोदय** नाम।
शुभचिन्तक हो संघ के, करे स्वपरहित काम॥ २१॥
गणिवर **मणि** महिमानिधि, तेजस्वी विद्वान।
जिनके पुण्य प्रभाव से, बढ़े गच्छ की शान॥ २२॥
अनुशास्ता बन गच्छ के, कर संयमरस सृष्टि।
बेल बढ़ाकर गच्छ की, करे प्रेम की वृष्टि॥ २३॥ युग्मम्

(गुरुवर्या-परम्परा)

साध्वी प्रमुखा संघ की, **उद्योतश्री** शुभनाम।
लक्ष्मीश्री शिष्या बनी, चारित्र गुण की धाम॥ २४॥
सिंहश्रीजी सिंह सम, पाले व्रत असिधार।
खरतरगच्छ प्रचारिका, शिष्यायें दी सार॥ २५॥

[तर्ज—नाथ निरंजन भवभय भंजन—हरिगीतिका]

जिसने देखा उसने परखा, कैसा अद्‌भुत जीवन था।
आत्मरमणता शीलसाधना, संयम सत्य-जवाहर था॥
मुखमंडल पर ब्रह्मतेज की, आभा अनुपम थी रमती।
प्राणिमात्र पर प्रेमवृष्टि कर, **प्रेम** नाम सार्थक करती॥ २६॥
ज्ञानी-ध्यानी मौन साधिका, वचनसिद्ध शासन-ज्योति।
भक्ति की पावन-गङ्गा में, कर्म-कीच निशदिन धोती॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सती तुल्य सोलह शिष्यायें, अर्पित की जिनशासन को।
हुआ सुशोभित प्रवर्तिनी पद, पाकर विरल विभूति को॥ २७॥
शिष्या उनकी **अनुभवश्रीजी**, गुरुवर्या मेरी प्यारी।
जैसा अन्दर वैसा बाहर, जीवन-शैली थी न्यारी॥
ज्ञान-ध्यान-संयम साधन ही, जिनका सच्चा जीवन था।
सात्त्विकता से ओतप्रोत, तात्त्विकता का वह सावन था॥ २८॥
तत्त्वचिंतना आत्मरमणता, में हरपल वह रहती थी।
देह-व्याधि से ग्रस्त बना, पर हँसते-हँसते सहती थी।
तेज नयन फैलाते रहते, आत्म-ज्योति का दिव्यप्रकाश।
गुरुवर्या अनुभवश्री तुमने, साध लिया निज आत्म विकास॥ २९॥
पुण्ययोग से बचपन में ही, पाया तब शरणा मैंने।
जन्म भले ही दिया मात ने, सिखलाया जीना तुमने॥
भव-भव मिले तुम्हारा शरणा, प्रभु से विनती है हरदम।
उपकृति तेरी भुला सकूं ना, देना आशीष जनम-जनम॥ ३०॥
प्रवचन-सारोद्धार ग्रन्थ का, कार्य कठिन अनुसर्जन का।
गुरु-कृपा से पूर्ण हुआ, श्रम दूर हुआ सब तन-मन का॥
जिसका जिसको अर्पित करके, हृदय प्रफुल्लित है मेरा।
पढ़े-पढ़ावे सुज्ञ शिष्टजन, टूटे कर्मों का घेरा॥ ३१॥
दिक्-शर-ख-चक्षुमितवर्षे (२०५४) फाल्गुन मास मनोहारी।
एकादशवीं पुण्यतिथि, शनिवार तीज दिन सुखकारी॥
पूना दादावाड़ी मध्ये, कुशलगुरु के चरणन में।
पूर्ण किया अनुसृजन रूप यह, ग्रन्थ पुष्प गुरु समरण में॥ ३२॥
आत्म-साधिका अनुभव गुरु की, शिष्या **हेमप्रभा** सुज्ञा।
क्षय-उपशम अनुसार रचा यह, शोधे पण्डित जन प्रज्ञा।
यावच्चन्द्र दिवाकर जयतु, ज्ञाननिधि जिन वचन प्रमाण।
श्रुत सेवा से मिले क्षिप्रतर, सम्यग्दर्शन-मोक्ष विधान॥ ३३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

—क्षमा-याचना—

रह गई कुछ गलतियाँ, अनुसृजन में अनजान से।
मिच्छामि दुक्कडं हो मुझे, मांगू क्षमा भगवान से॥
जो कुछ मिला है पुण्य मुझ को, ग्रन्थ-लेखन का मुदा।
सब जीव का कल्याण हो, पाये सभी सुख सम्पदा॥ ३४॥

श्री जिन कुशलसूरि दादावाड़ी, पुणे।
वि. सं. २०५४, फा. कृ. ३ शनिवार

अनुभव गुरु चरण रज
साध्वी हेमप्रभा 'सुवर्णा'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट

१. अन्य ग्रन्थों की गाथाएँ और प्रवचन सारोद्धार
२. प्रवचन सारोद्धार और अन्य ग्रन्थों की गाथाएँ



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट* –१

—प्रो. सागरमल जैन

अन्य ग्रंथों की गाथाएँ और प्रवचनसारोद्धार

अङ्गुलसप्तति	२	प्रवचनसारोद्धार	१३८९
अङ्गुलसप्तति	४	प्रवचनसारोद्धार	१३९४
अङ्गुलसप्तति	५	प्रवचनसारोद्धार	१३९५
आचारांगनिर्युक्ति	३९	प्रवचनसारोद्धार	९२५
आराहणापडाया (प्रा.)	१०	प्रवचनसारोद्धार	८७५
आराहणापडाया (प्रा.)	११	प्रवचनसारोद्धार	८७६
आराहणापडाया (प्रा.)	१२	प्रवचनसारोद्धार	८७७
आराहणापडाया (प्रा.)	३३	प्रवचनसारोद्धार	६२९
आराहणापडाया (प्रा.)	१७६	प्रवचनसारोद्धार	२६७
आराहणापडाया (प्रा.)	१८०	प्रवचनसारोद्धार	२६८
आराहणापडाया (प्रा.)	५०४	प्रवचनसारोद्धार	१२९
आराहणापडाया (प्रा.)	६५१	प्रवचनसारोद्धार	५६१
आराहणापडाया (प्रा.)	६५१	प्रवचनसारोद्धार	१२५६
आराहणापडाया (प्रा.)	६७१	प्रवचनसारोद्धार	६८५
आराहणापडाया (प्रा.)	६७२	प्रवचनसारोद्धार	६८६
आराहणापडाया (प्रा.)	६८६	प्रवचनसारोद्धार	१२०७
आराहणापडाया (प्रा.)	६८७	प्रवचनसारोद्धार	१२०८
आराहणापडाया (प्रा.)	७१४	प्रवचनसारोद्धार	६४१
आराहणापडाया (प्रा.)	७१५	प्रवचनसारोद्धार	६४२
आराहणापडाया (प्रा.)	७१७	प्रवचनसारोद्धार	६४४
आराहणापडाया (प्रा.)	७१९	प्रवचनसारोद्धार	६४६
आराहणापडाया (प्रा.)	७४६	प्रवचनसारोद्धार	६३६

* इस सम्बन्ध में हमारा आधार मुनि पद्मसेनविजयजी द्वारा सम्पादित एवं भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति पिण्डवाडा द्वारा प्रकाशित 'प्रवचन-सारोद्धार खण्ड १-२' एवं डॉ. श्री प्रकाश पाण्डे का आलेख 'प्रकीर्णक एवं प्रवचनसारोद्धार' रहे है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आराहणापडाया (प्रा.)	७४७	प्रवचनसारोद्धार	६३७
आराहणापडाया (प्रा.)	७४८	प्रवचनसारोद्धार	६३८
आराहणापडाया (प्रा.)	७४९	प्रवचनसारोद्धार	६३९
आराहणापडाया (वीरभद्र)	८९	प्रवचनसारोद्धार	२६७
आराहणापडाया (वीरभद्र)	९०	प्रवचनसारोद्धार	२६८
आराहणापडाया (वीरभद्र)	१५५	प्रवचनसारोद्धार	८७५
आराहणापडाया (वीरभद्र)	१५७	प्रवचनसारोद्धार	८७७
आराहणापडाया (वीरभद्र)	५४३	प्रवचनसारोद्धार	५५७
आराहणापडाया (वीरभद्र)	६४७	प्रवचनसारोद्धार	७२१
आवश्यकनिर्युक्ति	१२०२	प्रवचनसारोद्धार	९८
आवश्यकनिर्युक्ति	११९८	प्रवचनसारोद्धार	१२४
आवश्यकनिर्युक्ति	१५३१	प्रवचनसारोद्धार	१८३
आवश्यकनिर्युक्ति	१५३२	प्रवचनसारोद्धार	१८४
आवश्यकनिर्युक्ति	१५९९	प्रवचनसारोद्धार	२०३
आवश्यकनिर्युक्ति	१६००	प्रवचनसारोद्धार	२०४
आवश्यकनिर्युक्ति	१६०१	प्रवचनसारोद्धार	२०५
आवश्यकनिर्युक्ति	१६०२	प्रवचनसारोद्धार	२०६
आवश्यकनिर्युक्ति	१५४६	प्रवचनसारोद्धार	२४७
आवश्यकनिर्युक्ति	१७९	प्रवचनसारोद्धार	३१०
आवश्यकनिर्युक्ति	१८०	प्रवचनसारोद्धार	३११
आवश्यकनिर्युक्ति	१८१	प्रवचनसारोद्धार	३१२
आवश्यकनिर्युक्ति	३८५	प्रवचनसारोद्धार	३२०
आवश्यकनिर्युक्ति	३८६	प्रवचनसारोद्धार	३२१
आवश्यकनिर्युक्ति	३८७	प्रवचनसारोद्धार	३२२
आवश्यकनिर्युक्ति	३८८	प्रवचनसारोद्धार	३२३
आवश्यकनिर्युक्ति	३८९	प्रवचनसारोद्धार	३२४
आवश्यकनिर्युक्ति	२६६	प्रवचनसारोद्धार	३२९
आवश्यकनिर्युक्ति	२६७	प्रवचनसारोद्धार	३२८
आवश्यकनिर्युक्ति	३७६	प्रवचनसारोद्धार	३८१
आवश्यकनिर्युक्ति	३७७	प्रवचनसारोद्धार	३८२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकनिर्युक्ति	२२४	प्रवचनसारोद्धार	३८३
आवश्यकनिर्युक्ति	२२५	प्रवचनसारोद्धार	३८४
आवश्यकनिर्युक्ति	३०३	प्रवचनसारोद्धार	३८५
आवश्यकनिर्युक्ति	३०४	प्रवचनसारोद्धार	३८६
आवश्यकनिर्युक्ति	३०५	प्रवचनसारोद्धार	३८७
आवश्यकनिर्युक्ति	३०८	प्रवचनसारोद्धार	३८८
आवश्यकनिर्युक्ति	३०९	प्रवचनसारोद्धार	३८९
आवश्यकनिर्युक्ति	३१०	प्रवचनसारोद्धार	३९०
आवश्यकनिर्युक्ति	२२८	प्रवचनसारोद्धार	४५४
आवश्यकनिर्युक्ति	२५५	प्रवचनसारोद्धार	४५५
आवश्यकनिर्युक्ति	३०६	प्रवचनसारोद्धार	४५६
आवश्यकनिर्युक्ति	९७०	प्रवचनसारोद्धार	४८२
आवश्यकनिर्युक्ति	९६९	प्रवचनसारोद्धार	४८३
आवश्यकनिर्युक्ति	९६७	प्रवचनसारोद्धार	४८४
आवश्यकनिर्युक्ति	९६५	प्रवचनसारोद्धार	४८५
आवश्यकनिर्युक्ति	९५९	प्रवचनसारोद्धार	४८६
आवश्यकनिर्युक्ति	९७१	प्रवचनसारोद्धार	४८७
आवश्यकनिर्युक्ति	९७२	प्रवचनसारोद्धार	४८८
आवश्यकनिर्युक्ति	९७३	प्रवचनसारोद्धार	४८९
आवश्यकनिर्युक्ति	१२१	प्रवचनसारोद्धार	६९४
आवश्यकनिर्युक्ति	११६	प्रवचनसारोद्धार	७००
आवश्यकनिर्युक्ति	१४१८	प्रवचनसारोद्धार	७५०
आवश्यकनिर्युक्ति	६६६	प्रवचनसारोद्धार	७६०
आवश्यकनिर्युक्ति	६६७	प्रवचनसारोद्धार	७६१
आवश्यकनिर्युक्ति	६६८	प्रवचनसारोद्धार	७६२
आवश्यकनिर्युक्ति	६८२	प्रवचनसारोद्धार	७६३
आवश्यकनिर्युक्ति	६८८	प्रवचनसारोद्धार	७६४
आवश्यकनिर्युक्ति	६९७	प्रवचनसारोद्धार	७६७
आवश्यकनिर्युक्ति	११७२	प्रवचनसारोद्धार	७७८
आवश्यकनिर्युक्ति	८५७	प्रवचनसारोद्धार	८३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यकनिर्युक्ति	८५८	प्रवचनसारोद्धार	८३८
आवश्यकनिर्युक्ति	७५४	प्रवचनसारोद्धार	८४७
आवश्यकनिर्युक्ति	७५९	प्रवचनसारोद्धार	८४८
आवश्यकनिर्युक्ति	४७	प्रवचनसारोद्धार	१०८४
आवश्यकनिर्युक्ति	१४	प्रवचनसारोद्धार	१३०३
आवश्यकनिर्युक्ति	२१४	प्रवचनसारोद्धार	१४४८
आवश्यकनिर्युक्ति	१३३१	प्रवचनसारोद्धार	१४५६
आवश्यकनिर्युक्ति	१३३२	प्रवचनसारोद्धार	१४५७
आवश्यकनिर्युक्ति	१३३४	प्रवचनसारोद्धार	१४५८
आवश्यकनिर्युक्ति	१३३५	प्रवचनसारोद्धार	१४५९
आवश्यकनिर्युक्ति	१३३७	प्रवचनसारोद्धार	१४६०
आवश्यकनिर्युक्ति	१३३८	प्रवचनसारोद्धार	१४६१
आवश्यकनिर्युक्ति	१३४२	प्रवचनसारोद्धार	१४६२
आवश्यकनिर्युक्ति	१३४४	प्रवचनसारोद्धार	१४६३
आवश्यकनिर्युक्ति	१३४७	प्रवचनसारोद्धार	१४६४
आवश्यकनिर्युक्ति	१३५०	प्रवचनसारोद्धार	१४६५
आवश्यकनिर्युक्ति	१३५१	प्रवचनसारोद्धार	१४६६
आवश्यकनिर्युक्ति	१३५२	प्रवचनसारोद्धार	१४६७
आवश्यकनिर्युक्ति	१३५५	प्रवचनसारोद्धार	१४७०
आवश्यकनिर्युक्ति	१३५८	प्रवचनसारोद्धार	१४७१
आवश्यकभाष्यम्	४१	प्रवचनसारोद्धार	१२११
आवश्यकभाष्यम्	४२	प्रवचनसारोद्धार	१२१२
आवश्यकभाष्यम्	४३	प्रवचनसारोद्धार	१२१३
आवश्यकभाष्यम्	२१६	प्रवचनसारोद्धार	१४५४
आवश्यकभाष्यम्	२१७	प्रवचनसारोद्धार	१४५५
आवश्यकभाष्यम्	२१९	प्रवचनसारोद्धार	१४६८
आवश्यकभाष्यम्	२२०	प्रवचनसारोद्धार	१४६९
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	८२	प्रवचनसारोद्धार	६९१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययन निर्युक्ति	४८२	प्रवचनसारोद्धार	७६०
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	४८३	प्रवचनसारोद्धार	७६१
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१२	प्रवचनसारोद्धार	१००६
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१३	प्रवचनसारोद्धार	१००७
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१५	प्रवचनसारोद्धार	१००८
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१६	प्रवचनसारोद्धार	१००९
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१७	प्रवचनसारोद्धार	१०१०
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२१९	प्रवचनसारोद्धार	१०११
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२२१	प्रवचनसारोद्धार	१०१२
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२२२	प्रवचनसारोद्धार	१०१४
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२२३	प्रवचनसारोद्धार	१०१५
उत्तराध्ययन निर्युक्ति	२२४	प्रवचनसारोद्धार	१०१६
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२४/७	प्रवचनसारोद्धार	७७१
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/१६	प्रवचनसारोद्धार	९५०
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/१८	प्रवचनसारोद्धार	९५१
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/१९	प्रवचनसारोद्धार	९५२
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२०	प्रवचनसारोद्धार	९५३
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२१	प्रवचनसारोद्धार	९५४
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२२	प्रवचनसारोद्धार	९५५
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२३	प्रवचनसारोद्धार	९५६
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२४	प्रवचनसारोद्धार	९५७
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२५	प्रवचनसारोद्धार	९५८
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२६	प्रवचनसारोद्धार	९५९
उत्तराध्ययन सूत्रम्	२८/२७	प्रवचनसारोद्धार	९६०
उपदेशपदम्	१७	प्रवचनसारोद्धार	१०९४
ओघनिर्युक्ति	६६८	प्रवचनसारोद्धार	४९१
ओघनिर्युक्ति	६६९	प्रवचनसारोद्धार	४९२
ओघनिर्युक्ति	७०३	प्रवचनसारोद्धार	५०६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओघनिर्युक्ति	७०५	प्रवचनसारोद्धार	५०७
ओघनिर्युक्ति	७०८	प्रवचनसारोद्धार	५०८
ओघनिर्युक्ति	७११	प्रवचनसारोद्धार	५०९
ओघनिर्युक्ति	७१३	प्रवचनसारोद्धार	५१०
ओघनिर्युक्ति	७१४	प्रवचनसारोद्धार	५११
ओघनिर्युक्ति	७२१	प्रवचनसारोद्धार	५१२
ओघनिर्युक्ति	७२३	प्रवचनसारोद्धार	५१३
ओघनिर्युक्ति	७१०	प्रवचनसारोद्धार	५१४
ओघनिर्युक्ति	७१२	प्रवचनसारोद्धार	५१५
ओघनिर्युक्ति	६९१	प्रवचनसारोद्धार	५१६
ओघनिर्युक्ति	७०६	प्रवचनसारोद्धार	५१७
ओघनिर्युक्ति	७२२	प्रवचनसारोद्धार	५१८
ओघनिर्युक्ति	६७६	प्रवचनसारोद्धार	५२९
ओघनिर्युक्ति	६७७	प्रवचनसारोद्धार	५३०
ओघनिर्युक्ति	७३०	प्रवचनसारोद्धार	६७०
ओघनिर्युक्ति	३१३	प्रवचनसारोद्धार	७०९
ओघनिर्युक्ति	३१४	प्रवचनसारोद्धार	७१०
ओघनिर्युक्ति	१२१	प्रवचनसारोद्धार	७७०
ओघनिर्युक्ति	३१६	प्रवचनसारोद्धार	७८६
ओघनिर्युक्ति	३१७	प्रवचनसारोद्धार	७८९
ओघनिर्युक्ति	६६०	प्रवचनसारोद्धार	८६१
ओघनिर्युक्ति	३५१	प्रवचनसारोद्धार	८६४
ओघनिर्युक्ति	३५२	प्रवचनसारोद्धार	८६५
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१३	प्रवचनसारोद्धार	५३१
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१४	प्रवचनसारोद्धार	५३२
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१५	प्रवचनसारोद्धार	५३३
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१६	प्रवचनसारोद्धार	५३४
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१७	प्रवचनसारोद्धार	५३५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१८	प्रवचनसारोद्धार	५३६
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१९	प्रवचनसारोद्धार	५३७
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३२०	प्रवचनसारोद्धार	५३८
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	२	प्रवचनसारोद्धार	५५१
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३	प्रवचनसारोद्धार	५६२
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	१८४	प्रवचनसारोद्धार	७८७
ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	१८५	प्रवचनसारोद्धार	७८८
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/५	प्रवचनसारोद्धार	१२४१
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७	प्रवचनसारोद्धार	१२५१
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७१	प्रवचनसारोद्धार	१२६२
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७२	प्रवचनसारोद्धार	१२६३
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७३	प्रवचनसारोद्धार	१२६४
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७४	प्रवचनसारोद्धार	१२६५
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७५	प्रवचनसारोद्धार	१२६६
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७६	प्रवचनसारोद्धार	१२६७
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७७	प्रवचनसारोद्धार	१२६८
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७८	प्रवचनसारोद्धार	१२६९
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७९	प्रवचनसारोद्धार	१२७०
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/८०	प्रवचनसारोद्धार	१२७१
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/८१	प्रवचनसारोद्धार	१२७२
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/८२	प्रवचनसारोद्धार	१२७३
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/७९	प्रवचनसारोद्धार	१२७६
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/१३	प्रवचनसारोद्धार	१३००
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/२६	प्रवचनसारोद्धार	१३०२
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/३४	प्रवचनसारोद्धार	१३०५
कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/१३६	प्रवचनसारोद्धार	१३१७
गच्छायार पइण्णयं	५९	प्रवचनसारोद्धार	७३७
चैत्यवन्दन महाभाष्य	१८०	प्रवचनसारोद्धार	६६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैत्यवन्दन महाभाष्य	४७८	प्रवचनसारोद्धार	२४७
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८०	प्रवचनसारोद्धार	२४९
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८१	प्रवचनसारोद्धार	२५०
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८२	प्रवचनसारोद्धार	२५१
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८३	प्रवचनसारोद्धार	२५२
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८४	प्रवचनसारोद्धार	२५३
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८५	प्रवचनसारोद्धार	२५४
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८६	प्रवचनसारोद्धार	२५५
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८७	प्रवचनसारोद्धार	२५६
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८९	प्रवचनसारोद्धार	२५७
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९०	प्रवचनसारोद्धार	२५८
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९१	प्रवचनसारोद्धार	२५९
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९२	प्रवचनसारोद्धार	२६०
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९३	प्रवचनसारोद्धार	२६१
चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९४	प्रवचनसारोद्धार	२६२
चैत्यवन्दन महाभाष्य	६३	प्रवचनसारोद्धार	४३२
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	वक्षस्कार२/१९	प्रवचनसारोद्धार	१३९०
जीवसमास	४०	प्रवचनसारोद्धार	९६३
जीवसमास	४१	प्रवचनसारोद्धार	९६४
जीवसमास	४२	प्रवचनसारोद्धार	९६५
जीवसमास	४३	प्रवचनसारोद्धार	९६६
जीवसमास	४४	प्रवचनसारोद्धार	९६७
जीवसमास	११७	प्रवचनसारोद्धार	१०१८
जीवसमास	११८	प्रवचनसारोद्धार	१०१९
जीवसमास	११९	प्रवचनसारोद्धार	१०२०
जीवसमास	१२०	प्रवचनसारोद्धार	१०२१
जीवसमास	१२१	प्रवचनसारोद्धार	१०२२
जीवसमास	१२२	प्रवचनसारोद्धार	१०२३
जीवसमास	१२५	प्रवचनसारोद्धार	१०२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवसमास	१३६	प्रवचनसारोद्धार	१०२५
जीवसमास	१३१	प्रवचनसारोद्धार	१०२६
जीवसमास	१२३	प्रवचनसारोद्धार	१०२७
जीवसमास	१२४	प्रवचनसारोद्धार	१०२८
जीवसमास	१२७	प्रवचनसारोद्धार	१०२९
जीवसमास	१३०	प्रवचनसारोद्धार	१०३०
जीवसमास	१३२	प्रवचनसारोद्धार	१०३१
जीवसमास	१३३	प्रवचनसारोद्धार	१०३२
जीवसमास	१९	प्रवचनसारोद्धार	११३३
जीवसमास	२०	प्रवचनसारोद्धार	११३४
जीवसमास	६	प्रवचनसारोद्धार	१३०३
जीवसमास	१९२	प्रवचनसारोद्धार	१३११
जीवसमास	२५	प्रवचनसारोद्धार	१३१७
जीवसमास	८२	प्रवचनसारोद्धार	१३१९
जीवसमास	९८	प्रवचनसारोद्धार	१३९१
जीवसमास	१०३	प्रवचनसारोद्धार	१३९४
जोइसकरंडग पइण्णयं*	८३	प्रवचनसारोद्धार	१३९०
जोइसकरंडग पइण्णयं*	८४	प्रवचनसारोद्धार	१३९१
जोइसकरंडग पइण्णयं*	९५	प्रवचनसारोद्धार	१०३४
ज्योतिष्करण्डक प्रकीर्णक	७९	प्रवचनसारोद्धार	१०२०
ज्योतिष्करण्डक प्रकीर्णक	७३	प्रवचनसारोद्धार	१३९०
ज्योतिष्करण्डक प्रकीर्णक	७४	प्रवचनसारोद्धार	१३९१
तित्थोगालीपइण्णयं	१२	प्रवचनसारोद्धार	१०२५
तित्थोगालीपइण्णयं	१८	प्रवचनसारोद्धार	१०३४
तित्थोगालीपइण्णयं	२१	प्रवचनसारोद्धार	१०३६

---

* डॉ. श्री प्रकाश पाण्डे द्वारा निर्दिष्ट गाथाओं के क्रमांक मुनि पद्मसेन विजयजी द्वारा दिये गये गाथा क्रमांक से भिन्न है। हो सकता है यह भिन्नता संस्करण भेद के कारण हो इनमें दस गाथाओं का अन्तर है। पद्मसेन विजयजी के संस्करण में इनका क्रमांक क्रमशः ७३, ७४ एवं ८५ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तित्थोगालीपइण्णयं	२२	प्रवचनसारोद्धार	१०३७
तित्थोगालीपइण्णयं	४६	प्रवचनसारोद्धार	१०६७
तित्थोगालीपइण्णयं	४७	प्रवचनसारोद्धार	१०६८
तित्थोगालीपइण्णयं	४९	प्रवचनसारोद्धार	१०७०
तित्थोगालीपइण्णयं	५४	प्रवचनसारोद्धार	१०३४
तित्थोगालीपइण्णयं	८२	प्रवचनसारोद्धार	१३८७
तित्थोगालीपइण्णयं	३६०	प्रवचनसारोद्धार	४०६
तित्थोगालीपइण्णयं	३९५	प्रवचनसारोद्धार	३८४
तित्थोगालीपइण्णयं	४००	प्रवचनसारोद्धार	४५४
तित्थोगालीपइण्णयं	५६७	प्रवचनसारोद्धार	३२५
तित्थोगालीपइण्णयं	५६८	प्रवचनसारोद्धार	३२६
तित्थोगालीपइण्णयं	५७०	प्रवचनसारोद्धार	१२०९
तित्थोगालीपइण्णयं	५७१	प्रवचनसारोद्धार	१२१०
तित्थोगालीपइण्णयं	६१०	प्रवचनसारोद्धार	१२१३
तित्थोगालीपइण्णयं	६९९	प्रवचनसारोद्धार	६९३
तित्थोगालीपइण्णयं	८८८	प्रवचनसारोद्धार	८८५
तित्थोगालीपइण्णयं	८८९	प्रवचनसारोद्धार	८८६
तित्थोगालीपइण्णयं	११३३	प्रवचनसारोद्धार	१२२०
तित्थोगालीपइण्णयं	११३६	प्रवचनसारोद्धार	१२२३
तित्थोगालीपइण्णयं	११४१	प्रवचनसारोद्धार	१२२८
तित्थोगालीपइण्णयं	११४२	प्रवचनसारोद्धार	१२२९
तित्थोगालीपइण्णयं	११७०	प्रवचनसारोद्धार	१०३५
तित्थोगालीपइण्णयं	१२०७	प्रवचनसारोद्धार	५५३
तित्थोगालीपइण्णयं	१२२०	प्रवचनसारोद्धार	९३५
तित्थोगालीपइण्णयं	१२३७	प्रवचनसारोद्धार	४८६
तित्थोगालीपइण्णयं	१२३८	प्रवचनसारोद्धार	४८२
तित्थोगालीपइण्णयं	१२३९	प्रवचनसारोद्धार	४८४
तित्थोगालीपइण्णयं	१२४२	प्रवचनसारोद्धार	४८८
तित्थोगालीपइण्णयं	१२४३	प्रवचनसारोद्धार	४८९
दशवैकालिकनिर्युक्ति	४७	प्रवचनसारोद्धार	२७०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दशवैकालिकनिर्युक्ति	४८	प्रवचनसारोद्धार	२७१
दशवैकालिकनिर्युक्ति	३२५	प्रवचनसारोद्धार	५४९
दशवैकालिकनिर्युक्ति	३२६	प्रवचनसारोद्धार	५५०
दशवैकालिकनिर्युक्ति	४६	प्रवचनसारोद्धार	५५५
दशवैकालिकनिर्युक्ति	४७	प्रवचनसारोद्धार	५५९
दशवैकालिकनिर्युक्ति	४८	प्रवचनसारोद्धार	५६०
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२७३	प्रवचनसारोद्धार	८९१
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२७४	प्रवचनसारोद्धार	८९२
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२७५	प्रवचनसारोद्धार	८९३
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२७६	प्रवचनसारोद्धार	८९४
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२७७	प्रवचनसारोद्धार	८९५
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२५२	प्रवचनसारोद्धार	१००४
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२५३	प्रवचनसारोद्धार	१००५
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२५९	प्रवचनसारोद्धार	१०६२
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२६०	प्रवचनसारोद्धार	१०६३
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२६१	प्रवचनसारोद्धार	१०६४
दशवैकालिकनिर्युक्ति	२६२	प्रवचनसारोद्धार	१०६५
देविंदत्थओ पइण्णयं	६७	प्रवचनसारोद्धार	११३०
देविंदत्थओ पइण्णयं	८१	प्रवचनसारोद्धार	११३३
देविंदत्थओ पइण्णयं	१८४	प्रवचनसारोद्धार	११३७
देविंदत्थओ पइण्णयं	१९२	प्रवचनसारोद्धार	११६०
देविंदत्थओ पइण्णयं	२८६	प्रवचनसारोद्धार	४८६
देविंदत्थओ पइण्णयं	२८७	प्रवचनसारोद्धार	४८४
देविंदत्थओ पइण्णयं	२८९	प्रवचनसारोद्धार	१५४०
धर्मरत्नप्रकरण	५	प्रवचनसारोद्धार	१३५६
धर्मरत्नप्रकरण	६	प्रवचनसारोद्धार	१३५७
धर्मरत्नप्रकरण	७	प्रवचनसारोद्धार	१३५८
धर्मसंग्रहणी	६१८	प्रवचनसारोद्धार	१२६३
धर्मसंग्रहणी	६१९	प्रवचनसारोद्धार	१२६४
धर्मसंग्रहणी	६२०	प्रवचनसारोद्धार	१२६५
निशीथभाष्यम्	१३९०	प्रवचनसारोद्धार	४९३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निशीथभाष्यम्	१३९१	प्रवचनसारोद्धार	४९४
निशीथभाष्यम्	१३९२	प्रवचनसारोद्धार	४९७
निशीथभाष्यम्	४००३	प्रवचनसारोद्धार	६७६
निशीथभाष्यम्	४००१	प्रवचनसारोद्धार	६७७
निशीथभाष्यम्	४००२	प्रवचनसारोद्धार	६७८
निशीथभाष्यम्	३५०६	प्रवचनसारोद्धार	७९०
निशीथभाष्यम्	३५०७	प्रवचनसारोद्धार	७९१
निशीथभाष्यम्	३५६१	प्रवचनसारोद्धार	७९३
निशीथभाष्यम्	३७०९	प्रवचनसारोद्धार	७९५
निशीथभाष्यम्	३७१०	प्रवचनसारोद्धार	७९६
निशीथभाष्यम्	११४४	प्रवचनसारोद्धार	८००
निशीथभाष्यम्	११४५	प्रवचनसारोद्धार	८०१
निशीथभाष्यम्	११४९	प्रवचनसारोद्धार	८०२
निशीथभाष्यम्	११४८	प्रवचनसारोद्धार	८०३
निशीथभाष्यम्	११५८	प्रवचनसारोद्धार	८०४
निशीथभाष्यम्	११५९	प्रवचनसारोद्धार	८०५
निशीथभाष्यम्	११६०	प्रवचनसारोद्धार	८०६
निशीथभाष्यम्	११६१	प्रवचनसारोद्धार	८०७
निशीथभाष्यम्	११६२	प्रवचनसारोद्धार	८०८
निशीथभाष्यम्	५०८७	प्रवचनसारोद्धार	८५०
निशीथभाष्यम्	५०८६	प्रवचनसारोद्धार	८५१
निशीथभाष्यम्	५०८८	प्रवचनसारोद्धार	८५२
निशीथभाष्यम्	५०८९	प्रवचनसारोद्धार	८५३
निशीथभाष्यम्	४८३३	प्रवचनसारोद्धार	१००१
निशीथभाष्यम्	४८३४	प्रवचनसारोद्धार	१००२
निशीथभाष्यम्	४८३५	प्रवचनसारोद्धार	१००३
पञ्चकल्पभाष्यम्	२००	प्रवचनसारोद्धार	७९०
पञ्चकल्पभाष्यम्	२०१	प्रवचनसारोद्धार	७९१
पञ्चसंग्रह	द्वार ३/११	प्रवचनसारोद्धार	१२७४
पञ्चसंग्रह	द्वार ३/४	प्रवचनसारोद्धार	१२५४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चसंग्रह	द्वार ३/२५	प्रवचनसारोद्धार	१२९८
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	३७१	प्रवचनसारोद्धार	२१७
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७७५	प्रवचनसारोद्धार	४९४
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	८२७	प्रवचनसारोद्धार	५३३
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५३८	प्रवचनसारोद्धार	६११
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५३९	प्रवचनसारोद्धार	६१२
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४०	प्रवचनसारोद्धार	६१३
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४१	प्रवचनसारोद्धार	६१४
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४७	प्रवचनसारोद्धार	६२३
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४८	प्रवचनसारोद्धार	६२४
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४९	प्रवचनसारोद्धार	६२५
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५५०	प्रवचनसारोद्धार	६२६
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५५१	प्रवचनसारोद्धार	६२७
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५५२	प्रवचनसारोद्धार	६२८
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	३९९	प्रवचनसारोद्धार	७०९
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	४००	प्रवचनसारोद्धार	७१०
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	३००	प्रवचनसारोद्धार	७४५
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	२३०	प्रवचनसारोद्धार	७६८
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	८९५	प्रवचनसारोद्धार	७७२
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	८९६	प्रवचनसारोद्धार	७७३
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३२८	प्रवचनसारोद्धार	७८०
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३२९	प्रवचनसारोद्धार	७८१
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३३०	प्रवचनसारोद्धार	७८२
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०७	प्रवचनसारोद्धार	८७१
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०८	प्रवचनसारोद्धार	८७२
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०९	प्रवचनसारोद्धार	८७३
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०६	प्रवचनसारोद्धार	८७४
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५७४	प्रवचनसारोद्धार	८७५
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५७५	प्रवचनसारोद्धार	८७६
पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	९२६	प्रवचनसारोद्धार	८८५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	९२७	प्रवचनसारोद्धार	८८६
पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१७	प्रवचनसारोद्धार	७२
पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१८	प्रवचनसारोद्धार	७३
पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१९	प्रवचनसारोद्धार	७४
पञ्चाशकप्रकरणम्	३/२०	प्रवचनसारोद्धार	७५
पञ्चाशकप्रकरणम्	३/२१	प्रवचनसारोद्धार	७६
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/८	प्रवचनसारोद्धार	२०३
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/९	प्रवचनसारोद्धार	२०४
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/१०	प्रवचनसारोद्धार	२०५
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/२७	प्रवचनसारोद्धार	२०७
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/२८	प्रवचनसारोद्धार	२०८
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/२९	प्रवचनसारोद्धार	२०९
पञ्चाशकप्रकरणम्	५/३०	प्रवचनसारोद्धार	२१०
पञ्चाशकप्रकरणम्	१३/३	प्रवचनसारोद्धार	५६३
पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/३	प्रवचनसारोद्धार	५७४
पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/४	प्रवचनसारोद्धार	५७५
पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/५	प्रवचनसारोद्धार	५७६
पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/६	प्रवचनसारोद्धार	५७७
पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/७	प्रवचनसारोद्धार	५७८
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/२६	प्रवचनसारोद्धार	६४७
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१०	प्रवचनसारोद्धार	६५०
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/८	प्रवचनसारोद्धार	६५१
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१२	प्रवचनसारोद्धार	६५२
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१६	प्रवचनसारोद्धार	६५३
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३२	प्रवचनसारोद्धार	६५४
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३७	प्रवचनसारोद्धार	६५६
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३८	प्रवचनसारोद्धार	६५७
पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३९	प्रवचनसारोद्धार	६५८
पञ्चाशकप्रकरणम्	१६/२	प्रवचनसारोद्धार	७४०
पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/२	प्रवचनसारोद्धार	७६०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/३	प्रवचनसारोद्धार	७६१
पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/१०	प्रवचनसारोद्धार	७६३
पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/१४	प्रवचनसारोद्धार	७६४
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/२	प्रवचनसारोद्धार	८३९
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/३	प्रवचनसारोद्धार	८४०
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/४	प्रवचनसारोद्धार	८४१
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/५	प्रवचनसारोद्धार	८४२
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/६	प्रवचनसारोद्धार	८४३
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/७	प्रवचनसारोद्धार	८४४
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/८	प्रवचनसारोद्धार	८४५
पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/९	प्रवचनसारोद्धार	८४६
पञ्चाशकप्रकरणम्	१५/४१	प्रवचनसारोद्धार	८६२
पञ्चाशकप्रकरणम्	१०/१७	प्रवचनसारोद्धार	९८५
पञ्चाशकप्रकरणम्	१०/१८	प्रवचनसारोद्धार	९८६
पञ्चाशकप्रकरणम्	१०/१९	प्रवचनसारोद्धार	९८७
पर्यन्ताराधना	८	प्रवचनसारोद्धार	८७६
पर्यन्ताराधना	९	प्रवचनसारोद्धार	८७७
पर्यन्ताराधना	१८	प्रवचनसारोद्धार	९२७
पर्यन्ताराधना	२६०	प्रवचनसारोद्धार	६४१
पिण्डविशुद्धि	३	प्रवचनसारोद्धार	५६४
पिण्डविशुद्धि	४	प्रवचनसारोद्धार	५६५
पिण्डनिर्युक्ति	४०८	प्रवचनसारोद्धार	५६६
पिण्डनिर्युक्ति	४०९	प्रवचनसारोद्धार	५६७
पिण्डनिर्युक्ति	५२०	प्रवचनसारोद्धार	५६८
पिण्डनिर्युक्ति	६६२	प्रवचनसारोद्धार	७३४
पिण्डनिर्युक्ति	६६३	प्रवचनसारोद्धार	७३५
पिण्डनिर्युक्ति	६६४	प्रवचनसारोद्धार	७३६
पिण्डनिर्युक्ति	६६५	प्रवचनसारोद्धार	७३७
पिण्डनिर्युक्ति	६६६	प्रवचनसारोद्धार	७३८
पिण्डनिर्युक्ति	२६	प्रवचनसारोद्धार	८६४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पिण्डनिर्युक्ति	२७	प्रवचनसारोद्धार	८६५
पिण्डनिर्युक्ति	६४२	प्रवचनसारोद्धार	८६६
पिण्डनिर्युक्ति	६५०	प्रवचनसारोद्धार	८६७
पिण्डनिर्युक्ति	६५१	प्रवचनसारोद्धार	८६८
पिण्डनिर्युक्ति	६५२	प्रवचनसारोद्धार	८६९
पिण्डनिर्युक्ति	६५३	प्रवचनसारोद्धार	८७०
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद ११/सू. ८६२ गा. १९४	प्रवचनसारोद्धार	८९१
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद ११/सू. ८६३ गा. १९५	प्रवचनसारोद्धार	८९२
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद ११/सू. ८६६ गा. १९६	प्रवचनसारोद्धार	८९५
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू. ११० गा. १३१	प्रवचनसारोद्धार	९२८
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू. ११० गा. ११९	प्रवचनसारोद्धार	९५०
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू. ११० गा. १२१	प्रवचनसारोद्धार	९५१
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू. ११० गा. १२२	प्रवचनसारोद्धार	९५२
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद २/सू. १९४ गा. १५१	प्रवचनसारोद्धार	११३१
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू. १०२ गा. ११२	प्रवचनसारोद्धार	१५८७
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू. १०२ गा. ११३	प्रवचनसारोद्धार	१५८८
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू. १०२ गा. ११४	प्रवचनसारोद्धार	१५८९
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू. १०२ गा. ११५	प्रवचनसारोद्धार	१५९०
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू. १०२ गा. ११६	प्रवचनसारोद्धार	१५९१
प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू. १०२ गा. ११७	प्रवचनसारोद्धार	१५९२
बृहत्कल्पभाष्यम्	१३२८	प्रवचनसारोद्धार	४९८
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४३९	प्रवचनसारोद्धार	६१४
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४१	प्रवचनसारोद्धार	६२४
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४२	प्रवचनसारोद्धार	६२५
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४३	प्रवचनसारोद्धार	६२६
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४४	प्रवचनसारोद्धार	६२७
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४५	प्रवचनसारोद्धार	६२८
बृहत्कल्पभाष्यम्	६३६१	प्रवचनसारोद्धार	६५०
बृहत्कल्पभाष्यम्	१७७५	प्रवचनसारोद्धार	६६३
बृहत्कल्पभाष्यम्	४४३	प्रवचनसारोद्धार	७०९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बृहत्कल्पभाष्यम्	४४४	प्रवचनसारोद्धार	७१०
बृहत्कल्पभाष्यम्	६८८	प्रवचनसारोद्धार	७७०
बृहत्कल्पभाष्यम्	४२८६	प्रवचनसारोद्धार	७७५
बृहत्कल्पभाष्यम्	४२८७	प्रवचनसारोद्धार	७७६
बृहत्कल्पभाष्यम्	१५०६	प्रवचनसारोद्धार	७८३
बृहत्कल्पभाष्यम्	१५०७	प्रवचनसारोद्धार	७८४
बृहत्कल्पभाष्यम्	१५०८	प्रवचनसारोद्धार	७८५
बृहत्कल्पभाष्यम्	४५६	प्रवचनसारोद्धार	७८६
बृहत्कल्पभाष्यम्	४५७	प्रवचनसारोद्धार	७८७
बृहत्कल्पभाष्यम्	४५८	प्रवचनसारोद्धार	७८८
बृहत्कल्पभाष्यम्	४५९	प्रवचनसारोद्धार	७८९
बृहत्कल्पभाष्यम्	३८९०	प्रवचनसारोद्धार	७९७
बृहत्कल्पभाष्यम्	३८९१	प्रवचनसारोद्धार	७९८
बृहत्कल्पभाष्यम्	३८९२	प्रवचनसारोद्धार	७९९
बृहत्कल्पभाष्यम्	३५२५	प्रवचनसारोद्धार	८००
बृहत्कल्पभाष्यम्	३५२६	प्रवचनसारोद्धार	८०१
बृहत्कल्पभाष्यम्	३५३०	प्रवचनसारोद्धार	८०२
बृहत्कल्पभाष्यम्	३५२९	प्रवचनसारोद्धार	८०३
बृहत्कल्पभाष्यम्	३५३९	प्रवचनसारोद्धार	८०५
बृहत्कल्पभाष्यम्	३५४०	प्रवचनसारोद्धार	८०६
बृहत्कल्पभाष्यम्	३५४१	प्रवचनसारोद्धार	८०७
बृहत्कल्पभाष्यम्	३५४३	प्रवचनसारोद्धार	८०८
बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३२	प्रवचनसारोद्धार	८५०
बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३१	प्रवचनसारोद्धार	८५१
बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३३	प्रवचनसारोद्धार	८५२
बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३४	प्रवचनसारोद्धार	८५३
बृहत्कल्पभाष्यम्	५८२	प्रवचनसारोद्धार	८७१
बृहत्कल्पभाष्यम्	५८३	प्रवचनसारोद्धार	८७२
बृहत्कल्पभाष्यम्	५८४	प्रवचनसारोद्धार	८७३
बृहत्कल्पभाष्यम्	१४९४	प्रवचनसारोद्धार	८७९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बृहत्कल्पभाष्यम्	१४९५	प्रवचनसारोद्धार	८८०
बृहत्कल्पभाष्यम्	९७३	प्रवचनसारोद्धार	१००१
बृहत्कल्पभाष्यम्	९७४	प्रवचनसारोद्धार	१००२
बृहत्कल्पभाष्यम्	९७५	प्रवचनसारोद्धार	१००३
बृहत्संग्रहणी	३५१	प्रवचनसारोद्धार	९६८
बृहत्संग्रहणी	३५२	प्रवचनसारोद्धार	९६९
बृहत्संग्रहणी	२३९	प्रवचनसारोद्धार	१०७२
बृहत्संग्रहणी	२५५	प्रवचनसारोद्धार	१०७३
बृहत्संग्रहणी	२३३	प्रवचनसारोद्धार	१०७५
बृहत्संग्रहणी	२३४	प्रवचनसारोद्धार	१०७६
बृहत्संग्रहणी	२७९	प्रवचनसारोद्धार	१०७९
बृहत्संग्रहणी	२८०	प्रवचनसारोद्धार	१०८०
बृहत्संग्रहणी	२८१	प्रवचनसारोद्धार	१०८१
बृहत्संग्रहणी	२८२	प्रवचनसारोद्धार	१०८२
बृहत्संग्रहणी	२८९	प्रवचनसारोद्धार	१०८३
बृहत्संग्रहणी	२८४	प्रवचनसारोद्धार	१०९१
बृहत्संग्रहणी	२८५	प्रवचनसारोद्धार	१०९२
बृहत्संग्रहणी	२८६	प्रवचनसारोद्धार	१०९३
बृहत्संग्रहणी	३३३	प्रवचनसारोद्धार	१०९४
बृहत्संग्रहणी	३३४	प्रवचनसारोद्धार	१०९५
बृहत्संग्रहणी	३१२	प्रवचनसारोद्धार	१०९६
बृहत्संग्रहणी	३१३	प्रवचनसारोद्धार	१०९७
बृहत्संग्रहणी	३१४	प्रवचनसारोद्धार	१०९८
बृहत्संग्रहणी	३०७	प्रवचनसारोद्धार	१०९९
बृहत्संग्रहणी	३११	प्रवचनसारोद्धार	११०२
बृहत्संग्रहणी	३१०	प्रवचनसारोद्धार	११०३
बृहत्संग्रहणी	३०८	प्रवचनसारोद्धार	११०४
बृहत्संग्रहणी	३४२	प्रवचनसारोद्धार	१११०
बृहत्संग्रहणी	१७०	प्रवचनसारोद्धार	१११७
बृहत्संग्रहणी	१६९	प्रवचनसारोद्धार	१११८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बृहत्संग्रहणी	१७१	प्रवचनसारोद्धार	१११९
बृहत्संग्रहणी	१७२	प्रवचनसारोद्धार	११२०
बृहत्संग्रहणी	३३७	प्रवचनसारोद्धार	११२४
बृहत्संग्रहणी	३३८	प्रवचनसारोद्धार	११२५
बृहत्संग्रहणी	३४०	प्रवचनसारोद्धार	११२६
बृहत्संग्रहणी	३४१	प्रवचनसारोद्धार	११२७
बृहत्संग्रहणी	४२	प्रवचनसारोद्धार	११२९
बृहत्संग्रहणी	५८	प्रवचनसारोद्धार	११३०
बृहत्संग्रहणी	५	प्रवचनसारोद्धार	११३८
बृहत्संग्रहणी	६	प्रवचनसारोद्धार	११३९
बृहत्संग्रहणी	४	प्रवचनसारोद्धार	११४०
बृहत्संग्रहणी	१२	प्रवचनसारोद्धार	११४३
बृहत्संग्रहणी	१७	प्रवचनसारोद्धार	११४६
बृहत्संग्रहणी	३५	प्रवचनसारोद्धार	११४७
बृहत्संग्रहणी	३६	प्रवचनसारोद्धार	११४८
बृहत्संग्रहणी	३७	प्रवचनसारोद्धार	११४९
बृहत्संग्रहणी	५५	प्रवचनसारोद्धार	११५०
बृहत्संग्रहणी	११७	प्रवचनसारोद्धार	११५१
बृहत्संग्रहणी	११८	प्रवचनसारोद्धार	११५२
बृहत्संग्रहणी	११९	प्रवचनसारोद्धार	११५३
बृहत्संग्रहणी	१२०	प्रवचनसारोद्धार	११५४
बृहत्संग्रहणी	१४३	प्रवचनसारोद्धार	११५५
बृहत्संग्रहणी	१४४	प्रवचनसारोद्धार	११५६
बृहत्संग्रहणी	१४८	प्रवचनसारोद्धार	११५७
बृहत्संग्रहणी	१५०	प्रवचनसारोद्धार	११५८
बृहत्संग्रहणी	२२०	प्रवचनसारोद्धार	११६१
बृहत्संग्रहणी	२२१	प्रवचनसारोद्धार	११६२
बृहत्संग्रहणी	२२२	प्रवचनसारोद्धार	११६३
बृहत्संग्रहणी	२२३	प्रवचनसारोद्धार	११६४
बृहत्संग्रहणी	२२४	प्रवचनसारोद्धार	११६५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बृहत्संग्रहणी	१५०	प्रवचनसारोद्धार	११६७
बृहत्संग्रहणी	१५१	प्रवचनसारोद्धार	११६८
बृहत्संग्रहणी	१५२	प्रवचनसारोद्धार	११६९
बृहत्संग्रहणी	१५३	प्रवचनसारोद्धार	११७०
बृहत्संग्रहणी	१५४	प्रवचनसारोद्धार	११७१
बृहत्संग्रहणी	१५५	प्रवचनसारोद्धार	११७२
बृहत्संग्रहणी	१५६	प्रवचनसारोद्धार	११७३
बृहत्संग्रहणी	१८०	प्रवचनसारोद्धार	११७४
बृहत्संग्रहणी	१५७	प्रवचनसारोद्धार	११७७
बृहत्संग्रहणी	१८४	प्रवचनसारोद्धार	११७८
बृहत्संग्रहणी	१९८	प्रवचनसारोद्धार	११८०
बृहत्संग्रहणी	१९९	प्रवचनसारोद्धार	११८१
बृहत्संग्रहणी	२००	प्रवचनसारोद्धार	११८२
बृहत्संग्रहणी	२०१	प्रवचनसारोद्धार	११८३
बृहत्संग्रहणी	२०२	प्रवचनसारोद्धार	११८४
बृहत्संग्रहणी	२१४	प्रवचनसारोद्धार	११८५
बृहत्संग्रहणी	२१५	प्रवचनसारोद्धार	११८७
बृहत्संग्रहणी	३०३	प्रवचनसारोद्धार	१२१५
बृहत्संग्रहणी	३०४	प्रवचनसारोद्धार	१२१६
बृहत्संग्रहणी	३१२	प्रवचनसारोद्धार	१२१७
बृहत्संग्रहणी	३६३	प्रवचनसारोद्धार	१३१७
बृहत्संग्रहणी	१८१	प्रवचनसारोद्धार	१४३९
भगवतीसूत्रम्	६/५/२४३	प्रवचनसारोद्धार	१४४९
भगवतीसूत्रम्	२५/७/८०१	प्रवचनसारोद्धार	७६०
भगवतीसूत्रम्	३/७/४	प्रवचनसारोद्धार	१०८५
भगवतीसूत्रम्	६/५/२४३	प्रवचनसारोद्धार	१४४३
विशेषणवती	१	प्रवचनसारोद्धार	१३२६
व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ. १ गा. ५३	प्रवचनसारोद्धार	७५०
व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ. २ गा. २०	प्रवचनसारोद्धार	७७०
व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ. ३ गा. १५	प्रवचनसारोद्धार	७८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ. ३ गा. १६	प्रवचनसारोद्धार	७८१
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२	प्रवचनसारोद्धार	१३२३
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	३	प्रवचनसारोद्धार	१३२४
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	५	प्रवचनसारोद्धार	१३२५
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	६	प्रवचनसारोद्धार	१३२६
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	७	प्रवचनसारोद्धार	१३२७
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	८	प्रवचनसारोद्धार	१३२८
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	९	प्रवचनसारोद्धार	१३२९
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१०	प्रवचनसारोद्धार	१३३०
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	११	प्रवचनसारोद्धार	१३३१
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१२	प्रवचनसारोद्धार	१३३२
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१३	प्रवचनसारोद्धार	१३३३
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१४	प्रवचनसारोद्धार	१३३४
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१६	प्रवचनसारोद्धार	१३३५
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१७	प्रवचनसारोद्धार	१३३६
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१८	प्रवचनसारोद्धार	१३३७
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१९	प्रवचनसारोद्धार	१३३८
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२०	प्रवचनसारोद्धार	१३३९
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२१	प्रवचनसारोद्धार	१३४०
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२२	प्रवचनसारोद्धार	१३४१
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२३	प्रवचनसारोद्धार	१३४२
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२४	प्रवचनसारोद्धार	१३४४
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२५	प्रवचनसारोद्धार	१३४५
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२६	प्रवचनसारोद्धार	१३४६
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२७	प्रवचनसारोद्धार	१३४७
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२८	प्रवचनसारोद्धार	१३४८
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	३०	प्रवचनसारोद्धार	१३४९
श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	४०	प्रवचनसारोद्धार	१३५०
संतिकरं	७	प्रवचनसारोद्धार	३७३
संतिकरं	८	प्रवचनसारोद्धार	३७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संतिकरं	९	प्रवचनसारोद्धार	३७५
संतिकरं	१०	प्रवचनसारोद्धार	३७६
सप्ततिशतस्थानप्रकरणम्	२०८	प्रवचनसारोद्धार	४४०
समवायांगसूत्रम् स्था. १५ सू. १गा. ११-१२		प्रवचनसारोद्धार	१०८६
समवायांगसूत्रम्	परि. सू. १५८/४७	प्रवचनसारोद्धार	१२०९
समवायांगसूत्रम्	परि. सू. १५८/४८	प्रवचनसारोद्धार	१२१०
संबोधप्रकरण	२/१८	प्रवचनसारोद्धार	१०३
संबोधप्रकरण	२/१२	प्रवचनसारोद्धार	१०६
संबोधप्रकरण	२/१७	प्रवचनसारोद्धार	१२०
संबोधप्रकरण	७/९२	प्रवचनसारोद्धार	२३८
संबोधप्रकरण	७/१४१	प्रवचनसारोद्धार	२६४
संबोधप्रकरण	७/१४६	प्रवचनसारोद्धार	२६७
संबोधप्रकरण	७/१४८	प्रवचनसारोद्धार	२६९
संबोधप्रकरण	६/१५०	प्रवचनसारोद्धार	२७१
संबोधप्रकरण	६/१५१	प्रवचनसारोद्धार	२७२
संबोधप्रकरण	७/३७	प्रवचनसारोद्धार	२७७
संबोधप्रकरण	७/४७	प्रवचनसारोद्धार	२७८
संबोधप्रकरण	७/४८	प्रवचनसारोद्धार	२७९
संबोधप्रकरण	७/६४	प्रवचनसारोद्धार	२८०
संबोधप्रकरण	७/१९८	प्रवचनसारोद्धार	२८३
संबोधप्रकरण	५/१३८	प्रवचनसारोद्धार	२८६
संबोधप्रकरण	१/८७	प्रवचनसारोद्धार	४३२
संबोधप्रकरण	१/३४	प्रवचनसारोद्धार	४४३
संबोधप्रकरण	१/३५	प्रवचनसारोद्धार	४४४
संबोधप्रकरण	१/३६	प्रवचनसारोद्धार	४४५
संबोधप्रकरण	१/१४	प्रवचनसारोद्धार	४५२
संबोधप्रकरण	२/१८	प्रवचनसारोद्धार	४९१
संबोधप्रकरण	२/२३०	प्रवचनसारोद्धार	५५१
संबोधप्रकरण	२/२२३	प्रवचनसारोद्धार	५५२
संबोधप्रकरण	२/६८	प्रवचनसारोद्धार	५५७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संबोधप्रकरण	२/२३१	प्रवचनसारोद्धार	५६२
संबोधप्रकरण	२/२७०	प्रवचनसारोद्धार	५६५
संबोधप्रकरण	२/२७१	प्रवचनसारोद्धार	५६६
संबोधप्रकरण	२/२७३	प्रवचनसारोद्धार	५६८
संबोधप्रकरण	२/२३४	प्रवचनसारोद्धार	६३६
संबोधप्रकरण	३/२३८	प्रवचनसारोद्धार	६४०
संबोधप्रकरण	२/२३९	प्रवचनसारोद्धार	६४१
संबोधप्रकरण	२/१६	प्रवचनसारोद्धार	६४४
संबोधप्रकरण	२/२४१	प्रवचनसारोद्धार	७१९
संबोधप्रकरण	२/२४९	प्रवचनसारोद्धार	७२८
संबोधप्रकरण	२/२७४	प्रवचनसारोद्धार	७३४
संबोधप्रकरण	२/२७७	प्रवचनसारोद्धार	७३९
संबोधप्रकरण	२/२८०	प्रवचनसारोद्धार	७४५
संबोधप्रकरण	१२/५२	प्रवचनसारोद्धार	७५४
संबोधप्रकरण	१२/५३	प्रवचनसारोद्धार	७५५
संबोधप्रकरण	१२/५४	प्रवचनसारोद्धार	७५६
संबोधप्रकरण	१२/५५	प्रवचनसारोद्धार	७५७
संबोधप्रकरण	१२/५६	प्रवचनसारोद्धार	७५८
संबोधप्रकरण	११/३८	प्रवचनसारोद्धार	८०९
संबोधप्रकरण	४/३०	प्रवचनसारोद्धार	८३६
संबोधप्रकरण	४/३२	प्रवचनसारोद्धार	८३७
संबोधप्रकरण	१२/६७	प्रवचनसारोद्धार	८५५
संबोधप्रकरण	१२/७०	प्रवचनसारोद्धार	८५८
संबोधप्रकरण	१२/७१	प्रवचनसारोद्धार	८५९
संबोधप्रकरण	२/५२	प्रवचनसारोद्धार	८९१
संबोधप्रकरण	४/६०	प्रवचनसारोद्धार	९२७
संबोधप्रकरण	४/६१	प्रवचनसारोद्धार	९२८
संबोधप्रकरण	४/६८	प्रवचनसारोद्धार	९३४
संबोधप्रकरण	४/८४	प्रवचनसारोद्धार	९४५
संबोधप्रकरण	४/८५	प्रवचनसारोद्धार	९४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संबोधप्रकरण	४/८८	प्रवचनसारोद्धार	९४९
संबोधप्रकरण	४/८९	प्रवचनसारोद्धार	९५०
संबोधप्रकरण	७/१	प्रवचनसारोद्धार	९७७
संबोधप्रकरण	६/८८	प्रवचनसारोद्धार	९८०
संबोधप्रकरण	६/८९	प्रवचनसारोद्धार	९८१
संबोधप्रकरण	६/९०	प्रवचनसारोद्धार	९८२
संबोधप्रकरण	६/९६	प्रवचनसारोद्धार	९८४
संबोधप्रकरण	६/९८	प्रवचनसारोद्धार	९८६
संबोधप्रकरण	६/१०४	प्रवचनसारोद्धार	९८९
संबोधप्रकरण	६/१०३	प्रवचनसारोद्धार	९९२
संबोधप्रकरण	६/११०	प्रवचनसारोद्धार	९९३
संबोधप्रकरण	२/४५	प्रवचनसारोद्धार	१०५७
संबोधप्रकरण	२/६५	प्रवचनसारोद्धार	१०६४
संबोधप्रकरण	२/६६	प्रवचनसारोद्धार	१०६५
संबोधप्रकरण	३/३२	प्रवचनसारोद्धार	१२३८
संबोधप्रकरण	३/३७	प्रवचनसारोद्धार	१२४२
संबोधप्रकरण	३/३८	प्रवचनसारोद्धार	१२४३
संबोधप्रकरण	३/३९	प्रवचनसारोद्धार	१२४४
संबोधप्रकरण	२/४२	प्रवचनसारोद्धार	१२४७
संबोधप्रकरण	३/१९९	प्रवचनसारोद्धार	१३५४
संबोधप्रकरण	३/२००	प्रवचनसारोद्धार	१३५५
संबोधप्रकरण	५/६	प्रवचनसारोद्धार	१३५६
संबोधप्रकरण	५/७	प्रवचनसारोद्धार	१३५७
संबोधप्रकरण	५/८	प्रवचनसारोद्धार	१३५८
स्थानांगसूत्रम्*	स्था. १० सू. ७७७गा. १७५	प्रवचनसारोद्धार	८८५
स्थानांगसूत्रम्	स्था. १० सू. ७७७गा. १७६	प्रवचनसारोद्धार	८८६
स्थानांगसूत्रम्	स्था. ९/सू. ६७३/गा. १	प्रवचनसारोद्धार	१२१८
स्थानांगसूत्रम्	स्था. ९/सू. ६७३/गा. २	प्रवचनसारोद्धार	१२१९

* मुनि जम्बूविजयजी द्वारा सम्पादित ठाणांगसुत्त में इनका गाथा क्रमांक १ से १४ न होकर गाथा क्रमांक ११७-१३० है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थानांगसूत्रम्	स्था. ९/सू. ६७३/गा. ३	प्रवचनसारोद्धार	१२२०
स्थानांगसूत्रम्	स्था. ९/सू. ६७३/गा. ४	प्रवचनसारोद्धार	१२२१
स्थानांगसूत्रम्	स्था. ९/सू. ६७३/गा. ५	प्रवचनसारोद्धार	१२२२
स्थानांगसूत्रम्	स्था. ९/सू. ६७३/गा. ६	प्रवचनसारोद्धार	१२२३
स्थानांगसूत्रम्	स्था. ९/सू. ६७३/गा. ७	प्रवचनसारोद्धार	१२२४
स्थानांगसूत्रम्	स्था. ९/सू. ६७३/गा. ८	प्रवचनसारोद्धार	१२२५
स्थानांगसूत्रम्	स्था. ९/सू. ६७३/गा. ९	प्रवचनसारोद्धार	१२२६
स्थानांगसूत्रम्	स्था. ९/सू. ६७३/गा. १०	प्रवचनसारोद्धार	१२२७
स्थानांगसूत्रम्	स्था. ९/सू. ६७३/गा. ११	प्रवचनसारोद्धार	१२२८
स्थानांगसूत्रम्	स्था. ९/सू. ६७३/गा. १२	प्रवचनसारोद्धार	१२२९
स्थानांगसूत्रम्	स्था. ९/सू. ६७३/गा. १३	प्रवचनसारोद्धार	१२३०
स्थानांगसूत्रम्	स्था. ९/सू. ६७३/गा. १४	प्रवचनसारोद्धार	१२३१

¤ * ¤ * ¤

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट—२

—प्रो. सागरमल जैन

प्रवचनसारोद्धार और अन्य ग्रन्थों की गाथाएँ

प्रवचनसारोद्धार	६६	चैत्यवन्दनमहाभाष्यम्	१८०
प्रवचनसारोद्धार	७२	पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१७
प्रवचनसारोद्धार	७३	पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१८
प्रवचनसारोद्धार	७४	पञ्चाशकप्रकरणम्	३/१९
प्रवचनसारोद्धार	७५	पञ्चाशकप्रकरणम्	३/२०
प्रवचनसारोद्धार	७६	पञ्चाशकप्रकरणम्	३/२१
प्रवचनसारोद्धार	९८	आवश्यकनिर्युक्ति	१२०२
प्रवचनसारोद्धार	१०३	संबोधप्रकरण	२/१८
प्रवचनसारोद्धार	१०६	संबोधप्रकरण	२/१२
प्रवचनसारोद्धार	१२०	संबोधप्रकरण	२/१७
प्रवचनसारोद्धार	१२४	आवश्यकनिर्युक्ति	११९८
प्रवचनसारोद्धार	१२९	आराधनापताका (प्रा.)	५०४*
प्रवचनसारोद्धार	१८३	आवश्यकनिर्युक्ति	३१
प्रवचनसारोद्धार	१८४	आवश्यकनिर्युक्ति	१५३२
प्रवचनसारोद्धार	२०३	आवश्यकनिर्युक्ति	१५९९
प्रवचनसारोद्धार	२०३	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/८
प्रवचनसारोद्धार	२०४	आवश्यकनिर्युक्ति	१६००
प्रवचनसारोद्धार	२०४	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/९
प्रवचनसारोद्धार	२०५	आवश्यकनिर्युक्ति	१६०१
प्रवचनसारोद्धार	२०५	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/१०
प्रवचनसारोद्धार	२०६	आवश्यकनिर्युक्ति	१६०२
प्रवचनसारोद्धार	२०७	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/२७
प्रवचनसारोद्धार	२०८	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/८
प्रवचनसारोद्धार	२०९	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/२९

* डॉ. पाण्डे के आलेख में इसका गाथा क्रमांक ९५ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	२१०	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/३०
प्रवचनसारोद्धार	२१७	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	३७१
प्रवचनसारोद्धार	२३८	संबोधप्रकरण	७/९२
प्रवचनसारोद्धार	२४७	आवश्यकनिर्युक्ति	१५४६
प्रवचनसारोद्धार	२४७	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४७८
प्रवचनसारोद्धार	२४९	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८०
प्रवचनसारोद्धार	२५०	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८१
प्रवचनसारोद्धार	२५१	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८२
प्रवचनसारोद्धार	२५२	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८३
प्रवचनसारोद्धार	२५३	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८४
प्रवचनसारोद्धार	२५४	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८५
प्रवचनसारोद्धार	२५५	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८६
प्रवचनसारोद्धार	२५६	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८७
प्रवचनसारोद्धार	२५७	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४८९
प्रवचनसारोद्धार	२५८	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९०
प्रवचनसारोद्धार	२५९	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९१
प्रवचनसारोद्धार	२६०	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९२
प्रवचनसारोद्धार	२६१	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९३
प्रवचनसारोद्धार	२६२	चैत्यवन्दन महाभाष्य	४९४
प्रवचनसारोद्धार	२६४	संबोधप्रकरण	७/१४१
प्रवचनसारोद्धार	२६७	संबोधप्रकरण	७/१४६
प्रवचनसारोद्धार	२६७	आराधनापताका (वीरभद्र)	८९
प्रवचनसारोद्धार	२६७	आराधनापताका (प्रा.)	१७६
प्रवचनसारोद्धार	२६८	आराधनापताका (प्रा.)	१८०
प्रवचनसारोद्धार	२६८	आराधनापताका (वीरभद्र)	९०
प्रवचनसारोद्धार	२६९	संबोधप्रकरण	७/१४८
प्रवचनसारोद्धार	२७०	दशवैकालिकनिर्युक्ति	४७
प्रवचनसारोद्धार	२७१	दशवैकालिकनिर्युक्ति	४८
प्रवचनसारोद्धार	२७१	संबोधप्रकरण	६/१५०
प्रवचनसारोद्धार	२७२	संबोधप्रकरण	६/१५१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	२७७	संबोधप्रकरण	७/३७
प्रवचनसारोद्धार	२७८	संबोधप्रकरण	७/४७
प्रवचनसारोद्धार	२७९	संबोधप्रकरण	७/४८
प्रवचनसारोद्धार	२८०	संबोधप्रकरण	७/६४
प्रवचनसारोद्धार	२८३	संबोधप्रकरण	७/१९८
प्रवचनसारोद्धार	२८६	संबोधप्रकरण	५/१३८
प्रवचनसारोद्धार	३१०	आवश्यकनिर्युक्ति	१७९
प्रवचनसारोद्धार	३११	आवश्यकनिर्युक्ति	१८०
प्रवचनसारोद्धार	३१२	आवश्यकनिर्युक्ति	१८१
प्रवचनसारोद्धार	३२०	आवश्यकनिर्युक्ति	३८५
प्रवचनसारोद्धार	३२१	आवश्यकनिर्युक्ति	३८६
प्रवचनसारोद्धार	३२२	आवश्यकनिर्युक्ति	३८७
प्रवचनसारोद्धार	३२३	आवश्यकनिर्युक्ति	३८८
प्रवचनसारोद्धार	३२४	आवश्यकनिर्युक्ति	३८९
प्रवचनसारोद्धार	३२५	तित्योगालीपइण्णयं	५६७
प्रवचनसारोद्धार	३२६	तित्योगालीपइण्णयं	५६८
प्रवचनसारोद्धार	३२८	आवश्यकनिर्युक्ति	२६६
प्रवचनसारोद्धार	३२९	आवश्यकनिर्युक्ति	२६७
प्रवचनसारोद्धार	३७३	संतिकरं	७
प्रवचनसारोद्धार	३७४	संतिकरं	८
प्रवचनसारोद्धार	३७५	संतिकरं	९
प्रवचनसारोद्धार	३७६	संतिकरं	१०
प्रवचनसारोद्धार	३८१	आवश्यकनिर्युक्ति	३७६
प्रवचनसारोद्धार	३८२	आवश्यकनिर्युक्ति	३७७
प्रवचनसारोद्धार	३८३	आवश्यकनिर्युक्ति	२२४
प्रवचनसारोद्धार	३८४	आवश्यकनिर्युक्ति	२२५
प्रवचनसारोद्धार	३८४	तित्थोगालीपइण्णयं	३९५
प्रवचनसारोद्धार	३८५	आवश्यकनिर्युक्ति	३०३
प्रवचनसारोद्धार	३८६	आवश्यकनिर्युक्ति	३०४
प्रवचनसारोद्धार	३८७	आवश्यकनिर्युक्ति	३०५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	३८८	आवश्यकनिर्युक्ति	३०८
प्रवचनसारोद्धार	३८९	आवश्यकनिर्युक्ति	३०९
प्रवचनसारोद्धार	३९०	आवश्यकनिर्युक्ति	३१०
प्रवचनसारोद्धार	४०३	निशीथभाष्यम्	१३९०
प्रवचनसारोद्धार	४०४	निशीथभाष्यम्	१३९१
प्रवचनसारोद्धार	४०६	तित्थोगालीपइण्णयं	३६०
प्रवचनसारोद्धार	४३२	चैतयवन्दनमहाभाष्यम्	६३
प्रवचनसारोद्धार	४३२	संबोधप्रकरण	१/८७
प्रवचनसारोद्धार	४४०	सप्ततिशतस्थानप्रकरणम्	२०८
प्रवचनसारोद्धार	४४३	संबोधप्रकरण	१/३४
प्रवचनसारोद्धार	४४४	संबोधप्रकरण	१/३५
प्रवचनसारोद्धार	४४५	संबोधप्रकरण	१/३६
प्रवचनसारोद्धार	४५२	संबोधप्रकरण	१/१४
प्रवचनसारोद्धार	४५४	आवश्यकनिर्युक्ति	२२८
प्रवचनसारोद्धार	४५४	तित्थोगालीपइण्णयं	४००
प्रवचनसारोद्धार	४५५	आवश्यकनिर्युक्ति	२५५
प्रवचनसारोद्धार	४५६	आवश्यकनिर्युक्ति	३०६
प्रवचनसारोद्धार	४८२	आवश्यकनिर्युक्ति	९७०
प्रवचनसारोद्धार	४८२	तित्थोगालीपइण्णयं	१२३८
प्रवचनसारोद्धार	४८३	आवश्यकनिर्युक्ति	९६९
प्रवचनसारोद्धार	४८४	आवश्यकनिर्युक्ति	९६७
प्रवचनसारोद्धार	४८४	देविंदत्थओ पइण्णयं	२८७
प्रवचनसारोद्धार	४८४	तित्थोगालीपइण्णयं	२२३
प्रवचनसारोद्धार	४८५	आवश्यकनिर्युक्ति	९६५
प्रवचनसारोद्धार	४८६	आवश्यकनिर्युक्ति	९५७
प्रवचनसारोद्धार	४८६	देविंदत्थओ पइण्णयं	२८६
प्रवचनसारोद्धार	४८७	आवश्यकनिर्युक्ति	९७१
प्रवचनसारोद्धार	४८८	तित्थोगालीपइण्णयं	१२४२
प्रवचनसारोद्धार	४८८	आवश्यकनिर्युक्ति	९७२
प्रवचनसारोद्धार	४८९	आवश्यकनिर्युक्ति	९७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	४८९	तित्थोगालीपइण्णयं	१२४३
प्रवचनसारोद्धार	४९१	संबोधप्रकरण	२/१८
प्रवचनसारोद्धार	४९१	ओघनिर्युक्ति	६६८
प्रवचनसारोद्धार	४९२	ओघनिर्युक्ति	६६९
प्रवचनसारोद्धार	४९३	निशीथभाष्य	१३९०
प्रवचनसारोद्धार	४९४	निशीथभाष्य	१३९१
प्रवचनसारोद्धार	४९४	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७७५
प्रवचनसारोद्धार	४९७	निशीथभाष्यम्	१३९२
प्रवचनसारोद्धार	४९८	बृहत्कल्पभाष्यम्	१३२८
प्रवचनसारोद्धार	५०६	ओघनिर्युक्ति	७०३
प्रवचनसारोद्धार	५०७	ओघनिर्युक्ति	७०५
प्रवचनसारोद्धार	५०८	ओघनिर्युक्ति	७०८
प्रवचनसारोद्धार	५०९	ओघनिर्युक्ति	७११
प्रवचनसारोद्धार	५१०	ओघनिर्युक्ति	७१३
प्रवचनसारोद्धार	५११	ओघनिर्युक्ति	७१४
प्रवचनसारोद्धार	५१२	ओघनिर्युक्ति	७२१
प्रवचनसारोद्धार	५१३	ओघनिर्युक्ति	७२३
प्रवचनसारोद्धार	५१४	ओघनिर्युक्ति	७१०
प्रवचनसारोद्धार	५१५	ओघनिर्युक्ति	७१२
प्रवचनसारोद्धार	५१६	ओघनिर्युक्ति	६९१
प्रवचनसारोद्धार	५१७	ओघनिर्युक्ति	७०६
प्रवचनसारोद्धार	५१८	ओघनिर्युक्ति	७२२
प्रवचनसारोद्धार	५२९	ओघनिर्युक्ति	६७६
प्रवचनसारोद्धार	५३०	ओघनिर्युक्ति	६७७
प्रवचनसारोद्धार	५३१	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१३
प्रवचनसारोद्धार	५३२	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१४
प्रवचनसारोद्धार	५३३	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१५
प्रवचनसारोद्धार	५३३	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	८२७
प्रवचनसारोद्धार	५३४	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१६
प्रवचनसारोद्धार	५३५	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	५३६	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१८
प्रवचनसारोद्धार	५३७	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३१९
प्रवचनसारोद्धार	५३८	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३२०
प्रवचनसारोद्धार	५४९	दशवैकालिकनिर्युक्ति	३२५
प्रवचनसारोद्धार	५५०	दशवैकालिकनिर्युक्ति	३२९
प्रवचनसारोद्धार	५५१	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	२
प्रवचनसारोद्धार	५५१	संबोधप्रकरण	२/२३०
प्रवचनसारोद्धार	५५२	संबोधप्रकरण	२/२२३
प्रवचनसारोद्धार	५५३	तित्थोगालीपइण्णयं	१२०७
प्रवचनसारोद्धार	५५५	दशवैकालिकनिर्युक्ति	४६
प्रवचनसारोद्धार	५५७	संबोधप्रकरण	२/६८
प्रवचनसारोद्धार	५५७	आराधनापताका (वीर)	५४३
प्रवचनसारोद्धार	५५९	दशवैकालिकनिर्युक्ति	४७
प्रवचनसारोद्धार	५६०	दशवैकालिकनिर्युक्ति	४८
प्रवचनसारोद्धार	५६१	आराधनापताका (प्रा.)	६५१
प्रवचनसारोद्धार	५६२	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	३
प्रवचनसारोद्धार	५६२	संबोधप्रकरण	२/२३१
प्रवचनसारोद्धार	५६३	पञ्चाशकप्रकरणम्	१३/३
प्रवचनसारोद्धार	५६४	पिण्डविशुद्धि	३
प्रवचनसारोद्धार	५६५	पिण्डविशुद्धि	४
प्रवचनसारोद्धार	५६५	संबोधप्रकरण	२/२७०
प्रवचनसारोद्धार	५६६	पिण्डनिर्युक्ति	४०८
प्रवचनसारोद्धार	५६६	संबोधप्रकरण	२/२७१
प्रवचनसारोद्धार	५६७	पिण्डनिर्युक्ति	४०९
प्रवचनसारोद्धार	५६८	पिण्डनिर्युक्ति	५२०
प्रवचनसारोद्धार	५६८	संबोधप्रकरण	२/२७३
प्रवचनसारोद्धार	५७४	पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/३
प्रवचनसारोद्धार	५७५	पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/४
प्रवचनसारोद्धार	५७६	पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/५
प्रवचनसारोद्धार	५७७	पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	५७८	पञ्चाशकप्रकरणम्	१८/७
प्रवचनसारोद्धार	६११	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५३८
प्रवचनसारोद्धार	६१२	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५३९
प्रवचनसारोद्धार	६१३	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४०
प्रवचनसारोद्धार	६१४	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४१
प्रवचनसारोद्धार	६१४	बृहत्कल्पभाष्यम्	१४३९
प्रवचनसारोद्धार	६२३	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४७
प्रवचनसारोद्धार	६२४	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४८
प्रवचनसारोद्धार	६२४	बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४१
प्रवचनसारोद्धार	६२५	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५४९
प्रवचनसारोद्धार	६२५	बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४२
प्रवचनसारोद्धार	६२६	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५५०
प्रवचनसारोद्धार	६२६	बृहत्कल्पभाष्यम	१४४३
प्रवचनसारोद्धार	६२७	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५५१
प्रवचनसारोद्धार	६२७	बृहत्कल्पभाष्यम	१४४४
प्रवचनसारोद्धार	६२८	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५५२
प्रवचनसारोद्धार	६२८	बृहत्कल्पभाष्यम्	१४४५
प्रवचनसारोद्धार	६२९	आराधनापताका (प्रा.)	३३
प्रवचनसारोद्धार	६३६	संबोधप्रकरण	२/२३४
प्रवचनसारोद्धार	६३६	आराधनापताका (प्रा.)	७४६
प्रवचनसारोद्धार	६३७	आराधनापताका (प्रा.)	७४७
प्रवचनसारोद्धार	६३८	आराधनापताका (प्रा.)	७४८
प्रवचनसारोद्धार	६३९	आराधनापताका (प्रा.)	७४९
प्रवचनसारोद्धार	६४०	संबोधप्रकरण	३/२३८
प्रवचनसारोद्धार	६४१	संबोधप्रकरण	२/२३९
प्रवचनसारोद्धार	६४१	आराधनापताका (प्रा.)	७१४
प्रवचनसारोद्धार	६४१	पर्यन्ताराधना	२६०
प्रवचनसारोद्धार	६४२	आराधनापताका (प्रा.)	७१५
प्रवचनसारोद्धार	६४४	संबोधप्रकरण	२/१६
प्रवचनसारोद्धार	६४४	आराधनापताका (प्रा.)	७१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	६४६	आराधनापताका (प्रा.)	७१९
प्रवचनसारोद्धार	६४७	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/२६
प्रवचनसारोद्धार	६५०	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१०
प्रवचनसारोद्धार	६५०	बृहत्कल्पभाष्यम्	६३६१
प्रवचनसारोद्धार	६५१	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/८
प्रवचनसारोद्धार	६५२	ओघनिर्युक्ति भाष्यम्	७९
प्रवचनसारोद्धार	६५२	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१२
प्रवचनसारोद्धार	६५३	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/१६
प्रवचनसारोद्धार	६५४	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३२
प्रवचनसारोद्धार	६५६	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३७
प्रवचनसारोद्धार	६५७	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३८
प्रवचनसारोद्धार	६५३	पञ्चाशकप्रकरणम्	१७/३९
प्रवचनसारोद्धार	६६३	बृहत्कल्पभाष्यम्	१७७५
प्रवचनसारोद्धार	६७०	ओघनिर्युक्ति	७३०
प्रवचनसारोद्धार	६७६	निशीथभाष्यम्	४००३
प्रवचनसारोद्धार	६७७	निशीथभाष्यम्	४००१
प्रवचनसारोद्धार	६७८	निशीथभाष्यम्	४००२
प्रवचनसारोद्धार	६८५	आराधनापताका (प्रा.)	६७१
प्रवचनसारोद्धार	६८६	आराधनापताका (प्रा.)	६७२
प्रवचनसारोद्धार	६९१	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	८२
प्रवचनसारोद्धार	६९३	तित्थोगालीपइण्णयं	६९९
प्रवचनसारोद्धार	६९४	आवश्यकनिर्युक्ति	१२१
प्रवचनसारोद्धार	७००	आवश्यकनिर्युक्ति	११६
प्रवचनसारोद्धार	७०९	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	३९९
प्रवचनसारोद्धार	७०९	बृहत्कल्पभाष्यम्	४४३
प्रवचनसारोद्धार	७०९	ओघनिर्युक्ति	३१३
प्रवचनसारोद्धार	७१०	ओघनिर्युक्ति	३१४
प्रवचनसारोद्धार	७१०	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	४००
प्रवचनसारोद्धार	७१०	बृहत्कल्पभाष्यम्	४४४
प्रवचनसारोद्धार	७१९	संबोधप्रकरण	२/२४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	७२१	आराधनापताका (वीर)	६४७
प्रवचनसारोद्धार	७२८	संबोधप्रकरण	२/२४९
प्रवचनसारोद्धार	७३४	पिण्डनिर्युक्ति	६६२
प्रवचनसारोद्धार	७३४	संबोधप्रकरण	२/२७४
प्रवचनसारोद्धार	७३५	पिण्डनिर्युक्ति	६६३
प्रवचनसारोद्धार	७३६	पिण्डनिर्युक्ति	६६४
प्रवचनसारोद्धार	७३७	पिण्डनिर्युक्ति	६६५
प्रवचनसारोद्धार	७३७	गच्छायारपइण्णयं	५९
प्रवचनसारोद्धार	७३८	पिण्डविशुद्धि	६६६
प्रवचनसारोद्धार	७३९	संबोधप्रकरण	२/२७७
प्रवचनसारोद्धार	७४०	पञ्चाशकप्रकरण	१६/२
प्रवचनसारोद्धार	७४५	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	३००
प्रवचनसारोद्धार	७४५	संबोधप्रकरण	२/२८०
प्रवचनसारोद्धार	७५०	आवश्यकनिर्युक्ति	१४१८
प्रवचनसारोद्धार	७५०	व्यवहारसूत्रभाष्यम्	५३
प्रवचनसारोद्धार	७५१	संबोधप्रकरण	१२/५२
प्रवचनसारोद्धार	७५५	संबोधप्रकरण	१२/५३
प्रवचनसारोद्धार	७५८	संबोधप्रकरण	१२/५४
प्रवचनसारोद्धार	७५७	संबोधप्रकरण	१२/५५
प्रवचनसारोद्धार	७५८	संबोधप्रकरण	१२/५६
प्रवचनसारोद्धार	७६०	आवश्यकनिर्युक्ति	६६६
प्रवचनसारोद्धार	७६०	उत्तराध्ययन निर्युक्ति	४८२
प्रवचनसारोद्धार	७६०	पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/२
प्रवचनसारोद्धार	७६०	भगवतीसूत्रम्	२५/७/८०१
प्रवचनसारोद्धार	७६१	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	४८३
प्रवचनसारोद्धार	७६१	आवश्यकनिर्युक्ति	६६७
प्रवचनसारोद्धार	७६१	पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/३
प्रवचनसारोद्धार	७६२	आवश्यकनिर्युक्ति	६६८
प्रवचनसारोद्धार	७६३	आवश्यकनिर्युक्ति	६८२
प्रवचनसारोद्धार	७६३	पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/१०
प्रवचनसारोद्धार	७६४	आवश्यकनिर्युक्ति	६८८
प्रवचनसारोद्धार	७६४	पञ्चाशकप्रकरणम्	१२/१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	७६७	आवश्यकनिर्युक्ति	६९७
प्रवचनसारोद्धार	७६८	पञ्चाशकप्रकरणम्	२३०
प्रवचनसारोद्धार	७७०	बृहत्कल्पभाष्यम्	६८८
प्रवचनसारोद्धार	७७०	ओघनिर्युक्ति	१२१
प्रवचनसारोद्धार	७७०	व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ. २ गा. २०
प्रवचनसारोद्धार	७७१	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२४/७
प्रवचनसारोद्धार	७७२	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	८९५
प्रवचनसारोद्धार	७७३	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	८९६
प्रवचनसारोद्धार	७७५	बृहत्कल्पभाष्यम्	४२८६
प्रवचनसारोद्धार	७७६	बृहत्कल्पभाष्यम्	४२८७
प्रवचनसारोद्धार	७७८	आवश्यकनिर्युक्ति	११७२
प्रवचनसारोद्धार	७८०	पञ्चाशकप्रकरणम्	५/८
प्रवचनसारोद्धार	७८०	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३२८
प्रवचनसारोद्धार	७८०	व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ. ३ गा. १५
प्रवचनसारोद्धार	७८१	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३२९
प्रवचनसारोद्धार	७८१	व्यवहारसूत्रभाष्यम्	उ. ३ गा. १६
प्रवचनसारोद्धार	७८२	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१३३०
प्रवचनसारोद्धार	७८३	बृहत्कल्पभाष्यम्	१५०६
प्रवचनसारोद्धार	७८४	बृहत्कल्पभाष्यम्	१५०७
प्रवचनसारोद्धार	७८५	बृहत्कल्पभाष्यम्	१५०८
प्रवचनसारोद्धार	७८६	बृहत्कल्पभाष्यम्	४५६
प्रवचनसारोद्धार	७८६	ओघनिर्युक्ति	३१६
प्रवचनसारोद्धार	७८७	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	१८४
प्रवचनसारोद्धार	७८७	बृहत्कल्पभाष्यम्	४५७
प्रवचनसारोद्धार	७८८	ओघनिर्युक्तिभाष्यम्	१८५
प्रवचनसारोद्धार	७८८	बृहत्कल्पभाष्यम्	४५८
प्रवचनसारोद्धार	७८९	ओघनिर्युक्ति	३१७
प्रवचनसारोद्धार	७८९	बृहत्कल्पभाष्यम्	४५९
प्रवचनसारोद्धार	७९०	निशीथभाष्यम्	३५०६
प्रवचनसारोद्धार	७९०	पंचकल्पभाष्य	२००
प्रवचनसारोद्धार	७९१	निशीथभाष्यम्	३५०७
प्रवचनसारोद्धार	७९१	पंचकल्पभाष्य	२०१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	७९३	निशीथभाष्यम्	३५६१
प्रवचनसारोद्धार	७९५	निशीथभाष्यम्	३७०९
प्रवचनसारोद्धार	७९६	निशीथभाष्यम्	३७१०
प्रवचनसारोद्धार	७९७	बृहत्कल्पभाष्यम्	३८९०
प्रवचनसारोद्धार	७९८	बृहत्कल्पभाष्यम्	३८९१
प्रवचनसारोद्धार	७९९	बृहत्कल्पभाष्यम्	३८९२
प्रवचनसारोद्धार	८००	निशीथभाष्यम्	११४४
प्रवचनसारोद्धार	८००	बृहत्कल्पभाष्यम्	३५२५
प्रवचनसारोद्धार	८०१	निशीथभाष्यम्	११४५
प्रवचनसारोद्धार	८०१	बृहत्कल्पभाष्यम्	३५२६
प्रवचनसारोद्धार	८०२	निशीथभाष्यम्	११४९
प्रवचनसारोद्धार	८०२	बृहत्कल्पभाष्यम्	३५३०
प्रवचनसारोद्धार	८०३	निशीथभाष्यम्	११४८
प्रवचनसारोद्धार	८०३	बृहत्कल्पभाष्यम्	३५२९
प्रवचनसारोद्धार	८०४	निशीथभाष्यम्	११५८
प्रवचनसारोद्धार	८०५	निशीथभाष्यम्	११५९
प्रवचनसारोद्धार	८०५	बृहत्कल्पभाष्यम्	३५३९
प्रवचनसारोद्धार	८०६	निशीथभाष्यम्	११६०
प्रवचनसारोद्धार	८०६	बृहत्कल्पभाष्यम्	३५४०
प्रवचनसारोद्धार	८०७	निशीथभाष्यम्	११६१
प्रवचनसारोद्धार	८०७	बृहत्कल्पभाष्यम्	३५४१
प्रवचनसारोद्धार	८०८	निशीथभाष्यम्	११६२
प्रवचनसारोद्धार	८०८	बृहत्कल्पभाष्यम्	३५४३
प्रवचनसारोद्धार	८०९	संबोधप्रकरण	११/३८
प्रवचनसारोद्धार	८३६	संबोधप्रकरण	४/३०
प्रवचनसारोद्धार	८३७	आवश्यकनिर्युक्ति	८५७
प्रवचनसारोद्धार	८३७	संबोधप्रकरण	४/३२
प्रवचनसारोद्धार	८३८	आवश्यकनिर्युक्ति	८५८
प्रवचनसारोद्धार	८३९	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/२
प्रवचनसारोद्धार	८४०	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/३
प्रवचनसारोद्धार	८४१	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	८४२	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/५
प्रवचनसारोद्धार	८४३	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/६
प्रवचनसारोद्धार	८४४	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/७
प्रवचनसारोद्धार	८४५	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/८
प्रवचनसारोद्धार	८४५	पञ्चाशकप्रकरणम्	१४/९
प्रवचनसारोद्धार	८४७	आवश्यकनिर्युक्ति	७५४
प्रवचनसारोद्धार	८४८	आवश्यकनिर्युक्ति	७५९
प्रवचनसारोद्धार	८५०	निशीथभाष्यम्	५०८७
प्रवचनसारोद्धार	८५०	बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३२
प्रवचनसारोद्धार	८५१	निशीथभाष्यम्	५०८६
प्रवचनसारोद्धार	८५१	बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३१
प्रवचनसारोद्धार	८५२	निशीथभाष्यम्	५०८८
प्रवचनसारोद्धार	८५२	बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३३
प्रवचनसारोद्धार	८५३	निशीथभाष्यम्	५०८९
प्रवचनसारोद्धार	८५३	बृहत्कल्पभाष्यम्	२८३४
प्रवचनसारोद्धार	८५५	संबोधप्रकरण	१२/६७
प्रवचनसारोद्धार	८५८	संबोधप्रकरण	१२/७०
प्रवचनसारोद्धार	८५९	संबोधप्रकरण	१२/७१
प्रवचनसारोद्धार	८६१	ओघनिर्युक्ति	६६०
प्रवचनसारोद्धार	८६२	पञ्चाशकप्रकरणम्	१५/४१
प्रवचनसारोद्धार	८६४	ओघनिर्युक्ति	३५१
प्रवचनसारोद्धार	८६४	पिण्डनिर्युक्ति	२६
प्रवचनसारोद्धार	८६५	ओघनिर्युक्ति	३५२
प्रवचनसारोद्धार	८६५	पिण्डनिर्युक्ति	२७
प्रवचनसारोद्धार	८६६	पिण्डनिर्युक्ति	६४२
प्रवचनसारोद्धार	८६७	पिण्डनिर्युक्ति	६५०
प्रवचनसारोद्धार	८६८	पिण्डनिर्युक्ति	६५१
प्रवचनसारोद्धार	८६९	पिण्डनिर्युक्ति	६५२
प्रवचनसारोद्धार	८७०	पिण्डनिर्युक्ति	६५३
प्रवचनसारोद्धार	८७१	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०७
प्रवचनसारोद्धार	८७१	बृहत्कल्पभाष्यम्	५८२
प्रवचनसारोद्धार	८७२	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	८७२	बृहत्कल्पभाष्यम्	५८३
प्रवचनसारोद्धार	८७३	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०९
प्रवचनसारोद्धार	८७३	बृहत्कल्पभाष्यम्	५८४
प्रवचनसारोद्धार	८७४	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	७०६
प्रवचनसारोद्धार	८७५	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५७४
प्रवचनसारोद्धार	८७५	आराहणापडाया (प्रा.)	१०
प्रवचनसारोद्धार	८७५	आराहणापडाया (वीर)	१५५
प्रवचनसारोद्धार	८७६	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	१५७५
प्रवचनसारोद्धार	८७६	आराधनापताका (प्रा.)	११
प्रवचनसारोद्धार	८७६	पर्यन्ताराधना	८
प्रवचनसारोद्धार	८७७	आराधनापताका (प्रा.)	१२
प्रवचनसारोद्धार	८७७	आराधनापताका (वीर)	१५७
प्रवचनसारोद्धार	८७७	पर्यन्ताराधना	९
प्रवचनसारोद्धार	८७९	बृहत्कल्पभाष्यम्	१४९४
प्रवचनसारोद्धार	८८०	बृहत्कल्पभाष्यम्	१४९५
प्रवचनसारोद्धार	८८५	पञ्चवस्तुकप्रकरणम्	९२६
प्रवचनसारोद्धार	८८५	स्थानांगसूत्रम् स्थान. १० सू. ७७७ गा.	१७५
प्रवचनसारोद्धार	८८५	तित्थोगालीपइण्णयं	८८८
प्रवचनसारोद्धार	८८६	स्थानांगसूत्रम् स्थान. १० सू. ७७७ गा.	१७६
प्रवचनसारोद्धार	८८६	पञ्चवस्तुकप्रकरण	९२७
प्रवचनसारोद्धार	८८६	तित्थोगालीपइण्णयं	८८९
प्रवचनसारोद्धार	८९१	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२७३
प्रवचनसारोद्धार	८९१	प्रज्ञापनासूत्रम् पद ११/सू. ८६२/गा.	१९४
प्रवचनसारोद्धार	८९१	संबोधप्रकरण	२/५२
प्रवचनसारोद्धार	८९२	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२७४
प्रवचनसारोद्धार	८९२	प्रज्ञापनासूत्रम् पद ११/सू. ८६३/गा.	१९५
प्रवचनसारोद्धार	८९३	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२७५
प्रवचनसारोद्धार	८९४	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२७६
प्रवचनसारोद्धार	८९५	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२७७
प्रवचनसारोद्धार	८९५	प्रज्ञापनासूत्रम् पद ११/सू. ८६६/गा.	१९६
प्रवचनसारोद्धार	९२५	आचारांगनिर्युक्ति	३९
प्रवचनसारोद्धार	९२७	संबोधप्रकरण	४/६०
प्रवचनसारोद्धार	९२७	पर्यन्ताराधना	१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	९२८	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १/सू. ११०/गा. १३१
प्रवचनसारोद्धार	९२८	संबोधप्रकरण	४/६१
प्रवचनसारोद्धार	९३४	संबोधप्रकरण	४/६८
प्रवचनसारोद्धार	९३५	तित्थोगालीपइण्णयं	१२२०
प्रवचनसारोद्धार	९४५	संबोधप्रकरण	४/८४
प्रवचनसारोद्धार	९४८	संबोधप्रकरण	४/८५
प्रवचनसारोद्धार	९४९	संबोधप्रकरण	४/८८
प्रवचनसारोद्धार	९५०	उतराध्ययनसूत्रम्	२८/१६
प्रवचनसारोद्धार	९५०	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १ सू. ११०/गा. ११९
प्रवचनसारोद्धार	९५०	संबोधप्रकरण	४/८९
प्रवचनसारोद्धार	९५१	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/१८
प्रवचनसारोद्धार	९५१	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १ सू. ११०/गा. १२१
प्रवचनसारोद्धार	९५२	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/१९
प्रवचनसारोद्धार	९५२	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद १ सू. ११०/गा. १२२
प्रवचनसारोद्धार	९५३	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/२०
प्रवचनसारोद्धार	९५४	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/२१
प्रवचनसारोद्धार	९५५	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/२२
प्रवचनसारोद्धार	९५६	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/२३
प्रवचनसारोद्धार	९५७	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/२४
प्रवचनसारोद्धार	९५८	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/२५
प्रवचनसारोद्धार	९५९	उत्तराध्ययनसूत्रम्	२८/२६
प्रवचनसारोद्धार	९६०	उत्तराध्ययनसूत्रम्	१८/२७
प्रवचनसारोद्धार	९६३	जीवसमास	४०
प्रवचनसारोद्धार	९६४	जीवसमास	४१
प्रवचनसारोद्धार	९६५	जीवसमास	४२
प्रवचनसारोद्धार	९६६	जीवसमास	४३
प्रवचनसारोद्धार	९६७	जीवसमास	४४
प्रवचनसारोद्धार	९६८	बृहत्संग्रहणी	३५१
प्रवचनसारोद्धार	९६९	बृहत्संग्रहणी	३५२
प्रवचनसारोद्धार	९७७	संबोधप्रकरण	७/१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	९८०	संबोधप्रकरण	६/८८
प्रवचनसारोद्धार	९८१	संबोधप्रकरण	६/८९
प्रवचनसारोद्धार	९८२	संबोधप्रकरण	६/९०
प्रवचनसारोद्धार	९८४	संबोधप्रकरण	६/९६
प्रवचनसारोद्धार	९८५	पञ्चाशकप्रकरणम्	१०/१७
प्रवचनसारोद्धार	९८६	पञ्चाशकप्रकरणम्	१०/१८
प्रवचनसारोद्धार	९८६	संबोधप्रकरण	६/९८
प्रवचनसारोद्धार	९८७	पञ्चाशकप्रकरणम्	१०/१९
प्रवचनसारोद्धार	९८९	संबोधप्रकरण	६/१०४
प्रवचनसारोद्धार	९९२	संबोधप्रकरण	६/१०३
प्रवचनसारोद्धार	९९३	संबोधप्रकरण	६/११०
प्रवचनसारोद्धार	१००१	निशीथभाष्यम्	४८३३
प्रवचनसारोद्धार	१००१	बृहत्कल्पभाष्यम्	९७३
प्रवचनसारोद्धार	१००२	निशीथभाष्यम्	४८३४
प्रवचनसारोद्धार	१००२	बृहत्कल्पभाष्यम्	९७४
प्रवचनसारोद्धार	१००३	निशीथभाष्यम्	४८३५
प्रवचनसारोद्धार	१००३	बृहत्कल्पभाष्यम्	९७५
प्रवचनसारोद्धार	१००४	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२५२
प्रवचनसारोद्धार	१००५	दशवैकलिकनिर्युक्ति	२५३
प्रवचनसारोद्धार	१००६	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१२
प्रवचनसारोद्धार	१००७	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१३
प्रवचनसारोद्धार	१००८	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१५
प्रवचनसारोद्धार	१००९	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१६
प्रवचनसारोद्धार	१०१०	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१७
प्रवचनसारोद्धार	१०११	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२१९
प्रवचनसारोद्धार	१०१२	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२२१
प्रवचनसारोद्धार	१०१४	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२२२
प्रवचनसारोद्धार	१०१५	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२२३
प्रवचनसारोद्धार	१०१८	उत्तराध्ययननिर्युक्ति	२२४
प्रवचनसारोद्धार	१०१८	जीवसमास	११७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	१०१९	जीवसमास	११८
प्रवचनसारोद्धार	१०२०	जीवसमास	११९
प्रवचनसारोद्धार	१०२०	ज्योतिष्कएण्डक	७९
प्रवचनसारोद्धार	१०२१	जीवसमास	१२०
प्रवचनसारोद्धार	१०२२	जीवसमास	१२१
प्रवचनसारोद्धार	१०२३	जीवसमास	१२२
प्रवचनसारोद्धार	१०२४	जीवसमास	१२५
प्रवचनसारोद्धार	१०२५	जीवसमास	१२६
प्रवचनसारोद्धार	१०२५	तित्थोगालीपइण्णयं	१२
प्रवचनसारोद्धार	१०२६	जीवसमास	१३१
प्रवचनसारोद्धार	१०२७	जीवसमास	१२३
प्रवचनसारोद्धार	१०२८	जीवसमास	१२४
प्रवचनसारोद्धार	१०२९	जीवसमास	१२७
प्रवचनसारोद्धार	१०३०	जीवसमास	१३०
प्रवचनसारोद्धार	१०३१	जीवसमास	१३२
प्रवचनसारोद्धार	१०३२	जीवसमास	१३३
प्रवचनसारोद्धार	१०३४	ज्योतिष्करण्डक*	८५
प्रवचनसारोद्धार	१०३४	तित्थोगालीपइण्णयं	१८
प्रवचनसारोद्धार	१०३५	ज्योतिष्करण्डक प्र.	८६
प्रवचनसारोद्धार	१०३५	तित्थोगालीपइण्णयं	११७०
प्रवचनसारोद्धार	१०३६	तित्थोगालीपइण्णयं	२१
प्रवचनसारोद्धार	१०३७	तित्थोगालीपइण्णयं	२२
प्रवचनसारोद्धार	१०५७	संबोधप्रकरण	२/४५
प्रवचनसारोद्धार	१०६२	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२५९
प्रवचनसारोद्धार	१०६३	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२६०
प्रवचनसारोद्धार	१०६४	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२६१
प्रवचनसारोद्धार	१०६४	संबोधप्रकरण	२/६५
प्रवचनसारोद्धार	१०६५	संबोधप्रकरण	२/६६

* डॉ. पाण्डे के आलेख में इसका गाथा क्रमांक ९५ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	१०६५	दशवैकालिकनिर्युक्ति	२६२
प्रवचनसारोद्धार	१०६७	तित्थोगालीपइण्णयं	४६
प्रवचनसारोद्धार	१०६८	तित्थोगालीपइण्णयं	४७
प्रवचनसारोद्धार	१०७०	तित्थोगालीपइण्णयं	४९
प्रवचनसारोद्धार	१०७२	बृहत्संग्रहणी	२३९
प्रवचनसारोद्धार	१०७३	बृहत्संग्रहणी	२५५
प्रवचनसारोद्धार	१०७५	बृहत्संग्रहणी	२३३
प्रवचनसारोद्धार	१०७६	बृहत्संग्रहणी	२३४
प्रवचनसारोद्धार	१०७९	बृहत्संग्रहणी	२७९
प्रवचनसारोद्धार	१०८०	बृहत्संग्रहणी	२८०
प्रवचनसारोद्धार	१०८१	बृहत्संग्रहणी	२८१
प्रवचनसारोद्धार	१०८२	बृहत्संग्रहणी	२८२
प्रवचनसारोद्धार	१०८३	बृहत्संग्रहणी	२८९
प्रवचनसारोद्धार	१०८४	आवश्यकनिर्युक्ति	४७
प्रवचनसारोद्धार	१०८५	भगवतीसूत्रम्	३७/४
प्रवचनसारोद्धार	१०८६	समवायांगसूत्रम्	स्थान १५ सूत्र १/गा. ११-१२
प्रवचनसारोद्धार	१०९१	बृहत्संग्रहणी	२८४
प्रवचनसारोद्धार	१०९२	बृहत्संग्रहणी	२८५
प्रवचनसारोद्धार	१०९३	बृहत्संग्रहणी	२८६
प्रवचनसारोद्धार	१०९४	उपदेशपदम्	१७
प्रवचनसारोद्धार	१०९४	बृहत्संग्रहणी	३३३
प्रवचनसारोद्धार	१०९५	बृहत्संग्रहणी	३३४
प्रवचनसारोद्धार	१०९६	बृहत्संग्रहणी	३१२
प्रवचनसारोद्धार	१०९७	बृहत्संग्रहणी	३१३
प्रवचनसारोद्धार	१०९८	बृहत्संग्रहणी	३१४
प्रवचनसारोद्धार	१०९९	बृहत्संग्रहणी	३०७
प्रवचनसारोद्धार	११०२	बृहत्संग्रहणी	३११
प्रवचनसारोद्धार	११०३	बृहत्संग्रहणी	३१०
प्रवचनसारोद्धार	११०४	बृहत्संग्रहणी	३०८
प्रवचनसारोद्धार	१११०	बृहत्संग्रहणी	३४२
प्रवचनसारोद्धार	१११७	बृहत्संग्रहणी	१७०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	१११८	बृहत्संग्रहणी	१६९
प्रवचनसारोद्धार	१११९	बृहत्संग्रहणी	१७१
प्रवचनसारोद्धार	११२०	बृहत्संग्रहणी	१७२
प्रवचनसारोद्धार	११२४	बृहत्संग्रहणी	३३७
प्रवचनसारोद्धार	११२५	बृहत्संग्रहणी	३३८
प्रवचनसारोद्धार	११२८	बृहत्संग्रहणी	३४०
प्रवचनसारोद्धार	११२७	बृहत्संग्रहणी	३४१
प्रवचनसारोद्धार	११२९	बृहत्संग्रहणी	४२
प्रवचनसारोद्धार	११३०	बृहत्संग्रहणी	५८
प्रवचनसारोद्धार	११३०	देविंदत्थओ पइण्णयं	६७
प्रवचनसारोद्धार	११३१	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद २ सू. १९४/गा. १५१
प्रवचनसारोद्धार	११३३	जीवसमास	१९
प्रवचनसारोद्धार	११३३	देविंदत्थओ पइण्णयं	८१
प्रवचनसारोद्धार	११३४	जीवसमास	२०
प्रवचनसारोद्धार	११३७	देविंदत्थओ पइण्णयं	१८४
प्रवचनसारोद्धार	११३८	बृहत्संग्रहणी	५
प्रवचनसारोद्धार	११३९	बृहत्संग्रहणी	६
प्रवचनसारोद्धार	११४०	बृहत्संग्रहणी	४
प्रवचनसारोद्धार	११४३	बृहत्संग्रहणी	१२
प्रवचनसारोद्धार	११४६	बृहत्संग्रहणी	१७
प्रवचनसारोद्धार	११४७	बृहत्संग्रहणी	३५
प्रवचनसारोद्धार	११४८	बृहत्संग्रहणी	३६
प्रवचनसारोद्धार	११४९	बृहत्संग्रहणी	३७
प्रवचनसारोद्धार	११५०	बृहत्संग्रहणी	५५
प्रवचनसारोद्धार	११५१	बृहत्संग्रहणी	११७
प्रवचनसारोद्धार	११५२	बृहत्संग्रहणी	११८
प्रवचनसारोद्धार	११५३	बृहत्संग्रहणी	११९
प्रवचनसारोद्धार	११५४	बृहत्संग्रहणी	१२०
प्रवचनसारोद्धार	११५५	बृहत्संग्रहणी	१४३
प्रवचनसारोद्धार	११५६	बृहत्संग्रहणी	१४४
प्रवचनसारोद्धार	११५७	बृहत्संग्रहणी	१४८
प्रवचनसारोद्धार	११५८	बृहत्संग्रहणी	१५०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	११६०	देविंदत्थओ पइण्णयं	१९२
प्रवचनसारोद्धार	११६१	बृहत्संग्रहणी	२२०
प्रवचनसारोद्धार	११६२	बृहत्संग्रहणी	२२१
प्रवचनसारोद्धार	११६३	बृहत्संग्रहणी	२२२
प्रवचनसारोद्धार	११६४	बृहत्संग्रहणी	२२३
प्रवचनसारोद्धार	११६५	बृहत्संग्रहणी	२२४
प्रवचनसारोद्धार	११६७	बृहत्संग्रहणी	१५०
प्रवंचनसारोद्धार	११६८	बृहत्संग्रहणी	१५१
प्रवचनसारोद्धार	११६९	बृहत्संग्रहणी	१५२
प्रवचनसारोद्धार	११७०	बृहत्संग्रहणी	१५३
प्रवचनसारोद्धार	११७१	बृहत्संग्रहणी	१५४
प्रवचनसारोद्धार	११७२	बृहत्संग्रहणी	१५५
प्रवचनसारोद्धार	११७३	बृहत्संग्रहणी	१५६
प्रवचनसारोद्धार	११७४	बृहत्संग्रहणी	१८०
प्रवचनसारोद्धार	११७७	बृहत्संग्रहणी	१५७
प्रवचनसारोद्धार	११७८	बृहत्संग्रहणी	१८४
प्रवचनसारोद्धार	११८०	बृहत्संग्रहणी	१९८
प्रवचनसारोद्धार	११८१	बृहत्संग्रहणी	१९९
प्रवचनसारोद्धार	११८२	बृहत्संग्रहणी	२००
प्रवचनसारोद्धार	११८३	बृहत्संग्रहणी	२०१
प्रवचनसारोद्धार	११८४	बृहत्संग्रहणी	२०२
प्रवचनसारोद्धार	११८५	बृहत्संग्रहणी	२१४
प्रवचनसारोद्धार	११८७	बृहत्संग्रहणी	२१५
प्रवचनसारोद्धार	१२०७	आराधनापताका (प्रा.)	६८६
प्रवचनसारोद्धार	१२०८	आराधनापताका (प्रा.)	६८७
प्रवचनसारोद्धार	१२०९	समवायांगसूत्रम्	परि. सू. १५८/गा. ४७
प्रवचनसारोद्धार	१२०९	तित्थोगालीपइण्णयं	५७०
प्रवचनसारोद्धार	१२१०	समवायांगसूत्रम्	परि. सू. १५८/गा. ४८
प्रवचनसारोद्धार	१२१०	तित्थोगालीपइण्णयं	५७१
प्रवचनसारोद्धार	१२११	आवश्यकभाष्यम्	४१
प्रवचनसारोद्धार	१२१२	आवश्यकभाष्यम्	४२
प्रवचनसारोद्धार	१२१३	आवश्यकभाष्यम्	४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	१२१३	तित्थोगालीपइण्णयं	६१०
प्रवचनसारोद्धार	१२१५	बृहत्संग्रहणी	३०३
प्रवचनसारोद्धार	१२१६	बृहत्संग्रहणी	३०४
प्रवचनसारोद्धार	१२१७	बृहत्संग्रहणी	३१२
प्रवचनसारोद्धार	१२१८	स्थानांगसूत्रम्*	९/६७३/१
प्रवचनसारोद्धार	१२१९	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/२
प्रवचनसारोद्धार	१२२०	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/३
प्रवचनसारोद्धार	१२२०	तित्थोगालीपइण्णयं	११३३
प्रवचनसारोद्धार	१२२१	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/४
प्रवचनसारोद्धार	१२२२	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/५
प्रवचनसारोद्धार	१२२३	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/६
प्रवचनसारोद्धार	१२२३	तित्थोगालीपइण्णयं	११३६
प्रवचनसारोद्धार	१२२४	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/७
प्रवचनसारोद्धार	१२२५	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/८
प्रवचनसारोद्धार	१२२६	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/९
प्रवचनसारोद्धार	१२२७	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/१०
प्रवचनसारोद्धार	१२२८	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/११
प्रवचनसारोद्धार	१२२८	तित्थोगालीपइण्णयं	११४१
प्रवचनसारोद्धार	१२२९	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/१२
प्रवचनसारोद्धार	१२२९	तित्थोगालीपइण्णयं	११४२
प्रवचनसारोद्धार	१२३०	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/१३
प्रवचनसारोद्धार	१२३१	स्थानांगसूत्रम्	९/६७३/१४
प्रवचनसारोद्धार	१२३८	संबोधप्रकरण	३/३२
प्रवचनसारोद्धार	१२४१	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/५
प्रवचनसारोद्धार	१२४२	संबोधप्रकरण	३/३७
प्रवचनसारोद्धार	१२४३	संबोधप्रकरण	३/३८
प्रवचनसारोद्धार	१२४४	संबोधप्रकरण	३/३९

---

* स्थानांग के सन्दर्भ में प्रथम संख्या स्थान की दूसरी सूत्र की एवं तीसरी गाथा की सूचक है। ज्ञातव्य है कि मुनि. जम्बूविजयजी द्वारा सम्पादित संस्करण में गाथा क्रमांक १-१७ न होकर ११७-१३० है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	१२४७	संबोधप्रकरण	२/४२
प्रवचनसारोद्धार	१२५१	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७
प्रवचनसारोद्धार	१२५४	पञ्चसंग्रह	३/११
प्रवचनसारोद्धार	१२६२	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७१
प्रवचनसारोद्धार	१२६३	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७२
प्रवचनसारोद्धार	१२६३	धर्मसंग्रहणी	६१८
प्रवचनसारोद्धार	१२६४	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७३
प्रवचनसारोद्धार	१२६४	धर्मसंग्रहणी	६१९
प्रवचनसारोद्धार	१२६५	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७४
प्रवचनसारोद्धार	१२६५	धर्मसंग्रहणी	६२०
प्रवचनसारोद्धार	१२६६	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७५
प्रवचनसारोद्धार	१२६७	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७६
प्रवचनसारोद्धार	१२६८	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७७
प्रवचनसारोद्धार	१२६९	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७८
प्रवचनसारोद्धार	१२७०	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/७९
प्रवचनसारोद्धार	१२७१	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१८०
प्रवचनसारोद्धार	१२७२	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/८१
प्रवचनसारोद्धार	१२७३	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/८२
प्रवचनसारोद्धार	१२७४	पञ्चचसंग्रह	३/४
प्रवचनसारोद्धार	१२७६	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/७९
प्रवचनसारोद्धार	१२९८	पञ्चचसंग्रह	३/२५
प्रवचनसारोद्धार	१३००	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/१३
प्रवचनसारोद्धार	१३०२	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/२६
प्रवचनसारोद्धार	१३०३	आवश्यकनिर्युक्ति	१४
प्रवचनसारोद्धार	१३०३	जीवसमास	६
प्रवचनसारोद्धार	१३०५	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	४/३४
प्रवचनसारोद्धार	१३११	जीवसमास	१९२
प्रवचनसारोद्धार	१३१७	कर्मग्रन्थ (प्राचीन)	१/१३६
प्रवचनसारोद्धार	१३१७	जीवसमास	२५
प्रवचनसारोद्धार	१३१७	बृहत्संग्रहणी	३६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	१३१९	जीवसमास	८२
प्रवचनसारोद्धार	१३२३	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२
प्रवचनसारोद्धार	१३२४	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	३
प्रवचनसारोद्धार	१३२५	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	५
प्रवचनसारोद्धार	१३२६	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	६
प्रवचनसारोद्धार	१३२७	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	७
प्रवचनसारोद्धार	१३२८	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	८
प्रवचनसारोद्धार	१३२९	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	९
प्रवचनसारोद्धार	१३३०	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१०
प्रवचनसारोद्धार	१३३१	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	११
प्रवचनसारोद्धार	१३३२	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१२
प्रवचनसारोद्धार	१३३३	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१३
प्रवचनसारोद्धार	१३३४	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१४
प्रवचनसारोद्धार	१३३५	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१६
प्रवचनसारोद्धार	१३३६	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१७
प्रवचनसारोद्धार	१३३७	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१८
प्रवचनसारोद्धार	१३३८	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	१९
प्रवचनसारोद्धार	१३३९	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२०
प्रवचनसारोद्धार	१३४०	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२१
प्रवचनसारोद्धार	१३४१	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२२
प्रवचनसारोद्धार	१३४२	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२३
प्रवचनसारोद्धार	१३४४	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२४
प्रवचनसारोद्धार	१३४५	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२५
प्रवचनसारोद्धार	१३४६	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२६
प्रवचनसारोद्धार	१३४७	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२७
प्रवचनसारोद्धार	१३४८	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	२८
प्रवचनसारोद्धार	१३४९	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	३०
प्रवचनसारोद्धार	१३५०	श्रावकव्रतभङ्गप्रकरणम्	४०
प्रवचनसारोद्धार	१३५४	संबोधप्रकरण	३/१९९
प्रवचनसारोद्धार	१३५५	संबोधप्रकरण	३/२००

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	१३५६	धर्मरत्नप्रकरणम्	५
प्रवचनसारोद्धार	१३५६	संबोधप्रकरण	५/६
प्रवचनसारोद्धार	१३५७	धर्मरत्नप्रकरणम्	६
प्रवचनसारोद्धार	१३५७	संबोधप्रकरण	५/७
प्रवचनसारोद्धार	१३५८	धर्मरत्नप्रकरणम्	७
प्रवचनसारोद्धार	१३५८	संबोधप्रकरण	५/८
प्रवचनसारोद्धार	१३८७	तित्थोगालीपइण्णयं	८२
प्रवचनसारोद्धार	१३८९	अङ्गुलसप्तति	२
प्रवचनसारोद्धार	१३९०	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	सूत्र २१९
प्रवचनसारोद्धार	१३९०	ज्योतिष्करण्डक	७३
प्रवचनसारोद्धार	१३९१	जीवसमास	९८
प्रवचनसारोद्धार	१३९१	ज्योतिष्करण्डक	७४
प्रवचनसारोद्धार	१३९४	अङ्गुलसप्तति	४
प्रवचनसारोद्धार	१३९४	जीवसमास	१०३
प्रवचनसारोद्धार	१३९५	अङ्गुलसप्तति	५
प्रवचनसारोद्धार	१३९६	विशेषणवती	१
प्रवचनसारोद्धार	१४३९	बृहत्संग्रहणी	१८१
प्रवचनसारोद्धार	१४४३	भगवतीसूत्रम्	६/५/२४३
प्रवचनसारोद्धार	१४४८	आवश्यकनिर्युक्ति	२१४
प्रवचनसारोद्धार	१४४९	भगवतीसूत्रम्	६/५/२४३
प्रवचनसारोद्धार	१४५४	आवश्यकभाष्यम्	२१६
प्रवचनसारोद्धार	१४५५	आवश्यकभाष्यम्	२१७
प्रवचनसारोद्धार	१४५६	आवश्यकनिर्युक्ति	१३३१
प्रवचनसारोद्धार	१४५७	आवश्यकनिर्युक्ति	१३३२
प्रवचनसारोद्धार	१४५८	आवश्यकनिर्युक्ति	१३३४
प्रवचनसारोद्धार	१४५९	आवश्यकनिर्युक्ति	१३३५
प्रवचनसारोद्धार	१४६०	आवश्यकनिर्युक्ति	१३३७
प्रवचनसारोद्धार	१४६१	आवश्यकनिर्युक्ति	१३३८
प्रवचनसारोद्धार	१४६२	आवश्यकनिर्युक्ति	१३४२
प्रवचनसारोद्धार	१४६३	आवश्यकनिर्युक्ति	१३४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवचनसारोद्धार	१४६४	आवश्यकनिर्युक्ति	१३४७
प्रवचनसारोद्धार	१४६५	आवश्यकनिर्युक्ति	१३५०
प्रवचनसारोद्धार	१४६६	आवश्यकनिर्युक्ति	१३५१
प्रवचनसारोद्धार	१४६७	आवश्यकनिर्युक्ति	१३५२
प्रवचनसारोद्धार	१४६८	आवश्यकभाष्यम्	२१९
प्रवचनसारोद्धार	१४६९	आवश्यकभाष्यम्	२२०
प्रवचनसारोद्धार	१४७०	आवश्यकनिर्युक्ति	१३५५
प्रवचनसारोद्धार	१४७१	आवश्यकनिर्युक्ति	१३५८
प्रवचनसारोद्धार	१५४०	देविंदत्थओ पइण्णयं	२८९
प्रवचनसारोद्धार	१५८७	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद१/सू. १०२ गा. ११२
प्रवचनसारोद्धार	१५८८	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद१/सू. १०२ गा. ११३
प्रवचनसारोद्धार	१५८९	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद१/सू. १०२ गा. ११४
प्रवचनसारोद्धार	१५९०	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद१/सू. १०२ गा. ११५
प्रवचनसारोद्धार	१५९१	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद१/सू. १०२ गा. ११६
प्रवचनसारोद्धार	१५९२	प्रज्ञापनासूत्रम्	पद१/सू. १०२ गा. ११७

¤ * ¤ * ¤

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org